श्रीमद्–वल्लभाचार्य–महाप्रभु–विरचित–षोडश–ग्रन्थान्तर्गतौ–द्वादश–त्रयोदशौ–ग्रन्थौ–

जलभेदः

चतसृभिष्टीकाभिः समलंकृतः

१. श्रीकल्याणरायाणाम् ३ श्रीवल्लभानाम्

२. श्रीपुरुषोत्तमानाम् ४. श्रीगोकुलकृष्णानाम्

परिशिष्टद्वयोपेतः

१. 'पूर्णो भगवदीयः' इत्यत्र श्रीहरिरायाणां स्वतन्त्रलेखः

२ 'शेष व्यास' इत्यत्र श्रीशानां स्वतन्त्रलेखः

पञ्चपद्यानि

च

टीकाद्वयसमलङ्कृतानि

श्रीहरिरायाणां २. श्रीपुरुषोत्तमानाम्

54805

श्रीमद्–वल्लभाचार्य–महाप्रभु–वंशावतंस–नित्यलीला–स्थित–गोस्वामिश्री
१००८ श्रीवल्लभलाल–महाराज–श्रीत्येतेषां–स्मृतौ–तेषां–श्रीमती
–रत्नप्रभा–बहूजी–महाराजश्रीत्येताभिः–प्रकाशितौ.

गोस्वामिश्री १००८ श्रीवल्लभलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

जलभेद तथा पञ्चपद्यानि ग्रन्थ कब कहा और किसके लिए लिखे गये इसका विवरण कही मिलना नही है

जलभेदमे भगवत्कथाके वक्ताके उत्तम मध्यम तथा कनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किये गये हैं, तथा पञ्चपद्यानिमे श्रोताके उत्तम मध्यम और कनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किये गये हैं यद्यपि भागवतके प्रथम स्कन्धका भी वर्ण्य-विषय यही है फिरभी सर्वांशमे दोनो ग्रन्थ प्रथम स्कन्धका ही अनुसरण करते है ऐसा नही कहा जा सकता है

भागवतके प्रथम स्कन्धमे स्वयम् भागवतके वक्ता तथा श्रोता के उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ अधिकारोका निरूपण किया गया है जबकि इन जलभेद और पञ्चपद्यानि मे भागवतोक्त धर्म शरणागति तथा निर्गुणा भक्ति के अगभूत, भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओ के श्रवण-स्मरण-कीर्तनार्थ अपेक्षित, वक्ताओ तथा श्रोताओ के उत्तम मध्यम-कनिष्ठ अधिकारका विवेचन किया गया है यहा भागवतपुराणके प्रवचन या श्रवण का प्रश्न नही है अपितु भागवतानुसारी भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओं के श्रवण-स्मरण-कीर्तनके एक व्यापक सन्दर्भमे ही श्रीमहाप्रभुने जलभेद तथा पञ्चपद्यानि ग्रन्थका उपदेश दिया है अतएव भागवतके लिए श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते है—

यदौपनिषद ज्ञान श्रीभागवतमेव वा ।
वर्णिनामेव तद्धि स्यात्स्त्रीशूद्राणा ततोऽन्यथा ॥

(भाग नि ३।१७८)

अर्थ ओपनिषद तथा श्रीभागवतके ज्ञान का अधिकार उपनयन सस्कारवाले द्विजोका ही होता है—अनुपनीत स्त्री या शूद्रो का नही

आजकल चल निकली चन्दा एकत्रित करनेके लिए होती भागवत सप्ताहकी हास्यास्पद रीतिसे विपरीत भागवतके प्रवचन और श्रवण के कुछ गम्भीर नियम श्रीमहाप्रभु स्वीकारते हैं अतएव आज्ञा करते हैं कि 'भागवत प्रसगो न यथाकथञ्चिद् यत्कुत्रचिद् कर्तव्य किन्तु महान्तश्चेद बहव शुद्धास्तीर्थनिरता प्रार्थयन्तस्तदैव प्रसग कर्तव्य एतादृशेपि श्रोतरि न सहसा भागवत वक्तव्य किन्तु तद्हृदयमवगाह्यैव रीतिरिय सदा' (भाग. नि १।२२-२५) अर्थ जैसे मनमे आये वैसे, जहा मनमे आजाये वही, भागवतका प्रसग छेड नही देना चाहिये किन्तु अनेक महापुरुष तीर्थवासनिरत शुद्ध श्रोताओ द्वारा प्रार्थना किये जानेपर ही भागवतका प्रसग छेडना चाहिये फिर ऐसोंके सम्मुख भी सहसा नही—पहले श्रोताकी हार्दिक उत्कण्ठा एवम् जिज्ञासुता को अच्छी तरह पहचान कर ही प्रसग छेडना चाहिये आदि-प्रवचनकर्ताओकी यही रीति थी और आज भी तथा सर्वदा यही रीति हमे निभानी चाहिये

श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि इसके विपरीत जब अनधिकारी लोग यशोलिप्सा, धनलिप्सा

या स्पर्धा के वशीभूत होकर स्वयम्को भागवतप्रवचनके योग्य अधिकारी मान बैठते हैं और यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रवचन करने लग जाते है तो भागवतके प्रवचन पाठन या पठन का अधिकार तो दूर भागवतोक्त धर्म पालनके अधिकारी भी वे रह नही जाते है— "ये पुनरेतानि वाक्यान्याश्रित्य स्वस्यापि पाठाधिकारमापादयन्ति तेषा मात्सर्यादिदोषग्रासेन श्रीभागवतधर्मेष्वप्यनधिकार किं पुन पाठे .. नतु श्रावणीय वा विघ्यभावात्' (भाष्यप्रका १।३।३८)

यहा जलभेद और पञ्चपद्यानि मे किन्तु जिस वक्ता या श्रोताको आदर्श माना गया है उसका उपनीत या द्विज होना अनिवार्य नही है क्योकि इस वक्ताका वेदादि शास्त्रोका प्रवचनकर्ता होना भी आवश्यक नही है वेदादि शास्त्रोंसे अविरुद्ध भगवत्स्वरूप-गुण-लीलाके निर्व्याज अहर्निश चिन्तनमे सप्रेम तत्पर होना ही यहा पर्याप्त है भागवतमे आता है कि

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोंकितानि य—
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधव ॥

अर्थ भक्तोके मुखसे नि सृत वाणी, लौकिक भाषामे गाये गये गीति-पद अथवा सस्कृत भाषामे गाये गये गीतगोविन्द जैसे काव्य, प्राणिमात्रके सभी पापोको नष्ट कर देते हैं यह सम्भव है कि इनमे छन्द व्याकरणकी दृष्टिसे कुछ त्रुटिया हो अथवा गानेकी प्रक्रियामे भगवन्नामके अक्षरोका तानकर गान करनेमे परस्पर सहभाव टूट जाता हो पर अनन्तकीर्ति भगवानके यशोकित अलभ्य नाम भक्तिमान् वक्ताओंके मुखसे सुने जानेपर या भक्तिमान् श्रोताओंके सम्मुख गाये जानेपर अथवा स्वयम् भी एकाकितया लिये जानेपर सारे कल्मषोको दूर कर देते हैं (सुबो १।५।११)

अतएव भागवतमे वक्ता और श्रोता के उन्नीस भेद माने गये है यथा

अधिकारी

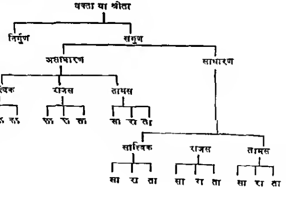

इस वर्गीकरणमें निर्गुण अधिकारी उत्तम माना गया है असाधारण अधिकारीके सात्विक-सात्विक राजस-सात्विक आदि नौ भेद होते हैं. ये मध्यम अधिकारी हैं. इसी तरह साधारण अधिकारीके भी पूर्वोक्त रीतिके अनुसार नौ भेद होते हैं और इन्हें कनिष्ठ माना जाता है यह उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ कक्षा भक्ति वैराग्य तथा द्विविध ज्ञान (अनुभवपर्यवसायी अर्थज्ञान तथा अनुभवविहीन केवल शाब्दिक ज्ञान) की चारों कसोटीपर खरे उतरनेवाले को उत्तम, अनुभवपर्यवसायी अर्थज्ञान तथा भक्ति रहनेपर भी वैराग्यरहित होनेपर मध्यम; तथा वैराग्यरहित केवल शाब्दिक ज्ञान एवम् भक्तिवाले अधिकारीको कनिष्ठ कक्षा मानी जाती है

तदनुसार ही जलके भेद भी सुबोधिनीमें उन्नीस ही माने गये हैं, जहा श्रीमहाप्रभु यह विवेचन करते है कि "उन्नीस भेद होनेपर भी बहता हुआ जल और स्थिर जल ये दो मुख्य भेद हैं" (द्र. सुबो १०।३।३) जबकि यहा जल और वक्तृभाव दोनोंके बीस भेद स्वीकारे गये है इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रथम स्कन्धमें निर्धारित अधिकारभेद केवल भागवतके सन्दर्भमें ही विवक्षित है जबकि यहा भगवत्स्वरूप भगवद्गुण या भगवद्लीला का भागवतानुसारी या भागवत-अविरोधी होना अनिवार्य होनेसे, वक्ताका भी भागवतानुसारी या भागवत-अविरोधी होना अनिवार्य है, परन्तु एतावता प्रत्येक वक्ताका भागवतपुराणपर प्रवचनकारी होना आवश्यक नही है यहा तो पुष्टिमार्गीय श्रोताको भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन कैसे वक्ताके सत्संग द्वारा सम्पन्न करना चाहिये यही विवक्षित सन्दर्भ है अतएव श्रोताके भी उन्नीस भेद न दिखलाकर केवल तीन या चार भेद ही दिखलाये गये हैं अतएव उन्नीस और बीस के भेदको विवक्षाप्रयुक्त मानना चाहिये

फलत पुराणप्रवचनकी अनिवार्य शर्त उपनयन-संस्कार या द्विजत्व अथवा पुरुष होना भी यहा अनिवार्य नही लगता है. परन्तु इसके सिवा अन्य गुण जो भागवतके वक्ताकी उत्तमताके परिचायक हैं यथा उसका स्वसम्प्रदायकी परम्पराके अनुसार सद्गुरुके मुखसे भगवद्लीला एवम् सिद्धान्त का श्रवण किये हुए होना, स्वयम् धनोपार्जनके हेतु भगवत्कथामें प्रवृत्त न होना एवम् ज्ञान-भक्ति-वैराग्य-सम्पन्न होना आदि, उन्हें इस सन्दर्भमें भी आवश्यक माना जा सकता हैं– "वक्ताधिकारी सर्वज्ञ सम्प्रदायेन सन्मुखात् श्रुतभागवतो भक्तो...." (भाग नि १।२३).

जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि, श्रीमहाप्रभुके अनुसार, चित्तका श्रीकृष्णमे तन्मय हो जाना है इसके दो साधन दिखलाये गये—

१) तदाश्रय— प्रपत्ति
२) तदीयता— भक्ति

विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें तदाश्रयके उपायरूप विवेक धैर्य एवम् अनन्याश्रय का निरूपण किया गया है इसी तरह तदीयताके उपायरूप आत्मनिवेदन सर्वसमर्पण, सर्वभावसे तनुवित्तजा सेवा, भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन आदिका सिद्धान्तरहस्य नवरत्न चतुश्लोकी

सिद्धान्तमुक्तावली तथा भक्तिवर्धिनी मे निरूपण किया गया है.

भक्तिवर्धिनीमे भक्तिके बीजभावको दृढ़ करनेका उपाय, यदि व्यक्ति अव्यावृत्त हो तो, स्वगृहमे स्ववर्णाश्रमाचारको निभाते हुए भगवत्सेवा-कथा-मय जीवनयापन करना माना गया है. व्यक्तिके व्यावृत्त होनेके कारण यदि भगवत्सेवाका निर्वाह शक्य न हो तो उसे भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण कीर्तनमे तत्पर रहना चाहिये, बीजभावको दृढ़ करने के लिए. बीजभावके दृढ होनेपर गृहत्यागकी प्रेरणा भी दी गयी है. गृहत्यागकी शक्यता न हो तो भगवत्सेवा-कथा-परायण भगवदीयो द्वारा की जाती भगवत्सेवामे परिचारक-सहायक बननेका और अथवा भगवत्कथा (जब वे करते हो)मे श्रवणार्थ सम्मिलित होनेका विधान भी किया गया है. इस तरह अनेकविध उपायोसे बीजभावसे लेकर प्रेम आसक्ति व्यसन सर्वात्मभाव या अलौकिक सामर्थ्य तक के विकासकी रूपरेखा दिखलायी गयी है

इन सभी विकल्प ओर अनुकल्प द्वारा भक्तिमार्गमे भगवत्कथाकी असाधारण महत्ता एवम् उपादेयता स्पष्ट होती है भगवत्कथामे वक्ताकी अपेक्षा रहती है श्रवणार्थ, तथा श्रोताकी अपेक्षा रहती है कीर्तनार्थ. स्मरण स्वतः भी सम्भव है परन्तु फिरभी किसी समानशील भगवदीयकी सत्सगतिमे भगवत्स्मरणका एक अलग ही रूप निखरता है इसमे सन्देह नही.

कुल मिलाकर श्रोता एवम् वक्ता दोनोको भगवत्कथाके श्रवणार्थ एवम् कीर्तनार्थ परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा रहती ही है. ऐसी स्थितिमे योग्य वक्ता तथा योग्य श्रोता के अभावमे न केवल भगवत्कथामे रसाभास होनेकी अपितु बीजभावके भी दृढ होनेके बजाय खण्डित होनेकी सभावना रहती है अतएव जलभेदमे योग्य वक्ताका स्वरूप श्रोताके श्रवणाके रूपसे समझाया गया है तथा पञ्चपद्यानिमे योग्य श्रोताका स्वरूप वक्ताके कीर्तनाके रूपमे समझाया गया है

नित्याभिवन्दनीय श्रीहरिके सर्वतापहारी एवम् सर्वसुखकारी गुण भी वक्ताओंके हृदयके भावपात्रमे भरे होनेपर कुछ न कुछ भिन्न रूप धारण कर लेते हैं जैसे जल स्वत शीतल स्वच्छ अव्यक्तमधुर सर्वशोधक एवम् तापशामक होनेपर भी जिस आधारभूमिमे (उदाहरणतया कूप-तलाव-नदी-समुद्र-झरना-नाला-गड्ढे आदिमे) भरा हुआ होता है वहाके गुणधर्मोसे युक्त हो जाता है, वैसे ही

तैत्तिरीय संहिताके सातवे काण्डमे जलके बीस रूप श्रुतिमे गिनाये गये है यथा (१) कूप (२) नहर (३) खेतकी नाली (४) नदीके जलमे बना गड्ढा (५) गन्दे नाले या मोरी के जलमे बना गड्ढा (६) नदीके जलसे बने बडे तालाब (७) पीने लायक पानीवाले बड़े तालाब (८) सुन्दर सरोजादि पुष्पवाले बड़े सरोवर (९) छोटे तलाव (१०) पकबहुल तालाब (११) वर्षाका जल (१२) स्वेदजल-पसीना (१३) जलप्रपात-झरना (१४) ओसके जलबिन्दु (१५) बरसाती नदी-नालो जैसा अस्थिर प्रवाहवाला जल (१६) बारहमासी नदियोंका स्थिर-सर्वदा समान रूपमे बहनेवाला जल (१७) निरन्तर उद्गमवाली ऐसी नदिया जिनका जल वर्षा या ग्रीष्ममे बढता या घटता हो (१८) समुद्रमे मिलनेवाली महानदिया (१९)

समुद्र (२०) अन्य भी इनमें से भरे गये अथवा गिरे हुए जल

स्वभावत एकरूप भी जल अपने इन आधारोंके गुण-धर्मोंके अनुरूप अनेकरूपता प्रकट करता है. इसी तरह भगवान्‌के एकरूप गुण भी भगवत्कथाके वक्ताकी योग्यता एवम् भावो के अनुरूप अनेकरूपता धारण कर लेते हैं. यथाः

(१) भगवद्-गुणोका स्वर-ताल-लयाश्रित गान करनेवाले विश्रुत गन्धर्वोके जैसे लोग कुएकी तरह होते हैं कुछ कुए मीठे जलके होते हैं तो कुछ खारे जलके कुछ पवित्र शास्त्रीय माहात्म्यवाले होते हैं यथा न्यग्रोध वृक्षसे उत्तरकी दिशामे स्थित कूप अथवा द्वारकाका दामोदरकूप या व्रजका गोपकूप कुछ कुए अपवित्र-मलिन जलवाले होते हैं ऐसे ही सभी भेद गायकोमे भी होते हैं कुछ गायक स्वर तालके अगरूपेण भगवद्-वर्णनात्मक शब्दोका योजन करते हैं, तो कुछ गायक भगवद्-वर्णनात्मक शब्दोंके अगरूपेण स्वर तालका योजन करते हैं. प्रथम प्रकारके गायकोको खारे जलवाले कुएकी तरह समझना चाहिये और दूसरे प्रकारके गायकोको मीठे जलके कुएकी तरह गहरे कुएका जल ठडीमे गरम और गरमी ठडा लगता है. इसी तरह भावगाभिर्यवाले गायको द्वारा किया गया भगवद् गुणगान सांसारिक तापसे तप्त श्रोताको आध्यात्मिक-आधिदैविक शीतलता प्रदान करता हैं, और सासारिक मोहसे जडीभूत-ठिठुरते हृदयाको भगवद्-भावकी कुछ उष्मा भी इन गायको द्वारा किये गये भगवद्-गुणगानसे मिल सक्ती है

(२) पौराणिक - पुराणकथा सुनानेवाले नहरकी तरह होते है नहरका जल अपना-स्वयमका नही होता किन्तु किसी नदी या सरोवर से जुडा हुआ होता है. इसी तरह पुराण-कथा सुनानेवाले वक्ताका भाव स्वयम् उसका न होकर केवल पुराणकथा करते समय कथाविशेससे प्रयुक्त होता है अतएव अश्रुपात कण्ठावरोध या उल्लास केवल कथाकालमे ही प्रकट होते हैं सर्वदा नही

(३) अपने कुटुम्बपोषण धन या यश की कामनासे जो कथा करते है वे खेतको जल पहुचानेवाली नालियोंकी तरह होत है खेतकी नालीके जलका मुख्य प्रयोजन धान्योत्पादन है उसी तरह इन वक्ताओंकी भगवत्कथाका भी मुख्य प्रयोजन ससार बढाना ही होता है अत वही फल श्रोताको भी मिलता है

(४) वेश्या या स्वैरिणी स्त्रियोसे घिरे, द्यूत और मद्यपान आदि व्यसनोंसे प्रमत्त वक्ता नदीके जलसे बने गन्दे जलके गड्ढेकी तरह होते है इन्हें वेदमे 'प्रदर' कहा गया है तथा इनका आचमन भी निषिद्ध माना गया है

(५) भगवानके गुणगानको आजीविका बनाकर उदर या कुटुम्ब का पोषण करनेवाले गायक या पौराणिको के भाव, घरकी गन्दी मोरियोंमे से निकलनेवाला मलिन जल चारो ओर फैल न जाये इसके लिए जो गड्ढे खोदे जाते है उनमे भरे हुए जल जैसा अपवित्र होता है जैसे उस गन्दे जलका स्पर्श अरुचिकर होता है वैसे ही भगवद्गुणगानको आजीविका बनानेवालाका प्रवचन भी

(६) नदियोके जलसे जैसे कही जलाशय बनाया जाता है या कभी नैसर्गिक रूपसे स्वयमेव भी बन जाता है इसी तरह गीता भागवत पाञ्चरात्रादि भगवद् शास्त्रोके निरन्तर अभ्याससे व्यक्तिके हृदय और बुद्धि मे भगवद्-भावका एक विशाल जलाशयसा भर जाता है बडे जलाशयोका जल न तो धूपके कारण सूख सकता है और न उसे भैंस जैसे पशु मलिन ही बना सकते है ठीक इसी तरह इन शास्त्राभ्यासियोका भाव न तो सासारिक तापोंसे शुष्क होता है और न कुतर्क या असम्भावना—विपरीतभावना से मलिन ही.

(७) स्वयम् निरन्तर शास्त्राभ्यास करना एक बात है और श्रोताके सन्देहोकी निवारण कर पानेका सामर्थ्य दूसरी बात है अत सन्देह निवारक वक्ता मानो पीने लायक पानीवाले बडे जलाशयकी तरह होते हैं ऐसे स्वच्छ निर्मल जलाशय कि जिनमे न तो पक और न शैवाल ही पैदा होते हो

(८) स्वयम् भगवद्-शास्त्रोका निरन्तर अभ्यास तथा दूसरोके सन्देहोको भी निवारण करनेकी क्षमता होनेपर भी कभी-कभी वक्तामें स्वयम् भक्ति-भाव नही होता. परन्तु वह भी यदि प्रकट हो जाये तो ऐसे वक्ताको सुन्दर सरोजवाले रम्य सरोवरकी तरह समझना चाहिये

(९) कुछ वक्ताओमे भगवत्प्रेम होता है पर वे स्वयम् अल्पश्रुत होते है ऐसे वक्ताओको छोटे तालाबोकी तरह समझना चाहिये, जो स्वयम् स्वच्छ जलवाले होनेपर भी भैंस जैसे पशुओ द्वारा मलिन बनाये जा सकते है, अल्प जलराशीके कारण ही ऐसे ही अल्पश्रुतताके कारण इनके भाव कुतर्कोंसे दूषित हो सकते है.

(१०) जिन वक्ताओंने स्वयम् न तो शास्त्रीय विषयोका श्रवण भलीभाति किसी सद्गुरुके मुखसे किया हो और न भगवद् भक्ति ही जिनमे पर्याप्त हो, फिर भी जिनकी निष्काम धर्माचरण-कर्मानुष्ठानमे निष्ठा दृढ हो, ऐसाको यदि भगवत्कथा-प्रवचन करनेकी वृत्ति जगे तो इनके भाव भी छोटे तलावकी तरह ही समझने चाहिये छोटे तलावका जल शीघ्र ही सूख भी जाता है और शीघ्र मलिन भी हो सकता है

(११) जिन व्यक्तियोंका मन योगध्यान आदिकी प्रक्रियामे लगा हुआ हो, उनके भाव स्वत तो निर्मल हो सकते है, परन्तु श्रोताओंसे घिरते ही इनके भावोंमे परिवर्तन आने लगता है यौगिक साधनाका निखार एकान्तमें आता है अत जनतामे घिरे रहनेकी वृत्तिवाले योगीकी समूची योगसाधना निष्फल चली जाती है अतएव इनका भाव वर्षाजलकी तरह होता है जो स्वयम् स्वच्छ होनेपर भी जहा गिरा वहाके गुणधर्म शोघ्रतया स्वीकार लेता है.

(१२) केवल तपो ज्ञान-वैराग्यादिकी साधनामे निरत व्यक्ति जब भगवत्कथाका प्रवचन करते हुए मिलें तो उनके भावको स्वेदजलकी तरह समझना चाहिये. स्वेदजल-पसीना निकलता है वह उसके परिश्रमका ता द्योतक होता है. परन्तु दूसरेके कामका वह नही होता इसी तरह व्यक्तिकी तपश्चर्या या भक्तिहीन शुष्क ज्ञानवैराग्य-भावना स्वयम् व्यक्तिके द्वारा किए हुए आध्यात्मिक परिश्रमकी द्योतक तो होती है, परन्तु अन्य श्रोताओके लिये

तो व्यर्थ हो !

(१३) पर्वतपरसे गिरते जलप्रपात-झरने का जल, निर्मल शीतल मधुर सतत तथा श्रवण दर्शन स्पर्शन स्नान आचमन पान आदिमें मनोहारी तापहारी एवम् सुखकारी लगता है. इसी तरह भगवत्कृपाके कारण अथवा महान् भगवदीयोंकी कृपाके कारण, जिन्हे स्वयम् श्रीहरिके दिव्य मधुर गुणोंका अलौकिक ज्ञान प्राप्त हो गया हो तो ऐसे वक्ताओंके मुखसे भगवद्गुणगान सुनना किसी मनोहारी झरनेके सामने पहुंच जानेकी तरह एक सुखद प्रसंग होता है. यह सर्वत्र-सर्वदा सुलभ नही होता. जैसे झरनेके सामने पहुचनेसे पहले, कुछ दूरीपर से ही उस जलप्रपातकी ध्वनिसे उसके अस्तित्वका बोध हो जाता है. इसी तरह इन भगवदीयोंके पद-ग्रन्थ आदि रूपमे शब्दोंके श्रवणमात्रसे ही इनकी अलौकिक अनुभूतिका निर्णय हो जाता है.

(१४) सकाम उपासनाके अंगभूत श्रौत या पौराणिक, वरुण इन्द्र दुर्गा गणपति भैरव नवग्रह आदि, देवताओंके उपासक यदि श्रीकृष्णकी कथा करते हों तो उनके भावोंको ओसके बिन्दुओंकी तरह समझना चाहिये. ओसके जलबिंदु जिस स्थानपर गिरते है वहा उभरे हुए दिखलायी पडते हैं. पर वह वास्तविकता नही होती. इसी तरह अन्यदेवोपासक वक्ताके मुखसे श्रीकृष्णकथा अन्यदेवोंकी उपासनाभूमिपर श्रीकृष्ण द्वारा गिराये गये ओसके क्षुद्र बिन्दुओंकी तरह होती है. ओसकी जैसे केवल देखने भरकी शोभा होती है, इसी तरह इस कृष्णकथाकी केवल श्रवणमात्रकी ही शोभा होती है. स्नान-पानमे ओसके जलबिन्दु अनुपयोगी होने हैं और थोडी सी धूप निकलते ही ओझल हो जाते हैं इसी तरह इनके भाव भी श्रोताके लिए उपयोगी नही होते. कथाकालमे ही केवल प्रकट होकर पश्चात् वे ओझल हो जाते हैं.

(१५) वर्णाश्रमधर्मको निभाते हुए श्रीकृष्णकी नवधा भक्तिमें तत्पर वक्ताओमें यदाकदा प्रेमावेशके कारण भगवदीय धर्मोंका स्फुरण होता रहता है, इनके भावको बरसाती नदीके प्रवाहकी तरह समझना चाहिये.

(१६) कुछ नदिया बारहमासी होती है. इनमें न तो पूर आता है और न इनका जल घटता है. इसी तरह भगवत्कथामें न जिन्हें प्रेमावेशका पूर आता हो और न उनकी रुचि हो कभी क्षीण होती हो ऐसे मर्यादामार्गीय वक्ताओंके भाव स्थिर प्रवाहवाली नदीके तुल्य होते हैं.

(१७) कुछ नदियोंके उद्गमस्थलपर निरन्तर पानी उभरता रहता है. अत.इनका प्रवाह कभी रुकता नही, पर वर्षा-आतपके कारण इनके जलस्तरमें निरन्तर वृद्धि- ह्रास होता रहता है. इसी तरह जिन वक्ताओंका भाव उनके आसपासके व्यक्तियोंकी संगतिके कारण कभी वृद्धिगत होता हो और कभी क्षीण होता रहता हो परन्तु भावप्रवाह कभी अवरुद्ध न होता हो, तो ऐसोंका भाव अनेक जन्मोंसे चली आ रही भावसाधनाके कारण निरन्तर उद्गमवाली नदीके समान होता है.

(१८) कुछ महानदियां समुद्रगामिनी होती हैं जो ऋतुचक्रसे अप्रभावित रहती है. इनमें पूर आता है पर जल कभी कम नही होता. जिन वक्ताओंके भाव संगदोषसे अप्रभावित रहते

है उन्हें समुद्रगामिनी महानदियोंके तुल्य समझना चाहिये.

(१९) समुद्रोंके अनेक भेद शास्त्रोंमें वर्णित हैं. यथा (क) क्षारोद (ख) इक्षुरसोद (ग) सुरोद (घ) घृतोद (ङ) क्षीरोद (च) दधिमण्डोद (छ) शुद्धोद या अमृतोद. ये सब अगाध एवम् वृद्धि-क्षयरहित होते हैं इसी तरह, लौकिक गुणोंके मिश्रण, वैदिक गुणोंके मिश्रण तथा लोकवेदमिश्रित गुणोंके मिश्रण से, भगवद्गुणोंके वर्णन करनेवाले समुद्रोपम वक्ताओंके भाव भी अनेकविध होते हैं.

(क) श्रीराम या श्रीकृष्ण को साक्षात् परमेश्वर न मानकर केवल महापुरुष अर्थात् महान् मनुष्य माननेवाले वक्ताओंके भाव क्षारोद समुद्रके जलकी तरह खारे होते हैं. इनसे भक्तकी तृषा मिट नही सकती. भगवदवतारोंके चरित्रकी मानवीय व्याख्या करनेवाले वक्ताओंका भाव भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे खारा अरुचिकर तथा तृषा-अनिवर्तक होता है

(ख) परमात्माको अप्राकृत गुणधर्मोंसे युक्त माननेपर भी अवतारोंको प्राकृत गुण-धर्म-युक्त माननेवाले वक्ताओंका भाव इक्षुरसोदके तुल्य होता है गन्ना चूसनेपर प्रारम्भमें मधुर लगता है किन्तु अन्तमें विरस हो जाता है.

(ग) स्वयम् मोहवश अथवा मोहप्रवर्तनकी भगवदाज्ञाके वशीभूत होकर जो भगवान्‌के गुणोंको मायिक मानते है तथा ब्रह्मको निर्गुण निराकार निर्धर्मक मानते है, उनको भगवत्कथाका श्रवण सुरोदके आचमनकी तरह होता है. सुरासे जैसे स्वरूप-विस्मृति आदि अनेक प्रमाद प्रकट होते हैं, वैसे ही ब्रह्मको अथवा भगवदवतारोंको निर्गुण अथवा मायिक गुणोंवाला माननेवालोंके उपदेश सुननेसे भी अनेकविध मोह उत्पन्न हो जाते है. बहुधा ऐसे वक्ता स्वयम् परम भगवदीय होते है—अगाध समुद्र जैसे,पर उपदेश इनके भक्तिमार्ग-विरोधी होते है जैसे परम भागवत श्रीमहादेवको भगवदाज्ञावश मायावादका प्रवर्तन करना पडा.

(घ) भगवान्‌के दयालुता आदि गुणोंपर जो भार देते हुए भगवत्कथा करते है उनसे भगवद् गुणगान सुनना घृतोद समुद्रके आचमनकी तरह भक्तिबल को बढानेवाला होता है

(ङ) श्रीहरिके सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वकर्तृ आदि गुणोंपर भार देते हुए जो भगवत्कथा करते है उनसे भगवद्-गुणगान सुनना क्षीरोदके आचमनकी तरह होता है यह स्वादिष्ट-शक्तिवर्धक और पवित्र होता है.

(च) केवल वैदिक मर्यादाओंकी स्थापनाके सीमित प्रयोजनको प्रस्तुत कर जो वक्ता भगवदवतारचरित्रोंकी व्याख्या करते है उनके भाव दधिमण्डोदकी तरह होते है. दधिमण्ड-मठा गुणाढ्य तथा स्वादिष्ट होनेपर भी नवनीतके निकल जानेसे सारहीन होता है वैसे ही भक्तोंको स्वरूपानुभवके द्वारा परमानन्दका दान, जो अवतारका मुख्य प्रयोजन है, इनकी भगवद्-गुणगानकी रीतिके कारण कथामें से बाहर निकल जाता है फलत इनकी कथा सारहीन हो जाती है.

(छ) शुद्धोद समुद्रको ही श्रीमहाप्रभु 'अमृतोद' भी कहते है. श्वेतद्वीपके चतुर्दिक

परिसा-खाईके रूपमें भरे हुए 'अर' और 'ण्य' नामक समुद्रोका वर्णन वाराह पुराणमें भी उपलब्ध होता है– "अरजामामृताम्भोधि· ण्यनामामृतसागर" ऐसे ही छान्दोग्योपनिषद्‌में भी "अरश्च वै ण्यश्च अर्णवौ ब्रह्मलोके .. तदैरमदीय सरः" कहा गया है इनसे प्रतीत होता है कि 'शुद्धोद' और 'अमृतोद' पर्यायवाची हैं.

सनत्कुमारोको उपदेश देनेवाले सकर्षण शेष, अपने आत्मज शुकको भागवत पढानेवाले भगवद्-ज्ञानावतार महर्षि बादरायण व्यास, अग्निपुराणके वक्ता अग्नि, वायुपुराणके वक्ता मारुत या हनुमान भी, रहूगण राजाको ज्ञानोपदेश करनेवाले अवधूत जडभरत, अनेकधा भक्तिशास्त्रोंके उपदेशक नारद, सनत्कुमारके शिष्य तथा विदुरके गुरु मैत्रेय; और भी ऐसे पूर्ण भगवदीयोंके उपदेशश्रवणको अमृतोदके पानके तुल्य समझना चाहिये.

जलभेदके इस अंशपर एक स्वतंत्र लेख लिखनेवाले श्रीश भट्टके अनुसार इन उल्लिखित भक्तोंकी परम्पराकी धरोहरको सम्हालनेके लिए प्रकट हुए शेषावतार श्रीरामानुजाचार्य, व्यासावतार श्रीविष्णुस्वामी, अग्निके अवतार महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, वायुके अवतार श्रीमध्वाचार्य, जडभरतके अवतार श्रीरामानन्द, नारदके अवतार श्रीचैतन्य, सनकके अवतार श्रीनिम्बार्काचार्य आदि मुख्य चार वैष्णव सम्प्रदाय तथा अवशिष्ट उपसम्प्रदायोके आचार्य या भक्तोंके उपदेश भी अमृतोदके तुल्य मानने चाहिये स्वयम् श्रीमहाप्रभुने भी मुख्य चारो भक्तिसम्प्रदायोका भगवत्प्रवर्तित होना तृतीय स्कन्धकी सुबोधिनीमें स्वीकारा है– "एवम् चतुर्विधोपि भगवता प्रतिपादित" वह कर. अत इस श्रीश भट्टकी व्याख्यारीतिमें कोई विप्रतिपत्ति दिखलायी नही देती है

प्राकृत या मायिक गुणोसे रहित श्रीविष्णुके सभी अप्राकृत-दिव्य-शुद्ध सच्चिदानन्दरूप गुणोंके वर्णन-स्मरण कीर्तन करनेवाले ये विलक्षण वक्ता अमृतोद सिन्धुके समान है इनके वचनामृत का पान वस्तुत जीवनकी सुदुर्लभ उपलब्धि है इनमे से कुछ पुष्टिभक्तिमार्गीय और कुछ मर्यादामार्गीय है पर सभी अमृतोद सिन्धुक समान है

विष्णुदूतोके वचन जैसे अजामिलके कानोमे पडे तो उसकी कृति मति और भावना सभीमे चमत्कारिक परिवर्तन आगया. इसी तरह अकस्मात् भी इन अमृतोदके तुल्य वक्ताओंके एकाद वचन अमृतके बिन्दुपानके समान होनेसे तृप्तिप्रद न भी हो पर निश्चयेन मुक्तप्रद तो होते ही हैं और जब इनके वचनामृतोंके सतत श्रवणसे राग अज्ञान काम कोध आदि मनोविकार दूर हो जाते हैं तो वह अमृतके बिन्दुपानकी तरह नही किन्तु लेहनको तरह समझना चाहिये अमृतोदके अमृतका ऐसा लेहन कि जिसमे परमानन्दकी अभिव्यक्ति हो जाती है श्रोता कृतार्थ हो जाता है !

(२०) इनके अलावा अन्य जो वक्ता या उनके भाव होते है उन्हें इन्ही कूप आदि उन्नीस जलस्थानोंमे से भरे गये अथवा गिर गये जलकी तरह समझना चाहिये तदनुसार उनसे कथा श्रवण करनेके फलको भी यथायथ स्वरूप विचार लेना चाहिये.

इस तरह विष्णुके एकरूप गुण तत्तद् जीवोकी वागिन्द्रिय-वाणीपर कैसे अनेकरूप धारण

कर लेते है, और कैसे फल उनसे मिलते है आदि बातोंका निरूपण सम्पूर्ण हुआ.

पञ्चपद्यानिमें वर्णित श्रोताका स्वरूप

वक्ताके अधिकार और स्वरूप तथा तदनुसार उनके मुखसे श्रवण-कीर्तनके फलके निरूपणके बाद अब श्रोताके अधिकार तथा स्वरूप का निरूपण श्रीमहाप्रभु पञ्चपद्यानिमें करते हैं.

भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन भगवत्स्वरूपसेवाके साथ-साथ सेवाके अनवसरमें चलता रहे तो वह भगवत्स्नेहके पूर्वोत्तर दल (संयोग एवम् विप्रयोग) दोनोंमें भक्तिके पूर्ण आविर्भावका उपाय बनता है. परन्तु किसी व्यक्तिको भगवत्स्वरूपसेवाकी सुविधा आजीवन सम्भव नही हो पाती. ऐसी स्थितिमे केवल भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनकी प्रणालीसे भी प्रेम-आसक्ति-व्यसन-सर्वात्मभाव या अलौकिकसामर्थ्य आदिके क्रमिक सोपानोंपर भक्तिका आरोहण शक्य बन जाता है.

तदनुसार सेवाके साथ-साथ जो कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनका भी सतत निर्वाह कर पाते हैं वे उत्तम श्रोता होते है. अन्यथा सेवाके अनुकल्पके रूपमें जो भगवत्कथाका निरन्तर समाश्रयण करते है वे मध्यम प्रकारके श्रोता होते है. जो यदा-कदा श्रवण कर पाते है वे निम्न प्रकारके श्रोता होते है. यह एक दृष्टि श्रोताके उत्तम-मध्यम-निम्न प्रकारोंको निर्धारित करनेकी दिखलायी देती है.

दूसरी दृष्टि यह है कि शुद्धपुष्टि पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि तथा प्रवाहपुष्टिके अधिकारिभेदके अनुसार श्रोताकी त्रिविध कक्षायें निर्धारितकी जायें. शुद्धपुष्टि या पुष्टिपुष्टि आदि अधिकारोंकी पहचान पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें– "पुष्टया विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः . " मे दी गयी है.

तीसरी दृष्टि, श्रोताके उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ अधिकारकी, वक्ताके ज्ञान-भक्ति-वैराग्य गुणोंके अनुरूप (१) जिज्ञासुता-श्रवणोत्सुकता (२) रुचि तथा (३) इतर साधनोके दुराग्रहपूर्ण अनुष्ठान या अभिमान का अभाव, तज्जन्य क्षुद्र फलोंमे अनासक्ति, इस तरह तीनों गुण जिस श्रोतामे मिलते हों वह उत्तम, दो मिलते हों वह मध्यम, तथा किसी एकाद गुणका विद्यमान होना उसके निम्न अधिकारका द्योतक होता है.

चतुर्थ दृष्टि – पुष्टिमार्गीय उत्तम, मर्यादामार्गीय मध्यम, तथा प्रवाहमार्गीय या चर्षणी श्रोताको अधम माननेकी– उचित होनेपर भी यहा अप्रासंगिक लगती है. क्योंकि पुष्टिमार्गीय जीवोंके लिए ही श्रीमहाप्रभुने षोडशग्रन्थका प्रणयन किया है अत जिन जीवोंका अपुष्टिमार्गीय होना निश्चित हो उन्हें पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त या भगवल्लीला का उपदेश ही श्रीमहाप्रभुके अनुसार अनुमोदनीय नहीं है. जलभेदमे भी जो मर्यादामार्गीय वक्ताका स्वरूप दिखलाया गया है वह उन वक्ताओंसे पुष्टिमार्गीय उपदेशकी आशा न रखनेके लिए ही है क्योंकि वक्तृचयनमें अधिक सावधानी अपेक्षित है, अत जलभेद जितना विस्तार पञ्चपद्यानिमें अपेक्षित नहीं है

पांचवी दृष्टिके अनुसार, जैसे शास्त्रार्थ प्रकरणके अन्तिम भागमे भगवत्सेवा करनेवालोंके

त्रिविध अधिकार दिखलाये हैं— उन्हे भगवत्कथाके श्रवणाधिकारका भी उपलक्षण माने तो यह असगत नही होगा यथा :

जिज्ञासुता– श्रवणोत्सुकता दो तरहकी हो सकती है · (१) प्रमाण (शास्त्र) तथा प्रमेय (भगवान्‌के स्वरूप गुणधर्म एवम् लीला) दोनोके बारेमे, अथवा (२) इन प्रमाण या प्रमेय मे से किसी एकके बारेमे, इसे केवल 'शब्दनिष्ठा' तथा 'अर्थनिष्ठा' भी कहा जा सकता है

इसी तरह कथारतिके भी दो भेद सम्भव हैं (१) सामान्य रुचि, और (२) उत्कट रति. इनके परस्पर मिश्रणसे अनेक प्रकारके विकल्प बन सकते हैं. यथा .

(१) कथाश्रवणकी उत्कट रति एवम् कथाके उभयपक्ष—–शब्द (प्रमाण) पक्ष और अर्थ (प्रमेय) पक्ष—–मे जिज्ञासुता-श्रवणोत्सुकता रखनेवाले उत्तमाधिकारी ज्ञानी–भक्त जैसे माने जाने चाहिये.

(२) कथाश्रवणमे उत्कट रति न होनेपर भी उसमे सामान्य रुचि रखनेवाले तथा कथाके उभय पक्षोमे से शब्द पक्षपर भार देनेवाले शब्दनिष्ठ जिज्ञासु प्रेमके अभावके कारण मध्यमाधिकारी ज्ञानी जैसे माने जाने चाहिये

(३) कथाश्रवणमे रति रखनेवाले तथा कथाके शाब्दिक प्रमाणपक्षके बारेमें श्रवणोत्सुक न होनेपर भी अर्थ (प्रमेय) पक्षके बारेमें जिन्हें तीव्र जिज्ञासा हो ऐसे अर्थैकनिष्ठ श्रवणोत्सुकोको ज्ञानाभावके कारण मध्यमाधिकारी भक्त मानना चाहिये.

(४) जिन्ह न तो उत्कट रति और न अर्थनिष्ठा (कथाके अर्थ–प्रमेय भगवानके स्वरूप गुण या लीलाके बारेमें श्रवणोत्सुकता) ही तीव्र हो ऐसे सामान्य रुचिवाले–ज्ञान–प्रेम–उभय रहित श्रोताको कनिष्ठ निम्न या अधम कोटीका मानना चाहिये

(द्रष्टव्य शा नि "एव सर्वं तत सर्वं स इति ज्ञानयोगत यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तम. प्रेमाभावे मध्यम स्यात् ज्ञानाभावे तथादिम उभयोरप्यभावे" कारि. स १०१-२)

छठी दृष्टि यह भी सम्भव है कि आरम्भके मुख्य-मध्यम-अधम श्रवणाधिकार, क्रमश 'रसविक्षिप्तमानस', 'रसविक्लिन्नमानस' तथा कदाचित रसावेशसे 'रसावेशविकलमानस' विशेषणोंके द्वारा, भक्तिमार्गीय श्रवणाधिकारके रूपमें विवक्षित हैं पाचवे अन्तिम श्लोकमे वर्णित 'अनन्यमानस' विशेषणद्वारा अन्याश्रय रहित प्रपत्तिमार्गीय श्रवणाधिकार विवक्षित है पुष्टिभक्तको इस भूतलपर मिलती परमफलकी अनुभूति अलौकिक-सामर्थ्य या तनुनवत्वका लाभ प्रपत्तिमार्गीय अधिकारीको नही मिलता. पर विद्यमान देहके पातके बाद उन्हे सायुज्य-मोक्ष मिल सकता हैं. अतएव देश-काल द्रव्य कर्ता-मन्त्र-कर्मादिके अन्याश्रयके त्यागके कारण इन अधिकारियोंके उत्तम होनेपर भी, विद्यमान देहादिसे भूतलपर परम फलकी अनुभूतिसे वञ्चित होनेके कारण, इन्हें 'मर्त्य' कहा गया हैं. क्योकी श्रीकृष्ण-सायुज्यका लाभ इन्हे मृत्युके पश्चात ही होता हैं पञ्चपद्यानिके प्रथम चार श्लोकोमें वर्णित अधिकारियोको 'मर्त्य' नही कहा इससे उनका भक्तिमार्गीय होना ध्वनित होता है

सर्व. निबन्धमें — "सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसो सायुज्य कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवम् फलम्" कारिकाके प्रकाशमें—"एव देहपातनपर्यन्तं कृष्णैकमानसस्य सायुज्यं शीघ्रमेव भवति कायवाग्विनियोगाभावेपि स्वस्नेहाभावेपि मनोमात्रस्थितौ फलमेतद्" कहकर प्रपत्तिमार्गीय श्रोताके 'अनन्यमानस' होनेपर उसे उत्तमाधिकारी माना है.

इन विभिन्न दृष्टीकोणोसे श्रवणाधिकारका विचार करनेपर पञ्चपद्यानिके पाच पद्योमें: भिन्न-भिन्न कक्षाके पाच अधिकारियोकी चर्चा है— मुख्याधिकारी एकविध है और अमुख्याधिकारी त्रिविध यो कुल चार प्रकारके अधिकारियोकी चर्चा है — 'मुख्य' तथा 'उत्तम' को पर्यायवाची शब्द मानकर तथा उपक्रम और उपसहार में एक ही अधिकारीको विवक्षित मानकर कुल त्रिविध अधिकारियोकी चर्चा है — इनमे से इदमित्थतया किसी एक व्याख्यारीतिका समर्थन जरा कठिन काम है. फिर भी मुख्य और अमुख्य तथा भक्ति और प्रपत्ति के भेदको लक्ष्यमें रखकर आरम्भके प्रथम श्लोकमें मुख्य भक्तिमार्गीय श्रोताका निरूपण तथा अवशिष्ट चार श्लोकोमें भक्तिमार्गीय द्विविध अमुख्य श्रोता तथा एक प्रपत्तिमार्गीय श्रोता का वर्णन है ऐसा सोचनेमे कोई असगति सामने नहीं आती है. क्योकि जो बात श्री महाप्रभु कह रहे है पाच श्लोकोमें वह इस तरह है ·

(क) दशम स्कन्धके सातवे अध्यायकी "यत्कृष्णवतोपैत्यरतिवितृष्णा सत्त्व च शुद्धत्यचिरेण पुस. भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्य तदेव हार वद मन्यसे चेत्" कारिकाकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने भगवत्कथाके पाच परिणाम गिनाये है

(१) भगवत्-चरित्रमें अरतिकी निवृत्ति
(२) भक्तिका प्राकट्य
(३) सासारिक तृष्णाकी निवृत्ति
(४) सत्व-अन्त करणकी शुद्धि
(५) भगवदीयोके सत्सगरूप सख्यकी वृद्धि

ये पाच परिणाम जिस श्रोतामे प्रकट होने जा रहे हो उसे भगवत्कथाके श्रवणका मुख्याधिकारी मानना चाहिये. अतएव श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते है कि भक्तिरसके आलम्बन-विभावरूप श्रीकृष्णके नामात्मक स्वरूपकी कथाश्रवण–कालमें बाह्यानुभूति तथा भक्तिरसके स्थायिभावरूप (माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह) रसकी आन्तर अनुभूतिके चक्रके तीव्रवेगमे चल पडनेके कारण जिनका मानस विक्षिप्त सा हो जाता है, उनके लिए भगवत्कथा दुस्त्यज हो जाती है अर्थात् वे चाहे या न चाहे उनकी वाणी और कर्णेन्द्रिय निरन्तर भगवत्कथा करते रहने और सुनते रहनेके व्यसनवाली हो जाती है

ऐसे कृष्णरसविक्षिप्तमानस श्रोताओंकी भगवच्चरित्रम स अरति निवृत्त हो जाती है अत उन्हे 'अरतिवर्जिता' कहा जाता है.

इनका चित्त न तो लौकिक विषयोकी ओर आकृष्ट होता है और न वैदिक मोक्षादि फलोकी ओर ही. सासारिक विषयोमे तृष्णाबन्धनके टूट जानेसे इन्हें इन विषयोमें निर्वृति

अर्थात् सुख–सन्तोषकी अनुभूति नही होती.

भगवत्कथाकी प्रणालीसे इनके सत्व-अन्तःकरणकी शुद्धि हुई होनेसे केवल ज्ञानी या विरक्तों की तरह वैदिक फल स्वर्ग–मोक्ष-अपवर्गकी कामना भी इनके मनमें रह नही जाती. अतः इन्हे वेदमें भी अनिर्वृत्ति हो जाती है.

ऐसे श्रोता भगवल्लीलाके श्रवणकी उत्सुकताके कारण निरन्तर भगवदीयोका सम्प या सत्संग खोजते रहते हैं.

निरोधकी सिद्धिके कारण इन्हे भक्तिमार्गीय मुख्य श्रवणाधिकारी समझना चाहिये.

(ख) कुछ श्रोताओका मन श्रीकृष्णभक्तिके रससे इतना आर्द्र–विलम हो जाता है कि कथाश्रवणकी वेलामे ये भगवत्स्मृतिसे विह्वल हो जाते हैं. भगवत्कथाके शाब्दिक प्रमाणपक्ष–में इनकी रुचि तीव्र नही होती. परन्तु अर्थनिष्ठा–कथाके प्रमेय अर्थात् भगवत्स्वरूप-गुणधर्म-लीलाके श्रवणमें इनकी निष्ठा बड़ी प्रबल होती है, इसी अर्थनिष्ठाके कारण इनमें ज्ञानकी लालसा कम होनेपर भी प्रेमकी स्पष्ट विद्यमानताके कारण इन्हे भक्तिमार्गीय मध्यम कक्षाके श्रवणाधिकारी समझना चाहिये.

(ग) कुछ अन्य श्रोताओमे ऐसी अर्थनिष्ठा नही होती पर शब्दनिष्ठा तीव्र होती है. फलतः प्रमाण विवेचनकी प्रक्रिया द्वारा इन्हें निःसंदिग्ध ज्ञानके प्राप्तिकी लालसा रहती है. ऐसे श्रोताओकी आस्था तो स्पष्ट होती है कि केवल श्रीकृष्ण ही सर्वभावसे भजनीय है परन्तु भाव निरन्तर उद्बुद्ध नही होता रहता. कभी-कभाक कथारसके आवेशके कारण अथवा प्रपञ्च-विस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिकी तात्कालिक अभिव्यक्तिके कारण ये स्नेहविकल हो पाते है; अन्यथा ज्ञानिजनोचित स्वास्थ्य (!) इनका बना रहता है.

तात्कालिक पूर्ण भावोदयके कारण यह पूर्ण अर्थनिष्ठा भी इनकी तात्कालिक ही होती है अतएव ये कथाश्रवणकालकी तन्मयताके बाद पुनः अन्यासक्त हो जाते हैं. ये भक्तिमार्गके अन्तर्गत कनिष्ठ प्रकारके श्रवणाधिकारी है.

(घ) प्रपत्तिमार्गीय जीव अन्यमार्गीय श्रोताओकी अपेक्षा उत्तमाधिकारी माना जा सकता है, पर शर्त इसमें यह है कि देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्म-आदि अनेकविध धार्मिक साधनो–के अभिमानोको छोडकर श्रीकृष्णके स्वरूप-गुणधर्म-लीलाओके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें जब उसके मनकी अनन्यरुचि पनप जाये यह प्रपत्तिमार्गीय श्रवणाधिकार अन्य मर्यादामार्गीय कर्मज्ञानोपासनाके अधिकारीसे तो उत्तम ही होता है.

इस तरह वक्ता एवम् श्रोता के अधिकारोका विवेचन यहा सम्पूर्ण होता है.

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९७६ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेटप्रोसेसद्वारा पुनर्मुद्रित रूप हैं. उस संस्करणमे इन दो ग्रन्थो जलभेद और पञ्चपद्यानिके अलावा परिशिष्टके रूपमें सेवाफलको तीन टीकायें भी प्रकाशित हुई थी. उन्हे यथास्थान रखनेके उद्देश्यसे यहा प्रकाशित नही किया गया है. उक्त संस्करणके सम्पादक श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा

श्रीघोरजलाल व्रजदास साकलिया और प्रकाशक गोस्वामी १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज (पोरबंदर) थे इन सभी महानुभावोका हम इस पुन.प्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करते है

शोधपत्रम् ।

आ समग्र मुद्रित थई गया पछी श्रीमद्गोस्वामिश्रीअनिरुद्धलालजी महाराजश्रीनी कृपाथी जलभेदनी भावार्थबोधिनी तथा श्रीपुरुषोत्तमजीनी पञ्चपद्यटीका ए बे हस्तलिखित पुस्तको आमनगरस्थ श्रीमदनमोहनलालमन्दिरस्थ ग्रन्थागारमांथी प्राप्त थया, तदाधारे आ द्वितीय शोधपत्र आवश्यक जणायु छे.

जलभेदशोधः ।

प. पं.	अशुद्धम्	शुद्धम्	प. पं.	अशुद्धम्	शुद्धम्
३८।११	क्रिया	इच्छा	४४।२७	सर्वांभोग्यत्वमित्यधिकं	सुधाविशेषणम् ।
३९।१०	दोष	विषय	४४।२७	देव	देह
३९।२१	निवर्तन	विवर्तन	४४।३०	प्रापक	भ्राम्यक
४०।११	शीतलयुक्त	शीतलकमलयुक्त	४५।९	न कार्यं	कार्यं
४०।१०	वलितं	पङ्किल	४५।१५	रहित	सहित
४३।१०	दहक	दाहक	४५।२०	यदा	सर्वथा यदा
४४।९	मोहन	मोहेन	४५।२२	तिरोहित-	मायया तिरोहित
४४।१५	असौ भक्त्यर्थं	सायुज्यार्थं	४५।२७	पूर्वोक्ता अमृत	पूर्वोक्तामृत
४४।२४	गुणान् न्यून	गुणान् नतु न्यूनाधिक्य	४५।३१	मल	बाल

अन्तिमश्लोकविवरणमेवं वाचनीयम्—गता जीवाना भगवदंशत्वाभानात् वा प्राप्ता एतादृशा भगवतो विष्णोर्व्यापकस्य सर्वेषु भावरूपेण प्रकटस्य गुणा स्वरूपत एतादृशं स्वरूपमिति फलतश्च एतादृशं फलमिति निरूपिता नितरां रूपिता स्वरूपेण प्रकटीकृता इत्यर्थं ।

श्रीमदाचार्यपादाब्जरेणवो मयि संततम् । कृपयन्तु सदा स्वीयं मत्वा कृष्णप्रबोधका ॥ १ ॥
श्रीविठ्ठलपदाम्भोजरेणुप्रकाशिना मया । विवृतिर्जलभेदस्य कृता भावार्थबोधिनी ॥ २ ॥

पञ्चपद्यशोधः ।

प पं	अशुद्धम्	शुद्धम्	प पं	अशुद्धम्	शुद्धम्
५४।७	भक्तिरेव	भक्तिवृद्धिरेव	५५।१	अथ	तत्र
५४।१०	भगवत्कीर्तन	भगवत्कृपया कीर्तन	५५।३	संबन्ध	संबन्धाय
५४।११	संबन्ध	संबन्धि	५५।१२	ते	तत्
५४।१५	भाव सम्भवरूप	भावसंभवरूप	५५।१३	दिदृक्षते	वीक्षते
५४।१८	विदुरमैत्रेयज्ञान	विदुरे मैत्रेयज्ञानसंक्रमस्य मैत्रेये विदुरभक्तिसंक्रमस्य	५५।१७	तथाहि	तत्र हि
५४।२९	तादृशमेव	तादृशमेव	५६।७	पतितपावनादिक	पतितपावनत्वादिकं चानारोपितरूपं

प्रस्तावना ।

श्रीसुदामापुरीस्थ श्रीमद्गोस्वामि श्रीजीवनलालजीना निःसंकोच द्रव्यसाहाय्यथी चार टीका सहित सेवाफल, छ टीका सहित निरोधलक्षण, अने अष्ट टीका सहित सन्न्यासनिर्णयनु प्राकट्य थयु छे उक्त त्रण पुस्तकना मुद्रणमां वपरायलु द्रव्य पुस्तकोनो विक्रय करी पाछु लेवानी आपश्रीनी इच्छा न हती, परन्तु विक्रयमांथी प्राप्त थतां द्रव्यथी अन्य सांप्रदायिकग्रन्थो छपाववा एवी हती तदिच्छानुसार उक्त त्रण पुस्तकोना वेचाणमांथी उत्पन्न थयला द्रव्यसाहाय्यथी चार टीका सहित जलभेद, तेना बे स्वतंत्र लेख, बे टीका सहित पंचपद्य, तथा नूतन प्राप्त थयली सेवाफलनी त्रण टीकाओ ए सर्वनु मुद्रण थाय छे अर्थात् आ ग्रन्थनु प्राकट्य पण उपर दर्शाव्या प्रमाणे श्रीजीवनलालजी महाराजश्रीनी संपूर्ण कृपाथी थयु छे, अने वैष्णवो एतदर्थ एओश्रीना ऋणी छे आपश्रीनी कृपा हशे अने वैष्णवोनु सौभाग्य हशे तो चतुर्दश टीका सहित भक्तिवर्धिनीनु दर्शन पण सत्वर थशे

१ जलभेद उपर चार टीकाओ प्राप्त थई छे तेमां प्रथम श्रीकल्याणरायजीनी छे उक्त टीकानी एक प्रति तो श्रीहरिरायजीना निज श्रीहस्ताक्षरमां लखेली छे आ टीकाना मुद्रणमा मुख्य आधार तेनो ज लीधो छे परन्तु अन्य प्रतिओ पण वारवार मुद्रणमां उपयोगी थई पडी हती नीचे जणावेली प्रतिओने आधारे आ टीकानु मुद्रण थयु छे १ श्रीहरिरायजीना श्रीहस्ताक्षरनी, २ नटपुरस्थ ब्राह्मण वैष्णव तापीबाईनी, ३ पंडित गट्टूलालजीनी ४ श्रीजीवनलालजी महाराजनी, ५ पं गट्टूलालजीनी नूतन, ६ पं गट्टूलालजीनी प्राचीन, ७ पं गट्टूलालसंग्रहस्थ मूल श्रीपीतांबरजीनी प्राचीन आ सप्त पुस्तकोने आधारे आ टीकानु शोधन करी मुद्रण कर्यु छे टीकाकार श्रीकल्याणरायजी श्रीगुसांईजीना पौत्र थाय अने श्रीहरिरायजीना पितृचरण थाय विशेष परिचय एओश्रीनो सेवाफलमा कराव्यो छे

२ द्वितीय टीका श्रीपुरुषोत्तमजी महाराजनी छे एओश्रीनो परिचय सेवाफलादिमां कराव्यो छे एओश्रीनी टीकानु मुद्रण नीचे जणावेली प्रतओना आधारे थयु छ १ शास्त्री भाई नारायणनी प्राचीन शुद्ध, २ पं गट्टूलालजीनी नूतन, ३ पं गट्टूलालजीनी नूतन मुद्रित ४ पं गट्टूलालजीनी प्राचीन शुद्ध, ५ श्रीमद्गोस्वामि श्रीजीवनलालजीनी नूतन शुद्ध, ६ स्तम्भतीर्थस्थ शास्त्री भद्रशंकरनी प्राय शुद्ध, आ सर्व पुस्तको शुद्ध छे

३ तृतीय टीका अमे श्रीवल्लभ श्रीगोकुलनाथजीना नामथी मुद्रित करी छे, परन्तु ए टीका श्रीमनी छे एम कहेवामां अमारी कल्पना विना अन्य प्रमाण नथी अमारी कल्पनानो आधार आ छे आ टीका अमने हरिइच्छाथी श्रीनाथद्वारादि अमे गया हता त्यां प्राप्त थई ए प्रति उपर नाम नथी मात्र बाजु उपर 'जल टी गो' आटलु प्रत्येक पत्र उपर लख्यु छे संवत् १७५८ मां लखेली छे परंपरा पण छे के श्रीगोकुलनाथजीए जलभेदनी टीका लखी छे आ टीकानी भाषा तथा आरंभ तथा अन्तना मंगलाचरणना श्लोको श्रीगोकुलनाथजीनी निरोधलक्षण तथा सेवाफलनी टीकाओना सदृश छे 'अग्नि' शब्दनो अर्थ श्रीकल्याणरायजीए श्रीमद्वल्लभाचार्यजीपरत्वे घटाव्यो, ते संबन्धमा संप्रदायमां महान् ऊहापोह थयो हतो एम श्रीहरिरायजीना 'पूर्णा भगवदीया' ए श्लोकना स्वतन्त्र लेखथी मालूम पडे छे आ टीकामां तेज तात्पर्य रागद्वेषथी मुक्त थई स्वीकार्यु छे श्रीगोकुलनाथजी निज शिष्य श्रीकल्याणरायजी तथा श्रीहरिरायजीनु मत अयुक्त नथी ए दर्शावे छे, छतां 'अग्नि' शब्दनो रुद्र' अर्थ करनार टीकाकार प्रति समभाव राखे छे 'अग्नि नो अर्थ रुद्र छे एम कथनार टीकाकार जो श्रीद्वारकेशजी–तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीना ज्येष्ठ पुत्र होय तो उपर जणावेलु अनुमान सर्वथा असंभवित नथी लागतु

४ चतुर्थ टीका कोनी कहेवी ए पण संशयग्रस्त छे अमारी पासे भक्तिवर्धिनीनी एक टीका छे, तेनु मंगलाचरण अने अत्र मुद्रित टीकानु मंगलाचरण वांचता उभयनु ऐककर्तृत्व स्पष्ट स्फुरे छे उक्त

१ श्लथन्देस्वेदबिन्दुश्लथितमुपकमलस्तामवष्टभ्य जातो निष्पन्द भ्रान्तियुक्तो मलयजपवनासेवित पुष्पतल्पे ।
श्रीराधावक्त्रपद्माहृतमधुविरह पानघूर्णायमानोद्रिक्त स्नेहार्द्रदृष्टि प्रतिफलतु हृदो शीघ्रमेव व्रजेश ॥ १ ॥

भक्तिवर्धिनीनी टीकानी बे प्रति अमारी पासे छे, तेमां एक उपर श्रीबालकृष्णजीकृत टीका एम लखेलु होवाथी अमे 'श्रीबालकृष्णकृत' आ टीका छे एम कल्प्यु छे परन्तु तेज पुस्तकनी अन्य प्रति उपर श्रीद्वारकेशकृतटीका एम लखेलु छे जो एम ज होय तो आ टीका श्रीद्वारकेशकृत मानवी उचित छे. श्रीद्वारकेशजीनी बालबोधकृष्णाश्रयादि उपर करेली टीकाओनु दर्शन आपणने थाय छे श्रीपुरुषोत्तमजी पण आ टीकाकार श्रीद्वारकेशजीना मतनो उपन्यास बालबोधादिमां करे छे अत्र मुद्रित करेली जलभेदनी तृतीय टीकाना कर्ता–श्रीगोकुलनाथजीने आ टीकाकारनी खबर छे अपि शब्दनो अर्थ हद्द आज टीकाकार करेछे आ टीका पण आथी बहु प्राचीन ठरे छे आ टीकानी एक ज प्रति पंडित गट्टूलालना संग्रहमांथी प्राप्त थई हती, आ प्रति अनेक स्थले त्रुटित, संदिग्ध अने अशुद्ध हती बहु प्रयासथी आ टीका अमे शोधी छे, छतां एमां स्खलनो अमे न ज कर्यां होय तो प्रभुकृपा ज समजवी

५ 'पूर्णा भगवदीया' ए श्लोक उपर निजपितृचरण श्रीकल्याणरायजीनी टीका अयुक्त नथी ए दर्शाववानो काइक रागयुक्त प्रयत्न श्रीहरिरायजीए अत्र कर्यो छे आनी त्रण प्रति प्राप्त थई छे एक प गट्टूलालानी, द्वितीय यात्रामांथी, अने तृतीय कचरामांथी आ परिशिष्ट प्रथम छे

६ 'पूर्णा भगवदीया' उपर कोइनो श्रीवा–भठेश श्रीनाथभट्टनो स्वतन्त्र लेख छे आ लेख श्रीबालकृष्णजीनी श्रीमधुराष्टकनी टीकाना पुस्तकने अन्तेलखेलो हतो आ लेख युक्त वा अयुक्त छे वा आचार्याशय प्रकाश करे छे के नहि ते चर्चामां नहि उतरता एटलु तो कहीशु के ए वाचवामा विनोद छे आ पुस्तक प गट्टूलालनु छे आ परिशिष्ट द्वितीय छे

७ पञ्चपद्यनी टीका प्रथम श्रीहरिरायजीकृत छे आ टीकानु मुद्रण त्रण पुस्तकना आधारे कर्युं छे एक श्रीजीवनलालजी महाराजनु अने अन्य द्वय प गट्टूलालजीना संग्रहना

८ पञ्चपद्यनी द्वितीय टीका श्रीपुरुषोत्तमजीकृत छे आ टीकानु मुद्रण बे पुस्तकना आधारे थयु छे प्रथम प गट्टूलालजीनु, अने द्वितीय भगवद्धर्मपरायण प बलभद्रशर्मानु

९ सेवाफलनी अमुद्रित त्रण टीकाओ छे आ टीकाओ अमने यात्रामां प्राप्त थई छे प्रत्येकनी एक एक प्रति मळी हती आ टीकाओना कर्ताओना नाम अमने अज्ञात छे आ सर्व टीकाओ प्राचीन छे.

१० जलभेद ग्रन्थ तैत्तिरीयसंहितामा मन्त्र उपरथी सूचित थयलो छे एमा जलस्थानथी जलना गुण–भावनु निरूपण छे डॉ राजेन्द्रलालमित्र कहे छे तेम रोगोना जलोपचारनु निरूपण नथी पण पद्यमां श्रोताना गुणभावनु निरूपण छे

११ जलभेदनी श्रीकल्याणरायजीनी टीकानी प्रति धीरजलाल काशीनाथ पञ्चाए करी हती श्रीपुरुषोत्तमजीनी टीका तथा 'पूर्णा भगवदीया' उपरनो श्रीहरिरायजीनो लेख, तथा पञ्चपद्यनी बन्ने टीका वहेचरदास मगनलाल शाहे प्रेसमाटे लखी आपी हती श्रीवल्लभनी टीका शास्त्री कल्याणजीए लखी आपी हती अने श्रीबालकृष्णकृत टीका तथा 'पूर्णा भगवदीया' नो द्वितीय स्वतन्त्र लेख शास्त्री भद्रशंकर जयशंकरे लखी आप्यो हतो आ सर्वेनु निरपेक्ष साहाय्य स्तुत्य छे ए सर्वेनो उपकार स्वीकारीए छीए

पुस्तक संग्रहमां पंडित गट्टूलालजीनी संस्थानो उपकार सर्वथा अविस्मरणीय छे तदुपरान्त प बलभद्रशर्मा, प गोकुलदासजी, शास्त्री भद्रशंकर, नटपुरस्थ वैष्णवतापीबाई ए सर्वेनु साहाय्य विस्मरणीय नथी

आश्विन शुक्ल सप्तमी
१९७५

मूलचन्द्र तेलीवाला.
घैर्यलाल सांकलीया.

कूप्याभ्यः स्वाहा कूल्याभ्यः स्वाहा विकर्याभ्यः स्वाहाऽवट्याभ्यः स्वाहा खन्याभ्यः स्वाहा ह्रद्याभ्यः स्वाहा सूद्याभ्यः स्वाहा सरस्याभ्यः स्वाहा वैशन्तीभ्यः स्वाहा पल्वल्याभ्यः स्वाहा वर्ष्याभ्यः स्वाहाऽवर्ष्याभ्यः स्वाहा ह्रादुनीभ्यः स्वाहा पृष्वाभ्यः स्वाहा स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा स्थावराभ्यः स्वाहा नादेयीभ्यः स्वाहा सैन्धवीभ्यः स्वाहा समुद्रियाभ्यः स्वाहा सर्वाभ्यः स्वाहा ॥ १३ ॥

जलभेदः ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥
गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।
गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥
कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः ।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥
क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।
वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥
जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।
ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥
सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।
सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥
अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥ ७ ॥
योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।
तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥
अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥
देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ।
साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।
यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥
स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।
अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥
एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत् सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।
लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।
गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥
सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥
तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।
अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥
रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥
उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥
इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटितो जलभेदः समाप्तः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसा रतिवर्जिताः ।
अनिर्वृता लोकवेदे मुख्यास्ते श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥
विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।
अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥
निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।
ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥ ३ ॥
पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।
अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥
अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।
देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितानि पञ्चपद्यानि ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीकल्याणरायविरचितविवृतिसमेतः ।

भावितं विविधैर्भावैः प्रेष्ठभावितया मुहुः । भावये राधया कृष्णं भवितुं भावभावुकः ॥ १ ॥
यद्वाक्पीयूषभावानां भावनाद्भवो भवः । भावये तान्निजाचार्यपदो भावोपलब्धये ॥ २ ॥

श्रीकृष्णे केवलभावेनापि 'केवलेन हि भावेने'ति वाक्यात् तत्प्राप्तेः 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जित'मित्यादिभिर्भावहीनस्य ज्ञानादेरप्यसमर्थत्वादस्नेहभोजनमिव भावहीनं सर्वमिति श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वीयानां भावपोषार्थं कृपया भावनिरूपणं प्रतिजानते नमस्कृत्येति ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

नमसो गतिसंज्ञकत्वात् कुगतिप्रादय इति समासादत्र ल्यप् विसर्गस्य सकारो 'नमस्पुरसोर्गत्यो'रिति । 'यो भावान् भक्तमाहात्म्यं ज्ञापयित्वोद्धवादिषु । अहरत्सर्वदुःखानि वन्दितोभीष्टदोस्तु स' इत्याशयेनाहुः **हरिं नमस्कृत्येति** । भगवति नमनातिरिक्तस्य कर्तुमशक्यत्वात् । वक्ष्य इति । निरूपिता भावाः प्रथमत आत्मने फलन्तीत्यात्मनेपदम् । **तद्गुणानां विभेदकानिति** । ते प्रसिद्धाश्च ते गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तेषां विभेदकान् निवर्तकानित्यर्थः । यद्वा । भगवतो ये गुणा धर्मास्तेषां निवर्तकान् । भगवतो भक्तार्थं सर्वसमर्त्वादेस्त्यागात् । 'ये भजन्ती'ति वाक्यात् । यद्वा । तेषां जीवानां गुणा धर्मास्तेषां वैलक्षण्यसम्पादकानित्यर्थः । अथवा भगवतो ये धर्मास्तानानीयात्र दायकानित्यर्थः । **भावान् विंशतिधा भिन्नानिति** । भावशब्दस्यानेकार्थत्वेप्यत्र स्नेहस्तज्जन्याश्चावस्थाविशेषा भावा उच्यन्ते । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते' इत्यादिभिः स्नेहाभिधानात् । गुणभेदैः कृत्वा विंशतिप्रकारैर्भिन्नान् । **सर्वसन्देहवारकानिति** । विधेयविशेषणमेतत् । भगवद्भजने सर्वेषां साधनानां स्वरूपतः फलतश्च ये सन्देहास्तन्निवारकान् । यद्वा । भावैर्भगवति स्फुरिते सर्वे सन्देहाः स्वत एव निवर्त्स्यन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

भावानां स्वत एकस्वरूपत्वेपि गुणभेदैरेव भेदाद्भावभेदकान् गुणभेदानेवाहुः गुणेति ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।
गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

जले यावन्तो भेदा वेदेन सम्मता ज्ञाता वा तावन्तो गुणभेदास्तथेत्यर्थः । वेदोक्त-

जलभेदद्दष्टान्तकरणाद्भावानां शुद्धत्वालौकिकत्वतापहारकत्वशोधकत्वाप्यायकत्वानि ध्वनितानि । अत्र 'कूप्याम्यः स्वाहे'त्यारभ्य 'सर्वाभ्यः स्वाहे'त्यन्ता तैत्तिरीयश्रुतिरनुसन्धेया ।

तत्र प्रथमं गानप्रियत्वाद्गोविन्दस्य गायकानां भावमाहुः **गायका** इति । **गन्धर्वा** इति प्रसिद्धाः गाननिपुणाः कूपतुल्यास्तेषां भावः तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा कूपजलं जाड्यकाले कोष्णत्वाज्जाड्यनिवर्तकमुष्णकाले शीतलत्वात्तापनिवर्तकं व्यवह्रियमाणं वर्धते, समीचीनं च भवति, तथैतेषां भावोऽतिजाड्ये पुंसि जाड्यनिवर्तकः, संसारतप्ते तापनिवर्तको गीयमानो वर्धते, समीचीनश्च भवति । यथा रज्ज्वादिभिः कूपजलं गृह्यते तथा गानद्वारैवैतेषां भावो ग्राह्यः ॥ २ ॥

ननु गायकाः सर्वे तुल्या एव नेत्याहुः कूपभेदास्त्विति ।

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः ।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

यथा केचित् कूपाः स्वादुपरिणामसुखकारिजलाः, केचिदमिष्टजलाः, केचित् क्षारजलाः, तिक्तजलाः, परिणामदुःखजलाश्च, तथा गायका अपि पुरुषोत्तमतद्विभूतिगुणावतारांशादिलीलाभेदेन भगवन्तं गायन्तः सत्त्वगुणादिभिरुपलक्षिताश्चाकामा मोक्षकामाः स्वर्गकामा लौकिककामाश्चेति बहुधा इति पूर्वोक्तकूपविशेषैस्तुल्या इति तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । अत एवोक्तं कपिलदेवैर्देवहूतिं प्रति 'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते । स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते । अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भमात्सर्यमेव च । संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः । विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा । अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः । कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् । यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः । मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् । अहैतुक्यप्रतिहता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।' इत्यादि । अत एव स्वभावभूतानां गुणानां मार्गेण वृत्तिभेदेन पुंसामभिप्रायो भिद्यते इति फलसङ्कल्पभेदाद्भक्तिभेद इति गुणानां मिश्रणेन तामसादिभक्तिषु त्रयस्त्रयः प्रकारा इति श्रवणादिषु प्रत्येकं नवनव भेदा इति सगुणा भक्तिरेकाशीतिप्रकारा, निर्गुणा त्वेकविधैवेति, द्व्यशीतिप्रकारा भक्तिः प्रयतेतराम् । तदेव श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैर्भक्तिहंसे निरूपितम् । 'श्रवणादिनवकमप्यधिकारिभेदेन क्रियमाणं सत्कर्मज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेनानेकविधं भवती'ति । द्वितीयं भावमाहुः **कुल्याः पौराणिका** इति । **कुल्या** अल्पा कृत्रिमा सरित् । पुराणमधीयते विदन्ति वा पौराणिकाः पुराणेतिहासपाठकाः कृत्रिमाल्पनदीतुल्याः, तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा भूमौ कुल्या जलाशयेन पारम्पर्ययुताः परम्परासम्बद्धास्तथा एतेपि भुवि पुराणार्थप्राप्तौ पारम्पर्ययुताः सद्गुरूपदेशादवगतपुराणार्थाः । सद्गुरूपदेशं विना

श्रीभागवतविष्णुपुराणादौ भापात्रयासुरव्यामोहकलीलास्वरूपाज्ञाने सर्वमनर्थकं स्यात् । यथा प्रत्यहं यत्ने क्रियमाणे कुल्या प्रवहति, नान्यथा, तथा पुराणपाठ एव तेषां भावोदयो, नान्यदेति दृष्टान्तेन सूचितम् ॥ ३ ॥

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।
वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

तृतीयं भावमाहुः **क्षेत्रप्रविष्टा** इति । च पुनस्ते पूर्वोक्ताः । 'क्षेत्रं पत्नी-
शरीरयो'रिति कोशाद्देहकुटुम्बयोः पोपार्थं पुराणेतिहासपाठकाः स्वसंसारस्योत्पत्तिहेतवो
भवन्तीत्यर्थः । कुल्याजलान्यपि क्षेत्रप्रविष्टानि सम्यक् सारस्यान्नस्योत्पत्तिहेतवो भव-
न्ति । न बहिरन्तःशुद्धिहेतुस्नानाचमनादौ हेतवस्तथैतेपि न स्वर्गापवर्गहेतवो भवन्ति ।
अपिशब्दात् क्षेत्रप्रविष्टा गायका अपि संसारहेतवो भवन्तीत्यर्थः । अत एवोक्तं भ-
क्तिहंसे 'वृत्त्यर्थं चेत् कृपिवल्लौकिक एवे'ति । गीतायां च 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति ।
श्रीभागवते चोक्तम् । 'यस्त आशिप आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् । आशासानो
न वै भृत्यः स्वामिन्याशिप आत्मनः ॥ त्वत्पादुके ह्यविरतं परि ये चरन्ति ध्यायन्त्यभद्रनशने
शुचयो गृणन्ति । विन्दन्ति ते कमलनाभभवापवर्गमाशासते यदि त आशिप ईश नान्य'इति ।
चतुर्थं भावमाहुः **वेश्यादिसहिता** इति । आदिपदात् कुलटातत्संगिपूताद्य उच्य-
न्ते । 'न तथास्य भवेन् मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योपित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गि-
सङ्गत' इति कपिलदेववाक्यात् । एतादृशा गायका गर्ततुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः ।
यदि विपर्यैर्बाध्यमाना अपि दुराचारा अपि समयभेदेनापि भगवन्तमेव भजेयुस्तदापि
समीचीना भवेयुस्तदपि नास्तीत्याहुः **मत्ता** इति । अतः स्वस्वाम्यनुसन्धानरहिताः ।
नह्येते भीत्या माहात्म्यधिया वा कृष्णं गायन्ति, किन्तूत्तमस्वरगीतवशात् कदाचिदतो
गर्ततुल्या एवेत्यर्थः । अतो नैपां भावस्य कूपकुल्याजलवदाप्यायकत्वादिगुणयोग
इत्यर्थः । अमत्तास्तु कूपभेदेषु ज्ञेयाः ॥ ४ ॥

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।
ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

पञ्चमं भावमाहुः **जलार्थमेवेति** । प्रक्षालनोच्छिष्टजलप्रक्षेपार्थमेव ये गर्तास्तत्तुल्या
नीचा गानोपजीविन इत्यर्थः । नीचत्वेन वाह्योत्कर्षाभावाद्गानोपजीवनेनान्तरोत्कर्षाभावादु-
च्छिष्टजलगर्ततुल्यत्वमेवैपां, तेनोच्छिष्टगर्तजलवत्तेपां भावो न सद्भिर्ग्राह्य इत्यर्थः । यद्वा ।
जलनिःसरणार्थं गर्ता इत्यर्थः । पौराणिकनिरूपणानन्तरं पुनर्यद्गायकनिरूपणं तदेतादृशानां
पौराणिकानामेतद्गायकतुल्यत्वज्ञापनार्थम् । षष्ठं भावमाहुः **ह्रदास्त्विति** । तुशब्दः पण्डित-
प्रकरणबोधनार्थः । भगवच्छास्त्रं गीताभागवतादिकं तत्र तत्पराः । न तु मायावादादिमते ।
एतादृशाः पण्डिता ह्रदतुल्यास्तेपां भावो ह्रदजलतुल्य इत्यर्थः । यथा ह्रदजलमन्तःशी-

तलत्वादगाधत्वाच्च नातपेन पद्मादिभिश्च तापयितुं कलुषयितुं वा शक्यमेवमेषां भावोपि सांसारिकतापेन कुतर्कादिभिश्च न तापयितुं कलुषयितुं वा शक्य इति भावः ॥ ५ ॥

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।
सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

सप्तमं भावमाहुः सन्देहेति । भगवच्छास्त्रे सन्देहवारकाः गम्भीरं मानसं येषामित्यन्तर्निष्ठा एतादृशाः पण्डिताः । सुष्ठु उदकं येषां तादृशह्रदविशेषतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथोत्तमोदकानां जलं मनःप्रसादहेतुरप्येवं भगवच्छास्त्रसन्देहवारकानामन्तर्निष्ठानां भावोपि मनःप्रसादहेतुरपीति भावः । वाप्यो वा सूदा उच्यन्ते । अष्टमं भावमाहुः सरःकमलसम्पूर्णा इति । भगवच्छास्त्रे संदेहवारकाः अन्तर्निष्ठा वा ज्ञातारः प्रेमयुक्ताः सन्तः, सरःसंबन्धिकमलानि सम्पूर्णानि यासु तादृश्य आप एततुल्यभावा इत्यर्थः । जलाशयं विहायात्र जलदृष्टान्तकरणादेतेषामपि भावतुल्यत्वं सूचितम् । यथा एतादृश्य आपः सकलेन्द्रियसुखदेतवः कमलसौरभभृङ्गसारसादिसाहित्यात् तथैतेषां भावा अपीति भावः ॥ ६ ॥

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥ ७ ॥

नवमं भावमाहुः अल्पेति । अल्पं श्रुतमध्ययनं येषां ते प्रेमयुक्ताः सन्तो वेशन्तोऽल्पसरस्तत्तुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । दशमं भावमाहुः कर्मशुद्धा इति । कर्मभिः शुद्धाः, कर्माणि कृत्वेश्वरे ये समर्पयन्ति तेषां कर्म चित्तशोधकं भवतीति कर्मशुद्धाः । 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पण'मिति भगवद्वाक्यात् । एते पल्वलमल्पसरोविशेषस्तत्तुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । अल्पा श्रुतिः पुराणादिश्रवणं भक्तिर्येषाम्, अल्पश्रुत्या वा भक्तिर्येषामिति तेपि तथा, पल्वलजलतुल्या इत्यर्थः । यथा वेशन्तपल्वलयोरल्पतडागत्वात्तज्जलं पूर्वं निर्मलमपि वराहाद्यवगाहितं कलुषं भवति, तथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' 'स्वर्गकामः अग्निष्टोमेन, स्वर्गकामो यजेते'त्यादिवाक्यात् सकामानामेव यागाद्यधिकारात् फलाश्रवणेपि विश्वजिन्न्यायेन फलकल्पनात्रेश्वरार्पणार्थं कर्म कर्तव्यम्, किन्तु फलार्थमेव, यागानधिकारिणामेव भक्त्यादावधिकार इत्यादिभिः कर्मजडानामसद्वादैस्तेषामपि भावः कलुषो भवति । तेषां 'मत्कर्मपरमो भव, मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि, मन्मना भवे'त्यादिप्रमाणानामज्ञानादित्यर्थः । वेशन्तपल्वलयोर्लोके पर्यायत्वेपि 'वेशन्तीभ्यः स्वाहा, पल्वल्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्या तयोर्जलयोर्भेदनिर्देशात् । स्वादुसौरभादितदभावाभ्यां वा भेदो ज्ञेयः ॥ ७ ॥

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।
तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

एकादशभावमाहुः योगध्यानादीति । योगोष्टाङ्गः, ध्यानं प्रादेशमात्रादेः,

आदिपदाद् बाह्यपदार्थास्मृतिः, एतत्समानाधिकरणा गुणा भावा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः । वृष्टिजलतुल्याः कथिता इत्यर्थः । यथा वृष्टिसमये वृष्टिजलं सर्वदेशं व्याप्नोति, सर्वत्र सुलभमाधारगुणमादाय कार्यविशेषमङ्कुरादिकं च जनयति, तथैतेषां योगादिसमय एव भगवद्भावो देहेन्द्रियादि सर्वं व्याप्नोति, सुलभः पात्रविशेषे स्वसजातीयं भावविशेषं च जनयति, अत एव संयुक्ता इत्यनेन सम्यग्योगो निरूपित इति भावः । द्वादशं भावमाहुः तपोज्ञानादिभावेनेति । तपः पञ्चाग्निसहनादि, ज्ञानं जीवात्मनः, आदिपदाद्वर्णाश्रमाचारश्च, प्रत्येकमेतान्येव भावस्तपोज्ञानादिभिर्वा यो भावस्तेनोपलक्षिताः स्वेदजलतुल्याः कथितास्तेषां भावः स्वेदजलतुल्य इत्यर्थः । केचित् तपसैव भगवानाराध्य इति मन्यन्ते । वस्तुतो भक्तिसाध्य एव । 'मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौजस्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः । नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाये'त्यादिवाक्यैः । केचिदितरभिन्नत्वेन स्वात्मज्ञानान्मोक्ष इति तदेव भजनमिति मन्यन्ते । वस्तुतस्तु 'तमेवं विद्वानमृत इह भवती'त्यादिर्भगवज्ज्ञानमेव मोक्षसाधनम् । 'श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये' इति वाक्ये केवलात्मज्ञानस्य निन्दितत्वाच्च । केचित्तु 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् । विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारण'मिति वाक्याद्वर्णाश्रमाचारमेव भगवद्भजनं मन्यन्ते । तदपि न विचारक्षमम् । वर्णाश्रमाचारस्याधिकारिविशेषणत्वादाराधनं तु श्रवणादिरूपं भिन्नमेव । 'धर्मः सत्यदयोपेतः, धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम्, विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्'। मन्ये तदर्पितमनोवचने हितार्थः प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमान्' इत्यादिभिर्भगवद्भजनाभावे भगवद्वैमुख्ये च धर्मस्याप्रयोजकत्वनिरूपणात् । 'वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः । स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः' इति भगवतोद्वयं प्रत्याचारभक्त्योर्भेदेन निरूपणात् । द्विजपञ्चयनुग्रहे द्विजैर्भगवद्वैमुख्ये त्रिवृद्विद्यादीनां धिक्कारोक्तेश्च । 'ये त्विहासक्तमनस' इत्यादिवाक्यैः सर्वकर्माणि कुर्वतामपि भगवद्वैमुख्योक्तेश्च । अत एव 'परमापदमापन्नो हर्षे वा समुपस्थिते । नैकादशीं त्यजेद्यस्तु यस्य दीक्षास्ति वैष्णवी ।' 'समात्मा सर्वजीवेषु निजाचारादविच्युतः । विष्ण्वर्पिताखिलाचारः स हि वैष्णव उच्यत' इत्येभिः पुराणवाक्यैर्माधवाचार्यैः कालमाधवीये वैष्णवलक्षणमभिधाय वैष्णवस्मार्तयोर्भेदो निरूपितः । वर्णाश्रमाचारस्यैव भजनरूपत्वे सम्प्रत्युक्तसकलविरोधात् । यथा स्वेदजलं न शुद्धिहेतुस्नानाचमनाद्युपयोगि तर्षनिवर्तकं तापहारकं वा भवति, तथैतेषां भावोपीति भावः ॥ ८ ॥

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

त्रयोदशं भावमाहुः अलौकिकेनेति । महदनुग्रहादिना प्राप्तज्ञानेन ये सर्वदुः-

खड्दुर्गुणा ऐश्वर्यादयः प्रोक्ताः कदाचिदेव प्रतीयमानाः वेदादिगम्यास्ते गुणाः दूरात् पर्वतादेर्धारारूपेण पततां जलानां ये शब्दास्तत्सदृशाः प्रकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । यथा धाराजलशब्दाः (पर्वतपतित)धाराजलानां ज्ञापकास्तयोच्यमाना भगवद्गुणा अपि वक्तॄणां धाराजलसदृशभावज्ञापका इत्यर्थः । यथा धाराजलं नैर्मल्यशैत्यमाधुर्याविच्छेदयोगाद्दर्शनस्पर्शनस्नानाचमनपानादिभिर्मनोहारि तापहारि सौहित्यसुखकारि, तथैतेषां काव्यादिषु प्रतीयमानो भावोपीति भावः ॥ ९ ॥

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ।
साधनादिप्रकारेण नवधाभक्तिमार्गतः ॥ १० ॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

चतुर्दशं भावमाहुः देवा इति । श्रीपुरुषोत्तमव्यतिरिक्तानां देवानामादिपदात् पितृमातृपतिज्येष्ठभ्रात्रादय उच्यन्ते । एतेषामेव उपासनेऽप्ययमेव देवः परमेश्वरो, वयं परमेश्वरभजनमेव कुर्मः । पितैवास्माकमीश्वरः, पितृसेवा विष्णुभजनमेव कुर्म इत्येवमादयो ये उद्भूता भावास्ते, अथ च देवाः शिवादयः आदिपदाद् यक्षरक्षःपिशाचादयः । तेषां देवादीनामुपासनमुद्भूतमुद्भूतं येषु भगवद्भावेषु ते भावा देवाद्युपासनेन सह चोद्भूता भगवद्भावास्ते च भूमेरुद्गताः पृष्वा इव । 'अवस्या यजन्याः पृष्वा' इति वेदभाष्ये । पृष्वा जलबिन्दवस्तुषारकणाः जलबुद्बुदा वा त इवेत्यर्थः । तेषां भ्रान्त्या भजनात्तुल्यतयैव सर्वभजनाय । महापुरुषाणां भगवद्भक्तानां भजनं तु भगवत्प्रीतिमुक्तिशुद्ध्यादिसाधकत्वाद्भिन्नरूपमेव । अत एव श्रीभागवते 'मद्भक्तपूजाभ्यधिका । तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः । प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् । सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदः । न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः । यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया । किरातहूणान्ध्रे'त्यादि । पित्रादिसेवायाः स्वर्गादिसाधकत्वान्न भगवत्फलसाधकत्वम् । अत एव भगवता गीतायां 'येप्यन्यदेवताभक्ता' इत्यत्र, स्वयजने विधिपूर्वकत्वाभाव उक्तो, विध्यभावे कर्मणि फलाभाववदत्रापि भगवत्फलं न भवतीत्याशयेन । ('यान्ति मद्याजिनोपि माम् । देवान् देवयजो यान्ती' तिवाक्यैः पुरुषोत्तमभजनकर्तुरेव पुरुषोत्तमप्राप्तिस्तस्यैव भगवान् योगक्षेमं वहतीति 'पुरुषोत्तमप्राप्तौ पुरुषोत्तमभजनमेव विधिर्नतु केनापि प्रकारेणान्यभजनमित्यत्र विध्यभावात् फलाभावो युक्त इति भावः ।)[१] यथा बिन्दवस्तुषारकणाः बुद्बुदजलं वा न स्नानाचमनपानादिभिः शुद्धितृप्त्यादिसाधकं तथैतेषां भावोपि न शुद्ध्यादिसाधक इत्यर्थः । पञ्चदशं भावमाहुः साधनादिप्रकारेणेति । साधनमादिः फलात् यस्मिन् प्रकारे तेन प्रकारेण नवधा भक्तिरेव मार्गो भगवत्प्राप्तिसाधनं तस्मात् क्रमेण प्रेमपूर्त्या स्फुरन्तो धर्मा येषां श्रवणादयो

१. ( ) एतच्चिह्नान्तरितभागः प्राचीनपुस्तकेषु न दृश्यते ।

नत्वेशादयो वा ते स्यन्दमानाः प्रस्रवणजलतुल्यभावाः प्रकीर्तिता इत्यर्थः । भक्तिमार्गे मर्यादया भगवदङ्गीकारादकामोपहतैरखिलवर्णाश्रमधर्मैः सत्त्वशुद्धौ भगवद्भक्तिरेव पुरुषार्थ इति शास्त्रार्थनिश्चयाच्छ्रवणादिभिस्तेषां भाव इति । यथा पर्वतोपरि वृष्टितडागादिसद्भावे प्रस्रवणजलं वर्धते तदभावे ह्रसत इति तत्सापेक्षं शुद्ध्यादिहेतुश्च, तथैतेषां भावोपि साधनानुसारी शुद्ध्यादिहेतुश्चेति भावः । इदमेवोक्तं भक्तिहंसे । 'आद्यस्तु तत्साधने भवति प्रवृत्तस्तस्यैव तद्वरणात्, परन्तु स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव तत्र प्रयोजकस्तदुत्पत्त्यनन्तरं च रागादेव तत्सम्बन्धिपदार्थे यतिष्यत इति विशेषप्रयोजकत्व'मिति । एकादशस्कन्धे च 'भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेनघ । पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् । श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् । परिनिष्ठा तु पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम । आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् । मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः । मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् । मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् । मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च । इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोऽस्यावशिष्यते' इत्यादिभिर्निरूपितम् । नवधा भक्तिस्तु 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसार्पिता विष्णोर्भक्तिश्चेन्नवलक्षणा । क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तम'मिति प्रह्लादैर्निरूपिता ॥ १० ॥

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥

स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

षोडशं भावमाहुः यादृशा इति । यादृशाः पूर्वमन्वयधानेन प्रोक्तास्तादृशा वृद्धिक्षयविवर्जिताश्चेत्, मर्यादैकप्रतिष्ठिताः मर्यादायामेव केवलाः प्रतिष्ठिताः, न तु ततोधिकविशेषाङ्गीकारयुक्तास्ते स्थावरा आपः स्थिरजलतुल्यभावाः समाख्याता इत्यर्थः । यद्वा । ये केचित् येनकेनचित् प्राप्तवृद्धिक्षयत्वविवर्जितप्रेमाणस्ते तथाप्रोक्ता इत्यर्थः । अत एव प्रेमस्वरूपं श्रूयते । 'आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यद्वर्धते । पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः सांप्रतं प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठता लाघव'मिति । यथैतज्जलं नातपेन शुष्यति स्नानादिहेतुश्च भवति, तथैतेषां भावोपि न संसारतापकुतर्कादिभिर्भिन्छति शुद्ध्यादिहेतुश्च भवतीति भावः ॥ ११½॥

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

सप्तदशं भावमाहुः अनेकजन्मेति । ये भावा अनेकजन्मसु 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते' इति वाक्यात् तपो-

ध्यानसमाधिभिः सम्यक्सिद्धाः तज्जन्मारभ्य सदा भुवि आधारभूते चात्मनि सङ्गः सत्सङ्गः आदिपदादन्नकालविशेषदेशविशेषाः दुःसङ्गादयश्च तेषां यौ गुणदोषौ ताभ्यां क्रमेण वृद्धिक्षययुताः, निरन्तर उद्गम उद्भवो गमनं च तेन युताः। एतादृशास्ते भावा नद्यः स्वतोऽसमुद्रगामिनदीजलतुल्याः परकीर्तिता इत्यर्थः। यथा नदीजलं वृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिक्षयवद्भवति, भूमिपर्वतादिगुणदोषाभ्यां गुणदोषवद्भवति, शुद्धितृड्यादिहेतुश्च भवति, तथैते भावा अपि तपोध्यानसमाधिसाध्यपापक्षयद्वारा जनिता इति शुद्ध्यादिहेतवः सत्सङ्गादिभिर्गुणवन्तो भवन्ति, वर्धन्ते च, दुःसङ्गादिभिर्दोषवन्तः भवन्ति, हीयन्ते चेति भावः ॥ १३ ॥

एतादृशाः स्वतश्चास्ते सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥
जडनारदमैत्र्याद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

अष्टादशं भावमाहुः एतादृशा इति । अव्यवधानेनोक्ता भावाः स्वतश्चाः निरुपाधिकाश्चेत्तदा ते सिन्धवः स्वतःसमुद्रगामिन्यो महानद्यस्तज्जलतुल्याः परिकीर्तिता इत्यर्थः । सिन्धुषु नदा अपि गृह्यन्ते । यथा महानदीजलप्रविष्टाः समुद्रं प्रविशन्ति, तथैतद्भावानुसारिणोपि दयासमुद्रं भगवन्तं प्रविशन्ति, महानदीजलवदेते भावा शुद्ध्यादिहेतवोपि भवन्तीति भावः । एकोनविंशं भावमाहुः पूर्णा भगवदीया इति । ये भगवदीयाः मत्तया सेवया पूर्णा 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः' येषामात्मादिकं भगवदर्थमपेक्षितं नत्वात्मार्थं भगवान् सेव्यस्ते समुद्राः रत्नाकरतुल्याः प्रकीर्तितास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । भगवदीयशब्दस्तु नामधेयस्य विकल्पेन वृद्धत्वाच्छेपार्थे छप्रत्ययः 'बहुलं छन्दसी'ति छसो विधानात् सिद्धः, पुराणप्रसिद्धोपि, वाचस्पत्यादिकोशे ज्ञेयः। तान् प्रसिद्धान् गणयन्ति शेषव्यासाग्निमारुता इति । जडनारदमैत्र्याद्या इति । शेषो भगवद्गुणपरः शय्यादिभावेन भगवन्तं सेवते विभूतिरूपश्च । 'अनन्तश्चास्मि नागाना'मिति वाक्यात् । व्यासः कलावतारः सदा भगवद्धर्मनिरूपणपरो यस्य पूर्णभगवद्धर्मनिरूपणेनात्मप्रसादः। अग्निर्भगवदास्यरूपः स्वयमेव येषां सर्वांशे सर्वस्वरूपः कृष्ण एव। मारुतो हनुमान् श्रीरघुनाथतद्गुणतत्परः। जडो जडभरतो योन्तःपूर्णभावाद्बहिर्जड इव प्रतीयते। नारदः सदा पुरुषोत्तमगुणगानैकतानः। मैत्रो मैत्रेयः पराशरशिष्यो भगवद्धर्मवक्ता । आद्यपदादुद्धवादयः । समुद्रदृष्टान्तेन यथा चन्द्रदर्शनादभिवृद्धतरङ्गितरङ्गो भवति, तथा भगवन्मुखचन्द्रदर्शनादेतेपि प्रवर्धमानभावा भवन्तीति भावः । अयमेव भावः कपिलदेवैरुक्तः 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः। स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत' इति ॥ १४½ ॥

पूर्णभावान् स्वरूपज्ञानभेदेन विलक्षणान्निरूपयन्ति लोकवेदगुणैरिति ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।

एके लोकमिश्रभावेन । एके वेदमिश्रभावेन । एके गुणैर्मिश्रभावेन हरिगुणान् वर्णयन्ति । ते क्रमेणोच्यन्ते । रामकृष्णादयो मनुष्या एव, परं बलादिनाधिका इति ज्ञात्वैके हरेर्गुणान् वर्णयन्ति । ते क्षारसमुद्रतुल्यास्तेषां भावस्तु तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षारजलं न तृषादिनिवर्तकं न वा तृप्तिसुखकारि तथैतेषां भावोपीति भावः । एके 'उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना' इत्यादिना वेदे भूम्युद्धारादेः कृष्णकर्तृकत्वेन निरूपणात् जगत्कर्तेव विविधशरीरेषु आविश्य कार्यं कृत्वा तानि त्यजतीति ज्ञात्वा हरेर्गुणान् वर्णयन्ति । ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा दधिमण्डस्यासारत्वान्न पुष्टिहेतुत्वम् । तथैतेषां भावस्यापीति भावः । मायागुणैर्विना भगवतः कर्तृत्वाभावात्तद्गुणैरेव भगवान् सर्वं करोतीति ज्ञात्वा हरेर्गुणान् ये वर्णयन्ति ते सुरोदतुल्यास्तेषां भावः सुरातुल्य इत्यर्थः । यथा सुरायाः स्वरूपविस्मारकत्वं दोषजनकत्वं तथैतद्भावस्यापीति भावः । भगवान् सर्वेश्वरः सर्वं कर्तुं समर्थ इति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान् वर्णयन्ति ते क्षीरोदतुल्यास्तेषां भावः क्षीरतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षीरं स्वादु मधुरं पुष्टिजनकं तथायं भावोपीति भावः । भगवान् महावीर्यः स्वभक्तानपि वीर्यवतः करोतीति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते घृतोदतुल्यास्तेषां भावो घृततुल्य इत्यर्थः । यथा घृतं वीर्यहेतुस्तथायं भावोपीति भावः । 'तं यथा यथोपासत' इतिश्रुतेः 'भगवान् लक्ष्मीकलत्रः सेवितो भुक्तिं मुक्तिं च यच्छती'ति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते त्विक्षुरसोदतुल्यास्तेषां भाव इक्षुरसतुल्य इत्यर्थः । यथेक्षुरसो मधुरोन्तस्तापनिवर्तकस्तथायं भावोपीति भावः । 'यशःस्वानुद्धरेत् कृष्णो यादृशांस्तादृशानपि । सर्वथा शरणं यातानतः सेव्यः स एव ही'ति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते शुद्धोदतुल्यास्तेषां भावः शुद्धोदकतुल्य इत्यर्थः । यथा शुद्धोदकं तापनिवृत्तिनैर्मल्यतृप्त्यादिहेतुस्तथायं भावोपीति । भगवान् चिद्रूपो ज्ञानपूर्णो ज्ञानगम्यः सर्वसमो मोक्षार्थं सेव्य इति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावो दधिमण्डतुल्य इत्यर्थः । भगवान् वैराग्यपूर्णो न किञ्चिदपेक्षते गृह्णाति वा सर्वैः पावित्र्यार्थं विहितत्वात्सर्वं समर्प्यते स्तूयते चेति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते क्षारोदतुल्यास्तेषां भावः क्षारजलतुल्यो, भगवद्वैराग्यस्य भिन्नरूपत्वादिति भावः । केवलसमुद्रदृष्टान्ते क्षारोदः शुद्धोदो वा ज्ञेयः ॥ १५½ ॥

पूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान्निरूपयन्ति गुणातीततयेति ।

गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥
सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

तादृशानां कचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।
अजामिलाकर्णनवद्विन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥
रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

ये भगवदीयाः 'तमु स्तोतारः' 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्' 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्' 'लोकवत्तु लीला कैवल्य'मित्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैर्भगवन्नामरूपधर्माणां गुणातीतत्वं निश्चित्य भगवन्नाम सच्चिदानन्दात्मकं भगवान् क्षराक्षरातीतः पुरुषोत्तमो भगवन्निष्ठं सर्वं निर्गुणं भगवतो लोकवदपि या लीला सैव कैवल्यं मोक्षः फलरूपा गुणातीता स्मरणादिनान्येषां मोक्षसाधिका चेत्येवं निरूपणेन विष्णोः पुरुषोत्तमस्य सर्वानेव गुणान्नवनीतादिचौर्यगोचारण-वेणुवादनगोवर्धनोद्धरणादीनपि शुद्धान्गुणातीतत्वेन मायासंबन्धरहितान्नित्यान्सच्चिदानन्द-रूपवतो वर्णयन्ति तेऽमृतोदाः सुधासमुद्रतुल्याः समाख्याताः कथितास्तेषां भावः सुधातुल्य इत्यर्थः । ते भगवच्चौर्यादिप्रयोजनज्ञातारो, यतो विचक्षणाः, ततस्तद्वाक्यानां तेषां वचनामृतस्य पानमन्तर्निवेशनं तत उपदेशग्रहणं सादरश्रवणं च सुदुर्लभं सुतरां दुःप्रापम् । अत एव नामस्वरूपज्ञानार्थमेतादृशानामुपदेष्टृणामुपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह श्रुतिः 'महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे' इति । ते त्वत्संबन्धिनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भगवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तमित्यर्थः । अत एव तत्त्वसागरेऽप्युक्तं 'दुर्लभे सद्गुरूणां तु सत्सङ्ग उपस्थिते । तदनुज्ञा यदा लब्धा स दीक्षावसरो महानि'ति । अत एव नित्यानन्दमयपुरुषोत्तमत्वेन भगवत्स्वरूपाज्ञाने ज्ञानकर्मादिकं व्यर्थमित्याह भगवा'नवजानन्ति मां मूढा' इत्यारभ्य 'प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता' इत्यन्तेन । नित्यानन्दमयपुरुषोत्तमत्वेन भगवज्ज्ञाने सर्ववित्त्वं सर्वभावेन स्वभजनं चोक्तं भगवता 'यो मामेवमसंमूढ' इति श्लोकेन । तद्वाचो महिमानमाहुः तादृशानामिति । पूर्णभगवदीयानां वाक्यं कचित् यत्र प्रसक्ततया स्वेच्छया वदन्ति, नत्वनुरोधेन प्रेरणया वा, तत्र दूतानां सन्देशहराणामिव वर्णितं ज्ञेयं, यथा दूतमुखेन राजा वदति, तथा तन्मुखेन भगवानपि दूतानामिव प्रभूत्कर्षवर्णने तेषां न शङ्का चेति भावः । अतो भगवत्कृपया फले भाविन्येतादृशानां समागमो भवति । अत एव श्रीभागवते 'भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युतसत्समागमः । सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः । महद्भिचलनं नृणा'-मित्यादि । अत एवैतद्वचनामृतबिन्दुपानमेभ्य उपदेशग्रहणं श्लोकमात्रश्रवणं शिक्षा वाप्यजामिलाकर्णनवत् । अजामिलस्य यदाकर्णनं विष्णुदूतेभ्यो भगवद्धर्मबलश्रवणं शिक्षा वा तद्वत् प्रकीर्तितम् । यथाजामिलस्य तदनन्तरं न पुनर्नरकसम्बन्धो भगवद्धर्माचरणेनोत्कृष्टफलप्राप्तिस्तथैतद्बिन्दुपानकर्तुरपीति भावः । यद्वा । अजामिलस्याकर्णनं यस्मिन् तदजामिलोपाख्यानं तेन यथा भगवद्रूपनामादिमाहात्म्यं ज्ञातं भवति, तथैतद्बिन्दुपानेनापि भवतीति

भावः । अत एव श्रीभागवते 'किरातहूणान्ध्रे'ति 'यत्पादपङ्कजे'ति । एतद्विन्दोः पानापेक्षया रसास्वादोधिक इति तत्परिचायकमाहुः **रागाज्ञानादिभावानामिति** । रागः स्नेहो गृहादिषु, अज्ञानं भगवत्स्वरूपस्य, आदिपदात् गृहाद्यासक्तिः, एतान्येव भावाः । यद्वा । अज्ञानमविद्या आदिर्येषां भावानां शोकमोहादीनां तेषां यदा सर्वथा नाशनं, तद्वासनापि न तिष्ठति, तदा लेहनं रसास्वादनं पूर्णमुक्तम् । यद्वा, रागाज्ञानादिभावानां यदा सर्वथा नाशनमस्फूर्तिस्तदेति । इदमेव बिन्दोः पानं लेहनं रसास्वादनमुक्तम् । श्रवणादौ व्यसने सम्पन्ने तदेवास्वाद्यमानममृतं भवतीत्यर्थः । तत्स्वानन्दोद्गमकारणं स्वस्य यो भगवदानन्दस्योद्गमस्तस्य नित्यत्वात् तत्र कारणम् । 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती'ति श्रुतेः । स्वस्य तिरोहितानन्दस्य य उद्गमः प्राकट्यं ज्ञानफलं तत्कारणतुल्यं यत्रेति च । मध्यभावानन्तरं भक्तिप्राप्तेः । भगवति क्रमेण प्रेमासक्तिव्यसनैः प्रापश्चिकास्फूर्तौ न किंचिदवशिष्यते । अत एवोक्तमेकादशे 'भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते । मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिना'मित्यादिना च । तथोक्तं भक्तिवर्धिन्यां श्रीवल्लभाचार्यचरणैः 'स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः । यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि' ॥ १६–१९ ॥

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

विशेषं भावमाहुः **उद्धृतोदकवदिति** । अव्यवधानेनोक्तामृतोदतुल्यातिरिक्तानां वाक्यानि तथा तेषामेव सर्वे भावाश्च भाववतामप्रत्यक्षदशायामादरेण गृहीतानि वाक्यानि भावाश्चोद्धृतोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । यथा कथञ्चिद्गृहीतानि पतितोदकवज्जलाशयात् पृथक् स्थितोदकवत् । अथवा, प्रासादादितः पतितोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । अथवा । भाववदप्रत्यक्षदशायां सर्वे भावा अमृतोदतुल्यातिरिक्तानामुद्धृतोदकवत्फलं साधयन्ति । वाक्यानि च पतितोदकवत् फलं साधयन्तीत्यर्थः । ततस्तेभ्यो भावेभ्यो वाक्येभ्यश्च फलमपि तथा तदनुरूपमेवेत्यर्थः । यथोद्धृतजलानि स्वप्रभवगुणसदृशानेव गुणान् विदधते, न तु तानेव, तथा ततद्भावा अपि तत्तद्गुणसदृशान् गुणान् विदधते । सुधा तु सदैकरूपमेव गुणं विधत्त इति भावः ॥ २० ॥

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

उपसंहरन्ति **इतीति** । इतीति समाप्तौ । अनेन प्रकारेण वा । जीव आत्मा इन्द्रियाणि च तेषु गताः प्राप्ताः । अत एव भुवि आधारे नानाभावं अनेकविधं सात्त्विकादिभावं गताः प्राप्ताः, नानात्वं वा प्राप्ताः, एतादृशा विष्णोर्भगवतो गुणास्तेषां भावानां भगवदीयत्वात् तद्रूपत्वाद्वा । रूपतः स्वरूपतः ईदृशमिति यत् स्वरूपमिति । फलतस्त

इतीदृशमेतत्फलमिति निरूपिता विवेचिता इत्यर्थः ॥ २१ ॥

जलानामिव भावानां भेदा यत्र निरूपिताः । जलभेद इति ख्यातो ग्रन्थोयं भावबोधकः ॥१॥
श्रीविट्ठलेशाङ्घ्रिसरोजपीठं कल्याणरायेण मुदा प्रणम्य ।
ताताङ्घ्रिपद्मे च गुरून् पितृव्यान् टीका कृतेयं जलभेदनाम्नः ॥ २ ॥
श्रीगोविन्दसुतप्रोक्ता टीका रागवतां हरौ । भावपूर्णा मुदे भूयात्सुन्दरीवाल्भाषिणी ॥३॥
मृषोद्यमनवद्यं वा बालस्येव कृपालवः । क्षमन्तां विट्ठलाधीशचरणाः प्रभवो मम ॥ ४ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता जलभेदटीका सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेतः ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् भगवन्तं च तद्गुणान् ।
गुणस्वभावबोधार्थी या वाचस्ता उपास्महे ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः भक्तिवर्धिन्यां त्यागिनां गृहस्थानां च भक्तिवृद्ध्यर्थं श्रवणरूपं कीर्तनरूपं च साधनमुक्त्वा तदर्थमर्थबलात्कीर्तयितुः श्रोतुश्च प्राप्ते सति स किं यस्य कस्यापि कर्तव्य उत भगवदीयत्वेन परीक्षितस्येत्याकांक्षायां यद्येकादशस्कन्धे 'स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणां, गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः, आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ, तमोनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वर' इति शुकवाक्ये भगवत्कीर्तेः संसारात्मकतमस्तारकत्वेन कथनात्तस्याश्च गुणजन्यत्वात्तेषामपि श्रूयमाणानां कीर्त्यमानानां स्मर्यमाणानां क्वचित् दृश्यमानानां च संसारतारकत्वमेवोचितं, भगवता तदर्थमेवानवतारदशायां कीर्तिद्वारा प्रकटनात्, 'साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा, वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदु'रिति षष्ठस्कन्धे शुकवाक्यादजामिलस्य पुत्रोपचारितनामकीर्तनमात्रेणैव संसारत उद्धाराच्च, यस्य कस्यापि सकः कर्तव्य इत्यङ्गीक्रियते, तदा 'भिक्षाशया ये गृह्णन्ति मम नामानि चार्जुन, अमुख्यास्ते जनाः पार्थ दूरतः परिवर्जये'दित्यादिपुराणवाक्येषु निन्दास्मरणस्य, सप्तमस्कन्धे समासौ, 'अहं पुराभवं कश्चिद्गन्धर्व उपबर्हण' इत्यादिभिर्नारदेन स्वपूर्वजन्मवृत्तान्तकथने गायतो गतस्य मत्तस्त्रीपरिवृतस्य पुरुलम्पटत्वैः स्वस्य विश्वसृग्दत्तशापकथनस्य च कथमविरोधः । किञ्च, प्रथमस्कन्धे नारदेन स्वस्य शूद्रजन्मनि योगिसङ्गतदुक्तभगवत्कथाश्रवणाभ्यां स्वस्य भ-

गवद्रत्यादिकथन, एकादशस्कन्धे च भगवता कथाश्रवणार्थं सत्सङ्गस्यैव कथन च कथ सङ्गच्छते, तथा गुणकर्मानुरूपभगवन्नामोचारयितृणा भिक्षाशामात्रेण कथ निन्दत्व, गुणगातुरुपबर्हणस्य च कथ विश्वसृग्भ्य शाप । किमेव भावभेदेन नामाद्युच्चारयितृणा गुणगातृप्रभृतीना च स्वरूपभेदे फलभेदे चावगम्यमाने कथ द्विविधवाक्यानामविरोध इति सन्देहे स्वीयाना जाते तद्वारणार्थं 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् स' इति न्यायेन भगवानाकाशादिभूतेष्वाधारेषु तत्तद्रूपेण स्थित्वा तत्तत्कार्यं करोति, तथा भगवद्गुणा अपि भगवद्रूपत्वाद्भौतिकेषु तत्तद्भावरूपेष्वाधारेषु तत्तद्रूपेण स्थित्वा तत्तद्भावानुसार्येव कार्यं कुर्वन्तीति भगवद्गुणानामाधारवशेन फलत स्वरूपतश्च नानाप्रकारता वदिष्यन्तस्तदाधारनिरूपण प्रतिजानते **नमस्कृत्येति** ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान्विंशतिधा भिन्नान्सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

हरिं 'हराम्यघ यत्स्मर्तॄणा'मिति[1] भारतवाक्यात्स्मरतामघहर्तार भगवन्त **नमस्कृत्य, तद्गुणानां** तच्छब्दस्य सन्निहितपरामर्शित्वात्तस्य हरे गुणानामुत्कर्षाधायकानाम् धर्माणा **विभेदकान्** विशब्दो नानार्थे नानाभेदजनकान् विंशतिप्रकारेण **भिन्नान्, सर्वसन्देहवारकान्** गुणस्वरूपफलविषयका सर्वे पूर्वोक्तप्रकारका अन्ये च ये तादृशा सन्देहास्तेषा निवर्तकान् भावान् जीवाना मनोविकारान् वक्ष्ये कथयिष्यामि । अत्र सर्वसन्देहवारकानितिविशेषणेन सन्देहनिवृत्तिरूपफलसूचनात्तदर्थं गुणाधारभूतान् भावान् वक्ष्यामीत्यर्थं । न चात्र गुणेषु तदभिध्यानन्यायाङ्गीकारे किं मानमिति शक्यम्, उपसहारवाक्ये, 'इति जीवेन्द्रियगता नानाभाव गता भुवी'त्यत्र जीवेन्द्रियगताना नानाभावप्राप्तिकथनेन तदभिध्यानसूत्रोक्तन्यायस्यैव सूचितत्वादिति ॥ १ ॥

नन्वाधाराणा जीवेन्द्रियधर्मत्वेनानन्त्यात्कथ विंशतिधाभिन्नत्वमेव प्रतिज्ञायत इत्याकाङ्क्षाया बोधसौकर्यार्थं श्रौतवासनया दृष्टान्तेन तथा भिन्नत्व बोधयन्त्यर्धेन **गुणभेदा** इत्यादि ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ॥ १½ ॥

तु शङ्कानिरासे, उक्तसख्याविषयिणी शङ्का न कार्या, हि यतो हेतो **गुणभेदास्तावन्तः यावन्तः** यत्सख्याका जले मता श्रुतिसमता । तथा चाधारानन्त्येपि यथा जलस्य विंशतिभेदास्तथा गुणानामपि । जल हि शैत्यगुणक स्वच्छ अव्यक्तमधुररस संशोधक स्वसम्बन्धेन द्रव्यान्तरस्य गुरुत्वापादकमाप्यायक च स्वभावत सदपि यादृगाधारे पतति तादृक्स्वभाव लोके भवति, गुणदोषौ च जनयति, तथा गुणा अपि स्वभावत एकविधा आनन्दरूपा ब्रह्मण सकाशात्प्रकाशाश्रयन्यायेन भिन्नाभिन्ना अप्यनेकस्वभाववत्तामनेकगुणदोषवत्ता चापद्यन्त इति तद्दृष्टान्तेन तथोच्यते । श्रौतदृष्टान्तस्यैव बोधार्थमङ्गी-

[1] हराम्यघ यत्स्मर्तॄणां हविर्भाग क्रतुष्वह । नर्मध मे हरिश्रेष्टस्तस्मादह हरि स्मृत ।

कारादित्यर्थः । तत्र तैत्तिरीयसंहितायां सप्तमकाण्डे 'कूप्याभ्यः स्वाहा, कुल्याभ्यः स्वाहा, विकर्याभ्यः स्वाहा, अवट्याभ्यः स्वाहा, खन्याभ्यः स्वाहा, ह्रद्याभ्यः स्वाहा, सूद्याभ्यः स्वाहा, सरस्याभ्यः स्वाहा, वैशन्तीभ्यः स्वाहा, पल्वल्याभ्यः स्वाहा, वर्ष्याभ्यः स्वाहा, अवर्ष्याभ्यः स्वाहा, ह्रादुनीभ्यः स्वाहा, पृष्व्याभ्यः स्वाहा, स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा, स्थावराभ्यः स्वाहा, नादेयीभ्यः स्वाहा, सैन्धवीभ्यः स्वाहा, समुद्रियाभ्यः स्वाहा, सर्वाभ्यः स्वाहेति मन्त्रेषु विंशतिविधा आप अपां होमे उक्ताः ॥ १३ ॥

तत्र प्रथमं कूप्या उक्ता इतीहापि कूपसमानं गुणाधारं प्रथममेकेनाहुः **गायका** इत्यादि ।

गायकाः कूपसंकाशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥
कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि संमताः ।

गायका गानकर्तारः **कूपसंकाशाः** कूपोपमाः, कूपाश्च केचिदुत्तमाः यथा स्कान्दे पुरुषोत्तममाहात्म्ये, 'न्यग्रोधादुत्तरे कूपः सर्वतीर्थमयोस्ति वै,' यथा च द्वारकायामवन्त्यां च दामोदरकूपः, केचिच्च कदाचिदुत्तमाः, यथा व्रजे गोपकूपः, 'सोमवत्याममायामेव सर्वतीर्थमयो नान्यदा', एवं साधारणा अप्रयोजकाश्च ज्ञातव्याः, तथा गायका अपि, तेपि न साधारणाः, किन्तु **गन्धर्वा** इति पुराणे वेदे च श्रुताः विशेषेण प्रसिद्धाः । तु पुनः यावन्तः कूपभेदास्तावन्तस्ते गन्धर्वा अपि संमताः सम्यग्विचारिताः । तथा च कूपे भवाः कूप्यास्ता यथा कूपरूपाधारभेदेन रूपतः फलतश्च नानाविधा भवन्ति, एवं गन्धर्वैर्गीयमाना गुणा अपि गन्धर्वस्य भगवद्भक्तत्वे तदभक्तत्वे साधारणत्वे लम्पटत्वादिदोषविशिष्टत्वे च तद्भावसमानाकारा भवन्तस्तदनुरूपमेव फलं जनयन्ति । एतेनोपबर्हणस्य शापोऽन्येषां गन्धर्वाणां शापाभावः 'भिक्षाशया ये गृह्णन्ती'तिवाक्यं च समर्थितं ज्ञेयम् । तेन 'गुणगाने सुखावाप्ति'रित्यादिना निरोधलक्षणग्रन्थे गुणगातॄणां स्वरूपफलोत्कर्षौ याबुक्तौ तावपि 'निवृत्ततर्षैरुपगीयमाना'दिति श्लोकोक्तरीतिकेष्वेव पर्यवस्यत इति बोधितम् । इदं 'पूर्णा भगवदीया य' इत्यत्र स्फुटिष्यति ॥ २३ ॥

कुल्याभ्यः स्वाहेति श्रुतिमनुसृत्य द्वितीयं भावमाहुः **कुल्या** इत्यादि ।

कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारंपर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

श्रुतौ कुल्या इति दीर्घः छान्दसो वर्णविकृतिरूपः । **पौराणिकाः कुल्याः प्रोक्ताः** 'कुल्या स्यात् कृत्रिमा सरि'दिति कोशात् महतो जलाशयात् अन्यत्र जलानयनार्थं या कृत्रिमा नदी क्रियते सा कुल्या । पौराणिकाः पुराणवाचयितारस्ताः प्रोक्ताः । अत्रोपमावाचकपदाभावाद्रूपकं ज्ञेयम् । 'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते' इति काव्यादर्शे लक्षणात्तथापीदमाधिक्यन्यूनत्वयोरुक्तत्वादनुभयोक्तिरूपकं ज्ञेयम् । केषाञ्चिदरुद्धाराणां क्लिष्टप्रयोजनार्थं शास्त्रेदीकारस्यानुमानिकत्वेन तद्विषयश्रुतौ च दर्शनादिति । एवमग्रेपि योध्यम् । पौराणिकानां कुल्यातौल्ये हेतुगर्भं विशेषणमाहुः **पारंपर्ययुता भुवीति** । तथा

च भूमिष्ठत्वात्परंपरया मूलसम्बन्धाच ते कुल्यातुल्या इत्यर्थः । तेन यादृश्य आपः कुल्यायां भवन्ति तादृशस्तेषां भावः । ता यथा नद्यादिरहिते देशे कृत्रिमोपायेन नीताः प्रवहन्त्यः पानस्नानाचमनादिरूपपरोपकाराय भवन्ति, तथा तेषां भावोपि । पाद्मे माघमाहात्म्ये वैश्यं प्रति देवदूतवाक्यजाते 'विचारयन्ति ये शास्त्रं वेदाभ्यासरताश्च ये। पुराणसंहितां ये च श्रावयन्ति पठन्ति च । व्याकुर्वन्ति स्मृतिं ये च ये च धर्मप्रतिबोधकाः । वेदान्तेषु निविष्टा ये तैरियंजगती धृता । तेषामभ्यासमाहात्म्यैः सर्वे ते हतकिल्बिषाः । गच्छन्ति ब्रह्मणो लोकं यत्र मोहो न विद्यते । ज्ञानमज्ञाय यो दद्याद्वेदशास्त्रसमुद्भवं । अपि देवास्तमर्चन्ति भवबन्धविदारक'मिति पौराणिकानामुत्कृष्टत्वकथनात् । अत्र भुवीतिकथनात् पूर्वश्लोकोक्ताः स्वर्गस्था इति बोधितम् । अन्यथा तद्वैयर्थ्यापातादिति ॥ ३ ॥

अतः परं 'विकर्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य तृतीयं भावमाहुः क्षेत्रेत्यादि ।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।

च पुनः ते पौराणिका अपिशब्दाद्गन्धर्वाः क्षेत्रप्रविष्टाः, क्षेत्रशब्देन यथा केदार उच्यते, तथा 'क्षेत्रं पत्नीशरीरयो'रिति कोशात् 'बलेः क्षेत्रे महीभुज' इति 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयत' इत्यादिवाक्याच शरीरपत्न्यावप्युच्येते । एवं सति कृत्रिमजलमार्गे कृते तद्द्वारा केदारप्रविष्टाः कुल्याया आपो यथा उप्तस्य बीजस्य वृक्षस्य वा यः संसारः अभिवृद्धिः तदुत्पत्तिहेतवो भवन्ति, तथा पौराणिका गन्धर्वाश्च स्वदेहे पत्न्यां चाभिनिविष्टाः संसारस्याहन्ताममतात्मकस्योत्पत्तिहेतवो भवन्ति । अतस्तेषां भावो विकर्यातुल्यः । कृ विक्षेपे, तुदादेरप्, विशेषेण विविधं वा कीर्यते विक्षिप्यते असौ विकरः, केदारे कुल्याजलानयनार्थं कृतो मार्गस्तत्र भवाः विकर्याः, ता यथा क्षेत्रिभिः स्वात्मसिद्ध्यर्थं यतस्ततो नीयन्ते तथा तद्भावा अपीति । तादृशा गन्धर्वपौराणिकाः विकरतुल्या इत्यर्थः । एवं च द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां कामनाकरणमुपक्रम्य 'वसुकामो वसून् देवा'नित्यस्य द्वितीयव्याख्याने यदुक्तम् । 'एवं धनस्यापि, भगवद्भक्तेष्वानत्यर्थं श्रवणादिसिद्ध्यर्थं उपदेशनार्थं या देयमपेक्ष्यते, साधनरूपश्रवणादिकं तादृशैरेव भवती'ति । तत्रापि धनदातुः सत्फलं प्रतिग्रहीतुस्तु संसारोत्पत्तिः । 'भिक्षाशये'ति वाक्यात् । यदि तु तत्त्वविचारार्थमुदरभरणोपयोग्यन्नमात्रं गृह्णाति, तदा तु तीर्थपर्यटितृवन्न दोष इति बोध्यम् । एतदपि तदा यदा पौराणिकानां पारंपर्यमुत्तत्वं भवति । तदभावे तु वक्तृश्रोत्रोरुभयोरपि संसार एव । स्वबुद्ध्यान्यथाव्याख्यानान्यथाबोधयोः संभवाचेति ज्ञेयम् । ननु ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे 'कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलम् । कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिते'ति ब्रह्माणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, 'मन्त्रनामविक्रयी विप्रो न हि मुक्तो भवेत् ध्रुवं । मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते' इति श्रीनन्दं प्रति भगवद्वाक्याच, नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्तिः । तत्र

शिष्योपढौकितग्रहणेन नामविक्रयसंभवादिति चेत्। सत्यम् । तथापि गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मणवृत्तित्वेनात्याज्यत्वात्, 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् । सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता' इति भगवद्वाक्यात् । श्रुतावपि षडाचार्यब्राह्मणारम्भे जनकसमीपे याज्ञवल्क्य आगते जनकेन, 'याज्ञवल्क्य ! किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्न' 'एवं ता'निति गोर्थ सूक्ष्मवस्तुनिर्णायकप्रश्नान्मत्तः कारयितुं वागतोसी'ति पृष्टे याज्ञवल्क्येन 'उभयमेव सम्रा'डित्युक्त्वा, राजप्रश्ने अब्रवी'न्म उदङ्कः शौल्वायन' इत्यादिना प्राणब्रह्मविद्योपदिष्टा, ततो जनकेन हस्त्यृषभसहस्रं ददामीत्युक्ते याज्ञवल्क्येन 'पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेते'त्युक्त्वा पूर्णां ब्रह्मविद्योपदिष्टा, ततो जनकेन विदेहाः स्वात्मा च याज्ञवल्क्याय समर्पितः, तदा याज्ञवल्क्यस्तदङ्गीकृतवानिति श्रावितत्वेन ब्रह्मविद्योपदेशोत्तरं शिष्योपढौकितग्रहणस्य प्राप्ततया तन्न्यायस्यात्रापि वक्तुं शक्यत्वाच्च । किञ्च, गीतायामेव सहजकर्मात्यागमुक्त्वा, 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छती'त्यत्र असक्तबुद्धित्वादिभिस्तत्कर्मसंन्यासेन नैष्कर्म्यसिद्धिप्राप्तिं कथयता भगवता तद्दोषपरिहारोपायस्योक्तत्वाच्च तथा करणे दोषाभावादिति । एवञ्च यत्प्रभुचरणैरुक्तं 'विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतः । अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यती'ति । तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य चोद्धारं विचार्यैव देयम् । लोभादविचारितदाने तु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयमपराधभाग्भवतीत्यर्थो ज्ञेयः । प्रकृतमनुसरामः । तेन गन्धर्वाणां पौराणिकानां च सङ्गस्तत्स्वरूपं विचार्य कार्य इति बोधितम् ॥ ३३ ॥

अतः परं 'अवधाम्यः स्याहे'ति श्रुतिमनुसृत्य चतुर्थं भावमाहुः वेश्यादीत्यादि ।

वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

आदिपदेन स्वैरिणीसङ्ग्रहः । ईदृशाः गायकाः गर्तसंज्ञिकाः । गर्तलक्षणं तु कात्यायनस्मृतौ 'धनुःसहस्राण्यष्टौ तु तोयं यासां न विद्यते । न ता नदीशब्दवहा गर्तास्ते परिकीर्तिताः' इति । आपः नदीसम्बन्धिन्योपि नदीशब्दवहा न, किन्तु ते जलाशया गर्ताः शास्त्रेषु सर्वत्र कीर्तिता इत्यर्थः । तथा च 'नद्या यत्र परित्यक्त'मित्यादिवाक्यान्तरात् तज्जलं बहुलमपि न शिष्टानां स्नानपानादियोग्यम् । तथा तादृशां भावोपीत्यर्थः । यद्वा, 'प्रह्लादो ह वै कायाधवः विरोचनं स्वपुत्रमुदास्यत्, स प्रदरोऽभवत्, तस्मात्प्रदरस्य नाचामे'दिति श्रुतावापस्तम्बस्मृतौ च न वर्षधारास्वाचामेत्तथा च प्रदरोदक इति तज्जलाचमननिषेधात् । तत्र 'प्रदरो गर्त' इति सापर्णीयादौ व्याख्यानाचैषामापोऽवद्याः, न उद्यन्त इत्यवद्याः पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिभ्यां तदाधारनिन्दातः ता अपि निन्द्या इत्यर्थः । तादृशां भावस्य दुष्टत्वात्तद्गीता गुणा न समीचीनफलदाः गातॄणां श्रोतॄणां चेति तादृशां सङ्गो न कर्तव्य इति भावः ॥ ४ ॥

अतःपरं 'खन्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य पञ्चमं भावं वक्तुमन्यानपि ततो हीनानाहुः जलार्थेमित्यादि ।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

हस्तपादप्रक्षालनगण्डूषादिदुष्टजलस्य सर्वत्र प्रसाराभावार्थं ये गर्ताः कृतास्तादृशाः । तथा च तज्जलं न समीचां योग्यम् । जात्या नीचाः गानोपजीवनेनैव ये उदरंभरयस्ते यथा तथा तेषां भावोपीति तद्गता गुणा अपि तादृशा इति तत्सङ्गो न कार्य इति भावः । श्रुतौ 'अवधाम्यः स्वाहे'त्यनन्तरं 'खन्याभ्यः स्वाहे'त्युक्तम् । अत्र खननेन निष्पन्ना आपः खन्या इति व्याख्यानम् । तथा सति तत्सङ्ग्रहार्थमत्रापि प्रकारान्तरेण पुनर्व्याख्येयम् । तुशब्देन तथा सूचनात् । तथा च नीचा गानोपजीविनः जलार्थमेव गर्ताः । तु पुनः नीचा गानोपजीविनः जलार्थमेव गर्ता इति । एतस्मिन् पक्षे चायमर्थः । जलार्थं जलनिष्पादनार्थं खननेन निष्पादिता ये गर्तास्ते जलार्थमेव गर्ताश्चोद्राणीति यावत् । नीचा गानोपजीविनस्तादृशाः तेषु नीचत्वं जातिदोषः, गानोपजीवित्वं च कर्मदोष इति । चोद्रजलं पुनः खननात्कलुषं निर्मलमपि संस्कारं विना नानाजातीयजनोच्छिष्टसंसर्गदोषाच्च यथा शिष्टायोग्यं, तथा तद्भावनिविष्टा गुणा अपि स्वरूपतः फलतश्च दुष्यन्तीति तादृशामपि सङ्गो न कार्य इति बोधितम् । एवं पञ्चविधा भावा उक्ताः । एवमत्र गातृविषयकाः सन्देहा निवारिताः ॥४३॥

अतः परं कीर्तयितृविषयकांस्तान् निवारयितुं 'ह्रदाभ्य स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्योत्तमं षष्ठं भावमाहुः ह्रदास्त्वित्यादि ।

ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥
सन्देहवारकास्तत्र सदा गंभीरमानसाः ।
सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥
अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतभक्तयः ॥ ७ ॥

अत्र तुशब्दः प्रकरणं भिनत्ति । पण्डा शास्त्रजन्या बुद्धिः स्वामीष्टार्थग्राहिका च तद्वन्तः पण्डिताः प्रकर्षेण पुराणादिषूक्ताः । शास्त्रदर्शित्वेपि विशेषमाहुः भगवच्छास्त्रतत्परा इति । भगवता प्रोक्तं शास्त्रं गीताश्रीभागवतपञ्चरात्रवाराहपुराणादि तन्निष्ठाः ये ते ह्रदाः । 'जलाशयो जलाधारस्तत्रागाधजलो ह्रद' इति कोशात् महान् जलाशयो ह्रदः, परं नद्येकदेशभूतो नदीसंलग्नः । 'कालिन्द्यां कालीयस्यासीत् ह्रद' इति 'शुष्यद्ध्रदाः कृशतटा यत सिन्धुपत्न्य' इत्यादौ तादृशेष्वेव ह्रदपदप्रयोगात् । तथा च तेषां भावे निविष्टा भगवद्गुणा अपि ह्रदजलतुल्याः । तद्यथा सर्वकार्येषु स्वरूपतः प्रशस्तं फलतश्चोत्तमं, तथा तैर्निचार्यमाणास्तेभ्यः श्रूयमाणाश्च गुणाः स्वरूपतः फलतश्चोत्तमा इत्यर्थः । अत्रापि 'विचारयन्ति ये शास्त्रं वेदाभ्यासरताश्च ये' इति पूर्वोपन्यस्तमाघमाहात्म्योक्तं स्वरूपवाक्यं फलवाक्यं चानुसन्धेयम् । सूद्याभ्यः स्वाहेति श्रुतिमनुसृत्य तस्मादुत्कृष्टं सप्तमं भावमाहुः सन्देहेत्यादि । तत्र तेषु भगवच्छास्त्रतत्परेषु येऽज्ञानां श्रोतॄणां भगवच्छास्त्रविषयकं सन्देहं वार-

यन्ति, ते **सूदाः**, सुष्ठु समीचीनं स्वादु सद्गुणं उदमुदकं येषां ते **सूदाः** । तत्र हेतुमाहुः **गंभीरमानसा** इति । अगाधं दुरवगाहं हृदयं येषां तादृशाः । तथा च श्रोतुर्हृदयं बुद्ध्वा तदधिकारानुसारेण तद्धितं बोधयन्ति, न तु सर्वं शास्त्रार्थमित्यर्थः । तेन यादृशं जलमुक्तं तादृशस्तेषां भावः स्वरूपतः फलतश्चोत्तम इति तादृशां सङ्गः कर्तव्य इति भावः । अत्रापि 'पूर्वोक्तज्ञानमज्ञाय यो दद्या'दिति वाक्यं 'गच्छन्ति ब्रह्मणो लोक'मिति तत्फलवाक्यं चानुसन्धेयम् । एवमत्र मर्यादामार्गीयं भावद्वयमुक्तम् । श्रीकल्याणरायास्तु 'सूदा इत्यनेन वाप्योदा उच्यन्त' इति पक्षान्तरमाहुः । तदा तस्मिन् पक्षे गंभीरत्वं निम्नत्वं सन्देहवारकत्वं च तत्र सोपानस्थानापन्नं ज्ञेयम् । तत्रैव श्रोतॄणां विशेषतस्तत्सङ्गादिति । अतः परं 'सरस्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्यनुसारेण तत उत्कृष्टं पुष्ट्यनुष्ठतमष्टमं भावमाहुः **सर** इत्यादि । भगवति प्रेम्णा युक्ताः निवृत्तलौकिकरागाः, तथा पूर्वोक्तवत् बुधाः भगवच्छास्त्रतत्पराः श्रोतुः सन्देहवारकाः ये ते सरःकमलसंपूर्णाः, सरसि यानि कमलानि तैः सम्पूर्णाः सम्यग्भरिता या आपस्तादृशाः । न च श्रुतौ सरस्यापदेन सरोधिकरणकत्वमात्रलाभादत्र कमलसम्पूर्णत्वस्य कुत उक्तिरिति शंक्यम् । सरस्यापदस्य 'सारसं सरसीरुह'मिति कमलनामस्मारणेन तत्संबन्धार्थमेव तत्प्रयोगात् । अन्यथा ह्रदावुद्याभ्यां विशेषाभावात्तदनुल्लेखापत्तेरिति बोध्यम् । अत्र पूर्वं जलधाराणां दृष्टान्तत्वमुक्तत्वात्र यद्यप एव दृष्टान्तत्वेन सूचितास्तेन तेषां भावव्याप्तत्वं सूच्यते । तथाच यथा ता आपः सौगन्ध्यभ्रमरझंकारप्रभृतिभिः सर्वेन्द्रियाह्लादिन्यस्तथा तेषां भावोपि श्रोतृषु ज्ञानभक्ती संक्रामयन् तेषां सर्वेन्द्रियाह्लादी भवति, फलतश्चोत्कृष्यत इति तद्वत्ता गुणास्तथेत्यर्थः । अत एवैकादशस्कन्धे संवादसमाप्तौ भगवतोक्तं 'य एतन्मम भक्तेषु संप्रदद्यात्सुपुष्कलं, तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मने'ति । अतःपरं 'वैशन्तीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य ततो न्यूनं नवमं भावमाहुः अल्पश्रुत्तर इत्यादि । अल्पं श्रुतमध्ययनं श्रवणं वा सत्पुरुषवाक्यसम्बन्धि येषां ते अल्पश्रुताः भगवद्विषयकप्रेमयुक्ताश्च । ते वेशन्ताः अल्पसरस्तुल्याः । 'वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरे' इति कोशात् । 'विश प्रवेशने विशन्त्यस्मिन् भेकादय' इति निरुक्तेश्च । अत्र चाल्पश्रुतप्रेमयुक्तपदयोः समभिव्याहाराद्भक्तावपि स्वल्पत्वं सूच्यते । तेन 'वैशन्तीभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्युक्ता या आपस्तत्तुल्यस्तेषां भाव इति बोधितम् । तथा च प्रेमवत्त्वेन पूर्वोक्तजातीयत्वेप्यल्पत्वाद्यथा तज्जलं महिषादिभिरवगाढं कलुषं भवति, तथा तद्भावोपि श्रुतप्रेम्णोरल्पत्वाद्विजातीयशास्त्रादिसंसर्गेण कलुषितो भवतीति तत्सङ्गोऽप्रयोजक इत्यर्थः । अतः परं 'पल्वल्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्यनुसृतं वैशन्तसजातीयं दशमं भावमाहुः कर्मेत्यादि । श्रुतं च भक्तिश्च श्रुतभक्ती, तथा पूर्वोक्तवदल्पे श्रुतभक्ती येषां ते तथाल्पश्रुतभक्तयः । पूर्वोक्तादिशेषः कर्मशुद्धा इति । भगवदर्पितेन फलाभिसन्धिरहितेन कर्मनिर्धारोदितो वा कृतेन कर्मणा शुद्धाः तदनुरूपचित्तशुद्धियुक्ताः पल्वलानि । वेशन्तपल्व-

रुयोः शक्यतावच्छेदकतौल्येपि श्रुतौ 'पल्वल्याभ्यः स्वाहे'ति निर्देशभेदात् पल्वगतौ पलति पल्यते वेति निरुक्तिभेदाच्च तयोः कश्चित् भेदो वाच्यः । स चात्र कर्मशुद्धिभेदादवगन्तव्यः । तेनैवं पूर्वस्मादाधिक्येपि गन्तृत्वान्महिपादिगम्यतया कालुष्याच्च तत्तुल्यकक्षत्वमेव । तया च तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति तरसङ्गोप्यप्रयोजक इत्येत्यर्थः । एवमत्र कीर्तयितृविषयकाः सन्देहा निवारिताः । कीर्तयितृषु च श्रोतृणामुपकारस्य वाच एव प्राधान्यात्तस्याश्च बहिरिन्द्रियत्वात्तदाधारभूतस्थूलदेहे प्राधान्येन गुणाधारा एव जलाधारसाम्येन निरूपिताः ।

अतः परं भावयितृविषयकान् सन्देहान् वारयितुं तेषु लिङ्गशरीरस्य मनस एव प्राधान्याद्गुणा विशेषतो बहिर्न निर्गच्छन्तीति दुर्लभत्वाद्गुणानामेव जलतुल्यत्वं निरूपयन्तो 'वर्ष्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य पूर्वस्माद्विलक्षणमेकादशं भावमाहुः योगेत्यादि ।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधो, यमाद्यष्टाङ्गसहितः । यथा द्वितीयस्कन्धे प्रथमाध्याये 'शुद्धाश्वमजितो धीर' इत्यादिना स्थूलभगवद्विषयकधारणावानुक्तः । 'यतः सन्धार्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः । आशु संपद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षत' इत्यनेन तस्यापि भक्तिसाधकत्वोक्तेः । ध्यानं सप्रयत्नश्चित्तव्यापारः । यथा 'केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् । चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ती'त्यादिपूक्तं, आदिपदेन धारणा, एतैस्त्रिभिः समुच्चितैरेकैकेन वा संयुक्ता भगवतो गुणा योगप्रभावादयो रूपलीलादयश्च । कपिलदेवैः 'स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशय'मिति ध्यानविषये लीलानामप्युक्तत्वात् । तादृशा गुणा वर्ष्याः वृष्टिवर्षेतत्सम्बन्धिन्य आपो वर्ष्याः, ता यथा दिव्याः भूमौ पतन्त्यो जलाशयान् स्वकाल एव भरन्ति, तथा योगादियुक्ता भगवद्गुणा अपि योगिषु वर्तमानाः भूमौ दुर्लभाः अधिकारिविशेषान् कृतार्थयन्ति, न सर्वानित्यर्थः । यद्यपि वृष्टिजलं क्षेत्रादौ पतितं सत् संसारहेतुर्भवति, तथापि सोंऽशो नात्र दृष्टान्तफलतयाभिप्रेतः । तेषां योगित्वादन्तर्निष्ठत्वेन तथात्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, कुयोगित्वापातेन विद्रुकाद्युत्व्यापाताच्च, 'वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे, पञ्चपर्वेति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेदि'ति निबन्धे योगस्य विद्यापर्वत्वेनोक्ततयात्रोत्कर्षार्थं तद्ग्रहणाच्च । दार्ष्टान्तिकतयात्र गुणानामेवोक्तत्वाच्च । अन्यथा तु भावकथनस्योपक्रान्तत्वेन तद्विरोधापत्तेश्च । तस्मात्पूर्वोक्तमेव दृष्टान्तफलं ग्राह्यम् । इतः पूर्वं कर्मशुद्धानामुक्तत्वादत्र तत्प्रसङ्गेन योगस्मरणं, योगस्यापि कर्मविशेषत्वादिति ॥ ७½ ॥

अतःपर 'मवर्ष्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य कर्मसम्बन्धिनमेव द्वादशं भावमाहुः तप इत्यादि।

तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

तुः प्रकरणभेदकः । 'तप सन्तापे,' शरीरेन्द्रियादिकं तपति यत्कर्म कृच्छ्रचान्द्रायणानशनादिरूपं तत्तपः, ज्ञानं सेश्वरसांख्यादिसिद्धं, आदिपदेन त्यागः, तेषां भावेन वि-

घमानतया संयुक्ता ये गुणास्ते स्वेदजाः प्रकीर्तिताः । अत्र योगव्यानादिसंयुक्तपदैकदेशभूतं संयुक्तं पदमनुपद्यते । तथा च तादृशा गुणाः स्वेदजाः प्रकीर्तिताः, 'ष्विदा गात्रप्रक्षरणे,' घर्मश्रमादिना सन्तप्ताद्गात्राद्यत्स्रुतं यज्जलं सः स्वेदस्तस्माज्जाता वर्षजलभिन्नत्वेपि बिन्दुरूपत्वाद्वर्ष्यतुल्या अवर्ष्याः या आपो वस्त्रादावेकीभूतास्तत्तुल्याः । ता यथा न समीचीनव्यवहारयोग्याः, किन्तु तद्वारस्यैव तापनिवारिकाः, नान्यस्य, एवं तद्गता गुणा अपीत्यर्थः । तेन तादृशामपि सङ्गो न प्रकृतोपयोगी । तपआदिष्वेव विशेषाभिनिवेशेन गुणानां गौणत्वात्क्वचिन्मुख्यत्वेपि प्रकृतानुपयोगित्वादिति । अवर्ष्यत्वं च वर्ष्यभिन्नत्वे सति तत्समानत्वं, तच्च भूयः प्रक्षरणाद्बोध्यम् ।

सायणीये तु वर्ष्यनैरपेक्ष्येण भूमाववस्थिता अवर्ष्या इति व्याख्यातम्, तन्नास्माकं रोचते । पर्युदासस्य सदृग्ग्राहित्वेन भूमाववस्थिते तत्सदृशत्वाभावात् । अतस्तदर्थं तत्र स्वेदजलमेव ग्राह्यं, भूयः सादृश्यादिति ॥ ८ ॥

अतःपरं 'ह्रादुनीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य कीर्तयितृनिष्ठमुत्कृष्टं त्रयोदशं भावमाहुः अलौकिकेनेत्यादि ।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।

कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

तुः पूर्वोक्तसादृश्यभेदकः । अलौकिकं भगवत्कृपाजन्यं महदनुग्रहजन्यं वा अलौकिकार्थप्रकाशकत्वाल्लोकविलक्षणं यत् ज्ञानं, तेन प्रत्यासत्तिभूतेन मनसि तेषां भानाद्येनैव श्रोतुरधिकारस्यापि भानात् प्रकर्षेण तदधिकारानुसारेणोक्ताः कादाचित्काः श्रोतॄणां कस्मिंश्चित्कालविशेष एव बुद्धिगोचराः शब्दगम्या आप्तवाक्यादेव ज्ञायमाना ईदृशा ये हरेः सर्वदुःखहर्तुर्गुणाः रूपलीलाविशेषाः प्रकर्षेण कीर्तिताः । 'पत्लृ गतौ,' पतन् सर्वतो गच्छन् शब्दो ह्रादो यासामपां ताः पतच्छब्दास्तादृशाः प्रकर्षेण कीर्तिताः । तथा च भगवतो रहस्या ये गुणास्ते तादृशेभ्य एव कीर्तयितृभ्यः श्रोतृभिः प्राप्यन्ते, न सर्वैः । अतस्तादृशाधिकारसम्पत्तौ तादृशां कीर्तयितॄणां सङ्गः सर्वथा कार्य एवेति भावः ॥ ९ ॥

अतःपरं 'पृष्वाभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य चतुर्दशं जघन्यं भावमाहुः देवेत्यादि ।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ।

देवाः श्रौताः नारायणशिवविष्णुगणपतिप्रभृतय आदिशब्देनान्ये पितृमात्रादयस्तेषामुपासनं भजनं चिन्तनं सेवनं वा तेनोद्भूता उपासके उद्गताः स्वयमन्यैश्चानुभूयमाना इति यावत् । ईदृशा ये गुणाः ज्ञानबलसामर्थ्यादयस्ते पृष्वाः अवश्यायजन्याः । आपः पृष्वा इति सायणभाष्ये व्याख्यातं, तत्तुल्याः । ता यथा पाषाणभूमौ पतिताः, तत उद्गता इव भासन्ते, न तु तास्तदीयाः, एवं तेऽपि गुणा भगवदीया एव, 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा, तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भव'मिति गीतावाक्योक्त-

न्यायात्। परन्तु तानुपासकाः स्रोयत्नेन देवीयत्यादिना वा भ्रमान्मन्यन्ते, तेन च उरसिच्यन्ते साहंकारा भवन्तीति यावत्। अतस्तेषां स्वरूपं फलं च जघन्यमेव । नीहारेण प्रावृता इति श्रुतौ नीहारस्य ज्ञानतिरोधायकत्वेनोक्तत्वादिति तेपूर्कर्पबुद्धिस्ताद्दशां सङ्गश्च न कार्य इत्यर्थः।

अतःपरं 'स्यन्दमानाभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य पञ्चदशं भावमाहुः **साधनेत्यादि** ।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

साधनानि वर्णाश्रमधर्मास्ते आदयो यस्य तादृशो यः प्रकारो मर्यादामार्गीयो निष्कामतत्करणरूपस्तेन **प्रकारेण यो नवधा भक्तिमार्गः** । 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणे'ति वाक्योक्तो मार्गो भगवत्प्राप्त्युपायः । ततो या प्रेम्णः भगवद्भक्तिरूपस्य पूर्तिर्हृदये व्याप्तिस्तया कृत्वा स्फुरन्तो भगवद्धर्मा येषु ते स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः । स्यन्दू प्रस्रवणे, प्रस्रवणरूपा या आपस्ताद्दशाः । ता यथा स्नानपानाचमनादौ प्रशस्ताः स्वसंयुक्तां भूमिं शीतलां कुर्वन्ति, सर्वानुपकुर्वन्ति च, तथा ताद्दशगुणाधाराः पुरुषा अपि पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वान् श्रोतॄन् द्रष्टॄंश्च स्वात्मनश्च भगवदुपयोगिनः कुर्वन्तीति ताद्दशां सङ्गः कार्य इत्यर्थः ॥ १० ॥

अतःपरं 'स्थावराभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य षोडशं भावमाहुः **याद्दशा इत्यादि** ।

याद्दशास्ताद्दशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥
स्थावरास्ते मया ख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

याद्दशाः साधनादीत्यारभ्य धर्मा इत्यन्तेन यत्प्रकारकाः सिद्धास्ताद्दशास्तत्प्रकारकाः सन्तः प्रोक्ताः प्रकर्षेण शास्त्रे उक्ताः, ये गुणाधारा वृद्धिक्षयविवर्जिताः न वर्धन्ते, न वा क्षीयन्ते, किन्त्वेकरूपास्तिष्ठन्ति । किञ्च, मर्यादैकप्रतिष्ठिताः । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' मर्यादायामेव एके च ते प्रतिष्ठिताश्च एकप्रतिष्ठिताः मुख्याः प्रतिष्ठां च प्राप्ताः ते गुणाधारा मया स्थावरा एकत्र प्रतिष्ठिता या आपस्ताः स्थावराः तत्तुल्याः ख्याताः प्रकथिताः । ता यथा एकत्रैव तिष्ठन्ति स्वाधारमेव च शीतलीकुर्वन्ति, गुणवत्तया ख्यापयन्ति च । नतु स्वत उद्यम्यान्यानुपकुर्वन्ति, तथा ते गुणाधाराः पुरुषा अपि स्वसम्बद्धान् स्वाधारं च ख्यापयन्ति । तेन ताद्दशां सङ्गस्तावन्मात्रगुणकः, न तु विशेषानुग्रहफलक इत्यर्थः । अत्र मयेत्युक्त्या नान्येषां सम्मतिरिति बोधितम् । अन्येषां मर्यादाप्रतिष्ठितत्वेन पुष्टिस्वरूपस्याज्ञानान्मार्यादिकेपूत्कृष्टबुद्धेरिति ॥ ११३ ॥

अतःपरं 'नादेयीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य सप्तदशं भावं सार्धेनाहुः **अनेकेत्यादि** ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

अनेकेषु जन्मसु संसिद्धाः सम्यक्सिद्धाः पूर्वानुरूपतया सिद्धाः । जन्मप्रभृतीति क्रियाविशेषणम् । एतज्जन्मारभ्य, सर्वदा सर्वस्मिन्काले सद्घातगुणदोषाभ्यां, आदिशब्देन कालकर्मदेशस्वभावास्तत्कृतौ यौ गुणदोषौ ताभ्यां कृत्वा भुवि भवनं भूः उत्पत्तिर्विधमानता वा तस्यां वृद्धिक्षययुताः सत्सङ्गेन समीचीनदेशकालकर्मस्वभावैर्वृद्धिमन्तः दुःसंगादसमीचीनकालकर्मदेशस्वभावैः क्षयं प्राप्नुवन्तः, ईदृशाः सन्तोपि निरन्तरोद्गमयुता निरन्तरो यदुद्गमः प्रवाहस्तेन युतास्तादृशा ये गुणास्ते नादेयीनामपामाधारभूता या नद्यस्तत्तुल्याः कीर्तिताः । तथा च नद्यो यथा काश्चित्स्वभावतः शुभाः काश्चिद्दुष्टाः, यथा गङ्गादयः, कर्मनाशादयश्च, काश्चन कालतः, यथा 'कलौ वेत्रवती गङ्गे'ति । गङ्गा च न पूर्ववत्स्नानमात्रेण कुष्ठं हरतीति, तथा देशतः, यथा भागीरथी महानदी च प्रवाहदेशभेदात् । एवं संगादपि ज्ञेयाः, यथा श्रीयमुनासङ्गेन गंगा उत्कृष्टा जाता, तासां जलं च तादृशमेव, तथा तद्भावा अपीति तन्निष्ठा गुणा अपि तत्स्वरूपा इति तादृशां संगो न निश्चयेनोत्तमफलद इत्यर्थः । अत्र च नदीनामेतावद्विशेषणकथनं दार्ष्टान्तिके एतेषामेव धर्माणां प्राप्त्यर्थम् । तेन भावेषु गुणेषु तदाधारेषु चैत एव धर्मा अतिदेष्टव्याः, नेतर इति सूचितम् । अन्यथैतावत्कथनवैयर्थ्यापत्तेरिति ॥ १२ ॥ १३ ॥

अतःपरं 'सैन्धवीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्याष्टादशं भावमाहुः **एतादृशा** इत्यादि ।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत् सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

अत्रैतादृशा इत्यनेनाद्यन्तविशेषणयोः संग्रहः । स्वतन्त्रा इत्यनेन मध्यविशेषणनिरासः क्रियते । तथा चैतादृशा अनेकजन्मसंसिद्धा निरन्तरोद्गमयुताः स्वतन्त्राः जन्मप्रभृति सर्वदा संगगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षयरहिताश्चेत्स्युः तदा ते जीवाः सिन्धवः समुद्रगामिन्यो महानद्यो महानदाश्च तत्तुल्याः परिकीर्तिताः । तेषां भावो महानदीजलतुल्यः । तद्यथा दृष्टं स्पृष्टं समीचीनव्यवहारेण शुभफलं गृहादावानीतमपि शुभम्, तथा तद्गता गुणा अपि स्वरूपतः फलतश्चोत्तमा इति तादृशां संगः कर्तव्य इति भावः ॥ १३½ ॥

अतःपरं 'समुद्रियाभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य तत उत्तममूनविंशं भावमाहुः **पूर्णा** इत्यादि ।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्याससमारुताः ॥ १४ ॥
जड़नारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

पूर्णाः ज्ञानक्रियाभक्तिसाफल्ययुक्ताः भगवदीया भगवत्सम्बन्धिनः । भगवदीयशब्दो अव्युत्पन्नो वैडूर्यादिशब्दवद्रूढो 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इति श्रीभागवतप्रथमस्कन्धे प्रयोगादवगन्तव्यः । य इति दुर्लभत्वं तेषां सूच्यते । तान् गणयन्ति शेषेत्यादि । शेषः संकर्षणः सनत्कुमारोपदेष्टा । व्यासो भगवान् बादरायणः, भगवतो ज्ञानावतारः, समाधौ भगवत्स्वरूपं लीलां चानुभूय श्रीभागवतमुक्तवान्, शुकं च पाठि-

धान् । अग्निरग्निपुराणवक्ता, मारुतो वायुपुराणवक्ता, जडो रहूगणोपदेष्टा, नारदः प्रसिद्ध एव, सनत्कुमारशिष्यः प्राचीनबर्हिर्गुरुः, मैत्रो मैत्रेयः विदुरोपदेष्टा, आदिपदेन शिवादिसङ्ग्रहः । ते समुद्राः प्रकीर्तितास्तेषां भावः समुद्रजलतुल्यः । समुद्रजलं यथातिगम्भीरं अक्षोभ्यं रत्नानामाकरभूतं तथा तेषां भावोप्यत्यन्तगम्भीरोऽक्षोभ्यो नानाविधभावाकरश्चेति तन्निष्ठा गुणा अपि तथेति तादृशां संगः सेवा च स्वरूपतः फलतश्चोत्तमेति सा कार्येत्यर्थः ॥१४½॥

पूर्वं भावनिरूपणारम्भे श्रुतिपुराणसिद्धाः गन्धर्वाः 'कृष्णभेदास्त्रि'त्यर्धेन यथा नानाभेदा उक्तास्तथा अन्ते पुराणादिप्रसिद्धान् भगवदीयानपि नानाभेदान् द्वाभ्यामाहुः लोकेत्यादि ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।
गुणातीततया शुद्धान्सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥
सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

लोकश्च वेदश्च गुणाश्च लोकवेदगुणास्तैर्मिश्रभावेन मिलितत्वेन एके मुख्यभगवदीयाः हरेः सर्वदुःखहर्तुर्भगवतो गुणान् वर्णयन्ति । यथा वाल्मीकी रामायणे रामगुणान् लोकमिश्रानुक्तवान् । यथा चाध्यात्मरामायणे शिवो रामगुणान् वेदमिश्रान् । यथा विष्णुपुराणे पराशरः सत्त्वगुणमिश्रान् । यथा च मनुःस्मृत्यारम्भे रजोमिश्रान् । 'स्वयंभुवे नमस्कृत्ये'-त्युक्त्वा पश्चादग्रे सृष्टिं वर्णयिष्यन् 'ब्रह्मा नारायणाख्यस्तु सुष्वाप सलिले तदे'त्युक्तवान् । यथा च वायुर्वायवीये शिवरूपमेव ब्रह्मत्वेनोक्तवान् । न च मनोर्भगवदीयत्वाभावः शंक्यः । तृतीयस्कन्धे तस्य तथात्वसाधनात् । न वा वायोः । हनुमदवतारे तस्य रामभक्तत्वेनैव सुप्रसिद्धत्वादिति । न च गुणमिश्रवर्णने गुणाभिमानिवर्णनमिति शंक्यम् । तत्र तदुक्तेषु ब्रह्मविष्णुमहेश्वरेषु अभिमानित्वापादकस्य कालभयस्यानुक्तत्वात् । अतो गुणावतारा एव तत्रोच्यन्ते, न जीवाः । एवमत्र लोकवेदगुणमिश्रभावेन षडेव सिध्यन्ति, न षट्, अतो लोकवेदगुणैरुपलक्षितान् मिश्रभावेनोपलक्षितान् हरेर्गुणान् वर्णयन्तीति व्याख्येयम्, तथा सति संकीर्णपुराणवक्तारः षष्ठा भविष्यन्तीति तैः संख्यापूर्तिः । एवञ्च तत्तद्भावस्तत्तज्जलतुल्योवगन्तव्यः । तज्जलं यथा क्षाराम्लमादनाव्यक्तमधुरस्नेहव्यक्तमधुरगुणकम्, तथा तेषां भावोपीति तन्निष्ठा गुणा अपि लोकादिप्रधानास्वदनुरूपफलदा इति तत्संगोपि तथेत्यर्थः । न च गुणाद्युपलक्षिता गुणा न मूलगुणा इति शंक्यम् । 'यदादित्यगतं तेज' इति न्यायेन तेषामपि भागवतत्वे बाधकाभावादापाततः प्रतीतेरप्रयोजकत्वाच्च, अत एव निबन्धे 'सर्वस्वरूपी कृष्णस्तु कर्ता तेषु तथोदित' इति स्थितमिति न काचिच्छङ्का । एवं षट् समुद्रतुल्यान् भगवदीयानुक्त्वा सर्वत उत्तमान् सप्तमानाहुः गुणातीततयेत्यादि । स्वस्य गुणातीततया शुद्धान् लोकवेदगुणामिश्रान् सच्चिदानन्दरूपिणः सच्चिदान-

न्दात्मकान्, विष्णोरित्यस्य वा विशेषणं, तथा च सच्चिदानन्दरूपिणो विष्णोः तादृशान् शुद्धान् सर्वान् गुणान् स्वयं गुणातीततया विचक्षणाः सर्वज्ञातारः सन्तो ये वर्णयन्ति, ते अमृतोदाः शुद्धोदसमुद्रतुल्याः सम्यक्प्रकारेण आख्याताः कथिताः । अतस्तादृशां भावो गुणातीत एवेति । तत्र भगवद्गुणा अपि स्वस्य यथावत्स्वरूपतया प्रकाशमाना भवन्तीति तेषां संगो दुर्लभ इति तद्वाक्यानां तेषां या वाचस्तासां स्वान्तःप्रवेशनं सुतरां दुर्लभमित्यर्थः । अत्र शुद्धोदा इत्यनुक्त्वा यदमृतोदा इत्युक्तं तेन श्वेतद्वीपादिपरिखाभूतावरण्याख्यौ 'अरश्च ह वैण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके' इति श्रुत्युक्तौ 'अरनामामृतांभोधिर्ण्यनामामृतसागर' इति वाराहपुराणोपबृंहितौ समुद्रावपि संगृहीतौ ज्ञेयौ। किञ्च, 'कृप्याभ्य' इत्यादिश्रुतौ 'सर्वाभ्यः स्वाहे'ति समासावुक्तम् । तत्र सर्वशब्दस्य पूर्वोक्तसंग्राहकत्वे अपां ऊनविंशति भेदा एव भवन्तीत्यभिप्रेत्य सर्वशब्दस्य समुद्रजल एव निवेशः कृतः । एतदभिप्रायेणैव 'नद्यः प्रसन्नसलिला' इत्यस्य सुबोधिन्या 'मापो बहुविधा एकोनविंशति भेदा' इत्युक्तम् । न च पूर्वं शेषादीन् सप्तोक्त्वा ततो लोकेत्यादि सार्धद्वयेन समुद्रविभागस्योक्तत्वाच्छेषादय एव सप्तात्र ग्राह्याः, नेतर इति शंक्यम् । तत्र यथायथं क्रमेण ग्रहणे शेषव्यासयोः क्षारदधिमण्डोदतुल्यत्वापत्त्या प्रतिलोमग्रहणे च मैत्रेयनारदयोस्तथात्वापत्त्या निकर्षापत्तेः । अतस्तथाघशब्दोक्ता इतर एव किञ्चित्तद्धर्मसाम्येन षड् ग्राह्याः । तेन पूर्वोक्ताः सप्तामृतोदेष्वेव प्रविशन्तीति मम प्रतिभाति ॥ १५–१७ ॥

नन्वेवं सति तेषां तादृशां च दुर्मिलत्वात्तद्वाक्यानामिदानीन्तनानां कालादिदोषदुष्टानामलभ्यमेवेति वक्तव्यं, न तु सुदुर्लभमिति शङ्कायामाहुः तादृशानामित्यादि ।

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।
अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

तादृशानामपि क्वचिद्भगवतोद्धार्यत्वेन विचारिते केनचिदपराधादिना भगवद्वियुक्ते पुंसि भगवतस्तद्द्वारोद्दिधीर्षायां वाक्यं श्रुतिगोचरं भवतीति शेषः । तत्र प्रमाणमाहुः दूतानामिव वर्णितमिति । यथा षष्ठस्कन्धे भगवद्दूतानां वर्णितं वाक्यमजामिलस्य श्रुतिगोचरमभूत्तथेदानीमपि भगवदुद्दिधीर्षाविषयस्य भवतीति नालभ्यम्, किन्तु सुदुर्लभमेवेत्यर्थः । एवं तादृशां सङ्गं तद्वागन्तःप्रवेशं च साधयित्वा श्रीवणागुद्दिधीर्षाविशेषविषयत्वप्रकारज्ञापनाय पाने विशेषमाहुः अजामिलेत्यादि । अजामिलेन यथा यमदूतान् प्रत्युच्यमानं भगवद्दूतवाक्यमाकर्णितं, तथा चेदाकर्णयेत्तदाकर्णनं बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् । जलबिन्दोर्यथा पानं न तृप्तिदं, किन्त्वीषत्सुखदं, तथा स्वोद्देशेनान्यान् प्रत्युच्यमानं तदुद्देशेन वा तान् प्रत्युच्यमानं स्वयमाकर्णयेत्तदा तद्बिन्दुपानतुल्यं स्वदोषज्ञानेन सांसारिकग्लानिजनकं पश्चाज्जन्मान्तरे भगवत्प्राप्तिफलकं चेत्यर्थः । यदा त्वेतदुद्देशेनैव

१ वाल्मीकिप्रियरायरमन्यादृश ।

भगवद्गुणबोधकं वाक्यममृतोदतुल्यैरुच्यते, तदा त्विहैव भगवत्प्राप्तिफलदमिति तत्स्वरूपमाहुः रागेत्यादि ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

रागश्च अज्ञानं च ते आदिर्येषां तादृशा ये भावाः कामक्रोधादिविकारभाजस्तेषां यदा नाशनं निवृत्तिरमृतोदानां वाक्येन भवतीति शेषः । तदा तद्वाक्यानं तत्कालमेव स्वगुणं जनयलेहनमित्युक्तं, लिह आस्वादने, आस्वादनमित्युक्तम् । तत्र हेतुः । स्वानन्दोद्गमकारणमिति । स्वस्य भगवतो य आनन्दः स्वरूपात्मको लीलात्मको वा तस्य य उद्गम उच्चैः प्राकट्यं तस्य कारणं, तथा चैवं दोषनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दसाधकत्वात्तत्पानं लेहनरूपमित्यर्थः । एवमेषां ऊनविंशतिभेदपक्षादरणेन सर्वे भावास्तद्वन्तो जीवास्तद्गता गुणाश्च प्रपञ्चेन निरूपिताः ।

अतः परं सायणीये 'सर्वेभ्यः स्वाहे'त्यस्य तद्व्यतिरिक्ता इत्यर्थ उक्त इति तमनुसृत्य पूर्वेभ्योतिरिक्तं विंशं भावमाहुः उद्धृतेत्यादि ।

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

सर्वे पूर्वोक्तातिरिक्ता ये गुणा भावास्तदाधाराश्च ते उद्धृतोदकवत् कूपतडागादिभ्यः पात्रेषूद्धृतं यदुदकं तद्वत्, उद्धृतं जलं यथा परिमितं यादृशभाण्डस्थं तदनुरोधेन शुद्धशुद्धिमच्च भवति । क्वचित्किञ्चित्स्वाकारानुकार्यपि भवति । तथा ते उक्तातिरिक्ता भावा अपि परिमिता आधारानुसारेणाकारानुसारेण च शुद्धाशुद्ध्यादिभाजः । तथेति वैयधिकरण्यदृष्टान्तबोधकं, उक्तातिरिक्तानां भावाधिकरणानां वाक्यानि, पतितोदकवत् पात्रेभ्यः पतितं यदुदकं तद्वत् । पतितोदकं यत्र पतति तदार्द्रीकुर्वत् क्वचिद्गुणं क्वचिद्दोषं च विधत्ते । तथा तेषां वाक्यान्याधारमार्द्रीकुर्वन्ति, तदनुसारेणैव गुणदोषकराणि । चेल्लनादरे, आत्मनः फलमपि तथा, आत्मनो गुणाधारस्य फलमपि तथा भाववदेव । चकारपाठे तु च पुनरित्यर्थो वक्तव्यः ॥ २० ॥

एवं भगवद्गुणाधारभूतान् जीवानां भावान् तदधिकरणभूतान् जीवांश्च भगवद्गुणस्वरूपफलभेदार्थं निरूप्योपसंहरन्ति इतीत्यादि ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इति उक्तप्रकारेण भुवि भूलोके जीवेन्द्रियगताः, जीवाः शरीरविशिष्टाश्चेतनाः, इन्द्रियाणि मनोवाक्चक्षुःप्रभृतीनि, तद्गतास्तेषु स्थिताः नानाभावं गताः, तत्र स्थित्यैव

१ रागनिवृत्तिः प्राचीनबर्हिष- जाता । यथा वासनानिवृत्तिः रहूगणस्य जाता । यथा च आदिशब्देन द्वेषस्तन्निवृत्तिः विदुरस्य जाता । एवमन्यत्र ।
४ जल०

रूपतः फलतश्च अनेकभावं प्राप्ताः, विष्णोर्व्यापकस्य भगवतो गुणा धर्माः निरूपिताः, नितरां कथिताः । तथा च भगवन्निष्ठत्वेनैकरूप्येऽप्याधारभेदेन तल्लिङ्गास्तदनुरूपफलाश्च भवन्तीति तदाधारस्वरूपं विचार्य तज्ज्ञानार्थं जीवसङ्गो भगवद्भक्तैर्विधेयो, नतु कथञ्चित् गुणसत्तामात्रेणेत्यर्थः । अत्रोपसंहारे गुणा निरूपिता इति कथनेन गुणनिरूपणमेव मुख्यम् । भावतदाधारनिरूपणं तु तदुपोद्घाततया प्रासङ्गिकमिति बोधितं ज्ञेयम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमविरचिता जलभेदविवृतिः सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीवल्लभकृतविवृति[1]समेतः ।

श्रीमदाचार्यचरणसरोजे शरणं सदा । तेनैव खलु तद्वाक्यभावार्थावगतिर्मम ॥ १ ॥
नानामार्गेषु विविधभावैस्ते तेऽधिकारिणः । प्रवृत्तास्तत्तदेवात्र मन्यन्ते भजनं हरेः ॥ २ ॥
अतस्तन्मार्गभावाधिकारिणां तत्स्वरूपतः । फलतश्च निजाचार्याः सन्देहविनिवृत्तये ॥ ३ ॥
वेदबोधितकूपादिजलदृष्टान्तभेदतः । विवेकं चक्रिरे तत्तद्भावार्थो हि प्रकाश्यते ॥ ४ ॥

तत्र प्रथमं 'निवृत्ततर्षैरुपगीयमाना'दित्यत्र भगवद्गुणानुवादे 'आत्मघाती कर्मजडो निन्दितार्थरतः सदा । पशुघ्नी च' एतद्व्यतिरिक्तानां सर्वेषां प्रवृत्तिरुक्ता । ते च मुक्तमुमुक्षुविषयिणः । तत्र मुक्तानां 'आत्मारामाश्च मुनय' इत्युक्तप्रकारेण प्रवृत्तिः । मुमुक्षूणां विहितभक्तिज्ञानयोगतपःकर्मादिसाधनप्रकारेण बहुधा सा भवति । विषयिणां तु तत्र रागादिमाधुर्यतः प्रवृत्तिर्न तु धर्मतः । तथा च, 'वेदे रामायणे चैव भारते' इत्यत्र 'हरिः सर्वत्र गीयते' इत्युक्तत्वात् सर्वत्र सर्वेषु धर्मेषु भगवद्गुणप्रवेशस्यावश्यं वक्तव्यत्वात् तेषां सर्वेषां साधनफलयोरेकरूपत्वं वा नानात्वमिति सन्देहे तन्निर्णायकं ग्रन्थं निरूपयितुं श्रीमदाचार्यचरणाः प्रतिजानते—

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान्विंशतिधा भिन्नान्सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

हरिं नमस्कृत्य भावान् वक्ष्ये । भावास्तु 'इति जीवेन्द्रियगता' इत्यत्रोपसंहारे जीवगता एवोक्ता इत्युपक्रमेऽपि त एव ज्ञेयाः । तैरेव भगवद्गुणानामनेकरूपत्वम्, अन्यथा भगवद्गुणाः सर्वे तत्तत्स्वरूपात्मका इत्येकरूपत्वमेव, गुणगुणिनोरभेदात् । आधारगुणसम्बन्धादेव तेषां भेद इति विशेषणमाहुः तद्गुणानां विभेदकानिति । भगवद्गुणानां

---

१ श्रीवल्लभकृतेयं टीकेति विषये उपोद्घातो द्रष्टव्यः ।

स्वरूपतः पृथक्कारकान् भिन्नत्वेन ज्ञापकानित्यर्थः । अथवा स्वस्वभावानुसारेण फलसाधकान्, न तु तदनुसारेणेत्यर्थः । एतदेव भेदकत्वं भावानाम् । ते भेदाः कतीति प्रमाणमाहुः **विंशतिधा भिन्नानिति** । तत्रापि द्वैविध्यम् । एके जीवाधिकारानुसारिणः । एके पुनः कृपया भगवद्दानजन्याः स्वरूपनिष्ठाः स्वतश्चास्ते भिन्नाः, ते एवाग्रे अमृतोदहृष्टान्तेन वाच्याः । एते सर्वेपि भेदा वेदे कथिताः 'कूप्याभ्यः स्वाहा' इत्यादिना । एतद्विवेचने सर्वेषां स्वरूपज्ञानेन सर्वे सन्देहा निवर्तन्त इत्याहुः **सर्वसन्देहवारकानिति** । एतदर्थमेव वेदेप्युक्ताः ॥ १ ॥

ननु कूपादिदृष्टान्तेन भेदज्ञानं कथं भविष्यति तत्राहुः—

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।
गायकाः कूपसंकाशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

नहात्र कूपादिदृष्टान्तः, किन्तु तत्तत्स्थितगुणदोषसहितजलदृष्टान्तोभिप्रेतः । तेन यावन्तो जले भेदास्तावन्तो भेदा गुणानामपि भवन्तीति भावः । तत्र प्रथमं प्रथमाधिकारित्वाद्विपयिणां भावमाहुः **गायका इति** । गायका भगवद्गुणगायकाः । ते तु गन्धर्वा विश्रुताः प्रसिद्धाः । तेषामयमेव सहजो धर्मः यत्सङ्गीतशास्त्रोक्तं भगवद्यशः प्रबन्धरागतानालापकुशला रागादिमाधुर्यविषयत्वेन गायन्ति, न तु भगवद्धर्मस्वरूपं ज्ञात्वा, परन्तु भृतकाध्यापनवन्न गायन्ति, तादृशास्ते कूपसङ्काशाः कूपतुल्याः प्रोक्ताः । सामान्यतः कूप उक्तो, न तु गुणदोषयुक्त इति । यथा कूपो महान् रमणीयः, जलमपि समीचीनमेव, परन्तु दूरे अधस्तलं, तेनेतरविषयप्रयत्नत्यागेन रज्ज्वादिसाधनपूर्वकं तदाहरणे तत्प्राप्तं भवेत्, तथा तेषां भगवद्यशोगानं तूत्तममेव, परन्तु तस्य परमफलमन्यविषयकप्रयत्नत्यागे तदेकनिष्ठगुणगानेन प्राप्तं भवेत्, नो चेद् दूर एवेति भावः सूचितः । वस्तुस्वभावात्तथा भवेदपीति सामान्यदृष्टान्त उक्तः ॥ २ ॥

एतादृशा गन्धर्वा अपि बहुविधा इति तद्भेदानाहुः—

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि संमताः ।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारंपर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

यथा कूपभेदा बहवस्तथा गायका अपि बहुविधा ज्ञेयाः । तानेवाग्रे 'वेश्यादिसहिता' इत्यनेन वक्ष्यन्ति । मध्ये पौराणिकान्निरूपयन्ति कुल्या इति । यद्यपि गायकप्रकरणमध्ये पौराणिकनिरूपणं न संभवति, तथापि यन्निरूपितं तत्तादृशपौराणिकानां गायकतुल्यत्वमेवेति ज्ञापनायोक्तम् । अत्रायं भावः । गानं द्विविधम् । एकं संगीतशास्त्रोक्तं रागतालमूर्च्छनादिभेदेन । अपरं वक्तृश्रोतृसद्भावे पुराणकथनद्वारा गुणानुकीर्तनम् । उभयेपि तत्तदुपजीविनः, परन्तु भृतकाध्यापनवन्न गायन्तीति सामान्यदृष्टान्तेन ज्ञायते । वृत्त्युपजीविनामग्रे निन्दितत्वाच्च । एवं सति सामान्यत उभयेषां समानधर्मत्वाद्गायकानां

मध्ये सामान्यत पौराणिकानपि निरूपयन्ति कुल्या इति । तेपा पुराणादिकथन तु परपराप्राप्तम्, न तु कश्चनोद्दिश्य ते कथयन्ति, तादृशास्ते कुल्या अल्पा कृत्रिमा सरित प्रवहणशीलास्तत्तुल्या इत्यर्थ । यद्यपि ता अपि पारपर्ययुता, यत आनीयन्ते तत्रागाधता, तथापि स्वय स्वल्पा कृत्रिमा, न तु सहजा । तेनोपरोधे रुद्धा अपि भवन्तीति सूचितम् । तथा तेऽपि यत पुराणार्थावगत स गुरुर्महान्, परन्तु स्वय स्वल्पपात्ररूपा । साहजिकभगवद्धर्मप्रवृत्तिरहिता । ससारस्थिता । उपरोधे रुद्धा अपि भवन्ति तादृशा । परन्तु प्रवहणशीलत्वात् कुल्याना तद्दृष्टान्तेन पुराणकथनद्वारा यथाधिकार धर्मोपदेशका इति गायकसकाशादेतावान् विशेपः । अत एव द्वितीयभावत्वेन निरूपणम् ॥ ३ ॥

तादृशा अपि केवल वृत्त्यर्थमेव पुराणपाठका, तदा ततोपि हीनत्वमाहु —

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि ससारोत्पत्तिहेतवः ।

ते च पुन क्षेत्रप्रविष्टा 'क्षेत्र पत्नीशरीरयो'रिति स्त्रीपुत्रादिभरणपोषणार्थं पुराणादिपाठे प्रविष्टास्तदा ससारोत्पत्तिहेतवो भवन्ति । यथा कुल्यासबन्धिन्य आप क्षेत्रेषु प्रविष्टा यदा तदा ससारोत्पत्तिहेतवो रजोगुणयुक्तत्वेन रते पोपकवस्तूत्पादकत्वादविद्याधर्माणामेवोत्पादिका भवन्ति, न तु प्रवहणदशावच्छोधकत्वमुपकारकत्व वा तेपा, तथा तेपि सासारिकस्त्रीपुत्रादिभरणपोपणमात्रोपयोगित्वेन पुन पुनर्जन्ममरणादियुक्ता एव भवन्ति, न परोपकारका स्वात्मशोधका वा भवन्ति । तादृशश्रवणपाठात् शक्तिह्रासे पुराणार्था फलदा न भवन्तीति भाव । एतेन तेपा तृतीयमार्गप्रवेशो निरूपित ॥ ३½ ॥

एव भेदद्वयमुक्त्वात पर गायकभेदानाहु —

वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

पूर्वोक्ता गायका भृतकधर्मरहिता । तेपामन्यधर्माधिकाराभावात् गाने भृतकधर्मराहित्यमात्रमेवोत्तमत्वम् । तादृशा पुनर्वेश्यादिसहिता, आदिपदेनान्येपि विधर्मा पानादय सूचिता । अत एव मत्ता, स्वपरधर्मविवेकरहिताश्चेत्तदा गर्ततुल्या । गर्तोत्र जलरहितान्धकूप । स यथाधस्तलपर्यन्तगत दुष्टजीवकङ्कालादिस्थानभूतोन्येपा पतनहेतुश्च भवति, तथैतेपि स्वय त्वधोगता एवान्येपामपि पातहेतवो भवन्तीति भाव ॥ ४ ॥

एव चतुर्थ भावमुक्त्वा पञ्चम भावमाहु —

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

गर्ता अपि बहुविधा इति ये जलार्थं जलसङ्ग्रहार्थमेव क्रियन्ते, गानोपजीविनो भृतकाध्यापकवत् गन्धर्वास्तत्तुल्या । यथा तज्जलस्य प्रयोजनमुपजीवनमेव, नान्यत्, कर्माद्युपयोगित्वाभावात्तीर्थरूपत्वाभावाच्च । तथा तेपामपि तेन गानेनोपजीवनमेव भवति, न तु कश्चन विशिष्टो धर्मो भवति, प्रत्युत पापमपि भवेन्निषिद्धत्वात्तस्येति भाव । एव गन्धर्वाणा त्रयो भेदा उक्ता ॥ ४½ ॥

एवं विषयिणां भावानुक्त्वा मुमुक्षूणां भावान्निरूपयन्तः पञ्चमं भावमाहुः—

ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

ह्रदास्त्विति । पूर्वे तु सम्मतित्वाभावादपण्डिताः, एते तु पण्डिताः धर्माधर्मविवेकिनः कर्ममार्गीया यद्यपि गृहादिसंसक्तास्तथापि निवृत्तिमुखाः । अत एव मोक्षेच्छया भगवच्छास्त्रे तत्परा जाताः । तादृशास्ते ह्रदा ह्रदतुल्या इत्यर्थः । अत्रापि सामान्यतो ह्रद उक्तो, न तु कश्चन विशेषः । तेन ह्रदो यथा प्रवाहधर्मरहितो निर्मलः, तथा तेपि प्रवाहधर्मान्निवृत्ता निर्मलप्रज्ञा इति सूचितम् । तत्परत्वकथनेन तद्धर्मजिज्ञासैवास्ति, न तु निःसन्दिग्धं धर्मा ज्ञाता इति ज्ञाप्यते । एतेन तेषां प्रथमप्रवृत्तिः सूचिता ॥ ५ ॥

ततोऽप्येतनभावविशिष्टं स्वरूपं निरूपयन्तः सप्तमं भावमाहुः—

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गम्भीरमानसाः ।

सरःकमलसंपूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

तत्र भगवच्छास्त्रेषु ये सन्देहवारकाः, बहूनां मतानां कथनात्तेषु सन्देहा उत्पद्यन्ते, तेषां ये निवारकास्ते सूदाः । सुष्ठु शोभनमुदकं येषां तादृशा ह्रदास्तद्रूपाः । शोभनत्वकथनेन गुणविशेष उक्तः । किञ्च, गम्भीरमानसा इति गंभीरं मानसं येषां, भगवद्धर्मज्ञानेनान्यथाभावनाविपरीतभावनादिना कलुषितं न भवतीति भावः । पूर्वेषु गंभीरत्वसूदत्वादिगुणाभावात्सामान्यत्वमुक्तम् । तत्र विशिष्टधर्मत्वात्ततो विशेष उक्तः, तथा दार्ष्टान्तिकेपि सन्देहवारकत्वविशेषः । परन्तु ज्ञानस्यैव विशेषो न क्रियाया इति दृष्टान्तेन सूचितं भवति । अतः परं पूर्वतो विशिष्टमष्टमं भावमाहुः सरःकमलसंपूर्णा इति । पूर्वे तु शास्त्रज्ञानेन पूर्णा उक्ताः, गंभीरमानसत्वकथनेन ज्ञानस्थैर्यमप्युक्तम् । एते तु बुधाः ज्ञानिनः पुनः प्रेमयुक्ता भक्तियुक्ता इति सरःसंबन्धिन्यः कमलैश्च संपूर्णाः आच्छादिताः तादृश आपस्तद्रूपाः । सरस्तु विहितं भवति । तत्र कमलं भक्तिरूपं, तेन पूर्णा आपः रसरूपाः । तत्तुल्यत्वकथनेन विहितभक्तिसहितप्रेमयुक्ताः ज्ञानेन च वासितास्तादृशास्त इति सूचितम् । तेनात्र क्रियापि सूचिता । सरस्त्व विहितसरःसंबन्धित्वेन विहितभक्त्यनुसार्येव प्रेमापि तेष्विति सूचितम् । एवमेते त्रयोपि क्रमत उत्तरोत्तरविशिष्टधर्मसहिताः सामान्यतो विहितभक्तिमार्गीया उक्ताः ॥ ६ ॥

अतः परमेतेष्वप्यवान्तरभेदान्निरूपयन्तो नवमं भावमाहुः—

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतभक्तयः ॥ ७ ॥

पूर्वोक्तेषु सरोदृष्टान्तीयेषु केचनाल्पं श्रुतमध्ययनं येषामेतादृशाः, परन्तु भगवद्गुणेषु प्रेमयुक्ताः, ते वेशन्ताः अल्पसरोरूपाः परिकीर्तिताः । प्रेमयुक्तत्वेपि विहितत्वेन प्रवृत्तत्वात् संपूर्णभगवद्धर्मज्ञानं विना भक्तिर्दृढा न भवतीत्यल्पसरोदृष्टान्त उक्तः । यथाल्पसरो

नष्टमपि भवेत्तथैतेषां भावा अपीति भावः। एतेन पूर्वापेक्षया हीनभावत्वमुक्तम्। एतदेवोक्तं तत्त्वार्थदीपे 'शास्त्रज्ञानाभावेपि प्रेम्णा भजते स मध्यम' इति। एवं सर्वेमिलित्र। अतोपि हीनत्वेन दशमं भावमाहुः कर्मशुद्धा इति। कर्मणैव शुद्धाः निःकामकर्मादिना चित्तशुद्धियुक्ताः, नतूत्पन्नज्ञानभक्त्यादयः, ते तु पल्वलतुल्याः। यद्यपि वेशन्तपल्वलयोर्न भेदस्तथापि वेदे यथेन्द्रमहेन्द्रयोर्भेदः स्वीकृतस्तथा वेशन्तपल्वलयोरपि 'वेशन्तीभ्यः स्वाहा पल्वल्याभ्यः स्वाहे'त्यत्र भेदनिर्देशः कृत इति तथात्वेन दृष्टान्तः। परं तत्रैतावान् विशेषः। पल्वलमपि द्विविधम्। एकं कमलादिरहितम्, अपरं तत्सहितम्। पूर्वोक्तेषु भक्तित्वा(सत्त्वा)त् कमलसहितवेशन्तदृष्टान्त उक्तः, कर्मशुद्धेषु विहितैकनिष्ठेषु तद्रहितदृष्टान्त इति, यथा पल्वलं स्वल्पं सर्वदा स्थिरजलं न तिष्ठति, वर्षाकाले पुनः पूर्णं भवति, तदपि स्वरूपतः स्वल्पं, तथा कर्मपूर्तौ पूर्णता, तस्य क्षये शुष्कतेति जन्ममरणादिसहिता निरूपिताः। पूर्वोक्तेषु कमलादिसहितवेशन्तदृष्टान्तेन भक्तिमत्त्वेन जन्ममरणाद्यभावोपि संभवति। यथा कमलादिसंपत्तिशोभादर्शनादिना कदाचित्तस्य महत्त्वं रक्षां च कश्चित्कारयति तथेत्यर्थः। एतेषु तदभावान्न तथेति भावः। कदाचिज्जन्मान्तरे तादृशो ज्ञानी भवतीति निबन्धे निरूपितम्। किञ्च, यथा एतादृशाः पल्वलरूपाः प्रोक्तास्तथा वेशन्तदृष्टान्तीयानां पूर्वमल्पश्रुतत्वं प्रेमयुक्तत्वं च निरूपितम्। ते पुनरल्पश्रुतभक्तयो भवन्ति, तदा पल्वलतुल्या एवेति भावः। श्रुतं तु पूर्वमप्यल्पमेव केवलं प्रेमयुक्तत्वेन कमलसहितवेशन्तदृष्टान्त उक्तः। तदभावात्पल्वलतुल्यत्वं युक्तमेव ॥ ७ ॥

एवं कर्ममार्गीयानां स्वरूपमुक्त्वा योगादिभावानां स्वरूपं निरूपयन्तः एकादशं भावमाहुः।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः।
तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

योगेत्याद्यः। तत्र ध्यानादिः कल्पितमूर्तैस्तेन संयुक्ता ये गुणास्ते वर्ष्याः वर्षासम्बन्धिजलतुल्या इत्यर्थः। वर्षा यथा शून्यावलम्बिन्यः, न स्वरूपावलम्बिन्यस्तत्रापि फलस्याल्पत्वात् ता अपि प्रथमोद्गता विरलाः पतनमात्रेण शुष्का भवन्ति, न तु कचिदार्द्रतां संपादयन्ति, तथा तादृशा अपि न भक्तिफलाधिकारिणः। किन्तु तत्साधनानुसारिफलाधिकारिण इति भावः। अतः परं द्वादशं भावमाहुः तपोज्ञानादीति। केचन तप एव परं मत्वा कुर्वन्ति, केचन ज्ञानमेव केवलं परं मन्यन्त इति तेषां स्वरूपमाहुः—तपः पञ्चाग्निसाधनादीनि, ज्ञानं केवलं, तत्र प्रवृत्तानां भावाः स्वेदजा स्वेदजलतुल्याः कथिता इत्यर्थः। यथा श्रमेण स्वेदजलं स्रवति। ऊष्मणा वा। अपवित्रमप्रयोजनकं च भवति, तथैवैते भावाः श्रमसाधकाः, न तूत्कृष्टफलदाः। अग्रेपि तापकारकाः संसारकरणादिति भावः। अत एव 'रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा। न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेक'मित्युक्तम् ॥ ८ ॥

अन्ये केचन वेदमाहात्म्यज्ञानैकनिष्ठास्तेषां स्वरूपं कथयन्तस्त्रयोदशं भावमाहुः—

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

अलौकिकेन ज्ञानेन वेदोक्तार्थज्ञानेनेत्यर्थः । ब्राह्मणानां वेद एव परस्तदभ्यास एव तेषां धर्म इति तत्पाठकरणरूपा ये गुणाः प्रोक्ताः, तेपि कादाचित्काः, न सर्वदा स्थिराः, तेपि शब्देनैव गम्याः, शब्द एव गम्यो येषां, तत्वर्थ इति वा, तादृशास्ते पतन्तः उच्चतः पतन्तो ये जलौघास्तेषां शब्दा इव । अथवा दूरात् कर्णे पतन्तः शब्दा इव प्रकीर्तिताः । यथा ते निरर्थकाः, दूरात् पतनजशब्देनैव ज्ञायन्ते, न तु ते प्राप्तुं शक्यन्ते, तथा वेदपाठका एव, न तु ते वेदार्थं जानन्ति, न मुख्यफलं प्राप्नुवन्तीति भावः । आपाततो ज्ञानेपि कादाचित्कत्वेन न मुख्यफलमिति भावः ॥ ९ ॥

ननु तेपि देवाद्युपासनां कुर्वन्ति, वेदार्थाज्ञाने तु साङ्गोपासना न भवेदित्याशङ्कानिरासाय चतुर्दशं भावमाहुः ।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ।
साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

यद्यपि केचन देवादीनामुपासनां कुर्वन्ति । न ह्येतावतैव वेदार्थ इति तावन्मात्रज्ञानेन क्रियमाणा सा न परमफलदायिनीति तादृशा गुणा भावाः भूमेरुद्गताः पृष्वा जलबिन्दवो बुद्बुदास्तद्रूपाः । यथा ते यत्रैवोत्पन्नास्तत्रैव लीना भवन्ति, तथा यस्य देवस्योपासना तत्रैव पर्यवस्यन्ति, न तु ब्रह्मपर्यवसाना इत्यर्थः । अतः परं वैष्णवधर्मनिष्ठस्य भावात्निरूपयितुं पञ्चदशं भावमाहुः साधनादीति । देशादिसाधनेषु भूतशुद्ध्यादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः श्रवणकीर्तनादिद्वारा प्रेमपूर्त्या स्फुरन्तो धर्माः अश्रुपुलकादिरूपा येषां तादृशाः स्यन्दमाना भूमितः प्रस्रवणशीला आपस्तद्रूपाः । पूर्वापेक्षया प्रस्रवणशीलत्वात् किञ्चिदुपकारकत्वं सूच्यते । तेनोपासनायामपि तान्त्रिकरीत्या विष्णूपासना ज्ञेया । परन्तु वृद्धिक्षयसहिताः, श्रवणस्याल्पत्वाद्विभूतिपर्यवसानत्वाच्च ततोप्यागमनगमनादिकं संभवतीति सूचितम् । एतेन सकामतापि सूचिता ॥ १०½ ॥

एते तु वृद्धिक्षयसहिताः, ते एव पुनर्वृद्धिक्षयरहिता भवन्ति, तेषां भावमाहुः षोडशम् ।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥
स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

यादृशाः पूर्वं प्रोक्तास्तादृशा वृद्धिक्षयविवर्जिताश्चेत्तदा स्थावराः स्थिरजलतुल्याः स्थिरजलाशयाः स्थिरप्रवाहा नदीरूपा वा, तत्सदृशाः । स्थिर[ ]त्वरूपमाहुः मर्यादैकप्रतिष्ठिता इति । यावत्प्रमाणमर्यादया विहितास्तावन्मर्यादया सर्वदा स्थिराः ।

अत एव तावति धर्मे वृद्धिक्षयरहितत्वमुक्तम् । तेन निरन्तरपूजाप्रवाहसहिताः स्वमर्यादाधर्मयुक्तास्तादृशा भक्ताः जन्ममरणादिरहिता मोक्षपर्यवसायिनः स्वमर्यादयेति ज्ञापितम् । यथा तादृश्यो नद्योऽपि परंपरया नद्यन्तरसङ्गेन समुद्रगामिन्यस्तथेति भावः । जलाशयपक्षे वृद्धिक्षयराहित्यमेव जन्ममरणाभाव इति तथात्वम् ॥ ११½ ॥

अथ भक्तिमार्गीयभेदान् वक्तुं सप्तदशं भावमाहुः ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

प्रथमजन्मारभ्यानेकजन्मसाधनैः सम्यक् सिद्धिं प्राप्ताः । सर्वदेति साधननैरन्तर्यमुक्तम् । तेन 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभि'रित्युक्तसाधनसिद्धाः प्रावाहिकभक्तिमन्तो भक्ताः सामान्यतः प्रोक्ताः । ते प्रथमं साधनदशायां सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुक्ता भवन्ति, परन्तु निरन्तरमुद्गम उदयस्तेन युता भगवद्धर्मप्रयत्नवन्तः सङ्गदोषेण क्षयेऽपि तद्धर्मनिष्ठां न त्यजन्ति । तादृशा नद्यः नदीरूपा नदीजलतुल्या इत्यर्थः । यथा नद्यः वर्षाजलेन वर्धन्ते, ग्रीष्मसङ्गेन क्षीणा भवन्ति, परन्तु मूलतः प्रवाहस्य निरन्तरमुद्गमस्तिष्ठति, तेन परंपरया समुद्रगामिन्यो भवन्ति, तथा तादृशभावा अपि सत्सङ्गेन वर्धन्ते, असत्सङ्गेन क्षीयन्ते, तथापि निरन्तरं भगवद्धर्मनिष्ठात्यागाभावात् कदाचिद्भगवत्समुद्रगामिनो भविष्यन्तीति भावः । पूर्वोक्तापेक्षया हीनाधिकार उक्तः ॥ १३ ॥

अतः परं च शिष्टान् निरूपयन्तोऽष्टादश भावमाहुः ।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत्सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

एतादृशा पूर्वोक्तधर्मवन्तः प्रवाहमार्गीयाः स्वतन्त्राश्चेत् न केनचिद्वृद्धिं क्षयं वा प्राप्नुवन्ति, ते समुद्रपर्यन्त समुद्रगप्रवहणशीलाः सिन्धवः महानद्यो नदा वा तद्रूपा ज्ञेयाः । यथा तादृश्यो नद्यः स्वयमप्रतिबद्धाः सत्यः समुद्रं प्रविशन्ति, तथा तादृशा भक्ता अपि स्वमार्गानुसारेण भगवन्तं प्राप्स्यन्तीति भावः । अतः परं केवल भगवद्धर्मैकपूर्णान् निरूपयन्त एकोनविंशं भावमाहुः पूर्णा इति । एते सर्वे भगवदीयाः भगवद्धर्मैकनिष्ठाः ज्ञातारो वक्तारश्च सर्वदा तदेकरसपूर्णाः, न तु कदाचिदपि न्यूनभावयुताः शेषादयः । तत्र शेषो गुणगानपरः सर्वदा भगवद्धर्मवक्ता । व्यासः सकलपुराणकर्ता, तद्द्वारा समस्तधर्मवक्ता । अग्निः स्वयमेव । अयं भावः । श्रीमदाचार्यस्वरूपे अंशद्वयमस्ति, मर्यादामार्गोपदेष्टृत्वं पुष्टिमार्गोपदेष्टृत्वं च । तेन स्वरूपमपि द्विविधम् । तत्र सन्ति मर्यादामार्गीयान् प्रति तादृग्रूपेण प्राकट्यं भवति, न त्वलौकिकस्य वल्लभाष्टकसर्वोत्तमाद्युक्तस्येति तादृशस्य तन्म-

ध्यपातित्वेन गणना कृता, अत एव 'व्यासोस्माक गुरु'रित्युक्तम्। अन्यथा पुष्टिमार्गगुरु-वस्तु स्वामिन्य इति तद्भावात्मकभगवन्मुखारविन्दाधिष्ठानलौकिकाभिरूपस्य स्वस्य व्यास-गुरुत्व न सभवतीति न तथोक्त स्यात्। एव सति शेषादिमध्यपातित्वेन भगवद्गुणनिरूप-णसाम्याद्युक्तैव गणनेति सर्वमनवद्यम्। केचित्तम्रि रुद्राग्निरिति वदन्ति। रुद्रस्य भक्त-त्वात्। मारुतो हनूमान् परमभक्त। जडो जडभरत। नारद पञ्चरात्रागमप्रवर्तक। मैत्रो मैत्रेयो धर्मवक्ता। एते सर्वे मर्यादामार्गीया भक्ता गुणज्ञा, न तु स्वरूपनिष्ठैकभावा इति समुद्ररूपा प्रकीर्तिता। समुद्रो यथा स्वमर्यादायामेव तिष्ठति, तथैतेपीति भाव। अत्र समुद्रोपि शुद्धोदो ज्ञेय। अन्यानग्रे वक्ष्यन्तीति। किञ्च, एतेषु सामान्यत समुद्र-दृष्टान्त उक्तो, न तु कथन गुणदोषविशिष्टे धर्मस्वस्योक्त इति प्रवाहमार्गाद्भिन्नत्व पूर्ण-त्वागाधत्वादयो धर्माश्च सूचिता। यथा समुद्रमध्ये रत्नानि सारभूतानि, तथैतेषा हृद-येषु भगवद्धर्मा इति भाव ॥ १४३ ॥

अत पर समुद्रा अप्यनेकविधा इति तद्भेदान्निरूपयन्तो त्रिश भावमाहु।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥

वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः।

अथ भाव। एके भगवतो गुणा लोकसमाना एव, लोको यथा प्राकृतस्तथा भगवद्गुणा अपि प्राकृता एव, भगवानपि नास्ति, कर्मणैव सर्व भवतीति मन्यन्ते, ते क्षारोदतुल्या, न काचन ते पुरुषार्थसिद्धिरिति भाव। केचन वेदानुसारेण धर्मान् म-न्यन्ते, ज्ञानैश्वर्यादयो जगत्कर्तृत्वादयो धर्मा भगवति सन्तीति तादृशा दधिमण्डोद-तुल्या। उभयशास्त्रत्वात्तत्तुल्यता। तेपि तावन्मात्रधर्मानेव मन्यन्ते, न तु स्वरूपमव-तारादिक चेति तादृशा भावा न पुरुषार्थसाधका इति भाव। अपरे गुणैः प्रकृतिगुणैरवि-द्याधर्मे कृत्वा धर्मा भासन्ते, वस्तुतो धर्मा एव न सन्तीति मन्यन्ते, ते सुरोदतुल्या, स्पर्शमात्रेपि धर्मनाशका मिथ्यावादिन पुरुषार्थनाशका इति सर्वथा त्याज्या एवेत्यर्थ। एते त्रयोप्यमिश्रा। अथ मिश्रानाहु। केचित्तु ये धर्मा लौकिकभावसहितास्ते लौकिका एव, ये ब्रह्मधर्मास्तेऽलौकिका सर्वे सन्तीति मन्यन्ते, ते मिश्रा क्षीरोदतुल्या। स यथा स्वरूपतो हुतमस्त्यपि मथनानन्तर नि सारो जात, सकलरत्नाना निर्गमात्, तथा तेषा तावन्मात्रधर्मवत्त्वेपि परमपुरुषार्थो न सिध्यतीति, न ते ग्राह्या इति भाव। यतो भगवतो 'लोकवल्लीलापि केवल्य'मित्युक्त्वात् तत्रालौकिकबुद्धिनिष्ठाभावात् न सत्सम्मता इत्यर्थ। अन्ये वेदोक्तधर्मा जगत्कर्तृत्वादयो यद्यपि सन्ति, तथापि न ज्ञातव्या अविद्या सवलिता, ब्रह्म तु निर्विकारमेवेति मन्यन्ते, ते घृतोदतुल्या, घृत विकृत भवति, क्षीर-परिणामो दधि तत्परिणामो घृतमतस्तेपि विकृतत्वाल्लोकाशत्र ग्राह्या, पुरुषार्थासाधकत्वात्। एके पुनर्भगवति धर्मा सन्ति, पर रसतारादिधर्मास्तु प्राकृता इति मन्यन्ते, ते इक्षु-

रसोदतुल्याः, यथेक्षुरसः स्वरूपतो मधुरः, परन्तु परिणामविरसस्तथैते धर्मा अपि परिणामे विरसत्वाङ्गीकारात्र पुरुषार्थसाधका इति भावः । पूर्वापेक्षया पञ्चानामेतेषां हीनभावत्वमुक्तम् । एवं विंशतिधा जीवाधिकारानुसारिणो भावा निरूपिताः । साधनसाध्या लोकवेदप्रसिद्धा इति ॥ १५३ ॥

अतः परं लोकवेदातीतः साधनासाध्यो भगवद्दानेनैवोत्पद्यते, नान्यथेत्येतादृशोपि कश्चन भावो वर्तत इति स्वकीयानां ज्ञापनार्थं कृपया तादृशभावस्य यथार्थस्वरूपं वदन्त एकविंशमपि भावं लक्षयन्ति ।

गुणातीततया शुद्धान्सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥
सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

ये पुनर्विष्णोर्व्यापकस्य रसात्मकस्य च भगवतः सर्वे गुणाः, लोकानुसारिणो धालचरित्रादयो, वेदानुसारिणो माहात्म्यप्रतिपादकाः ब्रह्मधर्माः गुणानुसारिणः स्थित्युद्भवप्रलयरूपाः, रसात्मकलीलारूपाश्च, गुणातीता एव शुद्धा दोषरहिता निर्विकाराः सच्चिदानन्दरूपिणः सन्तीति मन्यन्ते, ते भक्ता अमृतोदतुल्याः, यथा अमृतस्य पङ्कसत्त्वेपि मधुरत्वमेवैवं भगवद्धर्माणामपि तत्तद्रूपत्वेपि सच्चिदानन्दरूपत्वमेव, न त्वन्यथा । यथा स्वरूपमानन्दरूपं रसात्मकम्, तथा गुणा अपीति निरूपितम् । किञ्च, समुद्रस्यामृतरूपत्वेनान्येभ्यो विशेष आधिक्यं दूरत्वमगाधत्वं मरणादिदोषनिवर्तकत्वं देवोत्तमैरेव भोग्यत्वं चोक्तं यथा, तथैते धर्मा अप्येतावद्धर्मवन्त एतदधिकारिभिरेव भोग्या इति सूचितम् । अत एवाधिकारिविशेषणं विचक्षणा इत्युक्तम् । तथा चोक्तं 'मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः' इति । अत एव रसिकजनानुभवैकवेद्यत्वादेते भावाः सर्वोत्तमाः । तादृग्भाववन्तो भक्ता अपि सर्वोत्तमा इति सर्वोत्तमभावुकस्वरूपावेः कथनमेतेषु युक्तम्, न तु पूर्वोक्तेषु शेषादिषु, सर्वसाधारणत्वात् । अतस्तत्रामिश्रन्दस्यं तथा निरूपणं कृतम् । यद्यपिश्रन्दस्य कथनान्योप्यर्थो भवेत्तदा स एवोत्तमः, नास्माकं तत्राग्रहः । यथा विरोधो न भवेत्तथा ग्रन्थार्थो व्याख्येय इति भावः । एवं स्वतन्त्रभक्तिभावस्वरूपनिर्देशमपि कृत्वा तस्य दुर्लभत्वमाहुः तद्वाक्पानं सुदुर्लभमिति । अत एव 'भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभे'त्युक्तत्वादत्रापि ते भावा नोच्यन्ते इति भावः । अत एव 'शुद्धा प्रेम्णातिदुर्लभा' इत्यप्युक्तम् ॥ १७ ॥

एवं दुर्लभत्वे को हेतुस्तत्राहुः ।

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव चर्चितम् ।
अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

तादृशानां वाक्यं कचिदेव भवति । उत्तमाधिकारिसंयोगे भवति, यथा शुकपरी-

क्षितयोः । यथा वा 'अक्षण्वता'मित्यादि । यथा वा भ्रमरगीते उद्धवं प्रति श्रीस्वामिनी-
वाक्यानि । पुनस्तत्तत्स्वरूपज्ञानेनोद्धववाक्यानि । तादृशं वाक्यं दूतानामिव वर्णितं भ-
वति । दूतास्तु यथार्थवक्तारो यथानुभूतं कथयन्ति, तथा तेषां वाक्यं स्वानुभूतत्वेन
तथार्थमिति प्रमाणमित्यर्थः । ननु तादृशवाक्यस्यातिदुर्लभत्वेनाशक्योपदेशकथनं व्यर्थमि-
त्याशङ्क्य तत्राहुः **अजामिलेति** । यथा अजामिले सर्वथानधिकारिण्यपि परमकृपया स्व-
नाममाहात्म्यं प्रकटितवान् प्रभुः, तथा तादृशे निःसाधनेपि कृपया परमानुग्रहेण तादृग्
वाक्यं कदाचित्प्रकटीकरोति । अत एव क्वचिद्वाक्यं भवतीत्युक्तम् । अत एव तद्वाक्यम-
मृतरूपबिन्दुपानं प्रकीर्तितम् । यथामृतस्य बिन्दुपानेप्यमरत्वं सिध्यति, तथा तावन्मात्र-
वाक्यश्रवणेपि तादृग्रूपत्वं समस्तभगवन्माहात्म्यस्वरूपज्ञानं च भवतीति भावः ॥ १८ ॥

ननु माहात्म्यज्ञाने जातेप्यविद्याधर्माणां विद्यमानत्वात्कथं परमफलं सेत्स्यतीति तत्राहुः ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।

तदालेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

तद्बिन्दुपानमात्रक्षणे स्त्रीपुत्रादिषु यो रागः स्नेहः, अज्ञानं भगवत्स्वरूपधर्मयोः,
आदिपदेनासंभावनाविपरीतभावनादीनां च सर्वथा नाशनं नाशकारकं तद्वाक्यं भवति,एतद्यदा
भवेत्तदालेहनं भगवत्स्वरूपनिष्ठभावैस्तदास्वादनं जायते, तेन प्रतिबन्धनिवृत्तिः सूचिता ।
इष्टप्राप्तिमाहुः **स्वानन्दोद्गमकारणमिति** । तदास्वादे पूर्वं तिरोहितानन्दस्य प्राकट्यम्,
पश्चात् प्रेमासक्तिसङ्कल्पव्यसनोत्पादनेनान्तर्भगवत्स्वरूपानन्दाविर्भावो भवतीति भावः॥१९॥

ननु पूर्वोक्ता शेषादयः पूर्णा उक्ताः, तथाप्येतदपेक्षया न्यूनत्वात्तेषां धर्माणां कथं
पूर्णत्वं फलसाधकत्वं च तत्राहुः—

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

उक्तातिरिक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्ताः शेषादयः तेषां वाक्यानि उद्धृतोदकवत्, यथा
गङ्गातः उद्धृत्य गृहे समानीतं जलमपि गङ्गाजलमेव, तथापि मर्यादामार्गविधिना स्नानपू-
जादिफलं प्रवाहस्थजल एव भवेन्नास्मिन्, तथा तेषां धर्माणामपि भगवद्धर्मरूपत्वं पूर्ण-
त्वादिकं च तिष्ठत्येव, परन्तु पुष्टिफलप्रापकत्वं नेति भावः । पुष्टिफलं तु तादृग् बिन्दु-
पानजनितरसास्वादेनैव भवेन्नान्यथेति सूचितम् । एवं सति मर्यादामार्गीयभक्तिरसपूर्णत्वं
पुरुषोत्तमसायुज्यफलकत्वं तेषां सम्पन्नमिति ज्ञापितम् । किञ्च, एतस्योपकत्वेन द्वितीयं
दृष्टान्तमाहुः **पतितोदकवदिति** । यथा वर्षाजलमाकाशात् पतितं यद्यपि शुद्धं निर्मलं,
तथापि मध्ये गृहीतं चेत् कर्मादियोग्य न भवति, भूमौ पतितं चेत्कर्मादियोग्यं भवति,
तथा तानि वाक्यानि शुद्धानि निर्मलानि, तथाप्येतादृशभक्तिरसभावाशयसंवलितत्वाभावा-
देतरफलरूपस्वरूपसम्बन्धकारकाणि न भवन्तीति भावः । एतदेवोक्तं **फलं चापि तथा**

सत इति । यादृशो मार्गः यादृशं वाक्यं तादृशमेव फलं भवेदिति भावः १. अथवा, पूर्वं स्वतन्त्रतया प्रमेयबलमाश्रित्योक्तम्, अधुना शास्त्रक्रमानुसारेणोच्यते । तथाहि, उक्तातिरिक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्ता शेषाद्यस्तेषां वाक्यानि उद्धृतोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । यथा जलाशयादुद्धृतं गृहे समानीतं जलं गृहादिशोधकत्वेन स्नानाचमनादिनात्मशोधकत्वेन पाकादिकर्मकारकत्वेन तृषादिनिवर्तकत्वेन चोपकारकं भवति, तथा तेषां वाक्यानि वाक्योक्तधर्माचरणादिना अविद्याधिककर्मनाशकत्वेन ज्ञानादिधर्मोत्पादकत्वेन सांसारिकतापनिवर्तकत्वेन मुक्तिफलकत्वेन च प्रतिक्षणमुपकुर्वन्तीति भावः । तादृशस्थितौ विशेषानुग्रहश्चेत्तदा पुष्टौ प्रवेशः, नो चेत्तदुपकार एवेत्यर्थः । एतदेवोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती'ति । अतएव पुष्टिमार्गाधिकारो मुक्तानामेवेति 'मुक्तोपसृप्य' इत्याद्युक्तम् । किंच, एतत्पोषकत्वेन द्वितीयं दृष्टान्तमाहुः पतितोदकवदिति । वर्षाजलं पतितमुपकरोति, परन्तु मर्यादया पतितं चेत् । नो चेत्सर्वसस्यादिनाशकं भवेत् । एवं मर्यादया धर्माचरणे फलं भवेत्, नो चेदौद्धत्येन सर्वधर्मनाशो भवेदिति तेषां वाक्यानामुपकारकत्वं पूर्णत्वं फलसाधकत्वं चोक्तम् । अत एव फलं चापि तथा स्मृतमित्युक्तम् । ततस्तादृशवाक्यात् फलं च तथा तदनुसार्येव सायुज्यं भवेदिति भावः ॥२०॥

अतः परमुपसंहरन्ति ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इति प्रकारका जीवेन्द्रियगताः, जीवगता आत्मवासिनः, इन्द्रियगता विषयगामिनः । अत एव भुवि स्थाधारे नानाभावं गतास्तादृशा विष्णोः व्यापकस्य रसात्मकस्य च गुणा भावा रूपतः स्वरूपतः फलतश्च निरूपिताः । एतेन सन्देहनिवृत्तिपूर्वकं भगवन्मार्गप्रवृत्तौ फलं भविष्यतीति ज्ञापितम् ॥ २१ ॥

यथामति मया भावा रूपतः फलतोऽपि हि ।
निरूपितास्तत्र किंचिद् बुद्धिदोषेण यद्भवेत् ।
अन्यथा तत्सकरुणा क्षमन्तां प्रभवो मम ॥ १ ॥

इति श्रीवल्लभकृतं श्रीजलभेदविवरणं संपूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीबालकृष्णकृतविवृतिसमेतः ।

श्रीराधिकावदनपद्ममरन्दपानघूर्णायमाननयनः [1]स्फुटलाञ्छनश्रीः ।
मन्दस्मितो रतिविलासजयोदिताङ्गकान्तिः सदा स्फुरतु मद्धृदि गोपिकेशः ॥ १ ॥
भावाब्धिमथनाचार्यचरणान् नौमि संततम् ।
गोपीशभावभावाप्तिर्यत्कृपातो न दुर्लभा ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां भावज्ञानेन पूर्णप्रेमभावोत्पत्त्यर्थं भावनिरूपणं प्रतिजानते । यथा निर्विघ्नतासिद्ध्यर्थं मङ्गलाचरणस्य शिष्टाचारत्वं, तथात्र स्वीयेषु निर्विघ्नभावोत्पत्तिसिद्ध्यर्थं भगवन्नमस्करणात्मकं मङ्गलमाचरन्ति नमस्कृत्येति ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

हरिमकारणसर्वदुःखहर्तारं नमस्कृत्य तद्गुणानां तदीयभक्तगुणानां विभेदकान् विशेषेण भेदबोधकान् भावान् वक्ष्ये इति सम्बन्धः । विंशतिप्रकारेण भिन्नान् तान् वक्ष्य इत्यर्थः । ननु एतत्कथनं किंप्रयोजनकमित्याकाङ्क्षायामाहुः सर्वसन्देहवारकानिति । यच्छ्रवणात् सर्वेषां सन्देहाभावः स्यादित्यर्थः । यद्वा, सर्वे भगवति प्रासिसन्देहवारका इति भावः ॥ १ ॥

एवं प्रतिज्ञाय भेदानेवाहुः गुणभेदा इति ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।
गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

यावन्तो जले भेदा वेदोक्तास्तावन्तो गुणभेदा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अत्र 'कूप्याभ्यः स्वाहे'त्यारभ्य 'सर्वाभ्यः स्वाहे'त्यन्ता श्रुतिरनुसन्धेया । गुणानां जलसाम्योक्त्या स्वतः शुद्धत्वं बोध्यते । 'आपः स्वभावतो मेध्या' इत्यादिवाक्येभ्यो जलानां स्वतःशुद्धत्वं, तथैव भगवत्सम्बन्धित्वाद्गुणानामिति भावः । यथा जलमन्यमेलने तदात्मकतां भजते, तत्र च स्वस्वरूपात्मकतां च करोति, तथा भगवानपि भक्तभावमेलने स्वगुणान् तद्भावसाम्यान् करोति, तं च स्वीयं स्वसमं करोति ।

ननु भक्तस्य प्रभुसाम्यता कथमिति चेदुच्यते । तदसाम्यत्वे भक्तत्वमेव न स्यात् । अत एवोक्तं 'देवो भूत्वा देवान् यजेत्' 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इत्यादि च । तस्माद्-

---

१ स्फुटालकृतश्रीरिति मूले पाठः ।

क्तत्वेपि न हानिर्यतो तद्भजनस्यैव स धर्मो, न त्वन्यधर्म इति त्वदुक्ताशङ्कागन्धलेशोपि नेत्यलम् । तत्र प्रथमं भगवतो रसरूपत्वाद्रमणैकस्वभावत्वात् तत्र च गानमुख्यता श्रूयोच्यते 'यदा खलु वै पुरुषो श्रियमश्नुते तदा वीणास्मै वाद्यते' इत्यादि । तस्माद्गानप्रियो भगवानिति गायकाना भावमाह गायका इति । विश्रुताः प्रसिद्धा गानरसज्ञा ये गायकास्ते कूपसदृशास्तेषां भावः कूपजलतुल्य इत्यर्थः । यथा कूपोदकं शीतकाले अन्तरुष्णं, घर्मकाले बाह्यतः शीतं, तथैतेषामपि भावोपि श्रवणानन्दत्वेनोपरि शीतलस्तदनन्तरं रसबोधे भगवत्प्राप्त्यर्थं मनस्तापकः । तथा सति अतिप्रचुरबाह्यतापे सति भगवच्छ्रवणसुखदत्वेनान्तः शीतल इति भावः । ननु एतेषां भगवद्गुणसम्बन्धत्वेन गानाभावात् कथं भगवद्भाव इति चेत् ? उच्यते । भगवत्स्वरूपस्य नादब्रह्मात्मकत्वाद्यथास्थितनादस्वरूपज्ञाने भगवत्प्राप्तिरिति भावः । अत एव सङ्गीतशास्त्रे निरूपितं 'वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः । तालक्रियाप्रयासेन मोक्षमार्गं लभेत हि' इति । यथा कौपं जलं गुणेनैव ग्राह्यं, तथैतेषां भावो भगवत्स्वगुणत्वेनैव गृह्यत इति भावः ॥ २ ॥

ननु गायकानामनेकभेदवत्त्वात् कथं सर्वेषां तुल्यतेत्याशङ्‌क्याह कूपभेदास्त्विति ।

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः ।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

यावन्तः कूपभेदाः सन्ति तावन्त एव गायकभेदाः सम्मता इत्यर्थः । यथा केचित् कूपा मिष्टान्नपरिपाचकत्वे सुरतरूपक्षशा, केचिद्रूक्षत्वादन्नपरिपाककारिणः, केचित् क्षाराः शुद्धादिहेतवः, एवमनेकभेदास्तथा तेपि भगवद्गुणनिबन्धार्थज्ञानयुक्ताः, केचिच्च नादब्रह्मात्मकस्वरूपज्ञाः, केचिद्गानमाधुर्यपरा बहुभेदाः सन्ति इति यावन्तस्ते तावन्तस्तेषामपि भेदा ज्ञेया इति भावः । प्रथमभावं निरूप्य द्वितीयमाह कुल्याः पौराणिका इति । पौराणिकाः पुराणज्ञाः कुल्याः प्रोक्ताः । कृत्रिमसरित्तुल्या उक्ता इत्यर्थः । यतो भुवि पारम्पर्ययुताः, परम्परया यथा परम्परया पुराणं श्रुत्वा वर्णयन्ति, न तु स्वतो विचारयन्ति, तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा कृत्रिमा नदी प्रत्यहं खननादियत्नैरेव प्रवहति, प्रमादादप्रयत्नतो वालुकादिभिः सुनिहता भवति, तथा तेषामपि नित्यं पुराणादिदर्शनं एव भावो भवति, नान्यदा । यथा तस्याः पारम्पर्यता मुख्यैव तडागादिषु, न तु स्वतः प्रवहन्नदीनत्वत् सादित्वं सघुद्रत्वं च, तथैतेषामपि पुराणदर्शनकालं एवोत्पत्तिमत्त्वमेव च भमाप्तिनं तु दयासमुद्रभगवद्प्राप्तिरित्यम् ॥ ३ ॥

तृतीयमाह क्षेत्रप्रविष्टा इति ।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि ससारोत्पत्तिहेतवः ।
वेदपाठिसप्तिा मत्ता गायका गर्तसञ्ज्ञिकाः ॥ ४ ॥

ते च पौराणिकाः । गायकनिरूपणानन्तरं पौराणिकनिरूपणेन पुनश्च गायकनि-

रूपणेन पुराणोक्तभगवल्लीलानिरूपका गायका इवेत्यर्थः । गानस्य यथा चित्तहारकत्वम्, तथा पुराणानामपीति तन्मध्यनिरूपणमिति भावः । क्षेत्रप्रविष्टाः स्वकुटुम्बपोषणाजीविकार्थं पुराणनिरूपकाः ये ते संसारोत्पत्तिकुटुम्बपोषणसाधनोत्पत्तिहेतवो भवन्ति इत्यर्थः । चकारेण भगवद्गुणवर्णकानामनुचितः संसारः, तथापि तदर्थमेव कृतत्वात् तथेति भावो घोष्यते । अपिशब्देन संसारोत्पत्तिरपि भगवद्गुणविक्रेतुर्न भवेत्, परं भगवन्माहात्म्यवत्त्वेनेति घोष्यते । यथाल्पसरिदपि क्षेत्रे प्रविष्टा सती संसारोत्पत्तिहेतुरन्नाद्युत्पादिका भवति, न तु स्नानपानयोग्या । तथैतेषां भावोपि पुराणदर्शनेन स्वात्मशोधको न भवति, किन्तु जीविकाहेतुरेव भवतीत्यर्थः । अत एव पुराणोपजीवका नीचा उक्ताः । 'नीचा पौराणिकाः स्मृता' इति । चतुर्थं भावमाहुः वेश्यादिसहिता इति । वेश्यादिसहिता मता ये गायकास्ते गर्ततुल्या इत्यर्थः । यदि गानस्वरूपज्ञानेन दोषरहिताः स्युस्ते नादं ज्ञात्वा मुक्त्यधिकारिणो भवेयुः, परं मत्तत्वादिपयाभिनिविष्टास्तेन तेषां भावो गर्तजलतुल्य इत्यर्थः । यथा गृहमध्यकृतगर्तसञ्चितजलस्य तद्गृह एव व्यवहारयोग्यत्वम्, न तु कूपादिवत् सर्वोपयोगित्वं शुद्धिकरत्वं वा; तथैतेषां भावो गानमाधुर्यादिना तद्धृदयानन्दकर एव, न तु पुरुषार्थसाधकोपि, तदर्थमपि नादस्य ब्रह्मात्मकत्वाद्भगवतो गानप्रियत्वात् तद्रससङ्गत्वात्तेष्वपि आनन्दोद्भवो भगवता दीयत इति भावः । मत्तत्वादिदोषरहिताः पूर्वोक्तसहिता गायकाः कूपादितुल्या इति भावः । यथा कूपोदकं गुणैकप्रायं भवति, जलग्रहणपर्यन्तमेव गुणकार्यं, न तु तदनन्तरमपि, तथा स्त्रीगानस्य मधुरत्वात् तद्द्वारा नादब्रह्मानन्दानुभवार्थमेतत्साहित्यमिति भावः ॥ ४ ॥

पञ्चमं भावमाहुः जलार्थमेव गर्तास्त्विति ।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।
हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

तुशब्दः पूर्वगतसाम्यत्वं निराकरोति । प्रक्षालनोच्छिष्टजलनिःसरणार्थं ये गर्ताः तत्तुल्या गानोपजीविन इत्यर्थः । यथा गर्तजलं नीचादिस्पर्शयोग्यमेव, न तु शुद्ध्यादिकरं, तथैतेषां भावोपीत्यर्थः । नीचत्वादेतेषां गानश्रवणमपि भगवद्भक्तैर्न कार्यमिति भावः, तद्गानस्यानन्दराहित्यादित्यर्थः । षष्ठं भावमाहुः हृदास्त्विति । भगवच्छास्त्रगीतापञ्चरात्रश्रीभागवतादिषु तत्परास्तदेकनिष्ठाः पण्डिताः हृदाः प्रोक्तास्तेषां भावो हृदजलतुल्य इत्यर्थः । तुशब्देन भगवच्छास्त्राभ्यासरतो न स्वन्य इत्यर्थो ज्ञाप्यते । यथा हृदजलं तरङ्गावर्तादिरहितं अन्तःशीतलं जलक्रीडादियोग्यं भवति, तथैतेषां भावोपि पण्डितत्वात् चाञ्चल्यरहितमनोनिवर्तनायत्नप्रहतो भगवच्छास्त्रतत्परत्वात् अनिरूपितभगवत्क्रीडानिरूपणयोग्य इति भावः ॥ ५ ॥

सप्तमं भावमाहुः **सन्देहवारका इति ।**

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।
सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

तत्र भगवच्छास्त्रसन्देहवारकाः सर्वमतनिराकरणपूर्वकभगवन्मार्गस्थापका गम्भीरं मनो येषां ते सूदाः सुष्ठु उदकं येषामेतादृशा ह्रदविशेषतुल्याः । तेषां भावस्तद्ध्रदोदतुल्य इत्यर्थः । जले शुक्तिशैवालाद्यावरणरहिताः गम्भीरमानसोक्त्या अन्तः कालुष्यान्याश्रयादिदोषरहिता इति भावः । यथा ह्रदजलं गम्भीरत्वे घर्मकालेऽन्तःशीतलं उपरि तप्तञ्च भवति; तथैतेषां भावोप्यन्तर्भगवत्सम्बन्धाच्छीतलो बहिर्लौकिकनिवृत्त्यर्थं सन्तप्त इति भावः । अष्टमं भावमाहुः **सरःकमलसम्पूर्णा इति ।** यथा पूर्वोक्तप्रकारकसन्देहवारकाः बुधाः प्रेमयुक्ताः सन्तः सरःसम्बन्धिकमलपरिपूर्णाः, परन्तु नादगायकतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं सुरभिशीतलयुक्तत्वात् लक्ष्मीनिवासयुक्तभगवत्सेवोपयोग्यं, तथैतेषां भावोपि । सौरभवत् प्रसररूपः परतः पावनो हृत्कमले मज्जसीमन्तिनीभावस्थितिसहितभगवत्सेवोपभोग्यो भगवच्चरणाब्जमकरन्दपानमत्तमधुपायितचित्रकुन्तलालिश्चेति भावः ॥ ६ ॥

नवमं भावमाहुः **अल्पश्रुता इति ।**

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशान्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥ ७ ॥

अल्पं श्रुतमध्ययनं येषां ते प्रेमयुक्ताः सन्तो वेशान्ताः सरस्तद्वत् परिकीर्तिताः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं वर्षाशरत्काले निर्मलं घर्मकाले पश्चात्प्रसङ्गाच्च कलिलं भवति, तथैतेषां भावोपि भगवत्सेवादिषु प्रेमयुक्तत्वान्निर्मलो भवति, परमल्पाध्ययनत्वात् असकृल्लौकिकतापादिना कालुष्यादिकमाप्नोति इत्यर्थः । दशमं भावमाहुः **कर्मशुद्धा इति ।** कर्मत्वेन ये भगवत्परिचर्यां कुर्वन्ति ते कर्मशुद्धाः, अत एव भगवतोक्तं 'मत्कर्मपरमो भवे'त्यादि । अन्यथा कर्मणा न शुद्धत्वकारणं स्यात् । अत एव 'यस्य स्मृत्या'दि स्मर्यते । तस्मात् सर्वोत्कृष्टत्वयज्ञकर्मात्मकत्वमेव सेवायज्ञत्वात् सेवन्ते, ते कर्मशुद्धास्तेषां भावः पल्वलमल्पसरोविशेषस्तत्तुल्य इत्यर्थः । यथाल्पसरोजलं पानयोग्यं भवति, न तु स्नानावगाहनयोग्यं, तथैतेषां भावोपि भगवत्पूजाकर्मत्वाद्यत्किञ्चित् फलदो, न तु भगवदवगाहनयोग्य इति भावः । तथैवाल्पश्रुतिभक्तयः अल्पं श्रुतिः श्रवणं भागवतादिषु भगवन्माहात्म्यस्य, तया भक्तिर्येषां तेपि तत्तुल्या एवेत्यर्थः । अल्पश्रुत्युत्पन्नभक्तित्वेनादृढत्वात् तथेत्यर्थः ॥ ७ ॥

एकादशं भावमाहुः **योगध्यानादिना संयुक्ता इति ।**

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।
तपोज्ञानादिभावेन खेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

योगोऽष्टाङ्गः, ध्यानं प्रादेशाङ्गुष्ठमात्रादेः । तत्संयुक्ताः गुणाः भावाः वर्ष्याः तज्जलतुल्याः प्रकीर्तितास्तेषां भावस्तत्तुल्य इत्यर्थः । यथा वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभं परमचिरस्थायि तथैतेषामपि योगादिसमय एव भगवद्भावो, न सर्वदेति भावः । द्वादशं भावमाहुः **तपोज्ञानादिभावेनेति** । तपः कृच्छ्रादि, ज्ञानं जीवात्मनः । आदिपदेन विद्याविद्याबन्धमोक्षज्ञानं षोडशपदार्थज्ञानं लौकिकैः (कर्म)भिर्यो भावस्तेन संयुक्ताः स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः स्वेदजतुल्याः कथिताः इत्यर्थः । तेषां भावः स्वेदजतुल्य इत्यर्थः । केचित् तपसैव भगवान् प्राप्यत इति ज्ञात्वा तप एव कुर्वन्ति, केचित् ज्ञानेन जीवात्मज्ञानेन मोक्षो भवति, 'ज्ञानादेव हि कैवल्य'मिति ज्ञात्वा ज्ञानार्थमेव यतन्ते । केचित् षोडशपदार्थज्ञानेनैव मोक्ष इति तज्ज्ञानार्थं न्यायादिकं पठन्ति, ते सर्वे एवाज्ञाः । यतो भगवत्प्राप्तिस्तु भक्त्यैव, न तैः, अत एव भगवतोक्तं 'नाहं वेदैर्न तपसे'त्यारभ्य 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य' इत्यन्तम् । 'रहूगणैतत्तपसे'ति च । तस्मात् तेषां भावस्तत्तुल्य इत्यर्थः । यथा स्वेदजं जलं स्नानाद्ययोग्यं, अस्वादु, तापकरम् । तथैतेषां भावोपि नात्मशोधकः, नापि भगवत्प्राप्तिकरः, तापक्लेशादिकर एवेत्यर्थः । जलसाम्यत्वेन हेयार्थश्च वर्णित इत्यर्थः ॥ ८ ॥

त्रयोदशं भावमाहुः **अलौकिकेन ज्ञानेनेति** ।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

अलौकिकेन भगवद्दत्तेन मद्दत्तमचरणरजोभिषेकजेन वा ज्ञानेन हरेरकारणसर्वदुःखहर्तुः कादाचित्काः कदाचिदेव स्वीयानां दर्शनतापनिवृत्त्यर्थं प्रकटीकृताः प्रतीयमाना गुणाः शब्दगम्याः वेदादिगम्याः श्रुतिरूपव्रजवरवधूरूपैकगम्याः ये वर्णयन्ति ते पतच्छब्दाः पर्वतशिखराद्धारापतने ये शब्दाः तत्सदृशाः प्रकीर्तिताः निरूपिताः इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा धाराजलशब्दाः तत्र जलस्थितिज्ञापकास्तथा तद्वर्णनमपि तद्धृदि भगवत्स्थितिं बोधयतीत्यर्थः । धारा अपि शब्दगम्या भवन्ति, भावा अपि तथैवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

चतुर्दशं भावमाहुः **देवाद्युपासनोद्भूता इति** ।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ।
साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।
यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥
स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

देवाः शिवादयः, आदिपदाद्भाद्रुगौभैरवादयः, तेषां उपासने प्रोद्भूताः तत्र भगवत्त्वेन सर्वेश्वरत्वेन मोक्षसाधकत्वेन ये भावास्ते भूमेः सकाशादुत्पन्नाः तुषारजलकणा इवेत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । तेषां तद्भजनेन किञ्चित्फलं, किन्तु भगवतो-

ऽन्यथा चिन्तितत्वान्नरकः । अत एव 'योन्यथा सन्त'मित्युक्तम् । यथा तज्जलं न स्नानादियोग्यं किन्तु स्वाधारमपि पंक्लिं करोति, तथैतेषां भावोपि न शुद्ध्यादिकमुत्पादयति, मोक्षसाधको वा भवति, परं देवानां भक्तत्वात् स्वाधिसाम्यतया भजंस्तमनुकारयति इत्यर्थः । पञ्चदशं भावमाहुः । **साधनादिप्रकारेणाग्निहोत्रनित्यकर्मादिसहितश्रवणादिनवधाभक्तिरूपो मार्गस्तेनैव प्रेमपूर्त्या ये स्फुरद्धर्मास्ते स्यन्दमानास्ते** प्रस्रवणतुल्याः प्रकीर्तिता इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं पर्वतादिवृष्टिबाहुल्यात् वर्धते, आतपादिषु च हीयते, तथैतेषां भावोपि साधनसत्सङ्गैर्वर्धते, दुःसङ्गादिभिश्च गौणतां प्राप्नोतीत्यर्थः । अत एव कपिलदेवैः साधनत्वेन देवहूतिं प्रति सत्सङ्ग उक्तः 'सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्य' इति । यद्वा, नवधाश्रवणादिरूपभक्तिमर्यादामार्गीयसाधनादिप्रकारेण स्फुरद्रूपा धर्माः दानव्रततपोहोमेत्यादिरूपाः येषु तेषां भावः स्यन्दमानजलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं वृष्ट्यादिसापेक्षं तथैतेषां भावोपि धर्मसापेक्षः इति भावः । षोडशं भावमाहुः **यादृशाः** पूर्वमुक्तास्तादृशाः सङ्गादिना वृद्धिक्षयविवर्जिताः सम्यक् प्रकारेण प्रसिद्धा इत्यर्थः । निरूपिता वा । यथा नवधाभक्तिमार्गमर्यादायामेव मुख्यतया प्रतिष्ठिताश्चेत् तदा ते **स्थावराः** समाख्याताः सम्यक् प्रकारेण प्रसिद्धा इत्यर्थः । निरूपिता वा । यथा तज्जलं नातपादिभिर्ह्रासं प्राप्नोति, न वा वृष्ट्यादिभिर्वर्धितं, न तरङ्गफेनावर्तादिभिः क्षुब्धं भवति तथैतेषां भावोपि दुःसङ्गादिभिर्न क्षीणतां भजति, न वा भक्तसङ्गेन वर्धते, तद्दर्शनेन न क्षुब्धो भवतीत्यर्थः ॥ ११३ ॥

सप्तदशं भावमाहुः **अनेकजन्मसंसिद्धा** इति ।

> **अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥**
> **सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।**
> **निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥**

अनेकजन्मभिः कृत्वा सम्यक्प्रकारेण सत्सङ्गादिभिः भगवत्कृपया वा सिद्धाः साक्षात् सेवायोग्यं जन्म प्राप्तवन्तः **जन्मप्रभृति** आजन्मतो भगवद्भजनतत्पराः सर्वदा सर्वजन्मसु एतादृशाः भगवद्भक्ताः समुद्रगामिनदीतुल्याः परिकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तेषां जलानां वर्षादिजलवृद्धिसापेक्षत्वं, स्वतश्च समुद्रगामित्वं, तथैतेषां भावोपि सापेक्षो भगवद्गामी चेत्यर्थः ॥ १३ ॥

अष्टादशं भावमाहुः **एतादृशा** इति ।

> **एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत्सिन्धवः परिकीर्तिताः ।**
> **पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥**
> **जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।**

एतादृशाः पूर्वोक्ताः **स्वतन्त्राः** श्रवणसङ्गाद्यपेक्षारहिता निरुपाधिकाः । स्वतन्त्रा एव भगवद्भजनपराः **सिन्धवः** समुद्रगामिनदीतुल्या इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य

इत्यर्थः । यथैतज्जलं न वृष्ट्यादिजलसापेक्षं स्वतः समुद्रगामि, तथैतेषां भावोपि नान्यसापेक्षो
दयासमुद्रं भगवन्तं प्रविशतीति भावः । एकोनविंशं भावमाहुः **पूर्णा भगवदीया** इति ।
ये पूर्णा भगवदीया भगवत्तोषं विना नान्यं जानन्ति, येषां सेवयैव तापापगमः, भग-
वदाज्ञाकारिणस्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । तेषां भावो रत्नाकरतुल्य इत्यर्थः ।
तानेव वर्णयन्ति **शेषव्यासाग्निमारुताः** इति । **शेषो** भगवत्सेवापरः स्वसुखादिक-
मविचार्य शय्यादिभावेन भगवन्तं सेवते, तेनैव चात्मसुखं मन्यते । **व्यासः** कलावतारः
सर्वोद्धारार्थं भगवद्गुणनिरूपणपरः, यस्य साक्षात् समाधिलब्धभगवद्दर्शनानन्तरं भक्ति-
शास्त्रनिरूपणेनात्मप्रसादः । **अग्निर्महादेवो** यः सर्वविरुद्धमोहशास्त्रमपि सृष्ट्याद्यर्थं भ-
गवदाज्ञया स्वस्य तदीयत्वेन कृतवान् । अत एव 'वैष्णवानां यथा शम्भुः' इति श्रीभाग-
वते । अत्र महादेवस्य नाम विहायाष्टमूर्तिस्थाग्नित्वकथनेन मोहशास्त्रकरणे जयापद्दक-
त्वमुक्तम् । **मारुतो** हनुमान् श्रीकोशलेन्द्रचरणसेवनपरः । **जडो** जडभरतः भगवत्प्रेम-
मानसत्वाज्जडवत् तिष्ठति । नारदः सदा भगवद्गुणगानेन भगवतोप्यानन्दजनकः । अत
एव श्रुतिः 'यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते तदा वीणाऽस्मै वाद्यत' इति । **मैत्रो** मैत्रेयः
पराशरशिष्यो भगवद्धर्मवक्ता । आद्यपदात् प्रह्लादादयः । तेषां भावो समुद्रतुल्यः रत्नाकर-
तुल्य इत्यर्थः । यथा समुद्रोन्तः रत्नमयस्तथा चैतेप्यन्तर्भावयुक्ताः, अत एव कपिलैरुक्तं
'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते' इति ।

पूर्णभावान् मार्गस्वरूपज्ञानभेदेन विशेषतो वर्णयन्ति लोकवेदगुणैरिति ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १९ ॥

वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।

एके लोकमिश्रभावेन एके वेदमिश्रभावेन हरेर्गुणान् वर्णयन्ति । ते यथाक्रमं क्षाराद्याः
क्षार आदिर्येषां ते षट्संख्याकाः प्रकर्षेण कीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । तेषां तेषां भावो भिन्न-
भिन्नतया तत्तत्समुद्रजलतुल्य इत्यर्थः । रामकृष्णौ मनुष्यावेव परं बलतेजोधिकाविति देवौ
वेति ज्ञात्वा गुणवर्णनपराः क्षारसमुद्रतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षा-
रजलं न तृषानिवर्तकं, नापि स्नानादिसुखकारि, किन्तु गम्भीरं मलादिनिवर्तकं तथैतेषां
भावोपि न संसारतापनिवर्तको, नापि श्रवणेऽन्येषां भक्तिसम्पादकः, किन्तु देवादिज्ञानेन
तत्स्वरूपशोधकः । बलाधिक्यादिगुणश्रवणेनान्येषां मर्यादाभक्तानां यत्किञ्चिदानन्दका-
रीति भावः । ये तु वेदरक्षार्थं भगवदवतारः, ननु भगवानानन्दमयः श्रीकृष्ण एवेति ज्ञात्वा
गुणवर्णनपरास्ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति भावः । यथा दधिमण्ड-
स्यासारत्वात् न प्राणपोषकत्वं न वा चित्ततापनिवर्तकत्वं, तथैतेषां भावस्यापि सच्चिदानन्द-
मयज्ञानाभावान्न मोक्षौपयिकत्वं न वा संसारनिवर्तकत्वमिति भावः । मायया सत्त्वा-
दिगुणैर्गुणमयं देहमाश्रित्य भगवान् सृष्ट्यादिकं करोति न स्वत इति ये गुणान् वर्णयन्ति

तेषां भावः सुरोदतुल्य इत्यर्थः। यथा सुरा स्वरूपविस्मारिका पानकर्तुरिन्द्रियदोषजनिका, तथैतेषां भावोपि भगवद्गुणानां सम्बन्धित्वेपि मायामोहनस्वरूपविस्मरणं कारयति, स्वसम्बन्धेनान्यस्यापि तथात्वं सम्पादयतीति भावः। हरिः सर्वदुःखहर्ता 'स सर्वज्ञः सर्वशक्ति'रित्यादिश्रुतिगोचरात् कारणभूतः सर्वं स्वेच्छयैव करोतीति ये गुणान् वर्णयन्ति ते क्षीरोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः। यथा क्षीरे स्वादुत्वं वीर्यजनकत्वमसितत्वे माधुर्याधिक्यं, तथैतेषां भावस्यापि मनोहरत्वमधिकगुणगानार्थं शुद्धाधिक्यं तापानन्तरं च रसात्मकलीलाकर्तृत्वज्ञानानन्तरं तन्निरूपणेन माधुर्यत्वमिति भावः। भगवानलौकिकवीर्यवान् क्षीयान् साधनरहितान् अपि स्ववीर्येणैव मोचयतीति ये गुणान् वर्णयन्ति तेषां भावो घृतोदतुल्यः इत्यर्थः। यथा घृतं अन्यसम्बन्धं विनापि स्वपानेन बलवन्तं रोगमुक्तं च करोति, तथैतेषां भावोपि संसारसागरतरणाय योग्यदेहं करोतीति भावः। भगवान् हरिः शिवदुर्गाप्रभृतिभिः प्राप्तस्थानलक्षणस्वैर्मुहुरभिप्रार्थ्यचरणरेणुरिति चतुर्वर्गार्थं स एव सेव्य इति ये गुणगानपरास्तेषां भाव इक्षुरसतुल्य इत्यर्थः। यथेक्षुरसो मधुरोन्तस्तापनोदी, तथैतेषां भावोपि सर्वसेव्यत्वज्ञानेन मधुरः सेवनप्रवृत्तौ च त्रिविधतापनिवारकश्चेति भावः। 'अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इत्यादिवाक्येभ्यः पुराणपुरुषोत्तमो भगवान् प्रवाल्पाश्रयरहितोऽसौ भक्त्यर्थं सेव्य इति ये गुणवर्णनपरास्ते शुद्धोदतुल्यास्तेषां भावः शुद्धोदतुल्य इत्यर्थः। यथा शुद्धोदं तृषादिनिवर्तकं स्नानादिना मलनिवर्तकं तापापहारी च, तथैतेषां भावोपि तृष्णादिनिवारकः पापनिवर्तकस्तापनिवर्तक इति भावः॥ १५३॥

पूर्वभगवदीयेषु मुख्यान्निरूपयन्ति गुणातीतत्वेति।

गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः॥ १६॥

सर्वानेव गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः।

तेऽमृतोदाः समाख्याताः तद्वाक्पानं सुदुर्लभम्॥ १७॥

ये गुणातीतभावनाशुद्धाः केवलं सच्चिदानन्दरूपिणो भगवद्रूपाः गुणा इति ये सर्वानेव गुणान् न्यूनाधिकाभावेन सर्वान् एव, श्रीयशोदायामाविर्भावमारभ्य रासोत्सवप्रभृत्यावृतपर्यन्तं विष्णोर्व्यापकस्य सर्वत्र तत्तद्रूपस्य ये वर्णयन्ति विचक्षणाः भगवल्लीलादिकरणरसज्ञातारः ते अमृतोदाः समाख्याताः सम्यक् प्रकारेण कथिताः। तेषां भावः सुधासम इति भावः। यथा सुधायाः अमृतसम्पादकत्वं देवभोग्यत्वं तथा एतेषां भावस्यापि भगवत्सेवायोग्यदेहसम्पादकत्वं भगवद्भोग्यत्वं तदितराभोग्यत्वं चेति भावः। एताद्याताँ तद्वाक्पानं तेषां वचनामृतस्य पानं श्रवणं सादरं मनसा ग्रहणं अन्तर्निवेशनं सुदुर्लभं सुतरां दुष्प्राप्यं, सुदुर्लभत्वोक्त्या तत्सङ्गस्य भगवत्प्रापकत्वमुक्तमिति भावः। अत एव भगवतोक्तं 'सत्सङ्गेनैवे'त्यारभ्य 'सिद्धा मामीयुरञ्जसे'त्यन्तेन, 'अधीते'

इत्यारभ्य 'सत्सङ्गान्मामुपागत' इत्यन्तं च । तद्वाक्यमाहात्म्यमाहुः तादृशानामिति ।

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।
अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

पूर्णभगवद्भक्तानां वचनामृतपानं दुर्लभम्, ते क्वचित् कृपया वाक्यं वदन्ति, तद्वाक्यं दूतानामिव सन्देशहाराणामिव वर्णितं कथितमित्यर्थः । यथा दूतवाक्यं तत्प्रभुवाक्यमेव, तथा तादृशानामपि वाक्यं भगवद्वाक्यमेव । भगवान् उद्दिधीर्षुः स्वीयमुखेन स्वधर्मान् न ज्ञापयतीति भावः । अत एव कपिलदेवेनोक्तं 'सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्य' इति तत्सङ्गस्य भगवति प्रार्थनमुक्तं, न तु स्वकरणत्वं, तद्भगवानेव फलं दास्यन् करोतीत्याशयेनान्यथा न कार्यं इत्येवोक्तम् । तस्मात्तु तादृशानां वाक्यश्रवणं सादरं मनसोपदेशवत् ग्रहणं बिन्दुपानममृतबिन्दुपानं प्रकर्षेण कीर्तितमित्यर्थः । यथामृतपानेनामरत्वं देवत्वं, तथैतत्पानेन नाशाभावपूर्वकभगवत्सेवौपयिकत्वमेवेति भावः । अत एव श्रीभागवते 'परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्मा' इत्युक्तम् । 'महिमामृतसमुद्रविप्रुष' इति च । अत्रानुभूतनिदर्शनमाहुः अजामिलाकर्णनवदिति । यथा विष्णुदूतेभ्यो भगवद्धर्मबलश्रवणेन भगवद्धर्मे एव रुचिरभूत्, तदितरेष्वरुचिः, तथैतद्बिन्दुपानकर्तुरपि भवति ॥ १८ ॥

लौकिकाद्यासक्तिरहितबिन्दुपानेन रसास्वादो न भवति, तदर्थमाहुः रागाज्ञानादिभावानामिति ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

रागः स्नेहः पुत्रादिषु, अज्ञानं भगवत्स्वरूपस्य, आदिपदेन सर्वविषयाद्यासक्तिः, तद्भावानां यदा नाशनं स्यात्, तदा लेहनमित्युक्तं भवति, रागादिभावानां नाशनं नामादर्शनं सवासनं तत्त्याग इत्यर्थः । तदेव लेहनं रागाद्यभावपूर्वकबिन्दुपानं स्वानन्दस्य भगवदानन्दस्योद्गमार्थं कारणं भवतीति भावः । स्वस्य जीवभावेन तिरोहितानन्दस्योद्गमे प्राकट्ये सम्यक् तत्कारणं भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

विशं भावमाहुः उद्धृतोदकवदिति ।

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

पूर्वोक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्तानां वाक्यानि तथैव तेषां सर्वेषां भावाः भगवद्भाववचनेन गृहीताः । वाक्यानि च तथैवादरेण श्रुतानि उद्धृतोदकवदुपकुर्वन्ति यथा, तथा गृहीतानि प्रासादात् पतितोदकवत् उपकारं कुर्वन्तीत्यर्थः । उद्धृतोदकं यथा स्वस्य स्नानपानदशासु यत्नगृहीतत्वात् यत्किञ्चित्सङ्कोचेन योग्यं भवति, तथैतेषां भावोपीति भावः । तथैतेषां फलमपि भवति । पतितोदकं यथा मलस्नानादियोग्यं, न तु पानादिषु, तथैतेषां

भावोपीत्यर्थः । उद्धृतोदकं यथा पानादिदशायामेव तृषाशान्तिं करोति, स्वोत्पत्तिस्थानसदृशान् गुणान् विदधति, स्वस्थितिवशाच्च शीतोष्णभावं भजते, सुधा तु सदैकरूपेति सदैकरूपमेव गुणं विदधातीति भावः ॥ २० ॥

उपसंहरन्ति इतीति ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इतीति समाप्तौ प्रकारेण वा । जीवे इन्द्रियेषु गताः प्राप्ताः भुवि नानाभावं सात्त्विकादिभावं गताः प्राप्ताः एतादृशा विष्णोर्भगवतो गुणाः स्वरूपतः फलतश्च निरूपिता विवेचिता इत्यर्थः ॥ २१ ॥

इति श्रीबालकृष्णकृतजलभेदविवृतिः समाप्ता ॥

परिशिष्टम् प्रथमम् ।

पूर्णा भगवदीया इत्यत्र । अत्र हि सामान्यत पुष्टिमर्यादामार्गीयोः पूर्णा ये भगवदीयास्त उच्यन्ते । अत एव विवृतौ भक्त्या सेवया च पूर्णा इत्युक्तम् । तत्र मर्यादामार्गीयास्तु भक्त्या माहात्म्यज्ञानसहितस्नेहेन पूर्णाः सर्वदा गुणपरा धर्मद्वारैव धर्मिपराः, पुष्टिमार्गीयास्तु धर्मिमात्रपराः, तेषां परोक्षे गुणपरत्वं धर्मिपरतयैव । तद्विरहे स्वरूपं विना स्थातुमशक्त्या तत्परत्वात् । तत्र पुष्टौ गुणा अपि गीयमाना धर्मिरूपा एव । अत एव 'तव कथामृत'मित्यत्र कथाया अपि गुणरूपाया भगवत्समत्वबोधनाय षड्गुणत्वमुक्तम् । तत् स्वरूपात्मकत्व एव सम्भवति । अन्यथा गुणे गुणानङ्गीकारेण तेषु षड्गुणत्वोक्तिर्विरुद्धा स्यात् । तत्र शेषः पुष्टिमार्गीय एव, अन्तरङ्गलीलासम्बन्धित्वात् । व्यासस्तु मर्यादामार्गीयः, समाधिरूपसाधनेन भगवद्दर्शनवत्त्वात् । 'अपश्यत् पुरुषं पूर्ण'मिति वाक्यात् । अग्निस्तु प्रभुरस्माकं पुष्टिमार्गीय एव, पुष्टिभक्तिरूपप्रभुमुखारविन्दरूपत्वात् । मारुतोपि तथा, मर्यादापुरुषोत्तमेपि पुष्टिमार्गप्रकारेणान्तरङ्गभक्तत्वात् । अत एव श्रीसीतामनःसमाहितये लङ्कायां दूतिकाया इव तस्य प्रेषणम् । जडो मर्यादामार्गीयः, पूजापरत्वाद्दुःसङ्गभयत्वात् देहावसानप्रतीक्षकत्वाच्च । नारदोपि तथा, सततं गुणपरतया तावन्मात्रेण स्वस्थत्वाच्च । मैत्रेयोपि मर्यादामार्गीय एव, भगवत्पारोक्ष्येपि विदुरोपदेशृत्वेन स्वस्थत्वात् । अन्ययोद्धव इव क्लिष्टेनुभूतान् निजस्वामिगुणानेव स्थातुमशक्ततयानुवदेत् । एवं सति पुष्टिमर्यादामार्गीयत्वाविशेषेण भक्तेषु पूर्णत्वमेवादाय समुद्रस्वमत्रोच्यते, न

१ गुणपरत्वात् । २ षड्गुणत्वम् ।

पूर्णाः, तथैतेपि गुणैर्भगवदीयैर्भावैश्च पूर्णाः । यथा
तु विशिष्य । तथा च यथा समुद्राः
वा ते चन्द्रदर्शनेन तरलिततरङ्गाः, तथैवैतेपि गुणगानावसरे भावभावनावसरे च भगव-
द्वदनविधुदर्शनेन भावतरङ्गितान्तःकरणा इति तात्पर्याज्ञानादेव पुष्टिमार्गीयाचार्याणां म-
र्यादामार्गीयभक्तपङ्क्तिपाठोनुचित इति मत्सरिकथनं नीरमथनसदृशमेव । अत एवाग्रे 'लो-
कवेदगुणैर्मिश्रभावेने'त्यनेन समुद्रसदृशभक्तेष्वेव षड्विधाः भिन्नाः कृताः, एकविधाः पुष्टि-
मार्गीया गुणातीततया 'शुद्धा' नित्यनेन भिन्नाः कृताः । भगवद्गुणानां षड्विधत्वेन मर्या-
दामार्गीयाणां षड्विधत्वम्, पुष्टिमार्गीयाणां तु धर्मिस्वरूपमात्रपरत्वेनैकविधत्वम् । पूर्वे हि
मिश्रभावाः, तद्भावेषु गुणानां मिश्रणात् । तद्द्वारैव तेषां प्रभौ भाववत्त्वाच्च । उत्तरे तु
शुद्धभावाः केवलस्वरूपेण तन्मात्रपरत्वात् । अत एव तद्दीयमानगुणेष्वपि स्वरूपात्मक-
त्वमभिप्रेत्याग्रे 'गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिण' इत्यनेन शुद्धत्वमुक्तम् । अत एव
विवृतौ 'पूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान् निरूपयन्तीति गुणातीततये'त्यस्याभास उक्तः । तदर्थस्तु
पुष्टिमर्यादासाधारण्येनोक्तपूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान् केवलपुष्टिमार्गीयान् निरूपयन्तीति
ज्ञेयः । अत एव पूर्णत्वेन समुद्रसदृशत्वस्य सर्वेषु सत्त्वेपि तेष्वमृतोदतुल्यत्वनिरूपणम् ।
तस्मादेवमभिप्रायमवगत्य नास्मत्पितृचरणविवृतावज्ञमत्सरिभिः संशयलेशोपि विधेयः । ननु
तथापि तादृशपंक्तिपाठस्तदीयानां तानेव सर्वोत्तमत्वेन जानतां न मनोरमो भवतीति
चेत्? सत्यम् । नेदं तदीयजनवाक्यं, येन संभावितमप्यन्यत्र तत्साम्यमुच्यमानं न स-
हेयुः, क्व पुनर्वदेयुः, किन्तु निजाचार्यचरणानाम् । ते तु कञ्चिद् धर्ममादाय यद्युषु स्व-
लेषु तथा वदन्त्येव, अन्यथा 'अर्थं तस्य विवेचितु'मिति वाक्ये 'मां व्यासव'दिति दृष्टा-
न्तेन व्याससाम्यं कथं वदेयुः । न हि भगवता निजाचार्यवत् पुष्टिपथप्रकटनाय व्यास
आविर्भावितः, किन्तु कीरवत् तन्मुखतः शब्दात्मकं श्रीभागवतमाविर्भावयितुम् । अर्थस्य
भगवद्रूपत्वेन तत्प्रकटनं तु 'स्वयमेवात्मनात्मान'मिति वाक्यरूपेणैव भवतीति तत्प्रकट-
नाय तदात्मकानाचार्यानेव, तत्रापि भागवतार्थो भक्तिरूप इति भक्तिरूपास्यरूपानेवा-
विर्भावितवान् । तथा च शब्दात्मकं श्रीभागवतं व्यासात् प्रकटितम्, अर्थात्मकमेतेभ्यः
प्रकटितमिति तावद्धर्ममादाय यथा तत्र स्वस्मिन् तद्दृष्टान्त उक्तः, एवमत्रापि पूर्णभग-
वदीयत्वमात्रमादाय तन्मध्ये स्वस्यापि गणनेति न दोषः । वस्तुतस्तु पूर्णत्वं भगवदी-
यत्वं चाचार्येषु भिन्नमेव । भगवदीयत्वं तदास्यरूपत्वेन, तत्त्वेन भक्तिरूपत्वं, प्रभौ
रसात्मकत्ववत् । अत एव यथा प्रभो रसलीलायां तद्धर्माविर्भावो भक्तत्वं च तादृशस्यैव,
तथात्रापि भगवदाज्ञया अवतीर्य जनशिक्षार्थं भजने भक्तिधर्माविर्भावो, भगवत्त्वेपीति
भगवत्त्वभगवदीयत्वे अपि संभवत इति नानुपपत्तिः काचित् । पूर्णत्वमप्यत्र स्वरूपपूर्ण-
त्वमेव । चेतस्तत्प्रवणसेवायां निरोधे पद्यात्मकस्वरूपेणैव पूर्णत्वात् । अत एव 'रासस्त्री-
भावपूरितविग्रह' इति प्रभोर्नाम । इतरत्र तु गुणैरेव तथात्वमिति विभेदः । पूर्णभगवदी-

यत्वं तु सामान्यतः सममिति तमादाय तथोक्तिरुचितैव । अन्यथैकादशे प्रभुणा स्वामिनीभावनिरूपणे 'यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये' इति स्वामिनीषु मुनिदृष्टान्तकथनं न सङ्गच्छेत । स्वामिनीभावयोगयोः सुमेरुसर्षपवत्तारतम्यात् । अत एवात्र स्वस्य श्रीभागवतप्रकटकत्वेन तत्समतया व्याससमीप एव निरूपणम् । नैतावताचार्येष्वंशतोपि तत्स्वरूपसाम्यमायाति । कलावतारपुरुषोत्तमयोः साम्यसम्भावनाया अप्यसम्भवात् । अन्यथा भगवति पुरुषोत्तमे पुरुषरूपत्वसंभावनाऽसंभवेन 'पुरुषः शक्तिभिर्यथे'त्यादिना पुरुषदृष्टान्तकथनं बाध्येत । अतो धर्मेणैव केनचित् सर्वत्र समतोक्तिरिति नात्र दोषलेशोपि । अत एव, आनन्दरूपतया सहजनीले भगवति नीलनीरदृष्टान्तोपि युज्यते । किञ्च, 'अङ्गीकृतौ समर्यादे' इति सर्वोत्तमे नामनिरूपणेन प्रादुर्भावदशायां मर्यादापरिग्रहात् तत्पूर्णत्वमपि स्वस्मिन् बोधयितुं तत्पंक्तिपाठो निरूपितः । नैतावता न्यूनत्वमायाति । 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं, न तु तद्धानि'रिति न्यायात् । अपरञ्च, यथा शुकेन सर्वावतारगणनायां श्रीकृष्णमपि निरूप्य 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति तत्र विशेष उक्तः, अवतारकार्यकरणात् पुष्टिकार्यकरणाच्च । तथाचार्येष्वपि यज्ञादिमर्यादाकार्यकरणात् सेवादिपुष्टिकार्यकरणाच्चोभयविधकार्यकर्तृत्वमस्तीति बोधयितुं प्रथमतस्तन्मध्ये निरूपणं विधाय पश्चादाचार्याणां 'गुणातीततये'त्यादिना निरूपणं कृतमित्यस्मत्पितृपदविवृतावन्यथामतयोऽविज्ञातस्वपतय एवेति विद्वद्भिराचार्यचरणाश्रयैरवधेयमिति दिक् ।

अभिज्ञविवृतावज्ञाः पूर्वपक्षं प्रकुर्वते । अशक्ता अपि सुज्ञास्तु विश्वसन्ति तदीरिते ॥ १ ॥
शक्तास्तदाश्रयबलादभिप्रायं विदन्ति हि । समादधति ते सर्वमतिमूढजनोदितम् ॥ २ ॥
गुरवः पितृपादा मे कथितेन सुते मयि । दासीभूते प्रसीदन्तु यच्छन्तु विमलां मतिम् ॥३॥

इति श्रीहरिदासविरचितं 'पूर्णा भगवदीया' इत्यस्य संशयनिराकरणम् ॥

परिशिष्टम् द्वितीयम् ।

अथेदं विचार्यते । श्रीवल्लभैः 'पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः । जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः' इति जलभेदभावग्रन्थे चतुर्दिशं सामान्यतः चत्वारः समुद्रा इव शेषाद्या उक्ता भगवदीयाः (त्रुटिपत्रम् ।) अत्र समुद्रशब्दो यौगिकोऽपि ग्राह्यः । तथा च मुद्रया सहिताः समुद्राः । मुद्राऽत्र वैदिकताग्निकमिश्रमखवैष्णवधर्मप्रवर्तनसम्प्रदायरूपा तप्तशीतलचक्रादिचिह्नधारणरूपापि

---

१ पंक्तिर्गणना तेषां गणनायां पाठो निरूपितः । २ व्यूहनार्थम् ।

श्राद्या । तेऽत्र चत्वारो वैष्णवधर्ममार्गसम्प्रदायिन आचार्याः परिगृहीताः । तत्र शेषः
श्रीमन्नारायणोपासनमुख्यकवैदिकधर्मपरायणतप्तमुद्राङ्कितसात्त्विकाचार्यरामानुजरूपः स-
म्भूत उक्तः । व्यासः श्रीगोपीजनवल्लभोपासनमुख्यकृतात्रिकधर्मपरायणशीतलमुद्राङ्कितरा-
जसोपचाराचार्यविष्णुस्वामिस्वरूप उक्तः । अग्निः पुन उत्सन्न एव तत्सम्प्रदाये विलक्ष-
णप्रकारतः सर्ववेदेतिहासपुराणादिसारोद्धारसम्मिश्रितश्रीगोपीजनवल्लभसेवनमुख्यकधर्मप-
रायणशीतलमुद्राङ्कितनिर्गुणभक्तिमार्गाचार्यश्रीवल्लभरूपः तत्स्थान उक्तः । मारुतो वायुजो
हनूमान् महाविष्णुपूजनोपचारमुख्यकवैदिकतात्रिकधर्मपरायणतप्तशीतलोभयविधमुद्राङ्कित-
राजसतामसोपचाराचार्यमध्वाख्यरूपः संभूत उक्त इति चत्वारो मुख्यसम्प्रदायिन आ-
चार्या उक्ताः ।

अथ तेषां क्रमेणाग्रिमानुपसम्प्रदायिनो निरूपयन्ति **जडनारदमैत्राद्या** इति ।
जडनारदमैत्राणामाद्या मूलभूता इति । जडो रामानन्दस्वरूपः सन् सर्ववर्णसंकलितो वै-
ष्णवधर्मप्रवर्तकत्वात् शेषरामानुजस्य उपसम्प्रदायीभूतः । नारदस्तु कृष्णचैतन्यमुनिस्व-
रूपः । तथैव व्यासविष्णुस्वामिवल्लभा(चार्यो)पसम्प्रदायकप्रवर्तकः सनातनमैत्रो मैत्रेयः
श्रीरूपाख्यः सम्भूतः । उत्सन्ननिम्बार्कमार्गस्योपसम्प्रदायप्रकाशकश्रीभट्टहरिव्यासमतस्य इति
केचित् । वस्तुतस्तु श्रीरूपः सहजीव एव स्वयं मूलभूताचार्यवायुरूपमध्वाख्यस्योपसम्प्र-
दायी जात उक्तः । एतदुपष्टम्भकं श्रीमदाचार्याणामेव स्वेषां वचनं, यथा श्रीभागवते
तृतीयस्कन्धे 'भावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विध'मित्यत्र 'भेदः पारमार्थिक' इति
शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोग उक्तः । ते च सम्प्रति विष्णुस्वाम्यनुसारिणः तत्त्व-
वादिनो रामानुजीयाश्चेह तमोरजःसत्त्वैः भिन्नाः (भक्ताः), अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः । एवं
चतुर्विधोपि भगवता प्रतिपादितः, 'अभिसन्धाय योऽहिंसां' इत्यादिभिरिति । पद्मपुराणे तु
'श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः । चत्वारस्ते कलौ भाव्याः सम्प्रदायप्रव-
र्तकाः । श्रीविष्णुस्वामिनिम्बार्कमध्वरामानुजाख्यया । भविष्यन्ति प्रसिद्धास्ते ह्युत्कले पु-
रुषोत्तमा'दित्युक्तम् । तत्र श्रीसम्प्रदायिकाः शेषरामानुजीयाः, ब्रह्मसम्प्रदायिनो माध्वाः,
रुद्रसम्प्रदायिनो व्यासविष्णुस्वामिसम्प्रदायानुवर्तिनः, सनकसम्प्रदायिनो निम्बार्कश्रीभट्ट-
हरिव्यासीयाः साम्प्रतम् । एतदभिप्रेत्यैवमेव सम्प्रदायप्रदीपे ग्रन्थे गदाधरद्विवेदिनावेदि-
तम् । भारतीये वैशम्पायनोक्तसहस्रनामस्तवेपि 'अहःसंवर्तको वह्निरनिलो धरणीधर'
इत्यत्र पृथक् पृथगेतदाचार्यचतुष्टयस्वरूपनामैवोक्तम् । तदेतत्सहस्रनामटीकायां श्रीवि-
ष्णुवल्लभाख्यायां द्रष्टव्यम् ।

वियदर्थवसुग्लौभिर्मितेऽब्दे मोदनामनि ।
चैत्रे सिते गुरौ द्वैते श्रीशः काश्यामदोऽलिखत् ॥ १ ॥

---

१ तामस ?
७ जल०

श्रीकृष्णाय नमः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीहरिरायकृतविवरणसमेतानि ।

एवं जलभेदे पूर्वश्लोकैर्विंशतिधा भिन्ना भक्तास्तद्भावाश्च निरूपिता जलदृष्टान्तेन, तेषामन्यहृदयसार्द्रीकर्तृत्वज्ञापनाय । तेषां च पुनर्भक्तानामष्टादशविधाप्रतिपादितभगवद्गुणानामष्टादशविधत्वेन तन्मात्रपरतया केवलमर्यादामार्गीयाणामष्टादशविधत्वात्, पुष्टिमार्गीयाणां मिश्रशुद्धभेदेन द्विविधत्वात्सगुणनिर्गुणभेदेन दशविधानां मर्यादापुष्टिभेदेन द्विविधत्वाद्वा विंशतिविधत्वम् । तद्भावानामपि तद्वर्तित्वेन तथा संख्यावत्त्वम् । अतः परं तद्वाक्यद्वारा तद्भावग्राहकान् श्रोतॄन् पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधान्, पुष्टिमार्गीया एकविधा उत्तमा एव, मर्यादामार्गीयास्तु मध्यमाधमोत्तमभेदैस्त्रिविधा इति चतुर्विधांश्च निरूपयितुं प्रथमं मुख्यत्वेन पुष्टिमार्गीयान्निरूपयन्ति ।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसारतिवर्जिताः ।
अनिर्वृता लोकवेदे मुख्यास्ते श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णः श्रिया परमशोभया लक्ष्म्या वा युतः कृष्णः सदानन्दो निर्दोषनित्यगुणपूर्णो रसिकशिरोमणिस्तस्य यो रसो भजनानन्दरूपः, अथवा स एव रसः स्थायिभावात्मा विरहरूपः, तेन परोक्षे हृदयागतेन विक्षिप्तं स्थानात् प्रचलितं यन्मानसमन्तःकरणं तत्र याऽरतिश्चरितश्रवणविषयिणी तया वर्जिता इत्यर्थः । अयमर्थः । भगवच्चरिताकर्णनविषयिणी अरतिर्द्वेधा निवर्तते, मर्यादापुष्टिमार्गभेदेन । तत्र मर्यादामार्गे 'शुश्रूषोः श्रद्धानस्ये'ति वाक्यान्महत्सेवापुण्यतीर्थनिषेवणादिभिः रुचिरुदेति, ततोऽरतिर्निवर्तते । पुष्टिमार्गे तु तद्रसस्वाभाव्यादेव 'दुस्त्यजस्तत्कथार्थे' इति वाक्यान्निवर्तते । तथा च पूर्वोक्तेषु पुष्टिमार्गीयत्वावगतय एवमुक्तम् । एवं चरित्रश्रवणे तेषामरत्यभावं निरूप्य तन्मात्रविषयकरतिं निरूपयितुं लोकवेदानिर्वृतिमाहुः अनिर्वृत्ता लोकवेद इति । लोकयुक्ते वेदे प्रवृत्तिमार्गीयधर्मबोधके भगवदितरभजनविधायके । अथवा लोके वेदे चानिर्वृता निर्वृतिरहिता अरत्यस्या इत्यर्थः । उभयोरपि लोकवेदयोः 'ये त्यक्तलोकधर्मार्था'इति वाक्यात्साज्यत्वेन तुल्यताबोधनाय समस्तं पदम् । अत एव लोकानिर्वृतिबोधनाय 'पतिसुतादिभिरार्तिदैः कि'मित्यादिवाक्यान्युक्तानि । वेदानिर्वृतिबोधनाय 'भवमुद्धर गोविन्दे'त्युक्तम् । त्वमेव साक्षादतिदुःखसागरे निमग्नं भजमुद्धर, नतूद्धृतेन वेदेन वयमुद्धर्तव्या इत्याशयेन । एवं ये पुष्टिमार्गप्रकारेणारत्यभावरतिभावयुक्तास्ते मुख्याः पुष्टिमार्गीयत्वेन श्रेष्ठाः ।

---

१ विप्रयोगे गुणगानं विना स्थातुमशक्यम् । २ अत्यासक्ताम् ।

अथवा, मुखं पुष्टिमार्गीया भक्तिस्तत्प्रभवा भक्तिरूपभगवन्मुखारविन्दसंलग्नाळिकुल-त्वेनोच्यमानाः सम्भूय भक्तिमात्राश्रयेण पुष्टिमार्गमुक्ता जीवा मुख्या इत्यर्थः । ननु पूर्वमनिर्वृता लोकवेद इत्यनेन भगवति रतिरुक्ता, न श्रवणादिष्विति तेषु गौण्येव सेति कथं मुख्यश्रोतृत्वमित्याशङ्क्याहुः **श्रवणोत्सुका** इति । भगवति रतावपि वियोगे श्रवण एवोत्सुकाः । औत्सुक्यं तत्रैव । प्रियप्रीत्यापि परोक्षे तत्सन्देशहारके प्रीतौ श्रवणौत्सुक्यस्य स्पष्टत्वात् । अत एवोक्तं 'इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकास्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रय'मिति । तथा च रसिका रसविक्षिप्तमनसश्चरितसहजभावाः वियोगार्तियुताः प्रियवार्ताश्रवणमात्रैकमतयः पुष्टिमार्गीयाः श्रोतार इति सिद्धम् ॥ १ ॥

एवं पुष्टिमार्गीयान्भक्तान् निरूप्य मर्यादामार्गीयांस्तान्निरूपयितुं तत्रोत्तमा अतिदुर्लभा इति प्रथमं मध्यमान्निरूपयन्ति ।

विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।
अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥

विशेषेण क्लिन्नं तदेकपरतया कोमलत्वादार्द्रं मनो येषामित्यर्थः । यथार्द्रं वस्तु स्वसम्बद्धमप्यार्द्रयति, तथा येषां मनः स्वसम्बन्धिनामपि रूक्षत्वेन शुष्काणां चेतः सार्द्रं विदधाति, शुकादीनामिव त इत्यर्थः । य इत्यनेन सर्वत्र प्रसिद्धाः मर्यादामार्गीया उक्ताः । तुशब्देन पूर्वोक्ताः पुष्टिमार्गीया व्यावर्तिताः । ननु विक्लिन्नमनस्त्वं पुष्टिमार्गीयेष्वपि तत्प्रीत्या भवतीति तद्व्यावर्तकं धर्ममाहुः **भगवत्स्मृतिविह्वला** इति । श्रवणावसरे या चरित्रसम्बन्धितया भगवतः षड्गुणपूर्णस्य स्मृतिः स्मरणं तेन, न तु स्थायिभावात्मकेन रसेन विह्वलास्तल्लीलाविशिष्टप्रभुदर्शनाय व्याकुला इत्यर्थः । ननु पूर्वोक्तधर्मद्वयेनापातत उत्तमत्वमेव तेषु भासत इति व्यक्ततया मध्यमत्वबोधकं धर्ममाहुः **अर्थैकनिष्ठा** इति । ते पूर्वोक्तधर्मयुग्मेनोत्तमतया भासमाना अपि अर्थः पुरुषार्थो मोक्षादिः, अथवाऽर्थः प्रयोजनं स्वकृतार्थत्वादिः स एवैको मुख्यस्तन्निष्ठाः, न तु मुख्यतया चरित्रनिष्ठाः । फलसापेक्षत्वान्मध्यमा इत्यर्थः । ननु तादृशाः श्रोतार एव न भवन्ति, तत्र तात्पर्याभावादित्याशङ्क्याहुः **श्रवणोत्सुका** इति । तैत्साध्यफलैतात्पर्यवत्त्वेपि श्रवणे भगवच्चरित्रश्रवणे उत्सुका औत्कण्ठ्यवन्त इति तेषां श्रोतृत्वेन मध्यमत्वमित्यर्थः । यथा परीक्षिदादीनाम् । तेषामितरापेक्षया पूर्णवैराग्यवत्त्वेनोत्तमत्वेपि सोपाधिकप्रवृत्तेर्विदुरोद्धवाद्यपेक्षया मध्यमत्वमेव । अत एव 'प्रायोपविष्टो गङ्गाया'मिति वाक्यात्परीक्षितः स्वकृतार्थताहेतुत्वेन गङ्गाद्यपेक्षा । अन्यथान्यत्रैवोपविष्टः स्यात् । भगवच्चरित्रं तु भगवानिव न स्वफलसाधनेन्यदपेक्षत इति स्वार्थनिष्ठत्वमेव तत्र प्रयोजकमिति तत्र तथात्वम् । विदुरस्य तु 'यत्र मित्रासुतो मुनि'रिति वाक्याद्वक्तृसन्निहितस्थलत्वेनैव तत्र गमनं, न गङ्गोद्देशेनेति स्वार्थनिष्ठत्वाभावाच्चरित्रमात्रनिष्ठत्वेनोत्तमत्वमेवेत्यर्थः । मर्यादामार्गीयत्वं तु परीक्षिद-

१ अलिकुलेति पाठः । २ चरित्र । ३ मोक्षादि । ४ मुक्त्यर्थम् । ५ तेषु मध्यमत्वम् ।

दुरयोः समानं शुद्धिसापेक्षफलसिद्धेः । अत एव तीर्थाटनसत्सङ्गाभ्यामेव विदुरे श्रवणाधिकारः सिद्धः । परीक्षिति तु स्पष्ट एव । अत एवास्मदाचार्यैरुक्तं 'मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः' इत्यन्येषामपि तथाविधानां चित्तचाञ्चल्याभावसाधनत्वाभिप्रायेण ॥२॥

एवं मध्यमान्निरूप्याधमानामप्रयोजकत्वेन मिश्रतयाऽनिरूपणीयत्वादुत्तमनिरूपणमध्य एव केनचिद्धर्मेण तान्निरूपयितुमुत्तमानेव प्रथमं निरूपयन्ति ।

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।
ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥ ३ ॥

कृष्णस्य सदानन्दस्य तत्त्वं वास्तवं रूपं रसात्मकं तादृशकरपादादियुक्तत्वेन साकारं व्यापकं स्वेच्छया मायापसारणेनाविर्भाववत् निःसन्दिग्धं शास्त्रस्वानुभवाभ्यां सन्देहरहितं तथापि सर्वभावेन 'यावान् यश्चास्मी'ति वाक्याद्रसात्मकः साकार एव सर्वरूप इति भावेन तात्पर्येण विदुर्जानीयुरित्यर्थः । नन्वेवं दृढज्ञाने श्रवणापेक्षाऽभावान्न श्रोतृत्वमुपपद्यत इत्याशङ्क्याहुः ते त्विति । ते पूर्वोक्ता दृढज्ञाना अपि ज्ञानेन हृदये भगवदावेशात् तु विकला ज्ञातृत्वेन स्वस्फूर्तिरहिता इति तदुपपद्यत इत्यर्थः । अत एवोक्तं 'हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणि'रिति । तुशब्देन रसावेशवन्तो व्यावर्तिताः । तेषां रसावेशस्य सार्वदिकत्वेन कदापि स्वरूपज्ञानानुदयात् । ज्ञानस्य च रसोदयप्रतिबन्धकत्वात् । अत एव सर्वव्यापकस्य स्वान्तःस्थितस्यापि प्रभोरन्वेषणादौ प्रवृत्तिः । (सर्वदा रसावेशवतामन्वेषणादौ प्रवृत्तिः । रसात्मकस्वरूपव्यापकस्वरूपज्ञानोदये सति अन्वेषणादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । गोपिकानां तु सर्वदा रसावेशवत्त्वम् । अतः प्रवृत्तिः ।) तदेवोक्तं सिद्धज्ञानेन श्रीशुकेन 'पश्चन्दुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्त'मिति प्रभुविशेषणकथनेन । अत एवोक्तं प्रभुणापि 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवे'दिति । ननु भगवदावेशे भगवत इव सर्वज्ञत्वमुचितं, तत्कथमेतेषां वैकल्यं, यतो हेतोर्गुणश्रवणे प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य पक्षान्तरमाहुः निरोधाद्वेति । तेषां गुणैरेव निरोधात् । प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं भगवदासक्तिसम्पादनात् । गुणानामपि स्वातन्त्र्येण निरोधकत्वं श्रूयते 'मद्गुणश्रुतिमात्रेणे'त्यादौ । अतो निरोधेन वा वैकल्यमित्यर्थः । नचान्यथेति स्वरूपनिरोधान्न तथेत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं श्रोतृत्वमुपपाद्य कदाचिन्मोक्षाद्यर्थनिष्ठतैतेषामपि भविष्यतीत्याशङ्क्यार्थैकनिष्ठत्वप्रयुक्तं मध्यमत्वं वारयन्त आहुः ।

पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।
अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥

सर्वत्र पूर्णो यो भगवद्भावो ज्ञानेन भगवदावेशाद् निरोधाद्वा सर्वत्र भगवत्स्फुरणात्तेनैव पूर्णः अर्थः पुरुषार्थो येषामिति, न तेषामन्यः स्वार्थ इति, तन्निष्ठत्वेन मध्यमत्वं न, किन्तु भगवन्मात्रनिष्ठत्वेनोत्तमत्वमित्यर्थः । नन्वेवं पुष्टिमार्गीयेभ्यो न भेद आयाति, तेषामप्येवंविधत्वादित्याशङ्क्याहुः कदाचिन्न तु सर्वदेति । एतेषां भावनावसरे गुण-

गणाकर्णनावसरे या तात्कालिकनिरोधात् तयात्वम् । पुष्टिमार्गीयाणां तु सदैव तथात्व-मित्यर्थः । अत एव शुकादीनां न सर्वदा ठीलेतरानुसन्धानम् । अन्यथा 'मथुराया व्रजं गता' इति तादृस्थ्येनोक्तिर्नोपपद्येत । पुष्टिमार्गीयभक्तभावस्य तु सार्वदिकत्वं प्रभुरेवाह एकादशे 'ता नाविद'न्निति पद्ये नीरनिधिनीरप्रविष्टनदीदृष्टान्तेन । नहि महाजलधिजल-प्रविष्टा नद्यः कदापि पूर्वभावं प्राप्नुवन्ति । स्वरूपेण स्थिता अपि न भेदेन व्यपदिश्यन्ते । अतः पुष्टिमार्गीयेषु भगवदितरस्फूर्तिरहितभाववद्भगवदीयत्वं भगवत्त्वं च, भगवता सहौ-तप्रोतन्यायेनैक्यात् मर्यादामार्गीयेषु श्रवणादिना भगवदीयत्वमेवेति महानेव भेद इत्य-लमुक्त्या । एवं बहिःसंवेदनाभावदशायां मर्यादामार्गीयोत्तमान्निरूप्य बहिःसंवेदनद-शापन्नांस्तान्निरूपयितुं बहिःसंवेदनप्रसङ्गेन मध्येऽधमान्निरूपयन्ति अन्यासक्ता इति । ये केचित् भावणत्वशूद्रत्वादिभिरुत्कर्षापकर्षयुक्ता अप्यन्यद्व्रहादिकं तत्रासक्त्या वृत्त्यादि-सम्पादकत्वेन लोकानामग्रे कथनार्थं भगवद्गुणश्रोतारः 'क्षेत्रप्रविष्टा' इत्यादिनोक्तगुण-गायकभावग्राहका अधमाः परिकीर्तिता इत्यर्थः । तुशब्देन भगवदर्थकग्रहासक्ता व्याव-र्तिताः । तस्यास्तु पुष्टिमार्गीयमोक्षरूपत्वेन उत्तमत्वसम्पादकत्वात् ॥ ४ ॥

एवं मध्येऽधमान्निरूप्य पुनर्बहिःसंवेदनदशापन्नानुत्तमान्निरूपयन्ति ।

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।
देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥

बहिःसंवेदनदशायामपि न विद्यते अन्यः भगवदतिरिक्तो यत्र एतादृशं मनो येषामित्यर्थः । ननु को विशेषस्तदान्तःसंवेदन इत्याशङ्क्यानन्यमनेतस्त्वे प्रकारभेदमाहुः देशकालेत्यादि । अन्तःसंवेदने हि देशादयो भगवत्त्वेनैव स्फुरन्ति, न देशत्वादिभिः । केवलभगवदाकारान्तःकरणे सर्वत्रावरणनाशात्, बहिःसंवेदने त्वन्तःकरणस्य प्रपञ्चप्रवे-शेन तदाकारत्वे देशत्वादिप्रकारेण तत्स्फूर्तौ तत्र भावनामात्रेण भगवद्बुद्धिरिति विशेष इत्यर्थः । ननु तदानीं कथं भगवत्त्वेन सर्वस्फूर्तिः, नेदानीम्, अन्तःकरणस्य तत्तैव स्व-रूपतः सत्त्वादित्याशङ्क्याहुः मर्त्या इति । अन्तःसंवेदने हि ते भगवद्रूपा एव, भाव-नया तदात्मकत्वात्, अतो न तेषामन्यस्फूर्तिस्तदा, बहिःसंवेदने तु मर्त्यत्वादितरस्फूर्ति-रिति तत्र देशादिषु शास्त्रेणाहार्या भगवद्बुद्धिरित्यर्थः । एतादृशा मर्यादामार्गे श्रवणादिषु, आदिपदेन कीर्तनप्रभृतिषु चोत्तमा इत्यर्थः ॥ ५ ॥

भाववतस्तद्भावान् निरूप्य पूर्वं ततो भक्ताः ।
मार्गद्वयेन चोक्ताः श्रोतारः श्रीमदाचार्यैः ॥ १ ॥
आचार्या निजकरुणामात्राः कुर्वन्तु सन्तुष्टाः ।
नाम्ना मां हरिदासं रूपेणापि स्वतः प्रभवः ॥ २ ॥

इति श्रीहरिदासीयं श्रोतृचातुर्विध्यकथने निजाचार्यश्लोकपञ्चक-विवरणं संपूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतानि ।

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः भक्तिवर्धिन्या बीजभावदार्ढ्योत्तरं भक्तिवृद्ध्यर्थं श्रवणकीर्तने साधनत्वेनोक्तवन्तः, बीजदार्ढ्यार्थं च पूजां श्रवणादीनि च नवापि साधनत्वेनोक्तवन्तः । तत्र, श्रवणं नाम भगवद्वाचकपदवाक्यानां शक्तितात्पर्यनिर्धारः । कीर्तनं च तन्निर्धारपूर्वकं मुखादुच्चारणम् । एवं तयोः स्वरूपस्य साधारणत्वे त्यागानन्तरं क्रियमाणयोः कुतो भक्तिहेतुत्वम्, ततः पूर्वं क्रियमाणयोश्च कुतो बीजदार्ढ्यमात्र एवोपकारकत्वमित्याकांक्षायां निरोधलक्षणे 'महतां कृपया यावत्' 'महतां कृपया यद्व'दिति श्लोकाभ्यां यथा कीर्तने विशेष उक्तः, महत्कृपाभिव्यक्तभगवत्कीर्तनस्यानन्दसन्दोहजनकत्वमिति प्रथमाधिकारे महतां कृपया यथा भगवदीयकृतं कीर्तनं सुखदं, तथा लौकिकसम्बन्धकीर्तनं न सुखदं, किन्तु रुचिविषय इति, तत उत्कृष्टाधिकारे विशेषः कीर्तनस्याधिकार्यनुभवभेदविचारणोक्तः । तथा श्रवणस्य कुत्रापि नोक्त इति तदर्थं पद्यश्लोकान् श्रीकृष्णरसविक्षिप्तेत्यादिकान् हरेर्भक्ता इति निगमनान्तान्वदन्ति । प्रथममुत्कृष्टं भक्तिवृद्धिजनकं त्यागिनां भावमाहुः श्रीकृष्णेत्यादि । किञ्च, ननु यथा स्वस्मिन्भगवद्भावं सम्भवरूपं श्रवणफलसिद्ध्यर्थं श्रवणस्योत्कर्षार्थं च वक्तृभावान् परीक्ष्य तत्सङ्गः श्रवणार्थं विधेय इति जलभेदे प्रतिपादितम्, तथा वक्त्रापि भगवद्भावसम्भवरूपकीर्तनफलसिद्ध्यर्थं श्रोतृभावः परीक्षणीयः, तृतीयस्कन्धे विदुरमैत्रेयसंवादे विदुरमैत्रेयज्ञानसंक्रमस्य च परस्परसंवादेन प्रतिपादितत्वात् । अतः कीर्तनसिद्ध्यर्थं श्रोतॄन् विचारयन्ति श्रीकृष्णेत्यादि ।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसा रतिवर्जिताः ।
अनिर्वृता लोकवेदे ते मुख्याः श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥

अत्र **अनिर्वृता लोकवेदे** इति विशेषणं त्यागवत्त्वबोधकम् । तादृशमेव हि लोके वेदे चानिर्वृतेः । **रतिवर्जिता** इति विशेषणं तु रतौ रमणं बहिर्भगवत्प्राकट्येन भगवता सह संलापादिकं, तद्रहिता इत्यर्थकम् । एतेन निरोधलक्षणे 'क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वे'ति श्लोकद्वयेन यादृशोऽधिकार उक्तस्तद्राहित्यं सूचितम् । तेन ततः पूर्वं यो गुणगानाधिकारः, यश्चोत्कृष्टः कीर्तनाधिकारस्तदुभयं क्रोडीकृतम् । तदत्र आहुः **श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसाः श्रवणोत्सुका** इति पदद्वयेन । तथाच श्रीकृष्णस्य भगवतो यो रसो लीलासम्बन्धिभजनानन्दात्मकः, तेन विक्षिप्त मानसं येषां ते तथा, एतेन तेषां स्वार्थाननुसन्धानं सूचितम् । एते पुष्टिमार्गीया उक्तधर्मेणावगन्तव्याः । किञ्च, श्रवणे

अथ यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध
उत्सुका उत्कण्ठायुक्तास्ते भक्ता मुख्याः श्रवणाधिकारिणः । प्रथमाधिकारिणस्ते इत्यध्याहारः । एतेन ये कीर्तने द्वितीयाधिकारिणो ये च गुणगाने श्रवणपूर्वकत्वादि दृश्यते, श्रवणे तुल्या इत्युक्तम् । कीर्तनगानयोर्ज्ञानपूर्वकत्वात्तस्य च तादृशत्वस्यैव सिद्धेरिति । नन्वेकादशस्कन्धे 'अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्' इति जनकप्रश्ने हरिणा योगीश्वरेण 'सर्वभूतेषु यः प-यथाचरति यद्ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रिय' इत्यादिभिरेकादशभिः श्लोकैः कर्मज्ञानभक्तिमिश्रा भागवता उक्ताः, श्येद्भगवद्भावमात्मन' इति चेत् ? उच्यते । तथाहि, प्रश्ने सुबोधिन्यां व्याख्याताश्चेति त एवात्र कुतो नोक्ता नृणामिति पदात्साधारणा एव भागवताः पृष्टाः, नत्वात्यन्तिका इत्यतस्तदनुक्तिः । किञ्च, तत्र तेषां फललक्षणे 'विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोप्यघौघनाशः, प्रण-यरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्त' इत्यनेन भगवतः सर्वदा तद्धृदय-स्थितिर्भागवतप्रधानलक्षणत्वेनोक्ता । सा च स्वमात्रगम्यत्वेन तत्र स्फुटति, नत्वन्यगम्य-त्वेनेत्यन्यगम्यं लक्षणं तत्सद्भावार्थं वक्तव्यम्, तदत्रोच्यत एवेति पुष्टिमार्गे यादृशा विवक्षिताः तेत्र लक्ष्यन्त इति तदनुक्तिरिति जानीहि । तत्र प्रथमविशेषणद्वयेन यद्धर्मत्वं, तृतीयेन यादृशत्वं, तुरीयेन यथाचरतीत्यर्थोक्तं सिध्यतीत्यपि बोध्यम् । 'तथा न कामकर्मबीजा-ना'मिति श्लोकोक्तलक्षणवत्त्वमपि सिध्यतीति च बोध्यम् ॥ १ ॥

एवं शुद्धपुष्टिमार्गीयान् मुख्यान् श्रवणाधिकारिणो निरूप्य पुष्टिमर्यादामार्गीयान् मध्यमानाहुः **विक्लिन्नेत्यादि** ।

विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।
अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥

मनो येषां ते तथा । तु विशेषेण क्लिन्नं तदेकपरतया कोमलत्वाद्भगवद्रसेनार्द्रं पुनर्ये भगवतः स्मृत्या स्मरणेन विह्वला विवशतां प्राप्ताः, च पुनर्ये श्रवणोत्सुकाः श्रव-णोत्कण्ठायुक्तास्ते त्रिविधा अपि अर्थैकनिष्ठाः अर्थः प्रयोजनं स्वकृतार्थतारूपं भक्तिबी-जदार्ढ्यरूपं वा, तत्र एका मुख्या निष्ठा नितरां स्थितिर्येषां तादृशाः सन्तः मध्यमा भक्ताः । एवं च ये गृहस्थाः आसक्तेर्व्यसनस्य वा साधनपरास्ते पूर्वोक्तधर्मवत्त्वेपि साधन-परत्वात्तेषां भगवन्निष्ठायास्तादृशसाधन एवोपयोगात्पूर्वोक्तधर्मवत्त्वेपि मध्यमा एवेत्यर्थः । अत्रापि प्रथमविशेषणेन यद्धर्मत्वं द्वितीयेन च यादृशत्वं बोधितम् । तेनैवाचरणोक्ती अपि सूचितप्राये बोध्ये ॥ २ ॥

एवं पुष्टिमर्यादामार्गीयान्मध्यमानुक्त्वा मर्यादापुष्टिमार्गीयान् जघन्यानाहुः **निः-सन्दिग्धमिति** द्वाभ्याम् ।

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।
ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥ ३ ॥

पूर्णभावेन पूर्णार्थाः फलाधिक्ये तु सर्वदा ।
अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥

कृष्णतत्त्वं भगवतः सर्वकर्तृत्वं षड्गुणवत्त्वं परमकृपालुत्वं दीनबन्धुत्वं भक्तिज्ञानादिजनकत्वं पतितपावनादिकत्वमनारोपितं निःसन्दिग्धं यथा स्यात्तथा सर्वभावेन भगवत्सर्वत्वेन ये विदुः जानन्ति, तु पुनरावेशाद्भगवदावेशात्तिरोधाद्वा ये विकठाः, च पुनरन्यथा न । किञ्च, पूर्णभावेनेति श्लोकोक्तकालपरिच्छिन्नधर्मवन्तस्ते ज्ञानप्रधानत्वादन्यावेशेन भक्त्युत्कर्षराहित्याच्च जघन्या इत्यर्थः । तेन तादृशां तादृशां सङ्गे यद्यपि तादृशतादृशभावस्य सिद्धिरिति यथासम्भवमुत्कृष्टसङ्ग एव प्रयतनीयमिति बोध्यम् ॥ ३ ॥ ४ ॥

ननु भवत्वेवं तथापीदानीं जघन्यानामपि दुर्मिलत्वात्कीर्तनमुच्छिन्नप्रायं भवेदिति तदभावार्थं सामान्यतः श्रवणादिगतत्वधिकारिण आहुः अनन्यमनस इत्यादि ।

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।
देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥

प्रकारत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च देशादीन् प्रकारान् प्राप्य ये भगवदेकमनसस्ते श्रवणादिषु भक्तिषु सङ्गार्थं मृग्याः, यदि पूर्वोक्ता न मिलन्ति । मिलने तु नैतादृशेषु सङ्गनीयमिति न काचिदनुपपत्तिरित्यर्थः ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीपीताम्बरतनुजश्रीपुरुषोत्तम-
विरचितं श्रीकृष्णरसविक्षिप्तेत्यादिश्लोकपञ्चकस्य विवरणं
संपूर्णम् ॥

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गत :—चतुर्दश :

संन्यासनिर्णयः

अष्टटीकाभि : समलंकृत :

१. श्रीगोकुलनाथानाम्	५. श्रीगोपेश्वराणाम्
२. श्रीरघुनाथानाम्	६. श्रीपुरुषोत्तमानाम्
३. श्रीगोकुलोत्सवानाम्	७ काका श्रीवल्लभानाम्
४. बाबा श्रीगोपेश्वराणाम्	८. बाबा श्रीगोपेशानाम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-नित्य- लीला-स्थित-
गोस्वामिश्री-१००८- श्रीद्वारकेश्वरलाल-महाराजश्री-
स्यैतेषा-स्मृतौ-तदात्मजैः- गोस्वामिश्री-१००८
श्री किशोरचन्द्र-महाराजैः
प्रकाशित :

वि. सं. २०३७ श्रीवल्लभाब्दा : ५०३

प्रकाशक :
गोस्वामिश्री १००८ श्रीकिशोरचन्द्रजी महाराज
मोटी हवेली, मांडवी, कच्छ, ३७०४६५ भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति
राज संस्करण १००० प्रति
श्रीवल्लभाब्द ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :
स्टुडिओ नहार, २३–ए, सेन्ट्रल चोपाटी बिल्डिंग चोपाटी, बम्बई–४०० ००७

गोस्वामिश्री १००८ श्रीद्वारकेशलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रंथ-परिचय

संन्यासनिर्णयकी रचना वि. स. १५५१ मे बदरिकाश्रमकी यात्राके अवसरपर नरहरि सन्यासीके लिए की गई ऐसी एक किवदन्ती मिलती है[1]

श्रीयदुनाथजी–विरचित श्रीवल्लभ–दिग्विजयके अनुसार श्रीमहाप्रभुने बदरिकाश्रमकी यात्रा तीन बार की थी. द्वितीय यात्रामें कृष्णदास मेघनके आपके साथ होनेका उल्लेख तथा व्यासाश्रम पधारनेका उल्लेख भी मिलता है इस प्रसगकी सूचना यहाके तीर्थपुरोहित-को दिये गये वृत्तिपत्रमे भी मिलती है. इस वृत्तिपत्रम यात्राकाल "देवाम्भपतिभू (१४३३) मिते" तदनुसार वि. स. १५६८ उल्लिखित है. अतः यदि वि. स. १५५१ वाली किवदन्ती प्रामाणिक हो तो उसे प्रथम यात्राका काल मानना पडेगा
इसकी पुष्टि चौरासी वैष्णवन्‌की वार्तासे भी होती है

"सो एक समय नरहर सन्यासी बद्रिकाश्रम फिरते-फिरते आये. तहा श्रीआचार्यजी महाप्रभु पधारे सो नरहर सन्यासीको दरसन भये तब नरहर सन्यासी श्रीआचार्यजी महाप्रभुनसो विनती किये- 'महाराज मै पहिले सन्यास ग्रहण कियो हतो. पाछे आपकी कृपाते भक्तिमारगमे आयो सो सन्यासके प्रकार हैं सो तो मैं जानत हो और भक्तिमारगको कहा प्रकार है सो मैं जानत नाहि. सो मोको कृपा करि कहिये' तब श्रीआचार्यजी कहे— 'तोसो भक्तिमारगके सन्यासको प्रकार कहत हो, तब श्रीआचार्यजी 'सन्यास निर्णय' ग्रन्थ करि नरहर सन्यासीको पढाय भाव कहि सुनायो तब नरहर सन्यासीके हृदयमें पुष्टिमारगको सिद्धान्त स्थिर भयो, तब श्रीठाकुरजीकी लीलाको अनुभव भयो सो मग्न होय गये. पाछे श्रीआचार्यजी आगे पधारे नरहर सन्यासी स्वरूपानन्दमे मग्न होय फिरिबो करते"

श्रीमहाप्रभुके चरित्रवर्णनोंमे सर्वाधिक प्राचीन (वि. स १६१० में) गदाधर द्विवेदी लिखित सम्प्रदाय-प्रदीपमे भी एक 'सन्यासनिर्णय' का उल्लेख मिलता है ". श्रीवल्लभा निर्गत्य गगातीरे उपविष्टा तत्र त्रिदण्डविधिना सन्यासनिर्णय उक्त यथा विष्णुस्वामी तथा यतिर्भूत्वा काश्या गता" (चतुर्थ प्रकरण) किन्तु यहा 'सन्यासनिर्णय' ग्रन्थवाचक है अथवा ग्रन्थरूपेण निबद्ध न किये गये किसी मौखिक उपदेशका वाचक है, यह निश्चित नही हो पाता है इसके अलावा—'त्रिदण्डविधिना' पदपर भी ध्यान देना चाहिये क्योकि षोडश-ग्रन्थान्तर्गत प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थमे कही भी त्रिदण्डविधिसे सन्यास ग्रहण करने या न करने का कोई भी विचार उपलब्ध नही होता है

---

१ वैष्णववाणी (अक ४ वर्ष १९७९) मे श्रीनागरदास शास्त्रीद्वारा लिखित लेख

षष्ठात्मज श्रीयदुनाथजी-विरचित श्रीवल्लभदिग्विजयमे, काशीमे आसुरव्यामोह-लीला करनेसे पूर्व दामोदरदास प्रभृति वैष्णवोद्वारा सन्यासकी अभ्यर्थना करनेपर उनके लिए सन्यासकी अनावश्यकता दिखलानेके लिए एक मौखिक उपदेशका वर्णन मिलता है उस सन्यासनिर्णयके उपदेशसारको भी वहा सकलित किया गया है, जिसे ध्यानसे पढनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत षोडशग्रन्थान्तर्गत सन्यासनिर्णय और उक्त सन्यासनिर्णय मे उपदिष्ट विषय भिन्न-भिन्न हैं.

कुल मिलाकर दो सम्भावना सामने आती है :

१) बदरिकाश्रमकी प्रथम यात्रा—सम्वत वि स. १५५१—मे नरहरि सन्यासीके लिए प्रस्तुत षोडशग्रन्थान्तर्गत सन्यासनिर्णय लिखा गया था

२) लोकगोचर देहदेशत्याग अर्थात् आसुरव्यामोह-लीला करनेकी तृतीय भगवदाज्ञाके पश्चात् अन्त करणप्रबोध ग्रन्थकी रचना जैसे श्रीमहाप्रभुने स्वयम् के लिए की, वैसे ही सन्यास लेनेसे पूर्व इस सन्यासनिर्णय ग्रन्थकी रचना भी आपने स्वयम्के लिए ही की है. अर्थात् वि. स १५८७ मे [1]

इनमे प्रथमका समर्थन तो पूर्वोक्त चरित्रग्रन्थोकी एकवाक्यतासे स्पष्ट होता ही है. द्वितीय सम्भावनाका भी समर्थन हमें श्रीपुरुषोत्तमजीकी प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थकी व्याख्यामें मिलता है श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार क्योंकि प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थका प्रणयन तृतीय भगवदाज्ञाके बाद हुए पश्चातापको दूर करनेके लिए ही हुआ है अतः वि स १५८७ रचनाकाल ही श्रीपुरुषोत्तमजीको मान्यतया सिद्ध होता है

श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार इसका आधार वे स्वयम् इन शब्दोंमे देते हैं– "यथा तु तेषा परस्परविसम्मतिमवलोक्य अन्त.करणप्रबोधग्रन्थस्य 'पश्चाताप'—'परित्याग' पदयो अत्र प्रत्यभिज्ञानात् स एव पश्चातापो अत्र निवर्त्यत्वेनादृत ". परन्तु केवल दो समान पद 'पश्चाताप' तथा 'परित्याग' के पुनरावर्तनको ' परम्पराप्राप्त इतिवृत्तसे बलवत्तर नहीं माना जा सकता है इसके अलावा सर्वोत्तमस्तोत्रमे– "विरहानुभवैकार्थ-सर्वत्यागोपदेशक" नामके द्वारा श्रीप्रभुचरण भी प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थके—"विरहानुभवार्थं तु परित्याग प्रशस्यते" उपदेशका ही परामर्श करतेसे प्रतीत होते है वहा— "विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागप्रशसक" अथवा "विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागपरायण" न कहकर "उपदेशक" कहना इस बातका द्योतक लगता है कि प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने अन्त करणप्रबोधकी तरह स्वयम्के लिए नही किन्तु अपने अनुयाईओके लिए उपदेशके रूपमे प्रकट किया है

इसके अलावा श्रीपुरुषोत्तमजी भाष्यप्रकाश (३।४।४२) मे— "बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च' के भाष्याशकी तथा प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थकी एकवाक्यता स्वीकारते

---

(१) आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसगमे । यापि पश्चान्मधुवने न कृत तद् द्वय मया ॥
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचर । पश्चात्ताप कथ तत्र सेवकोह न चान्यथा ॥
(अन्त करण ५–७)

है—"एतस्य प्रारम्भ संन्यासनिर्णयग्रन्थादवगन्तव्य:". यहां प्रारम्भमें भक्तिमार्गके मध्यम कक्षाके अधिकारीके लिए आवश्यक साधनत्यागका विचार इस अधिकरणका प्रमुख उद्देश्य है ऐसा दिखलाते है—"अथ भक्तिमार्गीयमध्यमजघन्ययो. फलविचारोत्तर मध्यमस्य त्यागरूपं साधन चिन्त्यते." भागवतके एकादश स्कन्धके अठाहरवे अध्यायमे—"यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु विरागो जायते सम्यङ् न्यस्ताग्नि प्रव्रजेत्तत:" कारिकासे प्रारम्भ कर सोलह कारिकाओमे पहले भगवान्ने उद्धवको त्रिदण्ड सन्यासका स्वरूप समझाया है, और इसके बाद—"ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षक: सलिङ्गानाश्रमास्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर." कारिकामे चतुर्थ आश्रमरूप सन्याससे भिन्न एक सन्यासकी आज्ञा दी गई है; यह सन्यासकी आज्ञा पूर्वोक्त भाष्य (३।४।४२) तथा सन्यासनिर्णय ग्रन्थ का आधारभूत वाक्य है. उद्धवने भी इस सन्यासकी आज्ञाके बाद सर्व-परित्याग किया था तथा यह परित्याग मध्यमाधिकाररूप था, यह त्रिविधनामावलीके—"उद्धवादिमध्यमभावबोधकाय नम "से स्पष्ट होता है ऐसा श्रीपुरुषोत्तमजी स्वीकारते है

ऐसी स्थितिमें सन्यासनिर्णय ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने स्वयम्के लिए लिखा यह कहना कुछ असमञ्जस सा लगता है क्योंकि सर्वप्रथम तो सन्यासनिर्णय ग्रन्थमे मध्यमाधिकारीके त्यागके प्रकारको प्रतिपाद्य विषय माना गया है, और स्वयं ही श्रीमहाप्रभु स्वयम्के बारेमे मध्यमाधिकारिताका निर्णय लें यह सगत नही लगता. श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार तृतीय भगवदाज्ञा भी "लोकपरित्यागविषयिणी" थी. इस आज्ञाका तात्पर्य मध्यमाधिकारवाले सन्यासग्रहणार्थ लेनेमे कोई विशेष हेतु दृष्टिगत नही होता है "स्वीयबन्धनिवृत्यर्थं वेष सोऽपि न चान्यथा" मे सन्यासचिह्नोकी अनियतता या उपेक्षा का जो बोध होता है, वह भी श्रीमहाप्रभुके सर्वथा आग्रहपूर्वक यथाक्रम कुटिचक बहूदक हस तथा परमहस के क्रमनिर्वाहमें उतना सगत नही होता.

इन बातोंको दृष्टिगत रखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि लोकगोचर देहदेशत्यागको तृतीय भगवदाज्ञाके परिपालनार्थ श्रीमहाप्रभुने संन्यासनिर्णय ग्रन्थमे वर्णित मध्यमाधिकारवाला सन्यास नही किन्तु चतुर्थाश्रमरूप नित्यसन्यास ही आपने लिया था " . आश्रमचतुष्टयपक्षे नित्यसन्यासी भवति तत्र ब्राह्मण्यं, वय पूर्वाश्रमानन्तर्यं च प्रयोजक न ज्ञानादि" (सुबो ३।१२।४२). सन्यासनिर्णयमे "कर्ममार्गे न कर्तव्य सुतरा कलिकालत " वचन द्वारा जिस चतुर्थाश्रमरूप सन्यासकी भक्तिमार्गीय जीवोके लिए अनुपादेयता, तथा सर्वनिर्णयमे—"त्रिदण्ड परिगृह्णीत सर्वशास्त्राविरोधि तत् . प्रतिश्रुतिरिय सर्वा देहस्य" वचन द्वारा जिस चतुर्थाश्रमरूप शास्त्रविहित सन्यासकी ब्राह्मणदेहके लिए आवश्यकता शास्त्रसम्मत मानी गई है, वही सन्यासका प्रकार श्रीमहाप्रभुने स्वीकारा था

पुष्टिमार्गमें फलानुभूति इस भूतलपर ही उत्तम मानी गई है—"भगवानेव हि फल स यथाविर्भवेद् भुवि" (पु प्र म.). आगे चलकर सेवाफलमे भी वर्णित उत्तम फल 'अलौकिक सामर्थ्य' सर्वेन्द्रियोंसे भगवान्की रसात्मिका अनुभूति इसी भूतलपर स्वीकारी गई है. पर प्रभु जब आचार्यचरणको लोकगोचर देह-देश-त्यागकी आज्ञा प्रदान कर रहे थे, मर्यादामार्गीय

कर देना उचित होता है—"विरहानुभवार्थं तु परित्याग प्रशस्यते"

बीजभावके दृढ होनेपर भक्तको यह स्वतएव समझमे आने लगता है कि—"गृहस्थिते- रुत्कृष्टत्व न भगवदीयत्वमात्रेण किन्तु भगवता सह स्थित्या भगवत्सार्थ्यं वा अन्यथा न स्यात्त्वम्" (सुबो ३।१।२)

पुनश्च यहां यह अवधेय हो जाता है कि श्रीमहाप्रभुके समक्ष न तो भक्तिके बीजभावको दृढ करनेकी कोई समस्या थी और न स्वगृहमें भगवत्सेवाके अनिर्वाहकी ही, न सतत गृह- स्थितिसे भक्तिके बीजभावके विनाशकी ही और न विरहानुभवार्थ परित्यागकी भी क्योंकी सन्यासमे मुक्तिसे अधिक अभ्यपता तो सम्भव नही, जबकि मुक्तिके बारेमे आपका स्पष्ट अभिप्राय है कि—"स्वतन्त्रभक्तानां तु गोपिकादितुल्यानां सर्वेन्द्रियैस्तथान्तःकरणं स्वरूपेण चानन्दानुभव अतो भक्तानां जीवन्मुक्त्यपेक्षया भगवद्दासहितगृहाश्रम एव विशिष्यते" (शास्त्रार्थप्रकरण) इसी तरह सर्वोत्तममें आपको— "रासलीलैकतात्पर्य" कहा गया होनेसे विरहानुभवार्थ भी सन्यासमें आपका प्रवृत्त होना बहुत अर्थपूर्ण नही रह जाता स्वगृहमें भगवत्सेवा-कथामय जीवनयापन उत्तमाधिकारका द्योतक है तथा वह सम्भव न होनेपर भग वद्विरहानुभवार्थ सन्यासग्रहण करना भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकारका द्योतक है

यद्यपि "कृत्स्नभावात् गृहिणोपसंहार" (ब्रह्मसूत्र ३।४।४७) के भाष्यके उपसंहारमें, "कुछ दुर्लभ प्रकार क— राजा आशकरणदास जैसे— भक्त भगवत्सेवा करते हुए भी गृहत्याग कर देते हैं" ऐसा उल्लेख मिलता है परन्तु उस गृहत्यागके जो कारण वहा दिखलाये गये हैं, वे यो हैं— "केचन भक्ता भावनादिलीलादर्शनं विना स्थातुमशक्ता प्रचुरभावविवशतया गृहास्त्यक्त्वा वन गच्छति" स्पष्ट है यह बात श्रीमहाप्रभुपर लागू नही होती अतएव भाष्य- कार यही कहते है— "तेन भगवद्भजन एव तत्रापि पुष्टिमार्ग एव श्रुतेर्भर इति ज्ञायते" अत जिन्हे भगवत्सेवाका सौभाग्य नही प्राप्त होता उनके लिए विरहानुभवार्थ सन्यासका कल्प है इससे यह सुदृढ होता है कि श्रीमहाप्रभुके सन्यासके स्वरूप एवम् प्रयोजन इस सन्यासनिर्णयमें निरूपित भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकारके द्योतक सन्यासके स्वरूप एवम् प्रयो- जन से भिन्न ही थ

अतएव दामोदरदास प्रभृति वैष्णवोकी सन्यासमे भी आपके अनुवर्तनकी प्रार्थनाका श्रीमहाप्रभुने अस्वीकार कर दिया था, श्रीयदुनाथजीके शब्दोमे, 'ततो दामोदरादीनां सहया- नाय सन्यासग्रहणार्थं प्रार्थना जाता तथापि आचार्यै युष्माकं भागवतसन्यासोऽस्त्येव मत्कार्यार्थम् उद्धरादिवदिहैव स्थातव्यमित्युक्त्वा सन्यासनिर्णय श्रावित' 'भागवत सन्यास' से आपका तात्पर्य ब्रह्मसम्बन्धगद्यद्वारा आत्मनिवेदनके बारेमे ही प्रतीत होता है स्वयम् श्रीमहाप्रभुके त्रिदण्डविधिसे सन्यासग्रहणका प्रयोजन भगवदाज्ञाका पालन ही था अत वैसी आज्ञाके अभावमें अन्य अनुयायीओंके लिए सन्यासमे आपका अनुवर्तन सर्वथा अनावश्यक था

नरहरि तो पहले ही सन्यास ले चुके थे और एक आश्रमसे दूसरे आश्रममे एक बार पहुचनेके बाद पुनरावर्तन सर्वथा शास्त्रनिषिद्ध है, अतएव वृन्दावनमें पहले नरहरिको त्रिदण्ड-

विधिसे अर्थात् शास्त्रसम्मत रीतिसे संन्यास लिवाया गया और बादमें बदरिकाश्रममें उन्हे इस संन्यासनिर्णय ग्रन्थके उपदेश द्वारा भगवद्विरहानुभवमें दीक्षित किया गया !

संन्यासका विधान पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊपर उठनेवालोंके लिए शास्त्रमें मिलता है. परन्तु शिष्यैषणामें ये तीनों वासनायें छद्म रूपसे त्रिगुणित हो जाती हैं. पुत्र तो दोचार पैदा हो जाये तो लालसा सन्तुष्ट हो जाती है, परन्तु शिष्यैषणा तो दो-चार हजार चेलोंके जुट जानेपर भी सन्तोषका नाम नहीं लेती ! अतएव अपने सहज परिवारके पोषणके लिए वित्तकी अपेक्षा उतनी नहीं होती जितनी कि मठ या आश्रमों में जुटे चेलोंके पोषणके लिए होती है. एक सांसारिक व्यक्ति अपने गुणोंकी कीर्तिकी लालसा से उतना ग्रस्त नहीं होता जितना कि एक आधुनिक परमहंस अपने त्यागकी कीर्तिकी लालसासे ग्रस्त होता है !

वस्तुत: विरक्तकी त्यागसाधना और त्यागीकी वैराग्यसाधना में बड़ा अन्तर पड़ जाता है !

वास्तविक वैराग्य व्यक्तिको किसी सीमा तक ऊपर उठा सकता है परन्तु वैराग्यहीन त्याग हमें और नीचे धकेल देता है श्रीमहाप्रभुका सिद्धान्त है कि किसी वस्तुके व्यर्थ त्यागकी अपेक्षा उसे भगवान्‌को समर्पित कर देना उचित बात है अतएव जब हम समर्पित नहीं कर पाते तब केवल विरक्तिके आधार पर प्राप्त वस्तुके त्यागके बजाय भगवदनुरक्तिकी तन्मयतामें उसका त्याग किया जाये तो बात बन सकती है !

त्याग अपने-आपमें एक स्वतन्त्र मार्ग होनेकी महत्ता नहीं रखता है मार्ग तो तीन ही होते हैं. (१) कर्ममार्ग (२) ज्ञानमार्ग (३) भक्तिमार्ग कर्म ज्ञान या भक्तिके अंगरूपेण त्यागकी महत्ता अवश्य मान्य हो सकती है, किन्तु इनसे रहित केवलत्याग तो मनुष्यको केवल परिव्राजक ही बना पाता है—कहीं पहुंचाता नहीं !

श्रीमहाप्रभु सन्यासका निर्णय केवल वैराग्यके सन्दर्भमें देना पसन्द नहीं करते हैं कर्म ज्ञान या भक्ति में से किसी एकके साथ वैराग्यके प्रकट होनेपर सन्यास या त्याग का विचार प्रासंगिक बनता है. भागवत (११।२०।७-८) में आता है कि—"योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्, निर्विण्णानां ज्ञानयोग... कर्मयोगस्तु कामिनां . . . न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः" अर्थात विरक्तिप्रधान साधकके लिए ज्ञानयोग, सकाम साधकोंके लिए कर्मयोग; एवम् न विरक्त और न अतिसकाम ऐसे साधकके लिए भक्तियोग सिद्धिप्रद होता है. इन कर्म ज्ञान या भक्ति के मार्गपर आगे बढ़नेपर अर्थात् वैराग्यके दृढ होनेपर संन्यासका विचार प्रासंगिक बनता है.

इस विषयमें सुबोधिनी (३।१२।४२) में एक विस्तृत स्पष्टीकरण श्रीमहाप्रभुने दिया है. उसका अनुवाद देख लें :

"ब्राह्मणके लिए यह आवश्यक है कि वह चारों आश्रमोंमें क्रमश: प्रविष्ट हो. . किसी एक आश्रममें स्थिर होना भी, वैसी कामना होनेपर, शास्त्रानुमत है... जो ऊर्ध्वरेतस भक्त

रीतिसे, तब तदनुरूप पारमहंस्य सन्यास भी आपने ग्रहण किया। "सन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम स परमहंसो नाम।" (जाबालोपनिषद्)

अतएव अन्त करणप्रबोधके– "प्रौढापि दुहिता यद्वत् स्नेहान्न प्रेष्यते वरे तथा देहे न कर्तव्य" तथा सर्वनिर्णयके–"न्यासे सर्वपरित्यागी . तादृशस्य बलाद्वापि देहत्यागो विमुक्तिद" इन दोनो वचनाकी तुलना करनी चाहिये

फलत सन्यासनिर्णय, यह सहज सम्भव है कि, श्रीमहाप्रभुने बदरिकाश्रमकी प्रथम यात्राके समय नरहरि सन्यासीके लिए ही बनाया हो

भक्तिवर्धिनीमें यह दिखलाया गया था कि जिनका बीजभाव दृढ हो वे गृहत्याग करके भगवत्कथाके श्रवण–कीर्तन द्वारा भी अपनी भक्तिको विकसित कर सकते है अन्यथा बीजभावके दृढ न होनेपर उसे दृढ करनेके लिए व्यक्तिको यथावसर भगवत्सेवा और भगवत्कथा दोनोको अपनाना चाहिये, यदि वह अव्यावृत्त हो तो अन्यथा व्यावृत्त होनेकी अवस्थामे अर्थात् निजगृहमें भगवत्सेवाकी सम्भावना न होनेपर बीजभावकी दृढताके लिए केवल भगवत्कथाके श्रवणादिसे भी प्रेमासक्तिव्यसनकी उत्तरोत्तर अवस्थाओमे भक्ति विकसित हो सकती है

भगवत्कथाके श्रवणादिसे जब स्नेह उत्पन्न होता है तब सासारिक विषयोमे अनुराग नष्ट हो जाता है– भगवदासक्ति स्थिर होनेपर भगवत्सेवामे अनुपयोगी गृहमें भक्तको अरुचि हो जाती है– भगवत्सेवार्थ उपयोगम न आनेवाले घर और घरकी सारी वस्तु भक्तको भक्तिमे बाधक लगने लगती है— धीरे धीरे मा जब कृष्णभक्ति व्यसनदशापर पहुच जाती है तब जीव कृतार्थ हो जाता है ऐसी व्यसनदशापर पहुचनेवाले व्यक्ति के लिए भी भगवत्सेवार्थ अनुपयोगी घरमे सतत निवास करना, कभी भक्तिमे व्यवधानका हेतु बन सकता है भक्तिका विनाशक हो सकता है अत भक्तिकी दृढताके लिए केवल कृष्णदर्शनकी तीव्र लालसासे जो गृहत्याग कर पाते हैं, उन्हें सर्वोत्कृष्ट परा सुदृढ भक्तिका लाभ होता है (भक्तिवर्धिनी)

इसके बाद भक्तिवर्धिनीमे जो इस प्रकारका त्याग नही कर पाते उनके कर्तव्य दिखलाये गये है, परन्तु जो त्याग करनेमे समर्थ हो उन्हें वह त्याग कैसे किस अवस्थाम, किस भावनाके साथ और किस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए करना चाहिये इत्यादि विषयोका निरूपण नही हो पाया जिनसे स्वगृहमे भगवत्सेवा न निभती हो और जो गृहत्यागके लिए भी अपने-आपको समर्थ न पाते हो उन्हे यह सुझाया गया था कि उन्हे ऐसे भगवदीयोके समीप बसना चाहिये कि जो सेवा कथा परायण जीवनयापन करते हो वे यदि छूट देते उनके द्वारा की जाती भगवत्सेवामे सहयोगी-परिचारक भी बनना चाहिये अन्यथा कमसे कम उनके द्वारा की जाती भगवत्कथामें श्रोताके रूपमें तो सम्मिलित होना ही चाहिये इसी सन्दर्भमें भगवत्कथाके लिए आवश्यक योग्य वक्ता एवम् श्रोता का स्वरूप बीचमें जलभेद और पञ्चपद्यानिमें समझाया गया था अत अवशिष्ट गृहत्यागका विचार आवश्यक था ही, जिसे इस सन्यासनिर्णय ग्रथ द्वारा पूर्ण किया जा रहा है

सर्वनिर्णय निबंधमें कारिका १९१ से कारिका २१४ तक सन्यास त्याग भक्ति आदि अनेक विषयोका निरूपण किया गया है, पर वह मुख्यतया पुष्टिमार्गीयोंके लिए नही, अपितु सभी दैवी जीवोको लक्ष्यमें रखकर किया गया उपदेश है. अतएव कारिका १९६ से– "भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति. न सोच्यते" वचन उपलब्ध होता है. अतएव वहा, संन्यासग्रहणके शास्त्रीय प्रकारपर बहुत भार दिया गया है– "त्रिदण्डं परिगृह्णीत सर्वशास्त्राविरोधि सत्" जबकि यहा सन्यासनिर्णयमें सामान्य रूपसे "वेश: सोपि न चान्यथा" कहनेमे वह भार दिखलाई नही देता. क्योंकि दैवी जीवोके लिये आवश्यक सन्यासके सामान्य प्रकारसे भिन्न एक विशिष्ट प्रकारके संन्यासकी आज्ञा यहा श्रीमहाप्रभु दे रहे है.

सर्वनिर्णयान्तर्गत संन्याससम्बन्धी विचारके प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ अथवा सन्यास में से किसी भी एक आश्रममें नैष्ठिक होकर रहा जा सकता है, अथवा क्रमश: उत्तरोत्तर आश्रमोमें प्रवेश किया जा सकता है, अथवा आयुष्यके चार समान भाग करके एक-एक भागका यापन एक-एक आश्रममे किया जा सकता है. सर्वत्र फल तुल्य ही होता है क्योकि शास्त्रोंमे सभी आश्रमोकी प्रशंसा मिलती है ऐसी स्थितिमें सम्प्रन्तरत्रय और आयु:क्षय वाले कल्पमे सन्यास एक शास्त्रीय आवश्यकता प्रतीत होती है

जबकि षोडशग्रन्थान्तर्गत सन्यासनिर्णयमे, कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग या अदृढ बीजभावकी अवस्थामे भक्तिमार्ग में भी श्रीमहाप्रभु सन्यासको अनुमोदनीय नही मानते

इन दोनो दृष्टिकोणोंको एकवाक्यता इस तरह घटित हो जाती है कि पुष्टिमार्गीयेतर दैवी जीवोंके लिए आश्रमक्रम अथवा आयु क्रम कल्पमे, चतुर्थाश्रमरूप सन्यास वर्णाश्रमधर्मके रूपमे शास्त्रविहित होनेके कारण, ज्ञानमार्गीय साधक एवम् मर्यादाभक्तिमार्गीय साधक के लिए अनुष्ठेय ही है, भगवत्साक्षात्कार के न होने पर्यन्त. भगवत्साक्षात्कार होनेके बाद उसकी तन्मयतामे आश्रमधर्मोका त्याग निन्दनीय नही रह जाता यह नियम किन्तु पुष्टिमार्गमें अनिवार्य नही है– "अन्त:करणे सत्कारविशेषाधायकत्व च प्रतीयते सन्यासस्य. स च सत्कार: फलोपकार्यंगमित्यावश्यक सन्यासो मर्यादामार्गे. पुष्टिमार्गे त्वन्यैव व्यवस्था- 'न ज्ञानं न च वैराग्य प्राय श्रेयो भवेदिह' इति वाक्यात्" (अणु ३।४।२७)."

अत. पुष्टिमार्गीय साधक यदि अव्यावृत्त होकर स्वगृहमे भगवत्सेवाको निभा पाता है तो गृहत्याग या सन्यास अनावश्यक है–"त्यागे वाङ्मनसोरेव भगवति विनियोगो न सर्वेन्द्रियाणाम् गृहेषुस्तु सर्वे प्रकारैर्भजन भवति इति परिजनञ्च कृतार्थो भवतीति भजने कुसलता" (अणु ३।४।४७). अन्यथा स्वगृहमे भगवत्सेवा न निभनेपर अर्थात् किसी पुष्टिभक्तके व्यावृत्त होनेपर सर्वप्रथम उसे स्ववर्णाश्रमोचित धर्मोका पालन करते हुए भगवत्कथाके श्रवण-मनन-कीर्तन द्वारा भक्तिके बीजभावको दृढ बनाना चाहिये. बीजभावके दृढ होनेपर अपने घरमे भगवत्स्वरूपके सेवा-दर्शन-स्पर्शन आदिके संयोगसुखके न मिलनेके कारण तथा पारिवारिक असहयोग भगवद्विप्रयोगजन्य दु खानुभूतिमे भी उपद्रवोंको देखते हुए गृहत्याग

होते हैं वे चाहें तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आश्रममे स्थिर हो सकते हैं. सर्वथा वैराग्यरहित अर्थात् उत्कट कामनावालेके लिए गार्हस्थ्य ही ठीक रहता है. उसे वेदोके यथाशक्ति अध्ययन करनेके बाद, शास्त्रीय विधिके अनुसार विवाह करके, यावद्जीवन अग्निहोत्रादि कर्मोके अनुष्ठानमे तत्पर होना चाहिये . अतएव आपस्तम्बकारने सभी आश्रमोको तुल्य माना है. किसी भी आश्रमके कर्तव्योका यथावत् पालन करनेपर सिद्धि मिलती है. कहीं–कहीं एक आश्रमकी प्रशंसा करनेके लिए अन्य आश्रमोकी निन्दा भी दिखलाई देती है. पर वास्तविक तात्पर्य उसका किसी आश्रम-विशेषकी प्रशंसाके रूपमे ही लेना चाहिये अन्यथा श्रुतिवचनोंमे परस्पर विरोधाभास होने लगेगा, जबकि ब्राह्मणोका यह कर्तव्य है कि किसी भी श्रुतिवचनको अप्रामाणिक न माने."

कर्म ज्ञान और भक्तिके तीन प्रमुख भेद और तदन्तर्गत अन्य भी उपभेदोको दृष्टिगत रखनेपर इस प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थमे कुल आठ प्रकारके सन्यासोके बारेमे हमे निर्णय मिलना है बोधसौकर्यके लिए उन्हें इस वर्गतालिका द्वारा समझा जा सकता है .

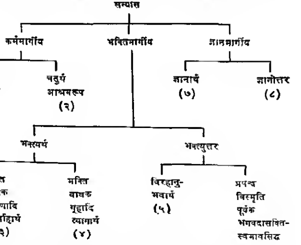

आत्मोद्धारके तीनो ही मार्गोंमे सांसारिक अहन्ता ममताको बाधक माना गया है सांसारिक अहन्ता-ममतासे ऊपर उठनेके सच्चे उपाय वैराग्यसहित कर्म ज्ञान अथवा भक्ति तो

हो सकते हैं, पर केवल त्याग या सन्यास नही. फिरभी भ्रामक उत्साहवश बहुधा लोग स्वमार्गमे पूर्ण निष्ठा तथा वैराग्य के अभावमे ही त्याग या संन्यास की उतावल कर बैठते हैं और स्वमार्ग तथा सन्मार्ग से भटक जाते हैं।

पुष्टिमार्गीय जीव भी कदा-कदा ऐसे मिथ्याचारवाले त्याग या संन्यास के फेरेमें पड़ सकते हैं. विशेषत. स्वगृहमे भगवत्सेवा न निभा पानेवाले दृढ बीजभाववाले भक्तोके लिए श्रीमहाप्रभुने भी गृहत्यागका जो उपदेश भक्तिवर्धिनीमें दिया है, उसका तात्पर्य भलीभांति न समझ पानेके कारण, पुष्टिमार्गीय विवेकके बिना उतावलमें कोई त्याग या संन्यास की गलती कर सकता है ऐसोके पल्ले पछतावेके अलावा और कुछ नहीं पड़ता !

अपने पुष्टिमार्गीय जीव ऐसे मिथ्याचारके फेरेमें पड़ कर अपने पुष्टिमार्गीय फलसे भी वञ्चित न रह जाये– सारे जीवनको ही एक महापापण्डका नाटक न बना लें एतदर्थ श्रीमहाप्रभु त्याग सन्यास सम्बन्धी अपने विचारोको स्पष्ट करते है. ताकि त्याग या संन्यास के चक्करमें फसनेवाले सम्भावित पश्चातापसे बच पायें, और जो नरहरि संन्यासीकी तरह सन्यास ले ही चुके हो उन्हें पुन भक्तिमार्गपर अग्रसर होनेकी दिशा सूझ पाये– पश्चातापसे उभर कर !

(१) कर्मफल-त्यागरूप कर्ममार्गीय सन्यास

तत्तद् वर्ण या आश्रम आदिकी दृष्टिसे जो कर्म नियत होते हैं उनका परित्याग उचित नही होता. (द्र. गीता ३/८) सर्वनिर्णयने प्रारम्भम यह कह दिया गया है कि केवल नित्यकर्मका फल आत्मसुखरूप होता है तथा उसके त्याग करनेपर प्रत्यवाय–अपराध लगता है. यही नित्यकर्म ब्रह्मविद्याके सहित हो तो ब्रह्मानन्दका दान भी करता हैं– "भगवदानन्दरूप फल ब्रह्मज्ञानयुक्तस्य यथोक्तकर्मकर्तुरेव" (सर्वनि ४) इस सूरतमे वर्णाश्रमाचारादि शास्त्रविहित नित्य कर्मोका त्याग देहाभिमानके बने रहनेतक शास्त्रानुमोदित नही है (यावद् देहाभिमान. तावद् वर्णाश्रमधर्म एव स्वधर्म. सुबो ३।२८।२).

निष्काम कर्मानुष्ठान करनेवाला भी ब्रह्मसस्थ हो सकता है, ऐसा श्रीशंकराचार्य नही मानते—"तस्माद् य एव ब्रह्मसस्थ स्वाश्रमविहितकर्मवता सोऽमृतत्वमेति न, कर्मनिमित्तविद्याप्रत्ययोर्विरोधात्" (छा भा २।२३।१). किन्तु गीता (३।५–८) के अनुसार श्रीमहाप्रभुके मतमें नियत कर्मका त्याग उचित नही होता अत ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य या वानप्रस्थ में से किसी भी एक आश्रममें नैष्ठिक व्रत धारण कर स्वाश्रमोचित कर्तव्योका जो निष्काम अनुष्ठान करता है उसे आत्मसुखरूप कर्ममार्गीय मोक्षकी प्राप्ति होती है (द्र. गीता २।५०–५१) यदि ब्रह्मविद्याके साथ कोई निष्काम कर्मानुष्ठान करता है तो ज्ञानमार्गीय ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति भी सम्भव है (द्र गीता ४।२४) भगवद्भक्तिके साथ निष्काम कर्मानुष्ठान करनेवालोंको भजनानन्दकी प्राप्ति भी सम्भव है (गीता ९।३४).

बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।२२) में– "तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन एतमेव विदित्वा मुनि. भवति" कह कर ब्रह्मचर्य, नैष्ठिक

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ आश्रमके कर्तव्योंके निष्काम अनुष्ठानको भी चित्तकी ब्रह्मज्ञानोपयोगी शुद्धिमें– विविदिषामें साधन माना गया है.

वेदानुवचन यज्ञ और दान का आश्रमधर्म होना छान्दोग्य (२।२३।१) के– "त्रयो धर्मस्कन्धा. यज्ञोऽध्ययन दानमिति. प्रथमस्तप एव. द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी. तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्. सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति." वचनसे एकवाक्यता करनेपर स्पष्ट होता है. 'वेदानुवचन' और 'अध्ययन' समानार्थी हैं. 'यज्ञ' और 'दान' तो बृहदारण्यक एवम् छान्दोग्य दोनोंमे समानरूपमे मिलते ही हैं छान्दोग्यमे इन अध्ययन दान और यज्ञ के ब्रह्मविचाररहित अनुष्ठानका फल पुण्यलोककी प्राप्ति माना गया है,तथा ब्रह्मविचारसहित अनुष्ठानका फल "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" कह कर ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति द्वारा मोक्ष भी माना ही है. 'आचार्यकुलवासी' पद द्वारा इन कर्तव्योंको आश्रमधर्मता भी स्पष्ट की गयी है.

गीता (१२।४।७) मे भी भगवान्ने अतएव इन कर्मोंके त्यागको अनुचित माना है– "निश्चय श्रृणु मे तत्र त्यागे . यज्ञदानतप कर्म न त्याज्य कार्यमेव तत्, यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणा, एतान्यपि तु कर्माणि सगं त्यक्त्वा फलानि च कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तम, नियतस्य च सन्यास कर्मणो नोपपद्यते मोहात्तस्य परित्याग' तामस परिकीर्तित". कर्मसंन्यास और कर्मयोग मे कर्मयोगकी उत्तमता दिखलाते हुए धर्मत्यागका भी ब्रह्मसंस्थ होकर अनुष्ठान– "ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सग त्यक्त्वा करोति य लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा". (गीता ५।१०) भगवान्ने सम्भव माना ही है

कर्ममार्गमें अतएव काम्यकर्म अथवा कर्मफलाशा का त्याग तो उचित माना है किन्तु नियत कर्मोंके त्यागको उचित नही माना गया है. "अनाश्रित कर्मफल कार्य कर्म करोति य स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय" (गीता ६।१) आदि अनेक वचनोंसे काम्यकर्म तथा कर्मफलाशा के त्यागको सच्चा सन्यास माना गया है, नियत कर्मोंके त्यागको नही

सर्वनिर्णय (कारिका २४६ के प्रकाश) मे श्रीमहाप्रभुने कहा है–"गृहस्थस्यैतन्मुख्यम्. एव कुर्वन् सकुटुम्बो भगवत्सायुज्यमश्नुते. ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि सेवकसाधनसम्पत्तौ एतत्कर्तव्यम्" इससे सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्गमे भी देहाभिमानके बने रहने तक नियत कर्मोंके त्याग किये बिना भक्तिमार्गीय कर्तव्योका पालन आवश्यक होता है चतुर्थाश्रममे गृहत्याग विहित होनेसे स्वगृहमे भगवत्सेवाके निर्वाहका प्रश्न ही उपस्थित नही होता अत उसमें कृष्णदर्शनलालसाके साथ निरन्तर तीर्थयात्राका उपदेश दिया गया है, यही सर्वनिर्णयमें.

अत पुष्टिमार्गीय जीवके लिए कर्ममार्गीय दृष्टिकोणसे यावद्-देहाभिमान स्ववर्णाश्रमधर्मका त्याग उचित नही है, तथा साधनदशामे भी गृहत्याग उचित कर्तव्य नही रह जाता है– "कर्ममार्गो न कर्तव्य" शास्त्रनियत वर्णाश्रमधर्मोके अनुष्ठानमे काम्यकर्म तथा कर्मफलाशा

तो स्याज्य हैं ही "वर्णाश्रमवता धर्म एष आचारलक्षण स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकर पर (भाग. ११।१८।४७).

(२) चतुर्थाश्रमरूप कर्ममार्गीय त्याग

जैसे नैष्ठिक व्रतके साथ ब्रह्मचर्य गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रमोंका विधान है, वैसे ही क्रमशः चतुर्थाश्रममें प्रवेश करनेका भी विधान मिलता ही है यथा पूर्वोदाहृत बृहदारण्यकके वचनमें ही यह आता है कि "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति.. पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति नैनं कृताकृते तपत ' अर्थात् वेदाध्ययन दान यज्ञ तप रूप कर्मवाले ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमोंके द्वारा ब्राह्मण जिस ब्रह्मके ज्ञानकी प्राप्ति करना चाहते हैं, सन्यास-आश्रम द्वारा भी उसी ब्रह्मकी प्राप्ति चाही जाती है पुत्र धन या लोकके बारेमें सभी तरहकी कामनाओंको छोडकर जो भिक्षाचर्या करते हैं.. उन्हे कृताकृत कर्मोके फल भुगतनेका सताप नही होता

जाबालोपनिषद्में भी— "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्, गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी भूत्वा प्रव्रजेद्" यो क्रमशः एक आश्रमके अनन्तर दूसरे आश्रममें प्रवेश करनेका क्रमपक्ष दिखलाया ही गया है

मनुस्मृति (६।८६–८७) के भी—"ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा चत्वार पृथगाश्रमा सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रनिषेविता यथोक्तकारिणं विप्र नयन्ति परमा गतिम्" वचनमें क्रमपक्षका उल्लेख मिलता है

भागवत (११।१८।११–२७) में वानप्रस्थकी रीति समझाकर चतुर्थाश्रमरूप सन्यास-धर्मका निरूपण भी किया गया है इसके अन्तर्गत त्रिदण्ड-सन्यासको रीति भी समझायी गयी है "यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु विरागो जायते सम्यङ् न्यस्ताग्नि प्रव्रजेत्तत ' आदि वचनो द्वारा

इससे सिद्ध होता है कि चतुर्थाश्रमरूप सन्यासग्रहण भी एक नियत कर्तव्यमा है

जो "तृतीयेऽध्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्" वचनके अनुसार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका व्रत धारण नही कर लेते, अथवा "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" वचनके अनुसार नैष्ठिक-गार्हस्थ्यका व्रत धारण नही कर लेते, अथवा 'अरण्यमियात् ततो न पुनरेयात्' वचन के अनुसार नैष्ठिक वानप्रस्थका व्रत धारण नही कर लेते, उन्हे क्रमपक्षके अनुसार तीन आश्रमोंके बाद चतुर्थ सन्यासाश्रममें भी प्रवेश अवश्य करना चाहिये

इसका अपवाद भी यद्यपि जाबालोपनिषद्‌में दिखलायी देता है—"यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा अथ पुनरव्रती वा व्रती वा, स्नातको वाऽस्नातको वा, उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" किन्तु यह प्रकार सर्वसाधारण नही है किन्तु अतिविरक्त ब्रह्मज्ञानियोंके लिए ही है– "एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति सन्यासी ब्रह्मविद् इति एवमेव एष' (वही) साथ ही साथ यह नही भूलना चाहिये ब्रह्मज्ञानी भी इस प्रकारका सन्यास अतिवैराग्यक प्रकट होनेपर ही कर सकते हैं, अन्यथा

नही. अत. इस वचनमे प्रव्रज्यापर विधिभार नही है अपितु वैराग्यकी अनिवार्यतापर विधिभार है– "यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत" अन्यथा वैराग्यके अभावमे सन्यास नही लेना चाहिये इसका वर्णन आगे चलकर 'ज्ञानोत्तर सन्यास' के रूपमे किया जायेगा

चतुर्थाश्रमरूप त्रिदण्डधारणात्मक वैध सन्यास पूर्वोदाहृत अणुभाष्य (३।४।१७) के "सच संस्कार· फलोपकार्यंगमित्यावश्यकः संन्यासो मर्यादामार्गे. पुष्टिमार्गे तु अन्यैव व्यवस्था" वचनके अनुसार मर्यादामार्गीय साधकोंके लिए आवश्यक है ही.

भागवत (११।२१।३१-३४) के–"तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः न ज्ञानं न च वैराग्य प्राय श्रेयो भवेदिह, यत्कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्, योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा, स्वर्गापवर्गमद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति नकिञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम, वाञ्छन्त्यपि मया दत्त कैवल्यमपुनर्भवम्' इस वचनमे मोक्षकी भी स्पृहा न रखनेवाले भक्तोके लिए ज्ञान-वैराग्य-तप-दान-धर्म आदिकी अपेक्षा रह नही जाती है अत ऐसे पुष्टिजीवोके लिए चतुर्थाश्रमरूप सन्यास भी अनावश्यक हो जाता है

इसके विपरीत ज्ञान वैराग्यके बिना चतुर्थाश्रमरूप त्रिदण्ड सन्यास लेकर जीनेवालोकी भागवतमे निन्दा की गयी है–'यस्त्वसंयतषड्वर्गो प्रचण्डेन्द्रियसारथि ज्ञानवैराग्यरहित त्रिदण्डमुपजीवति, सुरानात्मानमात्मस्थ निन्हुते मा च धर्मंहा, अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते" अतः चतुर्थाश्रमरूप त्रिदण्डधारणात्मक कर्ममार्गीय सन्यास सर्वथा शास्त्रसिद्ध एवम् शुद्ध भी होनेपर कलियुगमे बहोत अनुमोदनीय नही है

पद्मपुराणमे आता ही है कि कलियुगमे भक्ति तरुणी तथा उसके दोनो पुत्र ज्ञान और वैराग्य जराजर्जरित हो गये है–"अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ ज्ञानवैराग्य-नामानौ कालयोगेन जर्जरौ' अत जीर्ण ज्ञान और जीर्ण वैराग्य वाले साधकोमे त्रिदण्ड सन्यासके नियम निभ पाने कठिन है

श्रीमहाप्रभु अतएव निषेध करते है–"सुतरा कलिकालत." कलियुगके दुष्प्रभावके कारण ज्ञानवैराग्यरहित अधिकारियोके लिए चतुर्थाश्रमरूप कर्ममार्गीय सन्यास वैध होनेपर भी असाध्य न सही पर दुःसाध्य तो है ही अत सुतरा पुष्टिजीवोके लिए भी अनुमोदनीय नही है.

(२) भक्तिसाधक श्रवणादिके निर्वाह द्वारा भक्तिकी प्राप्तिके लिए सन्यास

भागवत (११।२०।९) के–"तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते' वचनके प्रथमावलोकनमे ऐसा लगता है कि भगवत्कथा–श्रवणके लिए यहा सन्यासका विधान किया गया है वास्तविकता पर यह है कि इस वचनका मुख्य तात्पर्य वैराग्योदय या कथाश्रद्धोदय के बाद कर्मत्यागके विधानमे नही अपितु वैराग्योदय या श्रद्धोदय पर्यन्त कर्मत्याग न करनेमे है

अत. स्नेहात्मिका भक्तिके साधक श्रवण-कीर्तन-स्मरण-पादसेवन-अर्चन-वन्दन- दास्य-सख्य-आत्मनिवेदनरूप नौ अंगोके निर्विघ्न अनुष्ठानके लिए सन्यास लेनेमे पाच विप्रतिपत्तिया हैं :

(१) क्योंकि सन्यासधर्मके अनुसार व्यक्तिको निरपेक्ष और एकाकी विचरण करना चाहिये—"एक चरेन्महीमेता नि संगः संयतेन्द्रिय." (भा ११।१८।२०). जबकि भक्तिके नवविध अग श्रवणादिके अनुष्ठानके लिए किसी भक्तिमान् सहयोगीके सत्संगकी अपेक्षा रहती है

(२) क्योकि श्रवणके लिए वक्ता, कीर्तन स्मरणके लिए ग्रन्थ-तुलसीमाला-गोमुखी, और पादसेवन-अर्चन आदिके लिए भगवद्विग्रह, अर्चना सामग्री पुष्प नैवेद्यादि या अर्चनापात्र आदि अनेक साधनोको रक्षा करनेमे चित्तके व्यग्र होनेकी सम्भावना रहती है. यह संन्यासके अपरिग्रहके नियमके विपरीत है-"बिभृयाच्चेन्मुनिर्वास कौपीनाच्छादनं पर त्यक्त न दण्ड-पात्राभ्यामन्यत्किञ्चिदनापदि (भा ११।१८।१५)

(३) क्योंकि सन्यासके कारण स्वयम्‌के ज्येष्ठ आश्रममे अवस्थित होनेका अभिमान जगता है– सभी सन्यासी 'स्वामिजी' बन जाते है ! जबकि भक्तिमे दैन्य अपेक्षित होना है 'दास' बनने का. श्रवणमे तत्त्वनिर्धारके लिए कभी वादचर्चा उपयोगी हो सकती है परन्तु सन्यासमे वह वर्जित है—'वेदवादरतो न स्यात्'' (भाग ११।१२।३०) सन्यासमे जीवात्मा और परमात्मा के बीच अभेदबुद्धिका अभिमान-'सोऽहम्' जगाना पडता है जबकि भक्ति 'दासोऽहम्' की भेदबुद्धिसे घटित होती है भक्तिके प्रारम्भमे भगवान्‌के स्वामी होनेका और स्वयम्‌के सेवक होनेका अभिमान अधिक उपयोगी होता है

(४) क्योकि भक्तिके श्रवणादि अगोकी पुन पुन आवृत्ति विहित है— "तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वर श्रोतव्य कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्" (भाग. २।१।५) इस को सुबोधिनीमे कहा गया है कि "विहिते श्रवणकीर्तने सदा भवत प्रयाणा देहपातपर्यन्तमावृत्तानामेवाभयसाधकत्वम्. उत्तरावधिर्देहपात एव. पूर्वावधि संसारभयज्ञानम्". यह किसी भक्तके समीप रुके बिना सम्भव नही है- सन्यासके लिए जबकि निरन्तर एकाकी परिभ्रमण श्रेष्ठ माना गया है– "वासे बहूना कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि एकएव चरेद् भिक्षुः (भा ११।९।१०)

(५) क्योंकि भक्त्यमृत श्रवणादि नवविध धर्मोका अन्तिम प्रयोजन भगवत्सेवार्थ योग्यता सम्पादित करना है और सन्यासधर्म साधकको सिद्धान्ताभिमत सेवाके स्वरूपके अयोग्य बना देते है.

अत. चतुर्थाश्रमरूप सन्यास या स्वलक्ष्य सन्यास, वैध या अवैध, किसी भी प्रकारका संन्यास भक्तिसाधक श्रवणादिके निर्वाहार्थ अनुमोदनीय नही रह जाता है

(४) भक्तिबाधक गृहादिके त्यागद्वारा भक्तिकी प्राप्तिके लिए संन्यास

भक्तिवर्धिनीमें कहा गया था कि "गृहस्थाना बाधकत्वमनात्मत्व च भासते" अतः जब गृहस्थित सकल सम्बन्धिजन और पदार्थ भक्तिमें बाधक होते हों तो उनका परित्याग करना ही चाहिये. फलतः भक्तिकी निर्विघ्न अभिवृद्धि हो पायेगी. परन्तु भक्तिके बीज भावके दृढ़ न होनेकी स्थितिमें इस तरहके गार्हस्थ्यभीतोंका त्याग अन्तमें निरे पाखण्डमें ही कभी न कभी पर्यवसित होता है. भक्तिवर्धिनीमें भी अतएव कहा गया है कि त्यागमें दुःसंग और अन्नदोष के कारण अधिक अधःपातके भयस्थान हैं. यही बात यहां भी तीन तरहकी विप्रतिपत्तियों द्वारा समझायी जा रही है

(१) क्योंकि त्याग करने के बाद भी भिक्षाटन के लिए पुनः गृहस्थोंके द्वारपर जाना पड़ता है ये गृहस्थ-दाता संन्यास लेनेवालेके परिवारसे कोई अलग ढंगके नहीं होते. इनके घरका अन्न भगवान्को निवेदित किया हुआ हो यह जरूरी नहीं. अतः ऐसे अन्नसे मति भ्रष्ट हो सकती है

(२) क्योंकि कलियुगके प्रभावके कारण सब कुछ बाहरसे छोड़ देनेपर भी यह सहज सम्भव है कि आन्तरिक आसक्ति या वासना न टूटे और व्यक्ति त्यागीके बजाय पाखण्डी बन जाये

(३) क्योंकि इस तरह त्यागका पाखण्ड करनेवाले विषयाक्रान्त व्यक्तिके देहमें कभी हरिका आवेश सम्भव ही नहीं

अतः पुष्टिमार्गीयोंको इस तरहकी अदृढ बीजभाववाली भक्तिकी साधनावस्थामें आश्रमरूप या स्वतन्त्र, वैध या अवैध, किसी भी प्रकारका त्याग या संन्यास नहीं लेना चाहिये, यदि भक्तिसुख लेनेकी कामना हो तो

(५) भगवद्-विरहानुभावार्थं भक्त्युत्तर संन्यास

भक्तिवर्धिनीमें भक्तिका व्यसनदशा पर्यन्त विकास दिखलाया गया है उसके सिद्ध होनेपर, स्वगृहमें निश्चयेन भगवत्सेवाके न निभनेपर, और तीव्र विप्रयोगकी अनुभूतिमें घरबारकी झंझटोंके कारण विघ्नकी सम्भावना दिखलायी देती हो, तब गृहत्यागकी छूट दी जा सकती है यह संन्यास बीजभावकी दृढ़ताके बाद किया गया होनेसे कभी भी भक्तको पथभ्रष्ट नहीं करता

भागवत (११।१८।२८-३६) में—"ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः सलिंगानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ....शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत् अन्यांश्च नियमान् ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः." यहां चतुर्थाश्रमरूप संन्याससे भिन्न एक परित्यागकी आज्ञा स्पष्ट दिखलायी देती है.

इसी स्कन्धके बारहवें अध्यायमें भगवान्ने समझाया है—"केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो खगा मृगा येन्ये मूढधियो नागा सिद्धा मामीयुरञ्जसा, यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते श्वाफ-

लिकना मय्यनुरक्तचित्ता विषादभावेन न मे वियोगतीव्राधयेन्य ददृशु सुखाय. ताना-विदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियस्वमात्मानमदस्तथेद, मथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्य प्रविष्टा इव नामरूपे तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदना प्रतिचोदना प्रवृत्त च निवृत्त च श्रोतव्य श्रुतमेव च, मामेकमेव शरणमात्मान सर्वदेहिना याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयम्' यहा प्रवृत्ति-धर्मकी तरह निवृत्तिधर्मके भी त्यागका विधान किया गया है भक्तिकी व्यसनदशामे प्रकट होने विषादभाव या सर्वात्मभाव के द्वारा चित्तको निरन्तर भगवदेकतान बनाये रखने और उसमे तीव्र वियोगजन्य तापको सहायक माननेको इस भगवदनुरक्तिप्रधान वैराग्यमूलक सन्यासकी रीतिका ही—'मद्भक्तो, सलिगानाश्रमात्स्यक्त्वा चरेद" मे विधान किया गया है.

गीता (१२।६–८)मे इसी सन्यासका निरूपण है—"ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्परा अनन्यैव योगेन मा ध्यायन्त उपासते तेषामह समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसा, मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय, निवसिष्यसि मय्येव अत अर्ध्व न सशय "

वेश

इस प्रकारके परित्याग करते समय यदि परिवारके लोगोका मोह अपने बारेमे टूटता न हो तो सन्यासीका वेश धारण कर लेना चाहिये अन्यथा वह अनिवार्य नही है

गुरु

परित्यागके इस प्रकारम प्रैषोच्चार आदिके लिए किसी गुरुकी अपेक्षा नही है पूर्वो-दाहृत उद्धवोपदेशमे भगवान्ने गोपिकाओके भगवदनुरागमूलक वैराग्यके वर्णनद्वारा जैसे उद्धवको भक्तिमार्गीय सन्यासकी प्ररणा दी,तदनुसार इस प्रकारके सन्यासमे गुरु व्रजकी गोपिकाओको ही मानना चाहिये कौण्डिन्य ऋषिके चरित्र (भविष्योत्तर) मे भी इस प्रकारके परित्यागका उदाहरण मिलता है अत वे भी गुरुतुल्य है

साधन

पूर्वोदाहृत उद्धवोपदेशम जैसे भगवान्ने गोपिकाओंके सर्वपरित्यागके कारणभूत केवल भाव'की प्रशसा की है, तदनुरूप इस विरहानुभवाय सन्यासम केवलभाव ही साधन है

भावोद्बोधनका उपाय

भगवान्के मथुरा पधारनेपर जैसे गोपिकाओको तीव्र विरहानुभूतिके कारण चित्तकी निरन्तर भगवदेकतानता सिद्ध हो गयी थी, उसी तरह अपने घरके व्रजम जब हमे भग-वत्सेवाका सुख न मिल पाता हो, तब भगवान्के मथुरागमनकी भावना करना चाहिय इस भावनाके कारण भक्तके हृदयमे गोपिकाओकी तरह तीव्र विरहवेदना प्रकट होने लगेगी और एकदिन अकस्मात् मन इतना विकल हो जायेगा कि भक्त घरके बाहर निकल पडेगा अपने भगवान्को खोजने !

यह त्याग प्रपञ्चके दोषदर्शनमूलक केवल शुष्क वैराग्यसे प्रेरित न होकर प्रभुके दिव्य मधुर गुणोंके प्रति पनपे सरस अनुरागसे प्रेरित होता है. अतः परित्यागका यह प्रकार भक्तिमार्गमें प्रशसनीय है.

त्यागके इस प्रकारको कोई अनुचित न मान बैठे इसीलिए भगवान्ने—"चरेद् अविधिगोचर" कहकर उत्तमाधिकारियोंके लिए इस प्रकारके त्यागकी अनुज्ञा तथा मध्यमाधिकारियोंके लिए आज्ञा दे दी है. अतएव यथाधिकार 'चरेद' के 'अनुज्ञा' और 'आज्ञा' दोनो ही अर्थ स्वीकारनेमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है. "सूर्य अस्त हो रहा है" जैसे एक ही वाक्यके दो तात्पर्य : ब्राह्मणके सायसन्ध्यार्थ उद्यत होनेके रूपमें; और गृहिणीके सायंकालके खाना पकानेको उद्यत होनेके रूपमें, अधिकारिभेदसे ले सकते हैं.

गोपालतापिनी उपनिषद्में—"भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनैव अमुष्मिन् मन कल्पनम् एतदेव च नैष्कर्म्यम्" कह कर इसी भक्तिमार्गीय सन्यासका रूप 'नैष्कर्म्य' पदसे द्योतित किया गया है

परिणाम

इस विरहानुभवार्थ परित्यागका परिणाम किन्तु अच्छा नहीं होता ! वार्ताप्रसगमें इसके बारेमें एक मजेदार प्रश्न और उत्तर मिलते हैं .

प्रश्न "तिहारे सेवक ऐसे दुबले क्यों ?"

उत्तर "बरजे हुते पर भारगमें आये ताको फल पाय रहे हैं !"

विरहानुभवार्थ जो परित्याग किया जाता है उसमें तदनुरूप भावनाओंको करनेपर एक दिन विरहवेदनाकी टीस मनमें उठी, अथवा भावनाका प्रवाह बहते हुए कहीं-किसी भावके सागरमें पर्यवसित हुआ कि हृदयमें प्रेमका सागर लहराने लगेगा ! उसकी अनेक लहरें -(चक्षूराग मन सग सकल्प निद्राच्छेद तनुता विषयनिवृत्ति त्रपानाश उन्माद मूर्छा और मरण) उठ कर आत्मा और देह के दोनों तटबन्धोको तोड़ देंगी ! देह इंद्रिय अन्तःकरण प्राण आत्मा सभी कुछ प्रमके पूरसे प्लावित हो जायेंगे !

यह प्रमजन्य विकलता और अस्वास्थ्य भक्तिकी चरमप्रकृति या स्वभाव ही है. इसे लौकिक या प्राकृत अस्वास्थ्यकी तरह नहीं समझना चाहिये यह तो परमानन्दरूप परमात्माका जीवात्माके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है ! एक प्रेमाद्वैतसे सारे द्वैतोंके प्लावित होनेपर भी बचा हुआ प्रियतम और प्रमी का—भगवान् और भक्त का—एक मधुर द्वैत है ! इसे ब्रह्मवादी शुद्धाद्वैतज्ञानकी, अथवा ब्रह्मके ज्ञानमार्गीय गुणो (यथा—ब्रह्मके सर्वव्यापी होने, सर्वत्र विद्यमान होने, सर्वनिरपेक्ष आत्माराम होने, निराकार—व्यापक होने) की चर्चामें स्वयम् या अन्य कोई मिटा न दे इसकी सावधानी बरतनी चाहिये. क्योंकि यह ज्ञान तथा परमात्माके ज्ञानमार्गीय गुण भक्तिमार्गीय भावके बाधक होते हैं

ज्ञान-वैराग्य-सन्यास आदि विशेषताओंके कारण जैसे ज्ञानमार्गीय साधक सत्यलोकमे

अवस्थित होता है, वैसे ही भक्तिमार्गीय जीव भावनाके बलपर व्यापिवैकुण्ठमें चलती भगवान्‌की नित्य व्रजलीलाओंमें अवस्थित हो सकता है. अतः "परमात्मा व्यापक होनेसे मथुरा नहीं जा सकता—वह तो सर्वत्र विद्यमान है" ऐसी ज्ञानमार्गीय बातोंसे भावखण्डन नहीं होने देना चाहिये.

स्नेहकी जो दस अवस्थायें चक्षूरागसे मरण पर्यन्त गिनायी, उनमें दसवीं अवस्था मरण तब तक सम्भव नहीं, जब तक विरहदशा सर्वथा असह्य नहीं हो जाती. गाढ़ अनुराग और वियोग के कारण आसक्तिव्यसनदशामें भक्तके अन्तरमें भगवान्‌की सारी लीलायें अनुभूत होती रहती है. कभी ये लीलायें बाहर भी प्रकट हो जाती है. एक बार बाहर प्रकट हुई कि फिर इनका अप्रकट होना भक्तके लिए असह्य हो जाता है. वैसा यदि कभी हो जाये तो फिर भक्तके लिए प्राणधारण अशक्य हो जाता है. काष्ठमें अग्नि तिरोहित रहती है परन्तु एकबार यदि पूर्णतया प्रकट हुई तो वह बुझते-बुझते काष्ठको भी पूरी तरहसे जलाकर राख बना देती है. इसी तरह स्थायिभावके रूपमें हमारे अन्तरमें छिपे हुए परमानन्दात्मक श्रीकृष्ण यदि आलम्बन विभावके रूपमें एक बार बाहर प्रकट हो कर तिरोहित हो जायें तो सारे देहादिके बन्धन टूट जाते है!

इस स्थितिपर पहुंचनेसे पहले विप्रयोगमें भक्तके प्राणोंको भगवान्‌के गुण ही टिकाये रखते है भगवान्‌के भक्तिमार्गीय गुणोंकी स्मृति अथवा कीर्तन में भक्तको जो पुनःपुनः सन्तोष मिलता रहता है, उसीसे उसके प्राण अपने प्राणप्रिय प्रभुके संगरहित होनेकी स्थितिमें भी टिके रहते है.

विप्रयोगानुभूतिकी इस प्रक्रियामें भगवान्‌के रसात्मक स्वरूपकी अनुभूति पूर्णतापर पहुंच जाती है क्योंकि रसशास्त्रकारोंने रतिको द्विदलात्मक अर्थात् संयोग और वियोग रूप माना है. तदनुसार यह विरहानुभूति भी भगवान्‌के रसात्मक अनुभवका एक अंग ही है. फलतः इस अनुभूतिकी अपूर्णतामें भगवान् प्रकट होकर स्वयम् भक्तकी फलप्राप्तिमें बाधा नहीं पहुंचाते हैं.

एक शंका यह उठ सकती है कि फिर उद्धवके द्वारा स्वयम् भगवान्‌ने ज्ञानमार्गीय सन्देश गोपिकाओंको विरहवेदनासे स्वस्थ करनेके लिए क्यों भेजा ? इसका उत्तर यही है कि भगवान्‌को यह पता था कि उद्धवके ज्ञानका रंग गोपिकाओंपर नहीं चढ़ेगा प्रत्युत उद्धव-पर ही गोपिकाओंके प्रेमका रंग चढ़ जायेगा. अतएव भगवान्‌के संदेश—स्वास्थ्यवाक्योंको गोपिकाओंने स्वीकारा नहीं.

इसी तरह उनके अनुकरणपर विरहानुभवार्थ परित्याग करनेवालोंको यदि किसी ज्ञानी अथवा मर्यादामार्गीय भक्त द्वारा भावखण्डनकी बातें सुनायी जा रही हो तो उन्हें अनसुनी कर देनी चाहिये. चाहे वे बातें वेदान्तादि शास्त्रोंसे प्रामाणिक ही क्यों न हो

इन शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी उपेक्षासे भगवान् नाराज हो जायेंगे ऐसे नहीं मान लेना चाहिये.

क्योंकि वे दयालु है. अतः जैसे ज्ञानावेशमें शास्त्रीय मर्यादाके उल्लंघनको बुरा नहीं मानते वैसे ही भावावेशमें गोपिकाओं द्वारा की गयी भगवदुपदेशकी उपेक्षा भी बुरा नहीं माना था.

(६) प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके स्वभावसे प्रयुक्त भक्तयुत्तर सन्यास

भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकारस्थ सन्यास, जिन गोपिकाओंकी लोक-वेदत्यागपूर्वक सर्वात्मभाववाली भक्तिको भावना करते हुए किया जाता है, वह गोपिकाओंका परित्याग न तो आश्रमरूप है और न वेष ही. चतुर्थाश्रमरूप सन्यास केवल ब्राह्मण पुरुष लिए ही विहित है, अब्राह्मण या स्त्रियोंके लिए नहीं. गोपिकाओंका त्याग अतएव किसी शास्त्रविधिसे प्रेरित न था किन्तु उनके चित्तकी भगवदवतानतामें प्रयुक्त था उनकी भगवदासक्तिके स्वभावका सहज अंग था

स्वयम् भगवान्ने उनके इस अनुरागमूलक परित्यागका वर्णन इन शब्दोंमें किया है— "ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिका मे त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे" वस्तुतः गोपिकाओंका त्याग केवल प्रेमभावसे विवश होकर किया गया त्याग था. त्यागका यह प्रकार बहुत दुर्लभ है।

(७) ज्ञानार्थ सन्यास

पुष्टिमार्गीय जीवके लिए ज्ञानार्थ सन्यास बहुत लाभकारी नहीं होता. ज्ञानार्थ सन्यास लेनेसे पहले पूर्वाश्रमके वेदाध्ययन दान यज्ञ आदि कर्तव्यों द्वारा चित्तको शुद्ध करना आवश्यक होता है अन्यथा केवल त्याग या वैराग्य से चित्तशुद्धि कलियुगमें शक्य नहीं है. जो लोग इस तरहका विविदिषासन्यास कलियुगमें लेते हैं, या तो उन्हें बादमें पछताना पड़ता है और/अन्यथा वे सन्यासका पाखण्ड करनेमें दक्ष हो जाते हैं. अतएव मनुस्मृति (६।३४-३७) में कहा गया है कि "आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन्प्रेत्य वर्धते ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्, अनपाकृत्य मोक्ष तु सेवमानो व्रजत्यधः, अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य तथा सुतान् अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः"

कुछ लोग कहते हैं कि यह अविरक्त विविदिषुकी निन्दा है, विरक्त विविदिषुकी नहीं यहां विचारणीय यही है कि मोक्षेच्छामें सन्यास लेनेका निषेध किया जा रहा है और मोक्षेच्छा वैराग्यके अलावा और क्या हो सकती है? ऋणत्रयके अपाकरणके विना चित्तशुद्धि सम्भव नहीं— अशुद्ध चित्तमें ज्ञान वैराग्य स्थिर नहीं हो सकते— अतः ऐसोंके द्वारा लिया गया सन्यास पश्चात्ताप अथवा पाखण्ड में ही पर्यवसित होता है

यह बात सभी तरहके जीवोंपर लागू होती है, अतः पुष्टिमार्गीय जीवोंपर भी श्रीमहाप्रभु अतएव स्पष्ट निषेध करते हैं— 'तस्माद् ज्ञानं न सन्यसेत्' ज्ञानप्राप्तिके निमित्त सन्यास

नही लेना चाहिये.[1]

(८) ज्ञानोत्तर संन्यास

ज्ञानोत्तर सन्यास स्वभावप्राप्त होता है वैराग्य प्रकट होनेपर. अतएव एतदर्थं आज्ञा नही किन्तु अनुज्ञा उपनिषद स्मृति पुराण आदिमे मिलती ही है जाबालोपनिषद्मे–"यदि वेतरथा... यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" वचनमें यही ज्ञानोत्तर संन्यास विवक्षित है.

फिर भी पुष्टिमार्गीय जीवोंके लिए इस प्रकारके ज्ञानोत्तर संन्यासकी, उसके फलकी तथा ज्ञानकी भी विशेष महत्ता नही है. अतएव भागवत् (१।५।१२) में आता है कि– "नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्". गीता (१२।२-५) मे भी ज्ञानमार्गीय अव्यक्तोपासना तथा कृष्णभक्ति के तुलनात्मक महत्वका विचार करते हुए भगवान्ने ज्ञानमार्गीय अव्यक्तोपासनासे कृष्णभक्तिको उपयुक्त माना है–"मय्यावेश्य मनो ये मा नित्ययुक्ता उपासते श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता., ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्त पर्युपासते सर्वत्रगमचिन्त्य च कूटस्थमचल ध्रुवम्, सनियम्येन्द्रियग्राम सर्वत्र समबुद्धय:, ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता. क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्, अव्यक्ता हि गतिर्दुःख देहवद्भिरवाप्यते"

हजारो वर्षोतक ज्ञानमार्गपर यात्रा करनेके बाद कभी-कभाक जीव श्रीकृष्णकी अनन्यभक्तिकी दिशाकी ओर मुड पाता है–"बहूना जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मा प्रपद्यते, वासुदेव. सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ" (गीता ७।१९) अत: कृष्णाभिमुख सुदुर्लभ महात्माओंको पुन: अधिक क्लेश देनेवाली अव्यक्तोपासनाके ज्ञानमार्गकी ओर ताकना ही नही चाहिये. अतएव कहा जाता है कि–"जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभि नराणा क्षीणपापाना कृष्णे भक्ति. प्रजायते" (पाण्डवगीता ४१). अतएव ज्ञानोत्तर सन्यास लेनेवालेको सहस्रजन्मका अन्तराय कृष्णभक्तिके हेतु हो जाता है।

भक्तिमार्गमें भी दोषसम्भावना और उसका निराकरण

जैसे दोष कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग मे दिखलाये, यथा पाखण्ड या विषयासक्ति आदि, वे भक्तिमार्ग मे भी सम्भव है।

यह आशका अनुचित है क्योकि दोषोत्पत्ति तीन तरहसे सम्भव है (१) कालके प्रभावसे (२) जीवात्माके स्वभावसे (३) परमात्माकी इच्छासे

(१) कलियुगका प्रभाव भक्तिमार्गपर नही पडता है–"पुस: कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान् सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान्पुरुषोत्तम:, विद्यातप प्राणनिरोधमैत्री-

---

1) अतएव मुण्डकोपनिषद्में –"अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा" आदिमें गृहस्थाश्रम आदिके कर्मोकी निन्दा करके भी विरक्तोंके लिए उपदेश वेदान्तज्ञानके अध्यापन तथा अध्ययन का अधिकार गुरु इन्हीका ही मान्य किया है– "क्रियावन्त: श्रोत्रिया: ब्रह्मनिष्ठा स्वय जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्त: तेषामेवैता ब्रह्मविद्या वदेत शिरोव्रत विधिवद् यैस्तु चीर्ण. नैतदचीर्णव्रतोऽधीते."

तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैं नात्यन्तशुद्धि लभतेऽन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते" (भाग. १२।३।४५–४८)

स्वयम् भगवान् भी गीता (९।३०–३१) में कहते हैं–"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् साधुरेव स मन्तव्य सम्यग् व्यवसितो हि स, क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति, कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त प्रणश्यति" अतएव उद्धवोपदेशमें भी भगवान्ने कहा है–"बाध्यमानोपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रिय, प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते" (भाग- ११।१४।१२)।

अतः न भक्तिके प्रारम्भमें और न उसकी प्रगल्भतामें कलिकाल अथवा विषयासक्ति भक्तिमार्गमें दोष उत्पन्न कर सकते हैं. पुराणोंमें भी तपस्वी आदिकी तरह भक्तके भटक जानेके कोई दृष्टान्त दिये नहीं गये हैं.

(२) जीवात्माके स्वभावसे दोषोत्पत्तिकी जहां तक सम्भावना थी तो उस अवस्था तक तो भक्तिमार्गमें भी त्याग न करनेकी बात समझायी ही गयी है. भक्तिकी व्यसनदशाके एकबार विकसित होनेपर यदि गृहत्याग किया जाता है तो भटक जानेका कोई भी भय नहीं रहता क्योंकि जैसे-जैसे भक्तिका बीजभाव दृढ़ होने लगेगा वैसे-वैसे लौकिक तथा वैदिक दृष्टिसे भक्त अस्वस्थ होने लगेगा–"लोके स्वास्थ्य तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात्" (नवरत्न ६) यह पहले कहा जा चुका है. ऐसे अस्वस्थ भक्तोंमें, लौकिक अथवा वैदिक दृष्टिसे पुनः स्वस्थ बनानेवाले लौकिक कर्म या वैदिक कर्मों का त्याग एकबार कर बैठनेपर, जीवके स्वभाववश भी भगवद्भावमें बाधा उपस्थित होनेकी सम्भावना नहीं रह जाती है.

(३) गोपिकाओंको ज्ञानोपदेशद्वारा स्वयम् भगवान्ने विरहव्याधिसे उबारना चाहा था. उद्धवजीको इसी हेतुसे व्रज भेजा गया था. अतः इस अवस्थामें स्वयम् भगवान् बाधा पहुंचा सकते हैं पर ऐसी आशंकाका निराकरण पहले ही कर दिया गया है कि भगवान्को पता था कि उद्धवके ज्ञानोपदेशसे व्रजभक्तोंके भावखण्डन होनेके बजाय स्वयम् उद्धवका ज्ञानाभिमान खण्डित हो जायेगा अतः इस विरहव्याकुलताकी भावतन्मयतामें परमात्मा बाधा पहुंचाता हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये.

भक्तिके बीजभावको आत्मामें रोपित कर – सत्सङ्गादिके अवसर द्वारा उसे सिञ्चित कर – प्रेमात्मना अङ्कुरित कर – आसक्तिके रूपमें पल्लवित कर – व्यसनके रूपमें जब फल परिपक्व होने जा रहा हो तब इस भक्त-मनोरथपूरक भक्तिके कल्पद्रुमको काट देना – स्वयम् हरिके भी वशकी बात नहीं है ! फिर काल-कर्म-स्वभावकी तो क्या बिसात ?

अपने स्तनका दूध पिला-पिलाकर जिस बच्चेको पाल-पोसकर बड़ा किया हो उसे कौन मा खतम होने देगी !

अत. ज्ञानियोंके वाक्यसे भगवान् भक्तोमे मोह उत्पन्न करते है ऐसा नही मानना चाहिये क्योकि भागवत् (४।३१।१२–१३) मे–"किवा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि, किवा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरि, श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थत, सर्वेषामपि भूताना हरिरात्मात्मद. प्रिय" अर्थात् योग साख्य संन्यास स्वाध्याय या अन्य भी सारे श्रेय साधनोको करनेसे कोई लाभ नही, जिनके करनेपर भी हरि आत्मप्रद नही होते हो क्योकि सारे श्रेयकी अवधि आत्मा होती है और प्राणियोके लिए हरि आत्मरूप आत्मप्रद तथा प्रिय हैं ऐसी स्थितिमें सर्वदा भक्तपराधीन रहनेवाले प्रभु–"अह "भक्तपराधीन. ह्यस्वतन्त्र इव द्विज .. नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तै: साधुभिर्विना" (भाग ९।४।६३–६४), अपने भक्तोको न तो स्वयम् मोहित करेगें और न ज्ञानियोके वचनसे मोहित होने देंगे

अत. बीजभावके दृढ होनेपर – भक्तिकी व्यसनदशामे – स्वगृहमे भगवत्सेवा जो न निभ पाती हो – तो ऐसी स्थितिमे गृहका परित्याग कर देना चाहिये. अन्यथा ऐसे घरमे रहनेसे कभी भावका उपशमन भी हो सकता है. भक्त अपने स्वार्थ – अपने प्रभुके रसात्मक अनुभवके लाभ–से वञ्चित हो सकता है. यह श्रीमहाप्रभुका दृढतर अभिप्राय है

उपसहार

इस तरह श्रीकृष्णके प्रसादसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा किया गया सन्यासनिर्णय कि वह भक्तिके दृढ होनेपर ही लिया जा सकता है– अन्यथा ज्ञानमार्गीय या कर्ममार्गीय रीतिसे पुष्टिमार्गमे सन्यास लेना, पुष्टिसोपानोपर आरोहण करते हुए अध पतित होनेका कारण बनेगा, पूर्ण हुआ

प्रस्तुत सस्करण वि. स. १९७४ मे प्रकाशित सस्करणका ऑफसेट प्रोसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. उस सस्करणके सम्पादक थे श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल व्रजदास साकलिया. पोरबन्दरके गोस्वामी १००८ श्रीजीवनलालजी महाराजके आर्थिक सहयोगसे वह सस्करण प्रकाशित हुआ था इन सभी महानुभाव का हम इस पुन प्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं.

Editors' Note.

Of the Sixteen Sacred Books of Sree Vallabhacharya, Sannyâsa Nirnaya stands fourteenth. The circumstances under which Sannyâsa may be taken by the aspirant are discussed in this book. Sree Vallabhacharya says that in Karma marga, it should not be taken, specially in Kali Yuga. In Bhakti marga, it should not be taken up in the Sâdhana stage, for the convenience of Sravana &c., it can only be taken up for experiencing—for the realisation of the Separation of thousands of years from the Lord, viz., सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्दाविर्भावार्थम्. This Sannyâsa is very difficult to obtain, it can only be had by love, the love of the Gopikas, who were the best among devotees, the dust of whose feet was revered by Srimad Uddhava, and the obligation of whose selfless love even the Lord of Love, Krishna Himself, could not recompense. In this भक्तिमार्ग Bhakti Marga, even in the beginning one can take Sannyâsa, if ordered by God, as taught by Sree Krishna to Uddhava, because we never hear of any devotee being ruined by Sannyâsa of this type. In Jnâna Marga, Sannyâsa is not desirable either in the beginning or in the final stage. To men of the present generation, the discussion is more or less of academic interest only, but it does give some consolation to those devotees, who find themselves in a world engrossed in trifling pursuits, and who are in search of a way to reach the Ânandamaya Brahman. As in Nirodha Lakshana, we have added a Gujarati translation of Sri Purushottamaji's tika, for the benefit of those who do not know Sanskrit.

We have been able to publish eight Commentaries, viz., those of (1) Sree Gokulanathajee, (2) Sree Raghunathajee, (3) Sree Gokulotsavajee, (4) Sree Gopesvarajee, (5) Sree Gopesvarajee, (6) Sree Purushottamajee, (7) Sree Vallabhajee and (8) Chacha Sree Gopeshajee, son of Ghanasyamajee. The last is the same Chacha Sree Gopeshajee whose commentaries on Sevâphala and Nirodha Lakshana have been published by us. We have tried to collect all the commentaries, but we are not sure whether we are successful in our attempt. If anyone is left out, and if it is sent to us, we shall consider it a great favour, and shall publish it at once.

We have been able to collect more copies of all the commentaries except two—those of Chacha Sree Gopeswarji and Vallabhajee, of each of which we got only one copy from Pandita Gattulalaji's library Sree Vallabhalalajee respectively. Fortunately that latter copy turned out to be very old and very very correct. The Deccan College Mss. of Sree Purushottamajee's tika is very old, and corrected and revised by Sree Purushottamajee himself. It is very unfortunate that attempts have been made at the interpolation of the word नारायणेन्द्रतीर्थेन, in the copy of this tika, obtained from Sree Vallabhlalajee, with a view, as it seems, to take the origin of the Sampradâya far beyond Sree Vallabhacharyajee. Of the four copies obtained by us, three, including the old one from the Deccan College collection, which seems to have been corrected by Sree Purushottamajee himself, have not got the interpolated word 'नारायणेन्द्रतीर्थेन'.

We have spared no pains in comparisons, noting important readings, and making necessary corrections and the reader will find the printed texts much better than the Mss. It gives us great satisfaction to note that we have been getting Mss. from all available sources. As before, we got a large number from Pundit Gattulalaji's

Library, through Sheth Tribhuvandas and Mr Kashidas Dr S K. Belvalkar gave us all the Mss of these tikás from the Government collection of the Deccan College Mr Tansukhram Manassukhram gave us the Mss from Shastri Bhailal's collection in the Dahilakshmi Library of Nadiad, Sree Jeevanalalajee, Sree Govardhanlalajee, Sree Vallabhalalajee, Sree Vrajratnalalajee, Goswaminee Sree Krishnapriyajee Sástri Kalyanjee, Sástri Bhadrashankar, Sástri Vasantram, Keertankare Baladevnaus, Mr. Natvarlal Itchharam Desai of the Gujarati Press, Mr Yadilal, Secretary to the Vaishnava Parishad, all were kind enough to give the Mss in their possession We take this opportunity to thank them all, and request them to continue their support in this very important and useful work.

In making and comparing copies of these tikas, we were greatly helped by Messrs Chandulal Chunilal Shah, Vrajacharadas Maganlal Shah, Utsavlal Ramkrishna Pandya, Dhairyalal Kashinath Pandya, Fulchand Vitheldas Shah and Mohanlal Narottamdas Shah, B A. It was chiefly due to their hard and disinterested work and particularly to the goodness of Utsavlal Pandya who gladly gave us all facilities for work at his place at Anand, that the Sannyása Nirnaya was ready for the press before the Nirodha Lakshana was finished We sincerely thank them, and hope they will continue to give their valuable help Like Sevâphala and Nirodha Lakshana this work also is printed from the funds supplied by Goswami Sree Jeevanalalajee of Porebunder and our sincere thanks are due to His Holiness.

With feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love at the Lotus-feet of Lord Sree Krishna.

BOMBAY, *March, 1918*	Mûlachandra T Telivala. Dhirajlal V Sankla

---

लालूभट्टकृतसंन्यासनिर्णयशङ्कानिरासः ।

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।
अन्यथा मातरो बालान् न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥

हरिः अत्र विरहानुभवे बाधां प्रतिबन्धं कर्तुं न शक्नोति न समर्थो भवति । अपरे कालादयः कुतः करिष्यन्तीत्यर्थः । ननु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य भगवतोऽसामर्थ्यकथनं सर्वशास्त्रविरुद्धमित्याशङ्का परिहरन्तो न भगवतः शक्तिन्यूनताप्रयुक्तमसामर्थ्यमपि तु भक्तवात्सल्यकृतमिति दृष्टान्तेनाहुः —अन्यथे-त्यादिना । मातरः बालान् स्तन्यैरेव पुपुषुः । अन्यथा अन्यप्रकारेण न पुपुषुरित्यर्थः । यथा पुत्रवात्सल्यवशीभूताः सर्वा मातरो बालानां स्तनदानेनैव पोषणं हितरूपं चक्रुः, अन्यथा प्रकारान्तरेण न चक्रुः, एवं मर्यादासृष्टिमारभ्य व्यवस्थितं, तथा भगवानपि भक्तवात्सल्यपरवशो भक्तस्य परमेष्टरूपं विरहानुभवं साधयति, नास्मिन्विरहानुभवे प्रतिबन्धं करोतीति भावः । केचित्त्वत्र बालान् न स्तन्यैः पुष्येयुरिति वक्तुमुचितं, न तु लिट्प्रयोग उचित इत्याहुः । तन्न । पूर्वोक्तरीत्या प्रन्यलापने लिट्प्रयोगस्य निरवद्यत्वात् ।

संन्यासनिर्णयना सम्बन्धी कांइक.

ષોડશ ગ્રન્થમાના સેવાફલ અને નિરોધલક્ષણ મુદ્રિત કરીને વૈષ્ણવોને નિવેદન કર્યા છે હવે સન્યાસનિર્ણય તેવી જ રીતે આઠ વિવરણસહિત અને ગુર્જરાનુવાદસહિત પ્રકટ થાય છે સન્યાસનિર્ણય ગ્રન્થ શ્રીમદાચાર્યજીએ નિજસેવક નરહરિ સન્યાસીને સન્યાસનુ શુદ્ધ સ્વરૂપ ઉપદેશવાને પ્રકટ કર્યો છે આ સન્યાસનુ સ્વરૂપ નીચે પ્રકારે સ્પષ્ટ થાય છે

संन्यास

- **कर्ममार्गीय** — (નિષિદ્ધ અને ખાસ કરીને ચાલુ જમાનામા)
- **ज्ञानमार्गीय**
  - વિવિદિષા સન્યાસ
  - વિદ્વત્ સન્યાસ
  - (ઉભય દોષયુક્ત હોવાથી નિષિદ્ધ)
- **भक्तिमार्गीय**
  - સાધનાર્થ (સુખાવહ નથી)
  - ફલાર્થ (વિરહાનુભવને માટે કર્તવ્ય, જો પ્રભુની પ્રેરણા તેવી હોય તો)

અર્થાત્, કર્મમાર્ગે વા જ્ઞાનમાર્ગમા સન્યાસ લેવો અયુક્ત છે, ત્યારે ભક્તિમાર્ગમા સાધનસિદ્ધ્યર્થ પણ સુખદાયક નથી અનન્ત વર્ષથી પ્રભુનો આપણને જે વિયોગ થયો છે, તે વિરહના ક્લેશાનન્દના અનુભવને માટે જો પ્રભુપ્રેરણા થાય તો તેવો સન્યાસ ઇષ્ટ છે, નહિ તો આચાર્યજીએ દર્શાવેલી પ્રણાલિકાથી તનુવિત્તની સેવા જ કરીને સ્વમર્યાદામા રહેવુ આવુ આ ગ્રન્થનુ સૂક્ષ્મ તાત્પર્ય છે

આ ગ્રન્થમા આઠ ટીકાનો સંગ્રહ કર્યો છે — ૧ શ્રીગોકુલનાથજી, ૨ શ્રીરઘુનાથજી, ૩ શ્રીવ્રજોત્સવજી ૪ ચાચાશ્રીગોપેશ્વરજી, ૫ શ્રીગોમેશ્વરજી, ૬ શ્રીપુરુષોત્તમજી, ૭ શ્રીવલ્લભજી, અને ૮ ચાચાશ્રીગોપેશજી આ સર્વ ટીકાઓ સંસ્કૃતમા છે પ્રત્યેક ટીકાની અનેક પ્રતિઓ પ્રભુકૃપાથી પ્રાપ્ત થઇ, તદનુસાર યથાશક્તિ યથામતિ શોધીને તે સર્વ મુદ્રિત કરી છે સંસ્કૃત નહિ જાણનારા વૈષ્ણવોને માટે શ્રીપુરુષોત્તમજીની ટીકાનુ ગુર્જર ભાષાન્તર પણ આપ્યુ છે. અમને આશા છે કે આથી સંસ્કૃતજ્ઞ કે સંસ્કૃતાનભિજ્ઞ સર્વ વૈષ્ણવો આ ગ્રન્થનો આદર કરીને અમારા સ્વલ્પ પ્રયત્નને સફલ કરશે

પંડિત ગટ્ટૂલાલનો પુસ્તકસંગ્રહ, નડીયાદની ડાહીલક્ષ્મી પુસ્તકાલયસ્થ શાસ્ત્રી ભાઇલાલનો સંગ્રહ, ડેક્કનકોલેજમાંનો સરકારી સંગ્રહ ગુજરાતી પ્રેસનો સંગ્રહ શ્રીમદ્વૈષ્ણવ પરિષત્સંગ્રહ, શ્રીવલ્લભલાલજી, શ્રીજીવનલાલજી, શ્રીગોવર્ધનલાલજી, શ્રીવ્રજરત્નજી, ગોસ્વામિની શ્રીકૃષ્ણપ્રિયાજી, શાસ્ત્રી વસન્તરામ, શાસ્ત્રી ભદ્રશંકર શાસ્ત્રી કલ્યાણજી, અને કીર્તનકાર બલદેવદાસ તરફથી આ ગ્રન્થનુ સાહિત્ય અમને મળ્યુ છે આ સર્વનો તેમની નિરપેક્ષ સાહાય્યમાટે અમે અંતઃકરણથી આભાર માનીએ છીએ

પુસ્તક તથા ટીકાઓ લિખનમા ઉત્સવલાલ રામકૃષ્ણ પંડ્યા ચકુલાલ ચુનીલાલ શાહ, વ્રજચરીદાસ મગનલાલ શાહ ધીરજલાલ કાશીનાથ પંડ્યા, ફુલચંદ વિઠ્ઠલદાસ શાહ મોહનલાલ નરોત્તમદાસ શાહ બી એ વગેરેનો ઉત્સાહપૂર્વક નિરુપધિ પરિશ્રમ પણ ધન્યવાદને પાત્ર છે આણંદના અમારા મિત્ર ઉત્સવલાલ રામકૃષ્ણ પંડ્યાએ અમને કાર્ય કરવાને સર્વ પ્રકારની અનુકૂલતા પોતાને ત્યા કરી આપી તેથી તેમનો તથા ભગવદીય મોતીભાઇનો ઉપકાર વિસ્મરણીય નથી આ ગ્રન્થ આટલા સ્વલ્પ સમયમા, પ્રતિબંધો હોવા છતા, શ્રીકૃષ્ણચન્દ્રચરણકમલમા અર્પવાને અમે શક્તિમાન થયા છીએ, તેનુ મુખ્ય કારણ ગોસ્વામિશ્રીજીવનલાલજીનુ નિ સંકોચ દ્રવ્યાદિનુ સાહાય્ય, અને નિત્યલીલાસ્થ મહાનુભાવીઓનો કૃપાકટાક્ષ, તથા વિદ્યમાન મહાનુભાવીઓનો સદ્ભાવ જ છે

મુંબઈ,
વસન્તોત્સવ
૧૯૭૪

મૂલચન્દ તેલીવાલા.
ધૈર્યલાલ સાંકલીયા.

ग्रन्थसङ्ग्रहपरिचयः ।

१ सर्वविवरणाधारत सन्यासनिर्णयो मुद्रितोऽस्माभि, तत्र विद्यमाना पाठभेदा अपि दर्शिता ।

२ श्रीमद्गोकुलनाथप्रकटितविवरणस्य दशपुस्तकान्युपलब्धानि । तत्र एक श्रीवल्लभलालाना शुद्ध प्राचीन स० १७३५ आश्विनशुक्लपञ्चम्या लिखितम् । द्वितीय श्रीव्रजरत्नानाम्, नूतनम् । तृतीय श्रीजीवनलालाना नूतन प्राय शुद्धम् । चतुर्थ श्रीनृसिंहलालतनयश्रीगोवर्धनलालाना प्राचीन, प्राय शुद्धम् । पञ्चम गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाभिर्दत्तम् । षष्ठ प० गट्टूलालसङ्ग्रहत प्राप्त, प्राचीन प्राय शुद्धम् । सप्तम 'गुजरातीप्रेस'सङ्ग्रहत प्राप्तम् । द्वय स्तम्भतीर्थस्थशास्त्रिभद्रशङ्करस्य । दशम श्रीमद्वैष्णवपरिषत्सङ्ग्रहत प्राप्तम् ।

३ श्रीमद्रघुनाथप्रकटितविवरणस्य पुस्तकद्वयमुपलब्धम् । एक प० गट्टूलालसङ्ग्रहत प्राप्तम्, प्राचीन शुद्ध च । द्वितीय श्रीजीवनलालानाम्, नूतन प्राय शुद्धम् ।

४ श्रीगोकुलोत्सवप्रकटितविवरणस्य पुस्तकत्रय प्राप्तम् । द्वय प० गट्टूलालसङ्ग्रहस्थम्, एक प्राचीन, शुद्ध च । द्वितीय नूतनमशुद्ध च । तृतीय 'गुजराती प्रेस' सङ्ग्रहत प्राप्तम्, प्राय शुद्धम् ।

५ चाचाश्रीगोपेश्वरकृतटीकाया पुस्तकमेकमेवोपलब्धम् । प्राय शुद्ध, परन्तु क्वचित् सन्दिग्धम् । इद पुस्तक श्रीद्वारकेश्वराणा, सवत् १८१० वर्षे लिखित, प० गट्टूलालसङ्ग्रहत प्राप्तम् । नैवेय टीका श्रीघनश्यामतनयचाचाश्रीगोपेशानाम् ।

६ श्रीगोपेश्वरकृतविवृते पुस्तकत्रय प्राप्तम् । एक शास्त्रिवसन्तरामत प्राप्तम्, सवत् १७२२ आश्विनामावास्याया लिखितम्, शुद्धम् । द्वितीय प० गट्टूलालसङ्ग्रहत प्राप्तम्, प्राचीन प्राय शुद्धम् । तृतीय श्रीमद्वैष्णवपरिषत्सङ्ग्रहत प्राप्तम्, नूतनम् ।

७ श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रकटितविवरणस्य पुस्तकचतुष्टय प्राप्तम् । एक 'डक्कन कॉलेज' हस्तलिखितसङ्ग्रहस्थम्, प्राचीनमतीवशुद्धम् । इद पुस्तक श्रीमत्पुरुषोत्तमैर्निजहस्ताक्षरै शोधितमित्यस्माक प्रतिभाति, क्वचित् क्वचित् विवरणे शुद्धलिखिता फक्कि। हरितालेन लुप्ता, नूतना अधिका शुद्धा फक्किका निवेशिता । अत्र पत्रद्वय त्रुटितम् । द्वितीय पुस्तक श्रीजीवनलालानाम्, नूतन, प्राय शुद्धम् । तृतीय श्रीमद्वैष्णवपरिषत्सङ्ग्रहत प्राप्तम् नूतन, न केनापि वाचित शोधित वा । चतुर्थ श्रीवल्लभलालानाम्, नूतन, अशुद्ध च । अस्मिन् पुस्तके क्वचित् कल्पिता पाठा निवेशिता दृष्टा । श्रीपुरुषोत्तमकृतैतद्विवरणे अन्ते यथाविधि सन्यास गृहीत्वा अरैलप्रामात् काश्यामागता' इति विद्यमानेषु अस्मद्दृष्टेषु पुस्तकेषु वर्तते । श्रीवल्लभलालत प्राप्ते पुस्तके 'यथाविधि नारायणेन्द्रतीर्थत सन्यास गृहीत्वे त्याद वर्तते । अत्र 'नारायणेन्द्रतीर्थत' इत्यधिक केन कृत, कुत कथमागतम्, तत्र निश्चीयतेऽस्माभि । एतद्धीत्या विष्णुस्वामिपरम्परासमर्थन तु तस्या याथातथ्य शिथिलीकरोतीत्यविवादम् । श्रीमत्पुरुषोत्तमकृताचार्यचरित्रोपन्यासे श्रीद्वारकेश्वरकृतशिक्षाश्लोकविवरणेऽप्यस्ति, तत्रापि 'नारायणेन्द्रतीर्थत' इति न विद्यते । एतेन येन केनचिद् समशुद्ध पाठ श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणे निक्षिप्त, तेन साहसमेव कृतमिति मन्यामहे ।

८ श्रीवल्लभकृतटीकाया एकमेव पुस्तकमुपलब्धम् । प्राचीनमनावशुद्धम् श्रीवल्लभलालानाम् ।

९ श्रीघनश्यामतनयचाचाश्रीगोपेशकृतटीकाया पुस्तकचतुष्टयमुपलब्धम् । एक भाईलालशाखिण, तनसुखरामै प्रदत्तम्, प्राचीनम्, शुद्धम् । द्वितीय प० गट्टूलालसङ्ग्रहत प्राप्तम्, प्रायोऽशुद्धम् । पुस्तकद्वय श्रीव्रजरत्नानाम्, उभयमपि नूतनम्, एक शोधित वाऽशुद्धम्, द्वितीयमशुद्धम् ।

अस्य विवरणस्य यद्यपि पुस्तकचतुष्टयमुपलब्धमस्माभिस्तथापि सर्वाण्यपि नामरहितानि, अत कै महानुभावैरिद विवरण प्रकटितमिति तन्निश्चेतु प्रथम वयमशक्ता । भाषासाम्येनेय टीका चाचाश्रीगोपेशानामेवेत्यस्माक हृदि प्रतिक्षण स्फुरितम्, एतद्विवरणभाषाया साम्य अस्मन्मुद्रितचाचा

श्रीगोपेशकृतसेवाफलनिरोधलक्षणविवरणाभ्यां महासाम्यं वर्तते । श्रीपुरुषोत्तमकृततद्विवरणोपन्यासेन नि सन्दिग्धतयेदं चाचार्यश्रीगोपेशानामेवेति निश्चीयते । विशेषं तु प्रस्तावादवगन्तव्यमिति ।

अस्मिन् पुस्तकसञ्चये प० गद्दूलालसंस्थाया 'कार्याध्यक्ष कालीदास नारायणदास दलाल, बी ए, एल एल बी, मुख्यग्रन्थीश्रेष्ठीत्रिभुवनदास,' इत्येतेषां महत्युपकृतिः । गोस्वामिश्रीजीवनलालानां, गोस्वामिश्रीनृसिंहलालतनयश्रीगोवर्धनलालानां कल्याणशास्त्रिणश्च, गोस्वामिश्रीवल्लभलालानां, गोस्वामिश्रीव्रजरत्नानां, गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाणां, बल्देवदासस्यापि महत्युपकृतिः । शास्त्रिवसन्तराम हरिकृष्ण, शास्त्रिभद्रशङ्कर जयशङ्कर, तनसुखराम मनसुखराम त्रिपाठी बी ए, नटवरलाल इच्छाराम देसाई बी ए, डॉ एस् के बेल्वल्कर एम् ए, पी एच् डी, इत्येते सहर्षं प्राचीनहस्तलिखितपुस्तकप्रदानेन वयमत्यन्तमनुगृहीताः । श्रीमद्वैष्णवपरिषन्मन्त्रिवाडीलालस्यापि तथैवोपकृतिः । 'चन्दुलाल चुनीलाल शाह, मथुरीदास मगनलाल शाह, उत्तमलाल रामकृष्ण पण्ड्या, धैर्यलाल काशीनाथ पड्या, फुलचन्द विट्ठलदास शाह, मोहनलाल नरोत्तमदास शाह बी ए' इत्येतेषां पुस्तकलिखने महत्युपकृतिः । अस्य यावच्छाप्यविवरणसमेतस्य सन्यासनिर्णयस्य मुद्रणव्ययो गोस्वामिधुर्यैश्रीजीवनलालैः सहर्षं कृत इति तेषामुपकृतिं वयं सविनयं स्मराम । प्रार्थयामहे चान्येऽपि गोस्वामिनः श्रीमन्तो वैष्णवाश्चैनामनुकुर्युरिति । एतेषां गोस्वामिवर्याणां कृपयैव सन्यासनिर्णयोऽष्टविवरणसमेतः मुद्रितः साम्प्रदायिकानां सुगमो भविष्यतीति ।

विवरणकृतां परिचयः ।

१ तत्रादौ श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटितः सन्यासनिर्णयोऽष्टविवरणसमेतः समुद्यते । स्वीयानुमहाधर्मावार्यैः स प्रकटीकृत इति । आचार्याणां प्रादुर्भावस्तु १५३५ वर्षे चैत्रकृष्ण एकादश्यां रविवासरे । तेषां चरित्रादिकं तु साम्प्रदायिकवार्तादिषु प्रसिद्धमिति नेह विस्तरः । षोडशग्रन्थेष्वयं सन्यासनिर्णयश्च पुर्दशसङ्ख्यां भजते ।

२ प्रथमं मुद्रितं विवरणं श्रीमद्वल्लभानाम्, श्रीमद्गोकुलनाथानाम् । श्रीमद्गोकुलनाथास्तु श्रीमद्विट्ठलेश्वरप्रभुचरणानां चतुर्थसूनवः मार्गशीर्षशुक्लसप्तम्यां १६०८ वर्षे काशीसमीपस्थारैलग्रामे प्रादुर्भूताः । पौषकृष्णनवम्यां १६९७ वर्षे श्रीमद्गोकुले सिद्धिं गताः । श्रीमत्प्रभुचरणलालेषु इमे अतिप्रसिद्धाः । चिद्रूपादानां सन्यासपापण्डिनां गुरुमर्दनं कृत्वा मोगलराजजहांगिरं च वशीकृत्य स्वमार्गरक्षामेत एव कृतवन्तः । निजसद्भावनेन सता कण्ठे माला च तैरेव सुरक्षिता । तातात्रैकपरायणत्वं तु तेषामतीव प्रसिद्धम् । श्रीमदाचार्यप्रकटितश्रीमद्भागवतसुबोधिन्या विशेषप्रचारस्तु तैरेव कृतः, अतस्तेषां 'श्रीसुबोधिनीप्रवर्तका' इति नामापि प्रसिद्धम् । निजश्रीहस्ताक्षरयुतश्रीमत्सुबोधिनी कपडवणजे श्रीवहेनजीराजगृहमधुनाप्यलङ्करोति । साम्प्रदायिकवार्तादीनां प्रकटीकर्तारोऽपि त एव । स्वसम्प्रदायस्य प्रचारार्थं प्रवृत्त्यर्थं च गुर्जरभूमिरनेकवारं स्वचरणनलिनरजोभिस्तैः पवित्रीकृता । दक्षिणे पुण्यपत्तनपर्यन्तमेकवारं तदर्थमेव गताः, परन्तु तत्रत्यान् कृष्णप्रेमरसानधिकारिणः दृष्ट्वा ततो न्यवर्तन्त । दाक्षिणात्या 'भैसा' इत्युपहासस्तैरेव कृतः । तद्वार्ताप्रसङ्गादिषु च प्रसिद्धः । श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रश्रीवल्लभाष्टकसिद्धान्तमुक्तावलिपुष्टिप्रवाहमर्यादासिद्धान्तरहस्यान्तःकरणप्रबोधचतुःश्लोकीविवेकधैर्याश्रयभक्तिवर्धिनीत्यादीनां प्रयानां विवृतयः तेषां नयनगोचरीभवन्ति । अस्मन्मुद्रितसेवाफले अन्तिमं नामरहितं विवरणमपि तेषामेवेति तत्कृतश्रीसर्वोत्तमस्तोत्रबृहट्टीकोपन्यासात् ज्ञायते । 'विबुधेश्वर' इत्यस्य विवरणे एतत्सेवाफलविवरणस्योपन्यासो वर्तते । श्रीकल्याणभट्टकृतकल्लोले व्यासस्थश्रीगोपालदासकृतमालाप्रसङ्गे च तेषां चरित्रादिकं सुविस्तृतम्, विशेषजिज्ञासुभिस्तत्रैवावलोकनीयम् ।

२ द्वितीयं मुद्रितं विवरणं श्रीमद्रघुनाथानाम् । एते श्रीमद्रघुनाथास्तु श्रीमद्विट्ठलेश्वरप्रभुचरणानां पञ्चमसूनवः कार्तिकशुक्लद्वादश्यां १६११ वर्षे प्रादुर्भूताः । तेभ्यो विद्यादानं श्रीमद्गोकुलनाथैः कृतमिति परम्परातो ज्ञायते । तद्वंशे च रसाब्धिकाव्यकर्तारः श्रीदेवकीनन्दनाः श्रीसुबोधिनीलेखकृतश्च

श्रीवल्लभाः प्रादुर्भूताः। चतुर्थलालश्रीमद्गोकुलनाथवत् तेषां पितृभक्तिरपि निरुपमा। षोडशग्रन्थोपरि तेषां व्याख्यानानि दृग्गोचरीभवन्ति। श्रीवल्लभाष्टकश्रीमधुराष्टकोपरि तेषां व्याख्यानमुपलभ्यते। भक्तिहंसभक्तिहेतू च तैः स्वकृतव्याख्यया समलंकृतौ। श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रमपि तैः नामचन्द्रिकया सरलीकृतम्। तेषां भाषासारत्रयं त्वत्यन्तं वर्तते। रमणीयानि तत्प्रकटितग्रन्थान्यपि दृश्यन्ते।

३. तृतीयं व्याख्यानं श्रीगोकुलोत्सवानाम्। इमे श्रीगोकुलोत्सवाः श्रीमत्प्रभुचरणद्वितीयकुमारश्रीगोविन्दरायाणां द्वितीयसूनवः, श्रीमत्कल्याणरायाणामनुजाः, श्रीमद्धरिरायाणां पितृव्यचरणाः, संवत् १६३५ वर्षे ज्येष्ठकृष्णचतुर्थ्यां प्रादुर्भूताः। षोडशग्रन्थोपरि तेषां व्याख्यानानि मिलन्ति।

४. चतुर्थं व्याख्यानं चाचाश्रीगोपेश्वराणाम्। के इमे श्रीगोपेश्वरा इति निश्चेतुं नैव शक्यतेऽस्माभिः। यद्यपि ग्रन्थान्ते अस्माभिः श्रीघनश्यामतनयचाचाश्रीगोपेशकृतमिति लिखितम्, तथापि नैतद्युक्तमेवेति प्रतिभाति। एतद्विवरणस्यैकमेव पुस्तकं मिलितम्, तदुपरि एवं लिखितम्:—'चाचाजीश्रीगोपेश्वरजीकृता टीका, संवत् १८१०, श्रीद्वारकेश्वराणामिदम्'। यद्यपि एतद्विवरणं प्राचीनं, तथापि चाचाश्रीगोपेशानां श्रीघनश्यामतनयानां तु नैव। अत्रान्ते मुद्रितं विवरणमेव तेषामिति श्रीपुरुषोत्तमकृततदुपन्यासाद् भाषासाम्याच्च निश्चीयते।

५. पञ्चमं विवरणं श्रीगोपेश्वराणाम्। इमे श्रीगोपेश्वराः श्रीकल्याणरायाणां सूनवः, श्रीमद्धरिरायाणामनुजाः, संवत् १६७९ ज्येष्ठशुक्लद्वादश्यां प्रादुर्भूताः। शिक्षापत्राणि एतेषु श्रीहरिरायैः प्रेषितानि। शिक्षापत्राणां भाषाव्याख्यानं तत्कृतमेव सम्प्रदाये प्रचलति। वादकथानामकोऽन्यो ग्रन्थोऽपि तेषां वर्तते, पुष्टिभक्तिसुधायां प्राङ्मुद्रितश्च। एतेषां भाषा किञ्चिद्विलक्षणा वर्तते। तद्ग्रन्थान्ते श्लोकोऽयं:—
गीर्भिर्गोपालदासस्य श्रीगोकुलनिवासिनः। गोपेश्वरेण विवृतिः कृता संन्यासनिर्णये।

६. षष्ठं विवरणं दशदिगन्तविजयिश्रीमत्पुरुषोत्तमचरणानाम्। श्रीमदाचार्यतः पुरुषगणनया सप्तमीं संख्यां विभूषयन्तो भाद्रपदशुक्लदशम्यां १७१७ वर्षे प्रोद्भूताः। तेषां विवरणं शास्त्रार्थरीत्या बुभुत्सुबोधकमिति प्रतिभाति। विशेषतस्तेषां चरित्रजिज्ञासुभिः पुष्टिभक्तिसुधेति मासिकपत्रिकायाः पञ्चमवर्षस्य तृतीयाङ्को द्रष्टव्यः। यावद्भाष्यं वाद्यमाग्रतं वा तेषां चरित्रादिकमस्माभिस्तत्रैव निवेशितमिति न पुनरनूद्यते।

७. सप्तमं विवरणं काकाश्रीवल्लभानाम्। इमे श्रीवल्लभाः श्रीमत्प्रभुचरणपञ्चमपुत्रश्रीरघुनाथतः चतुर्थीं संख्यां विभूषयन्तः सं० १६२९ वर्षे कार्त्तिककृष्णद्वादश्यां प्रादुर्भूताः। श्रीविठ्ठलरायाणां कनीयांसः सूनवः। षोडशग्रन्थोपरि तेषां विवरणानि सुबोधिन्यनुसारीणि दृश्यन्ते। श्रीसुबोधिनीलेखस्यापि प्रणेतारस्त एव। अणुभाष्योपरि व्याख्यानं तैः प्रकटीकृतमिति श्रीगिरिधरदतोपन्यासादवगम्यते। एतैः वर्षस्य विभागत्रयं कृतम्। प्रथमे विभागे श्रीमद्गोकुलचन्द्रं सेवमानाः श्रीगोकुले विराजितवन्तः। द्वितीये विभागे कदम्बखण्ड्यां निवसन्तः ग्रन्थान् विवरणानि च योजितवन्तः। तृतीये विभागे सदुपदेशैः जीवानुद्धर्तुं भारतवर्षं पर्यटन्त. सेवां स्वीकृतवन्तः। विशेषं तु पुष्टिभक्तिसुधायाः सप्तमवर्षस्य नवमाङ्के प्रपञ्चितं, जिज्ञासुभिस्तत्रैवावलोकनीयम्।

८. अष्टमं विवरणं श्रीघनश्यामतनयचाचाश्रीगोपेशानामेव। इमे श्रीगोपेशाः श्रीमत्प्रभुचरणानां सप्तमपुत्रश्रीघनश्यामानां सूनवः। षोडशग्रन्थोपरि बहवस्तेषां टीका दृश्यन्ते। तत्कृतनिरोधलक्षणविवरणं त्वधुनैवास्माभिः प्रकटितम्। भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६५२ वर्षे प्रादुर्भूताः।

अत्रास्माभिरुपलब्धानि अष्टविवरणानि प्रकटीक्रियन्ते, एतान्येव प्रसिद्धानि, तथापि एतावन्त्येव विवरणानि, नैवाधिकानीति नैव शक्यते वक्तुमस्माभिः। अतो यदि अत्रामुद्रितं संन्यासनिर्णयव्याख्यानं केषाञ्चिन्महानुभावानां पुस्तकसङ्ग्रहे विद्येत चेत्, तदा ते कृपया यदि तदस्मत्सकाशं प्रेषयिष्यन्ति, तदा तदपि सोपकारं स्वीकृत्य मुद्रयिष्यामः। प्रार्थयामहे च विद्वांसः अस्मदेनां प्रार्थनां कृपया स्वीकृत्य सम्प्रदायसेवां कर्तुं स्वजीवनं च सफलयितुमुद्यता भवन्त्विति।

નવલ વિશેષ.

ગત ઉષ્ણકાળની રજામાં સૌરાષ્ટ્રમાં આવેલા જૂનાગઢમાં શ્રીદામોદરજી તથા શ્રીમદનમોહનલાલજીના મંદિરસ્થ હસ્તલિખિત પુસ્તક સંગ્રહના દર્શનનો લાભ ભગવદ્ધર્મપરાયણ રા. રણછોડદાસ વૃન્દાવનદાસ પટવારી તથા રા. રણછોડદાસ શ્યામજીની સહાનુભૂતિથી મળ્યો હતો મારી સાથે ચાર પાંચ સન્મિત્રો હતા જેથી ત્યાંના મંદિરમાં વિદ્યમાન સર્વ સાંપ્રદાયિક ગ્રંથોમાંના હસ્તલિખિત પુસ્તકોનું નિરીક્ષણ કરવાનો અપૂર્વ લાભ પ્રભુકૃપાથી મળ્યો ઘણી વાર મેં શ્રવણ કર્યું હતું કે જૂનાગઢમાં દેવકીનન્દનલાલજીને ત્યાં શ્રીમહાપ્રભુજીની શ્રીમદ્‌ભાગવત ઉપર પ્રકટ કરેલી સૂક્ષ્મ ટીકા છે એ સૂક્ષ્મ ટીકાના દર્શનનું અહોભાગ્ય પ્રાપ્ત કરવાની ઉત્કંઠા મને બહુ વાર થતી, પરન્તુ એ ઉત્કંઠા શાંત કરવાનો પ્રસંગ અદ્યાપિ પર્યન્ત મળેલો નહિ આ સમય ભગવદીય રણછોડદાસ શ્યામજી તથા ભગવદ્ધર્મપરાયણ રા. રણછોડદાસ પટવારીએ સર્વ પ્રકારની અનુકૂલતા કરી આપી જેથી ઉક્ત પુસ્તકસંગ્રહનું યથેચ્છ નિરીક્ષણ થયું શ્રી મહાપ્રભુજીની શ્રીમદ્‌ભાગવતના સમગ્ર સૂક્ષ્મ ટીકાના દર્શનનું સૌભાગ્ય તો અમને પ્રાપ્ત ન થયું, પરન્તુ શ્રીદશમસ્કન્ધના આરમ્ભના વિશેક પત્રનું દર્શન થયું પરન્તુ ઉક્ત પુસ્તકસંગ્રહનું સાંગોપાંગ નિરીક્ષણ કરવામાં અને તેની સૂચિ તૈયાર કરવામાં અન્ય નવીન વિશેષ પણ જાણવામાં આવ્યું ઉક્ત સંગ્રહમાં શ્રીસુબોધિનીની જુની સુન્દર પ્રતો વિરાજે છે, તથા તે ઉપરનો પ્રકાશ શ્રીપુરુષોત્તમજીનો સારો છે પરન્તુ ત્યાં પણ દશમસ્કંધનો માત્ર લેખ છે, પ્રકાશ નથી નિબંધ ઉપર પણ આવરણભંગાદિની પ્રતિઓ છે શ્રીમદણુભાષ્ય ઉપર કાશીસ્થ શ્રીગિરિધરજીનું વિવરણ તથા મરીચિકાવૃત્તિ વિના અન્ય કાંઈ નથી ષોડશ ગ્રન્થનું સાહિત્ય સારા પ્રમાણમાં છે અમે પ્રકટ કરેલા દ્વાદશવિવરણસહિત સેવાફલમાં બે વિવરણ નામરહિત હતા તેમાં અન્તિમ નામરહિત વિવરણ શ્રીમદ્‌વિઠ્ઠલેશ્વરપ્રભુચરણના ચતુર્થ પુત્ર શ્રીગોકુલનાથજીનું છે એમ મને એઓશ્રીની શ્રીસર્વોત્તમજીની બડી ટીકા વાચતાં માલૂમ પણ હતું પરન્તુ શ્રીપુરુષોત્તમજીની પછી મુદ્રિત કરેલ વિવરણ કોનું તે જૂનાગઢના પુસ્તકસંગ્રહથી માલૂમ પડે છે ઉક્ત વિવરણના કર્તા શ્રીમથુરાનાથાત્મજ શ્રીદ્વારકેશજી મહારાજ છે એ વિવરણનો અન્તિમ ભાગ કાંઈક ત્રુટિત હતો તે આ પ્રકારે છે—'भगवदीयैः स्थेयम्' ને બદલે આમ વાંચવું—भगवदिच्छाभावनपरेण स्थेयम् । भगवदिच्छाभावनमात्रे तु श्रीगोपीजनवल्लभोऽस्मत्प्रभु पुष्टावङ्गी कृतात्मना स्वयमेवोद्वेगादिकं निवार्य यथाधिकारमेतद्ग्रन्थोक्तं फलं दास्यतीति सिद्धम् ।

श्रीवल्लभप्रभोर्नामोच्चारणात् प्राप्तबुद्धिना ।
विचारिता मयाप्येषा पूर्वटीकानुसारतः ॥ १ ॥

इति श्रीगोस्वामिमथुरानाथात्मजद्वारिकेशकृतसेवाफलविवृतिप्रकाशः समाप्तः ।

બીજું આ શ્રીદ્વારિકેશજી મહારાજના અને યોગિશ્રીગોપેશ્વરજીના (પત્રના એકજ પત્ર ઉપર દર્શન કર્યાં, અને શ્રીદ્વારકેશજીના અમુક પુસ્તકો ઉપરના હસ્તાક્ષરના પણ દર્શન થયા તે ઉપરથી મને હવે લાગે છે કે સન્યાસનિર્ણયમાં છાપેલી ચોથી ટીકા ચાચાશ્રીગોપેશ્વરજીના નામથી છાપેલી તે યોગિશ્રીગોપેશ્વરજીની છે જે પ્રતિ ઉપરથી આ ચતુર્થ ટીકા છાપી તેના ઉપર श्रीद्वारिकेश्वराणामिदम् એમ લખેલું હતું, તે અને 'चाचाश्रीगोपेश्वरजीकृतटीका' એમ લખેલું હતું જે હસ્તાક્ષરમાં આ લખેલું હતું તે અને શ્રીદ્વારકેશજીના હસ્તાક્ષર એક જ હોવાથી, અને ઉભયના ચિત્ર સાથે હોવાથી શ્રીદ્વારકેશજી યોગિશ્રીગોપેશ્વરજીને જ ચાચા શ્રીગોપેશ્વરજી કહેતા હોય એમ સંભવ હોવાથી ઉક્ત ટીકા યોગિશ્રીગોપેશ્વરજીની છે એમ હવે મારી મતિ છે

મૂળચન્દ્ર તેલીવાલા.

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं[1] परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥
कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥
श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
अग्रेऽपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः[2] ॥ ५ ॥
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा[3] हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥
विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥
विकलत्वं तथाऽस्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

---

१. प्रवृत्त्यर्थमिति पाठः । २. नागत इति पाठः । ३. सर्वथेति पाठः ।

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्चेत् प्रकटः स्वात्मा वह्निवत् प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥
भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥
दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।
ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोऽपि विचारितः ॥ १४ ॥
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ।
भक्तिमार्गेऽपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥१८॥
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।
अन्यथा मातरो बालान् स्तन्यैः पुपुषुः कचित् ॥ १९ ॥
ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥
तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥२१॥
इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितः संन्यासनिर्णयः समाप्तः ।

---

१. तादृश इति पाठः । २. स्थितिरिति पाठः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीमद्गोकुलनाथविरचितविवरणसमेतः ।

नमामि तातचरणान् स्वीयानां सर्वकामदान् ।
यैः कृत. स्वाभिधानार्थ. प्रकटः कृपया मयि ॥ १ ॥

स्वमार्गीयपरित्याग वक्तु परित्यागविचार प्रतिजानते, तद्धेतुमाहु' पश्चात्ताप-निवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

भक्तिमार्गीयपरित्यागेतरसर्वपदार्थान् विचार्य त्यागविचाराभावजनितस्वपश्चात्ताप-निवृत्त्यर्थं भक्तिमार्गीयपरित्यागविचारमारभन्ते पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति । उक्तपश्चात्ताप-निवृत्त्यर्थं यः परित्याग. स विचार्यते, न तु विधीयते, विधाने विधिशेषत्वमापद्येतेति सर्वकर्तृकत्वमापद्येत, अत उक्त विचार्यते । स्वरूपत साधनतः फलतश्च तस्य विचारे परित्यागसामान्यादन्यमार्गीयस्य स्वविचार्यमाणस्य च तारतम्यज्ञापनार्थमन्यमार्गीयमप्याहु. **स मार्गद्वितये** इति । मार्गद्वयमेवाहुः **भक्तौ** मर्यादापुष्टिभेदभिन्नभक्तिमार्गे । मर्यादाभक्तौ श्रीमदुद्धवपृष्टेन भगवता 'मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च । इष्ट दत्त हुत जप्त मदर्थे यद्व्रत तप.' इति त्यागो विशेषत. प्रोक्त । पुष्टिभक्तिमार्गे रास-मण्डलमण्डनाभिरपि 'सन्त्यज्य सर्वविषया' निति । तल्लीलायामेव चतुर्थाध्याये ता प्रत्येव 'एव मदर्थोज्झिते'त्यत्र विशेषतस्त्याग प्रोक्त । (ननूभयत्राप्यविशेषेण त्याग-कथनादुभयोस्त्यागयोः साम्यमस्तीति चेत्, अत्र वदाम. । यद्यपि मर्यादाभक्तिपरित्याग-कथनेपि 'मदर्थेऽर्थपरित्याग' इति वाक्ये स्वप्राप्त्यर्थं परित्याग उक्त., तद्वदेव फल-प्रकरणचतुर्थाध्याये शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तस्वरूपनिरूपणे 'एव मदर्थोज्झितलोकवेदस्वाना-'

---

१ पश्चात्तापस्वरूपमाहु भक्तीति । भक्तिमार्गे च पदार्थपरित्यागादितरसर्वपदार्थाना परित्याग इत्यर्थ । तथा च लौकिकपदार्थपरित्यागो विचार्यत इति निष्कर्ष । २ नन्वित्यारभ्य वेदितव्येत्यन्त विवरण नोपलभ्यते कुत्रचित् ।

मित्युक्तं, तथापि मर्यादाभक्तिमार्गे त्यागस्य मदर्थित्वं यदुक्तं, तत्स्वप्राप्त्यभिप्रायेण, न तु स्वाभिलषितसिद्ध्यभिप्रायेण, तन्मार्गे तस्यासम्भावितत्वात्, पुष्टिमार्गीयभक्तस्वरूपनिरूपणे 'एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वाना'मिति लोकवेदस्वपरित्याग उक्तः । तत्र यद्यपि स्वपदेन ज्ञात्यर्थात्मान उच्यन्ते, तत्रैतासां ज्ञात्यर्थपरित्यागस्य व्रज एव स्थित्याऽसम्भावितत्वात् स्वपदस्यात्मपर्यवसायित्वमेव सम्भवति । यद्यपि विद्यमाननित्यदेहानामात्मत्यागोऽसम्भावितः, तथाप्यात्मत्यागोक्तेरयमाशयः । यथा श्रुतौ 'आत्मने वै कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति । यत्र प्रियत्वं तत्रात्मौपाधिकमेव, न तु प्रकारान्तरेण । एतासां यदात्मनि प्रियत्वं तन्न स्वात्मत्वेन, किन्तु स्वात्मनो भगवतः प्रीतिजनकहेतुत्वेन । अत एव भगवदमिलनदशायामात्मनोऽनुपयोगं ज्ञात्वा न मण्डनादिपुरस्कारस्तासाम्, उपयोगसमय एवात्मपुरस्कार इति नात्मनः स्वभावतः प्रियत्वम्, किन्तु भगवदुपयोगित्वेनैत्ययमेवात्मनस्त्याग इति शुद्धपुष्टिमार्गीयत्यागस्य मर्यादामार्गीयत्यागस्य च महदेव वैलक्षण्यमित्युभयत्रापि त्यागपदोपादानादुभयोः साम्यमस्त्वित्याशङ्का निरस्ता वेदितव्या ।) ज्ञाने ज्ञानमार्गेपि विशेषतः प्रोक्तः । स च विशेषो 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे'दिति श्रुत्या विविदिषाविद्वद्भेदाभ्यां च तच्छास्त्रे निरूपित इति विशेषत इत्युक्तम् ॥ १ ॥

कर्ममार्गस्यापि मार्गान्तःपातात् तत्रापि परित्यागप्राप्तिमाशङ्क्य निषेधन्ति **कर्ममार्गे न कर्तव्य इति** ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

तत्र 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती'ति विधिना संन्यासग्रहणस्यानवसरपराहतत्वात् । यद्यप्यायुषश्चतुर्थो भागश्चतुर्थाश्रमेण नेय इति क्वचिदुक्तं तत्रापि निषेधमाहुः **सुतरामिति** । अस्यायमर्थः । कलिदोषेण मनुष्याणामल्पसामर्थ्यवत्त्वादायुषश्चतुर्थभागस्यातिजराव्याप्तत्वादाश्रमधर्मस्य चातिकष्टसाध्यत्वेनानिर्वाहाद्विपरीतफलसाधकत्वं भवेदिति **सुतरां कलिकालत** इत्युक्तम् । एवं ज्ञानमार्गे परित्यागस्य कर्तव्यत्वं निरूप्य तस्यैव कर्ममार्गे सोपपत्तिकमकर्तव्यत्वं च निरूप्य भक्तिमार्गे तस्य कर्तव्यप्रकारविचारमारभन्ते **अत इति** । यतः प्रकारभेदेन पूर्वं मार्गद्वयेपि कर्तव्याकर्तव्यभेदेन परित्यागो यद्यपि निर्दिष्टस्तथापि विचारारम्भे पूर्वं भक्तिमार्गस्योद्दिष्टत्वादतः **कारणादादौ** प्रथमतः भक्तिमार्गीयपरित्यागस्य प्राप्तत्वात्तस्य **विचारणा** विचारः क्रियत इत्यर्थः । विचारणा च कदा कर्तव्यः, कथं कर्तव्यः, किमर्थं कर्तव्य इति ॥ २ ॥

भक्तिमार्गे श्रवणादिसाधनसिद्ध्यर्थं कर्तव्यपक्षं निराकुर्वन्ति **श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थमिति** ।

---

१ पुष्टीति पाठः । २ मर्यादापुष्टिमार्गीयत्यागस्येति पाठ. ।

श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं कर्तव्यत्वेन नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

श्रवणादीत्यारभ्य नेष्यत इत्यन्तेन । स परित्यागो नेष्यते, इच्छाविषयत्वेनापि नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः । अनङ्गीकारे हेतुमाहुः **सहायेति** । 'एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बर' इत्यादिवाक्यैस्त्यागिन एकाकित्वेनैव स्थितेरुचितत्वाच्छ्रवणादीनां **सहायसङ्गसाध्यत्वात्** सहायाः प्रेरकास्तेषां स्वस्वमतानुसारिश्रवणप्रेरकत्वात्तत्तन्मार्गीयश्रवणानां पुष्टिभक्तिमार्गविरोधित्वान्न भक्तिमार्गसाधकत्वम् । तथा । मायावादिनां श्रुतीनामपि कल्पितत्वात्तत्प्रतिपाद्यमद्धधर्माणामपि व्यवहारोपयोगित्वेनापारमार्थिकत्वाद्ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वाद्भक्तिमार्गविरोधित्वम् । नैयायिकमते तु 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो गन्तव्यश्चोपपत्तिभि' रिति जगत्कर्तृकर्तृत्वेनेश्वरसिद्धावपि ज्ञानेच्छाप्रयत्नातिरिक्तधर्माभावाद्भक्तिमार्गविरोधित्वम् । मीमांसकानां निरीश्वरवादित्वादेव श्रोतव्याभावाच्च श्रवणार्थिप्रेरणम्, तत्तन्मार्गीयप्रेरकप्रवृत्तौ तत्तन्मार्गीयैरेव सङ्गात्तन्मार्गीयश्रवणस्यैव सिद्धेस्तच्छ्रवणस्य भक्तिमार्गविरोधित्वान्न भक्तिमार्गसाधकत्वम् । बाधकान्तराण्यप्याहुः **साधनानां च रक्षणादिति** । **साधनानामाश्रमसाधकधर्माणां** स्नानशौचप्रणवजपादीनां रक्षणं यथोक्तप्रकारानुष्ठानम् । तेनैव सर्वकालव्याप्त्या न भक्तिमार्गीयश्रवणादिप्रवृत्त्यवसर इत्यनङ्गीकारः ॥ ३ ॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तपाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

किञ्च, **अभिमानात्** सर्वादरणीयत्वेन स्वस्मिन्नाश्रमज्येष्ठत्वाभिमानात्तस्य च भक्तिसाधनविरोधित्वात्तथा । किञ्च, **नियोगाद्**युक्तपरित्यागस्य शास्त्राज्ञाधीनत्वाद्वक्ष्यमाणस्य च तदनधीनत्वात्तथा । किञ्च, **तद्धर्मैश्च विरोधतः** । तद्धर्मैर्वक्ष्यमाणभक्तिमार्गीयपरित्यागधर्मैः, चकारात्स्वरूपेण च विरोधात्तथा । ननु श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं त्यागकर्तुर्भक्तिमार्गीयश्रवणाद्यज्ञानात्तज्ज्ञानहेतुकत्यागस्य तदङ्गत्वेन गौणत्वात्तस्याकर्तव्यत्वमस्तु । भक्तिमार्गीयश्रवणादिस्वरूपज्ञानवतः गृहस्थितौ व्यासङ्गेन तदनिर्वाहं ज्ञात्वा तत्परित्यागस्य मुख्यत्वमस्त्वित्यपि पक्षस्य वक्ष्यमाणत्यागवैजात्यात् सहेतुकमकर्तव्यत्वमाहुः **गृहादेरिति** । उक्तपरित्यागानन्तरमपि साधनदशायां भक्तिमार्गीयपूर्णभगवद्भावाभावान्निरन्तरनिर्वाहस्याशक्यत्वेन चित्तचाञ्चल्यादेतन्मार्गविजातीयैरेव **सङ्गो भवति, नान्यथा** । अतादृशैः सङ्गो न भवतीत्यत उक्तमग्रेपीति । विजातीयानां च विषयाक्रान्तचित्तत्वात्तत्सङ्गस्याल्पस्यापि पूर्वभावनिर्वाहनाशकत्वेन स्वस्यापि विषयाक्रान्तिसम्भवात् कालक्रमेण पूर्वभावनिर्वाहाभावात्

कृतस्यापि त्यागस्य मुख्यफलासाधकत्वाद्भक्तिमार्गविचारे पापण्डित्वमेवेत्यत उक्तं स्वयं चेति । विषयाक्रान्तपापण्डीत्यत्र कर्मधारयः । तुशब्देनापापण्डित्वपक्षनिरासः ॥ ४ ॥ ५ ॥

यद्यपि दुःसंगो भावस्थितौ बाधकस्तथापि भावस्थित्यर्थमेवोपक्रमाद् दुःसंगेपि कदाचिद्भावस्थितिःस्यादिति पक्षनिराकरणमाहुः **विषयाक्रान्तदेहानामिति** ।

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

विषयाः श्रोत्रादिसर्वेन्द्रियविषयाः रूपरसादयस्तैराक्रान्तः व्याप्तः **देहो** येषां तेषां **सर्वदा हरेरावेशो न** भवति । यत एते प्रकारा बाधका **अतः अत्र साधने भक्तौ** साधनरूपभक्तिमार्गे भक्तिसाधनार्थं **त्यागः सुखावहो न**, पुरुषार्थसाधको न भवतीत्यर्थः । एवकारेण सर्वात्मना पुरुषार्थासाधकत्वमुक्तम् ॥ ६ ॥

तर्हि भक्तिमार्गे त्यागकथनस्य प्रयोजनाभावाद्वैयर्थ्यमायातीति चेत्तत्र प्रयोजनमाहुः **विरहानुभवार्थमिति** ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्त्रीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

ननु विरहस्य संयोगपूर्वकत्वात् साम्प्रतं तस्याभावात् कथं विरह इति चेत्, सत्यम्, वक्ष्यमाणपरित्यागस्य पूर्णपुष्टिमार्गीयभगवद्भावानन्तरभावित्वेन तत्पूर्वदशायां भगवत्स्वरूपसेवनस्यावश्यकत्वात्तत्र भावपूर्वकश्रीमुखदर्शनतदङ्गस्पर्शजनितसङ्गाभिलाषाया अतिप्रचुरत्वेन तच्छान्त्यभावजन्यत्वात् सङ्गमपूर्वकत्वं **विरहस्य** भगवद्विरहस्यानुभवः निरन्तरं तद्भावापत्तिस्तदर्थं तत्सिद्ध्यर्थमित्यर्थः । तेन शुद्धपुष्टिमार्गीयपूर्णभाववानधिकारीति ज्ञापितम् । तादृशस्य सर्वात्मभाववद्भक्तसम्बन्धिप्रसादादिरीत्याविचारस्यावश्यकत्वेन तस्याश्च परमफलत्वेन स्वस्यापि तन्मार्गीयत्वेन तत्फलोत्कटाभिलाषया साम्प्रतं तत्पूर्वभावात्सत्पूरकस्याधुना दर्शनाद्यभावाद्विरहस्यावश्यकत्वम् । गृहस्थितौ गृहस्थितानां तद्भाववैजात्यात् तत्सङ्गस्तैर्भावनाशकत्वेन तदनुभवाभावाद्गृहत्यागस्यावश्यकत्वम्, तस्य परित्यागज्ञापनार्थं वेषकल्पनमाहुः **स्त्रीयेति** । **स्त्रीयाः** भार्यापुत्रादयस्तत्कृतो **बन्धः**, त्यागे प्रतिबन्धः, तन्निवृत्त्यर्थं वेषकल्पनम् । **स वेषः अत्र** अस्मिन्मार्गे प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थमेव । **न चान्यथा**, अन्यप्रयोजनार्थं न भवतीत्यर्थः । यथा मर्यादामार्गीयचतुर्थाश्रमपरिग्रहहेतुत्वेनावश्यकत्वाय वेषकल्पनं तथास्मिन्मार्गे न भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

मार्गद्वये परित्यागाविशेषेपि मार्गभेदनिरूपणार्थं परित्यागनिमित्तं वेषकल्पननिमित्तं चोक्त्वा गुरून् साधनं च निरूपयन्ति **कौण्डिन्यो गोपिका इति** ।

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

कौण्डिन्य ऋषिः अनन्तव्रतप्रस्तावे निरूपितः । गोपिकाः प्रसिद्धा इति न प्रकारविशेषोक्तिः । यद्यपि कौण्डिन्यस्य मर्यादामार्गीयत्वेनैतन्मार्गाज्ञानादेतन्मार्गोपदेष्टृत्वासम्भवाद्गुरुत्वं न सम्भवति, तथापि दत्तात्रेयवत्स्ववैराग्योपयोगितत्तद्धर्मशिक्षणेनोपदेष्टृत्वाभावेपि पृथ्व्यादिषु यथा गुरुत्वाङ्गीकारस्तथा कौण्डिन्यस्याप्यनन्तगुणश्रवणेन तन्मिलनाप्तिजनितविप्रयोगभावजनितवैक्लव्येन च प्रश्नायोग्येष्वपि प्रश्नकरणात्सहसा तत्त्यागस्यैतन्मार्गीयत्यागस्य चैतावद्धर्मसाम्यात्कौण्डिन्येपि गुरुत्वकथनम् । गोपिकानामप्युपदेष्टृत्वाभावेपि तन्मार्गप्रकटनेन तद्भावानुरूपाचरणेन च 'दुहन्त्य' इत्यनेन विरहेण गृहत्यागेनापि गुरुत्वम् । गुरूनुक्त्वा साधनमाहुः साधनमिति । यदग्रे वक्ष्यमाणं तत्साधनमित्यर्थः । तदेवाहुः भाव इति । स्वस्मिन् गोपिकाभावानुरूपभावनया सिद्धभावस्य साधनत्वमिष्टम्, अन्यद् दानव्रतादिकमपि साधनत्वेन नेष्टमित्यर्थः ॥ ८ ॥

नन्वेतद्भावापत्त्यनन्तरभाव्यवस्थाया बुद्धिविपर्यासहेतुत्वेन दुःखहेतुत्वेन च प्राकृतत्वमित्याशङ्कां तद्भावस्वरूपनिरूपणेन परिहरन्ति विकलत्वमित्यादिना ।

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

विकलत्वं वैक्लव्यं **तथा** तद्वदेव **अस्वास्थ्यं** कुत्रापि स्वास्थ्याभावः **प्रकृति**र्विप्रयोगभावस्य प्रकृतिः स्वाभाविको धर्मः **प्राकृतं** लौकिकं[1] न भवतीत्यर्थः । हि युक्तश्चायमर्थः । यथैकादशे श्रीमदुद्धवपृष्टेन भगवता श्रद्धानिरूपणप्रस्तावे आध्यात्मिकश्रद्धादीनां सगुणत्वं निरूप्य 'सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी । तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणे'ति स्वपूजाश्रद्धाया निर्गुणत्वं निरूपितं, ज्ञाननिरूपणप्रस्तावेपि कैवल्यादिज्ञानानां सगुणत्वं निरूप्य 'कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत् । प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृत'मिति स्वविषयकज्ञानस्य निर्गुणत्वं निरूपितम् । यत्र मर्यादामार्गेपि स्वसम्बन्धित्वेन वस्तुनो निर्गुणत्वं, तत्र साक्षात्सर्वाधिकभक्तिमार्गीयभगवद्भावजधर्माणां निर्गुणत्वे किं वाच्यमिति हिशब्देनोक्तम् । ननु भगवत्सम्बन्धित्वेनालौकिकत्वान्निर्गुणत्वमस्तु, तथापि दुःखात्मकत्वात् कथं सर्वोत्कृष्टत्वमिति चेत्, सत्यं, दुःखत्वाभावादेवोत्कृष्टत्वं वदामः । तथथा पुरुषोत्तमस्वरूपस्य 'रसो वै स'इति श्रुत्या रसात्मकत्वेन प्रतिपादितत्वाद्रसस्य च संयोगविप्रयोगात्मकत्वेन द्विरूपत्वाद्यथा विरोधिकृतक्षतनिष्पीडनताडनकोपादीनां दुःखात्मकत्वं, तथा क्षतत्वादिधर्मसाजात्येपि संयोगरसान्तःपातित्वेन परमानन्दरूपत्वं, तथा विप्रयोगरसजनितवैक्लव्यादीनामपि विप्रयोगरसात्मकत्वेन कर्मादिजन्यवैक्लव्यप्रतीयमानत्वेपि रसरूपत्वान्न तेषां दुःखत्वम् । यथा आनन्दादप्यश्रूणि, शोकादप्यश्रूणि । न हि तत्राश्रुत्वसाजात्यादुभयोरेकफलत्वं सेत्स्यति, तथात्रापि तत्तद्धर्मसाम्येपि

---

[1] लौकिको भावो न भवतीत्यर्थः ।

न तत्तद्रूपत्वमिति सर्वमनवद्यम्[1] । एतादृगवस्थापत्त्यनन्तरमपि व्यावहारिकज्ञानलौकिक[2]विवेकादिगुणसत्त्वेपि को विरोध इति चेत्तत्राहुः ज्ञानमिति । ज्ञानं मर्यादामार्गीयं गुणास्तन्मार्गीया एव मनःस्वास्थ्यहेतुरूपाः । तस्य पूर्वोक्तभक्तिमार्गीयभाववतः एवं वर्तमानस्य पूर्वोक्तवैक्लव्यादिभावपूर्वैव स्थितस्य, बाधकाः रसानुभवे फले वा पूर्वोक्तभावनाशकत्वात्प्रतिबन्धकाः ॥ ९ ॥

ननु मार्गद्वयेपि त्यागस्याविशेषात्कथं ज्ञानमनःस्वास्थ्यादीनां ज्ञानमार्गे साधकत्वं भक्तिमार्गे बाधकत्वमिति शङ्कानिरासाय फलभेदेन समाधानमाहुः सत्यलोक इति ।

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

सत्यलोके ब्रह्मलोके 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इति श्रुतौ ज्ञानयुक्तसंन्यासिन एव ब्रह्मलोकस्थित्यनन्तरमेव ब्रह्मणा सह मोक्षनिरूपणाद्ब्रह्मलोकगतौ ज्ञानस्यैव मुख्यत्वान्मनःस्वास्थ्यव्यतिरेकेण ज्ञानस्थैर्याभावाज्ज्ञानमनःस्वास्थ्यादीनामेव फलसाधकत्वम् । भक्तिमार्गे साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धस्यैव फलत्वात्तस्य 'रसो वै स' इति श्रुत्या रसात्मकत्वात् रसस्य च भावात्मकत्वात्तत्सम्बन्धे पूर्वोक्तविप्रयोगरसात्मकभावस्यैव साधनत्वात् ज्ञानमनःस्वास्थ्यादीनां तद्भावरूपसाधननाशकत्वाद्बाधकत्वमित्यत आहुः भावनेति । यत्र भक्तिमार्गे ॥ १० ॥

एवं मार्गद्वयेपि प्रकारभेदेन साधनफले निरूप्य ज्ञानमार्गे फलप्राप्तौ विलम्बहेतुं भक्तिमार्गे विलम्बाभावहेतुं च ज्ञानमार्गे प्रकारकथनेन भक्तिमार्गे दृष्टान्तकथनेन चाहुः **तादृशा** इति ।

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिर्श्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

तादृशाः संन्यासयुक्तज्ञानिनस्ते सकामनिष्कामभेदेन **सत्यलोकादौ** ब्रह्मलोकादौ तिष्ठन्त्येव । संन्यासाश्रमग्रहणमात्रेणैव सत्यलोकस्थितिपक्षनिराकरणार्थं **न संशय** इत्युक्तम् । सत्यलोकादावित्यत्र तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तेन निष्कामानामेव सत्यलोकस्थितिः, सकामानां लोकान्तरेपि स्थितिरिति ज्ञापितम् । एवकारेण सत्यलोकस्थितौ मुक्तिविलम्बे च हेतुरुक्तः । तत्रोपपत्तिः । 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्त' इति वाक्याद्ब्रह्मणः द्विपरार्धावसायित्वात्तावत्पर्यन्तं मुक्तेरसम्भवात्स्थितेरावश्यकत्वज्ञापनार्थमेवकारः । ज्ञानमार्गे विलम्बहेतुं निरूप्य भक्तिमार्गे दृष्टान्तेन विलम्बाभावहेतुं निरूपयन्ति । तत्र दृष्टान्तमेवाहुः **वह्नि**रिति । वह्निवदिति कथनाद्दारुस्थितवह्निदृष्टान्तोभिप्रेतः । तत्र प्रकारः । यथा दारुणि विद्यमानस्य वह्नेर्दारुसंयोगे सत्यपि

1 सर्वमनवद्यमिति पाठः । 2 लौकिकमिति पाठः । 3 सत्यज्ञानयुक्ता इति पाठः ।

न दारुदहनयोग्यत्वं, यदा मथनेन तत एव वह्निः प्रकटीभूय पुनस्तेन सह सम्बध्यते, तदा
सम्बन्धमात्रेणैव दारुत्वनिवृत्त्या दारुणोऽग्नित्वसिद्धिस्तथा भक्तहृदये विद्यमानत्वेपि मथने-
नाग्निप्राकट्यवद्विगाढभावेन भावात्मकतया बहिःप्राकट्ये सति पुनरन्तःसम्बन्धः, तदा
सम्बन्ध एव फलसम्बन्धहेतुः प्रतिबन्धं दूरीकरोतीति फलस्य रसात्मकत्वेन तदनुभवहेतु-
रसात्मकतां सम्पादयतीति एतत्प्रकारातिरिक्तस्यैतत्फलसाधकत्वाभावार्थमुक्तं न चान्यथे-
ति । एवमस्मिन्मार्गे विलम्बाभावोपि सिद्धः ॥ ११ ½ ॥

ननु पूर्वोक्तविगाढभावस्य साक्षात्सङ्गाभावहेतुत्वेन सङ्गार्थं स्वरूपानुसन्धानस्याव-
श्यकत्ववद्गुणानुसन्धानस्याप्यावश्यकत्वेन साक्षात्स्वरूपेण स्वास्थ्यहेतोरसम्भावितत्वाद्गुणै-
रेव कथं स्वास्थ्यमिति चेत्तत्राहुः **गुणास्त्विति** ।

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

गुणानां धर्मरूपत्वाद्विप्रयोगस्य संयोगाभावहेतुत्वेन तदतिरिक्तस्य स्वास्थ्यहेतोरभा-
वात्कदाचिदतितापेनाश्रयाभावाज्जीवनानुपपत्त्या गुणैरेव जीवनसम्पत्तिरित्यत उक्तं **जीव-
नार्थं भवन्तीति** । यथा 'तव कथामृत'मित्यत्र । हि युक्तश्चायमर्थः । परमानन्दविरहे जीव-
नानुपपत्तौ परमानन्दगुणानामेव जीवनसम्पादकत्वमुचितमित्यर्थो हिशब्देन द्योत्यते । तेन
गुणानां यथाकथञ्चिज्जीवनमात्रसम्पादकत्वं, न तु स्वास्थ्यहेतुत्वमपि । तुशब्देन सङ्गाति-
रिक्तधर्मैः स्वास्थ्यपक्षो व्यावर्तितः । अथवा, ननु भगवद्विप्रयोगस्यातिप्रचुरतापात्मकत्वेना-
सह्यत्वात्क्षणमात्रमपि प्राणस्थित्यसम्भवस्वभाववत्त्वात् कुत्रचित्तत्कालमेव प्राणस्थित्यदर्शनम्
यथा द्विजपत्न्याम् । क्वचित्तथात्वेपि प्राणस्थितिदर्शनमिति कथमेकस्यैव स्वभावविपर्यासेन
कार्यद्वयकर्तृत्वमिति चेत्, सत्यम्, तस्य स्वभावविपर्यासाभाववत्त्वेपि यत्र शीघ्रं मनसो
भगवद्गुणग्रहणेन व्यासङ्गाभावस्तत्र शीघ्रं पूर्वोक्तस्वकार्यकर्तृत्वम् । यत्र भगवदिच्छया
शीघ्रं तद्गुणव्यासङ्गस्तत्र गुणानां तादृग्भावेपि जीवनैकस्वभावत्वेन तत्स्वभावत्वादेव प्राण-
स्थितिरित्यभिप्रेत्योक्तं **गुणास्त्विति** । ननु लोके गुण्यपेक्षया गुणानामल्पसामर्थ्यवत्त्वदर्शनात्
कथं पूर्णानन्दरसात्मकपुरुषोत्तमविरहस्य क्षणमात्रमपि प्राणस्थितिविलम्बासहिष्णोस्त-
स्मिन्समये तद्गुणानां कथं प्राणस्थितिहेतुत्वमिति चेत्, सत्यम् । यद्यप्यन्यत्र गुण्यपेक्षया
गुणानामल्पसामर्थ्यमस्त्वेव, तथाप्यत्र साक्षात्पुरुषोत्तमस्याचिन्त्यानन्दपूर्णस्य षड्गुणैश्वर्यसम्प-
न्नस्य गुणा अपि तादृशा एवेति मन्तव्यम्, गुणगुणिनोरेकरूपत्वात्, अन्यथा तद्विप्रयोग-
दशायां गुणानां जीवनसम्पादकत्वं न भवेत् । अत एव व्रजसीमन्तिनीभि 'स्तव कथामृत'
मित्यस्मिन् श्लोके षड्भिर्विशेषणैः कथायाः भगवत्तुल्यत्वं निरूप्यैव स्वप्राणस्थितिहेतुत्वं
निरूपितम् । यदि स्वरूपतुल्यत्वं गुणानां न भवेत्तर्हि स्वसमाजस्य जीवनमेव न भवेत् । तस्मा-
त्पुरुषोत्तमगुणानां गुणितुल्यत्वमेव, न तु न्यूनत्वमपि । तथापि गुणगुणिनोरेतावान् विशेषः ।

१ सयोगेति पाठ. । २ श्रवणेति पाठः ।

यथा गुणिसम्बन्धेन विप्रयोगजतापनिवृत्तिपूर्वकं सर्वेन्द्रियाप्यायनपूर्वकं च परमानन्दानुभवेन स्वास्थ्यं, तथा गुणैर्न सम्पद्यत इति तेषु गुणत्वकथनम् । एतदेव मनसि कृत्वा श्रीमदाचार्यैरुक्तं गुणास्तु सङ्गराहित्यादिति । सङ्गराहित्यं वियोगस्फूर्तिः । ननु कथं कुत्रचिच्छीघ्रं मनसो जीवनहेतुगुणग्रहणव्यासङ्गे भगवदिच्छा कुत्रचिन्नेति को हेतुरिति चेत्, सत्यम्, यत्र पूर्णविप्रयोगानुभवहेतुः पुनः पुनर्मूर्च्छाजागरणतादात्म्यादिसर्वभावानुभावनेच्छा तत्र गुणेषु शीघ्रं चित्तव्यासङ्गं कारयित्वा पश्चादविलम्बेन स्वप्राप्तिसिद्ध्यर्थं तद्भावस्वभावकार्यकरणम् । ये पूर्वमेवानुभूतसर्वविप्रयोगभावास्तेषां स्थितौ प्रयोजनाभावात्तत्कालमेव स्थित्यभाव इति नानुपपत्तिः काचित् ॥ १२ ॥

ननु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य भगवदिच्छामात्रेणापि स्वास्थ्यसम्पादकत्वात्कथं न सम्पादयतीति चेत्, तत्राहुः भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

भगवत्पदेन षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नः पुरुषोत्तम उक्तः । अस्मिन्मार्गे स्वस्यैव फलत्वात्स्वप्राप्त्यैतद्भावस्यैव फलसाधकत्वात्तद्भावस्य च तापैकस्वभावत्वात्तदभावे फलप्राप्त्यभावाच्च स्वस्यैव तदभावसम्पादकत्वकथनेन स्वस्यैव फलप्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वेन च स्वस्य फलत्वमेव न सिध्येदित्यत उक्तं फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यत इति । ननु स्वस्य फलात्मकत्वात्फलदित्सायाश्च सिद्धत्वात्स्वरूपेण तापापगमं मा करोतु, तथापि यत्किञ्चिदस्वास्थ्यं स्वप्ने वचनेन कथं न निवारयतीति चेत्, तत्राहुः स्वास्थ्यवाक्यमिति । भगवता तादृशं प्रति यत्किञ्चित् स्वास्थ्यहेतुकमपि वाक्यं वचनं न कर्तव्यं न वक्तव्यमित्यर्थः । तत्र हेतुः । वचनेन यावांस्तापो निवर्तिष्यते तावानेव फलप्राप्तौ विलम्बो भविष्यतीति ज्ञात्वा वचनेनापि स्वास्थ्यं न करोति, यदि कुर्यात्तर्हि फलविलम्बे स्वयमेव हेतुः स्यादिति स्वस्यैव विरोधित्वं स्यादिति यत्किञ्चित्स्वास्थ्यहेतुभूतस्यापि वाक्यस्याकरणम् । ननु यत्किञ्चिद्विलम्बहेतुत्वे को दोष इति चेत्तत्राहुः दयालुरिति । दयालुरत्यसाधारणदयासमुद्रः । यदि यत्किञ्चिद्विलम्बसहिष्णुत्वमपि चेद्भवेत्, तदा तावदंशस्य न्यूनत्वात्परमदयालुत्वं नोपपद्येतेति न तादृग्वाक्यकरणम् ॥ १३ ॥

एवं भक्तिमार्गीयसंन्यासस्वरूपं साधनफलप्रकारविचारेणोपपाद्योपसंहरन्ति दुर्लभोयमिति ।

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।

अयमुक्तप्रकारकः परित्यागः दुर्लभः, तपोदानव्रतादिसाधनैरप्यसाध्यः । ननु वस्तुमात्रस्य दानादिसाधनसाध्यत्वात्कथमस्य दानादिसाधनासाध्यत्वमिति चेत्, सत्यम् । यथा तत्तच्छास्त्रे तत्तत्फलसाधकत्वेन तानि तानि साधनानि गणितानि, स्वर्गकामस्य ज्योतिष्टो-

भवत् । नहि तथा भक्तिमार्गीयपरित्यागसिद्धौ साधनशास्त्रोक्तं किञ्चित्साधनमस्तीत्यस्य दुर्लभ-त्वम् । ननु वस्तुमात्रस्य साधनसाध्यत्वाद्भक्तिमार्गीयपरित्यागस्यापि वस्तुत्वेन निरूपणात्तस्य च शास्त्रोक्तदानादिसाधनासाध्यत्वकथनात् केन साधनेनास्य सिद्धिरिति चेत्, तत्र साधन-माहुः प्रेम्णेति । प्रेम्णा भगवत्परमासक्त्या सिध्यति । अथवा, प्रेम्णा भगवत्प्रेम्णा । ननु कथं जीवे भगवत्प्रेमेति चेत्, सत्यम् । एतन्मार्गप्रवर्तकाचार्यैस्तन्निष्कपटप्रपत्तिसन्तुष्टैः कृपया अस्यैतन्मार्गीयफलसिद्धिरस्त्वितीच्छया भगवन्निवेदनानन्तरं तस्मिन्नाचार्यकृपा-स्नेहं ज्ञात्वा स्वयमपि सन्तुष्टस्तस्मिंस्तत्फलदित्सया प्रेमयुक्तो भवतीति तेन प्रेम्णास्यापि तादृशत्वं सिध्यतीत्यत उक्तं प्रेम्णा सिध्यतीति । नान्यथा, अन्यथा एतदति-रिक्तसाधनैर्न सिध्यतीति सुष्ठूक्तं दुर्लभोयमित्यादि ॥ १३½ ॥

एवं भक्तिमार्गीयत्यागविचारं उपसंहृत्य ज्ञानमार्गीयपरित्यागोपसंहारमारभन्ते ज्ञानमार्गे त्विति ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ।

त्विति पूर्वसमुच्चयः । संन्यासः ज्ञानमार्गीयः द्विविधोपि, विविदिषाविद्वद्भेद-युक्तः । सोपि साधनफलभेदेन विचारितः । द्वैविध्यमेव प्रकटयन्ति ज्ञानार्थमिति । ज्ञानार्थं ज्ञानरूपफलसिद्ध्यर्थमेकः । चकारसमुचितं द्वितीयमाहुः उत्तराङ्गं चेति । 'ज्ञानादेव हि कैवल्य'मिति वाक्यान्मुक्तेर्ज्ञानसिद्ध्युत्तरफलत्वाद्विद्वत्संन्यासस्योत्तराङ्गत्वं मुक्त्यङ्गत्वमित्यर्थः । यद्यपि ज्ञानमार्गीयद्वितीयसन्न्यासस्य मुक्त्यङ्गत्वं तथापि 'बहूनां जन्म-नामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ' इति भगवद्वाक्यात् प्रपत्तेश्च भक्तित्वाद्भक्तिव्यतिरेकेण केवलज्ञानस्य मुक्त्यसाधकत्वात् । 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत' इति वाक्याच्च ज्ञानस्य भक्तिप्रतिबन्धनिवर्तकत्वोक्त्या 'विना महत्पादरजोभिषेक' मिति वचनेन भक्तेश्च महदनुग्र-हैकलभ्यत्वोक्त्या च यावत्पर्यन्तं न भक्तिसिद्धिस्तावत्पर्यन्तं पूर्णज्ञानस्यापि न मुक्तिरिति ज्ञापनायोक्तं सिद्धिर्जन्मशतैः परमिति । यथा बहुशब्दस्य सङ्ख्याऽनियमवाचित्वं तथा शतशब्दस्यापीति ज्ञापनाय जन्मशतैरित्युक्तं । परं निर्धारितमित्यर्थः । एवं ज्ञानिनां मुक्तिप्रकारमुक्त्वा ज्ञानस्य साधनसाध्यत्वज्ञापनाय साधनानि निरूपयन्ति ज्ञानमिति । यज्ञ आदिर्यस्य श्रवणस्य, ज्ञानस्य चित्तशुद्धिहेतुकत्वाद्यज्ञस्य च चित्तशोधकत्वोक्त्या

निष्कामकर्तृत्वमुक्तम् । यतस्तादृग्यज्ञस्यैव चित्तशोधकत्वम् । तदनन्तरश्रवणस्य ज्ञानसाधकत्वं मतं निश्चितमित्यर्थः । अतः कलाविति । यतः स ज्ञानमार्गीयः संन्यासः एतावत्प्रयत्नसाध्यः अतः कलौ तावत्प्रयत्नसिद्धेरसम्भावितत्वात्तद्व्यतिरेकेण संन्यासस्य फलसाधकत्वाभावात् पश्चात्तापहेतुत्वमेवेति ज्ञापनायोक्तं पश्चात्तापायेति । नान्यथा उक्तफलाय नेत्यर्थः । ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्यैतावत्प्रयत्नसाध्यत्वमपि ज्ञात्वा प्रतिष्ठार्थमपि चेत्कुर्यात्तदा यथोक्ताश्रमधर्मानिर्वाहात् संन्यासव्यवहारस्य वेषमात्रपर्यवसायित्वेन पापण्डित्वमेव भवतीत्यत उक्तं पापण्डित्वं भवेदिति । चकारः संन्यासाश्रमधर्मानाचरणपापसमुच्चयार्थः । यतः ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्यैतावद्दोषवत्त्वं तस्मात् कारणात् कलौ ज्ञाने ज्ञानमार्गे न संन्यसेत् संन्यासग्रहणं न कुर्यात् । यद्यप्याश्रमधर्मानिर्वाहात् कलौ ज्ञानमार्गीयसंन्यासनिषेधः कृतस्तथापि कश्चिदाश्रमोत्कर्षं श्रुत्वा बलात्कारेणाप्याश्रमधर्मनिर्वाहं करिष्यामीति बुद्ध्या कुर्यादिति तस्यापि निषेधमाहुः सुतरामिति । सुतरामतिशयेन कलिदोषाणां प्रबलत्वात् प्राबल्यात् पूर्वकृतव्यवसायनाशकत्वात्, इति हेतोस्तस्याकर्तव्यत्वमेव स्थितं निश्चितमित्यर्थः ॥ १४, १५, १६½ ॥

एवं ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्य बलवद्बाधकप्रतिबन्धकत्वेन सोपपत्तिकमकर्तव्यत्वमुपपाद्य त्यागाविशेषाद्भक्तिमार्गत्यागेपि तेषां बाधकत्वाशङ्कानिरासाय स्वत एव बाधकत्वं सम्भाव्य निराकुर्वन्ति । तत्र सम्भावनामाहु भक्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अपिशब्दः पूर्वोक्तत्यागसमुच्चयार्थः । भक्तिमार्गेपि चेद्यदि तद्वदेव दोषसम्भावना तदा तद्दोषनिवृत्त्यर्थं किं कार्यमिति पूर्वपक्षसम्भावनमुक्त्वा तन्निरासं प्रतिजानते उच्यत इति । अथवा यदि भक्तिमार्गेपि दोषसम्भावना तदा तद्दोषनिवृत्त्यर्थं भक्तिमार्गीयेण किं कार्यं किं कर्तव्यं भवता उच्यत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

प्रतिज्ञातं दोषाभावमुपपादयन्ति अत्रेति ।

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

अत्रास्मिन्मार्गे आरम्भे त्यागोपक्रमे इत्यर्थः । आरम्भपदे उद्देश्यस्यानुक्तत्वेपि त्यागस्यैवोपक्रान्तत्वात्तस्यैवोद्देश्यत्वेन तदारम्भ एवेत्यर्थः । अत्रेतिपदात् ज्ञानमार्गीयत्यागारम्भकर्तुरपक्वत्वात्पूर्वोक्तदुःसङ्गसहायादिना नाशः सम्भवति, भक्तिमार्गे तु त्यागारम्भकर्तुरलौकिकभगवद्भावपूर्णत्वेनातिपक्वत्वाद् दुःसङ्गसम्भावनाया अप्यसम्भावितत्वात्तदन्यस्य नाशकत्वाभावान्न नाश इत्युक्तम् । ननु दुःसङ्गाभावान्नाशस्यासम्भावितत्वेपि कालकर्मस्वभावैर्नाशोस्त्विति चेत्, न । यथा मर्यादामार्गीयत्यागिनामाग्नीध्रभरतादीनां कालादिभिस्त्यागनाशो दृष्टस्तथा शुद्धपुष्टिमार्गीयत्यागकर्तुः कुत्रापि नाशो न दृष्ट इत्यत उक्तं

दृष्टान्तस्याप्यभावत इति । ननु पूर्वोक्तैः कालादिभिर्नाशासम्भवेपि स्रक्चन्दनादीनां शीतलत्वेन तापहारकत्वात्तल्लेपादिना तापनिवृत्त्या स्वास्थ्येन तदितरानुसन्धानात्तद्भावशैथिल्यात्तापनिवर्तकमस्त्विति चेत्तत्राहुः **स्वास्थ्यहेतोः परित्यागादिति** । स्वास्थ्यहेतोश्चन्दनादेर्गृहत्यागेन सहैव **परित्यागात्** तैर्न सम्बन्धसम्भावनेति न तैर्नाशसम्भवः । अथवा, स्रगादीनां घर्मपित्तप्रकोपादिजनिततापनिवृत्तिहेतुत्वात्तन्निवर्त्यतापस्यात्रासम्भवान्न तेषामस्मिन् स्वास्थ्यहेतुत्वमित्यनुसन्धानेनाप्युक्तं स्वास्थ्यहेतोरित्यादि । तस्यायमर्थः । एतत्तापस्य भगवद्भावात्मकत्वाददृष्टस्य च तदजनकत्वेन तन्नाशकत्वस्याभाव इत्युक्तं **बाधः केनास्य सम्भवेदिति** । अस्य तापस्य केनापि बाधो नाश इत्यर्थः ॥ १८ ॥

एवं दृष्टादृष्टोपायानां नाशकत्वाभावमुक्त्वा भगवतोपि नाशहेतुत्वमाशङ्क्य निराकुर्वन्ति हरिरिति ।

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

यद्यपि **हरिः** सर्वदुःखहर्ता तथाप्यत्रास्मिन्मार्गे ईश्वरत्वाद्बाधां **कर्तुं न शक्नोति** । अत्रोपपत्तिः । यस्य यथा स्वरूपं तस्य तथात्वेन ज्ञानमीश्वरस्यैव भवति, अतः अस्य भावस्य नाशे हेत्वभावमपि जानाति, स्वस्य भक्तभावाधीनत्वमपि जानातीति स्वस्याशक्यत्वं ज्ञात्वा न प्रवर्तत इत्यत उक्तं **हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधामिति** । एवं भगवद्धेतुकबाधाभावं निरूप्य कैमुतिकन्यायेन तदितरहेतुकबाधाभावमाहुः **कुतोऽपर इति** । अत्र व्यतिरेके दृष्टान्तमाहुः **अन्यथेति** । अन्यथा यद्येवं न, तदा **मातरोपि** स्वबालान् **स्तन्यैः न पुपुषुः**, पोषणं न कुर्युः । **मातर** इति बहुवचनं सर्वजात्युपलक्षकम् । **क्वचित्**पदेन सर्वदेशकालनियमो ज्ञापितः । (अथवा **हरिरत्रेति** । अत्र पूर्वं हरिपदमुक्त्वा अग्रे बाधां कर्तुं न शक्नोतीति यदुक्तं तस्यायमाशयः । यद्यपि हरिपदेन सर्वदुःखहरणसामर्थ्यमायाति तथापि दुःखहर्तृत्वमनुक्त्वा यद्बाधाभावकर्तृत्वमुक्तं, तेनास्य विगाढभावस्य स्वरूपात्मकत्वात् स्वरूपस्य च द्विदलरसात्मकत्वादस्य भावस्य रसात्मकत्वमेव, न तु दुःखरूपत्वम् । यद्यस्य दुःखरूपत्वं स्यात् तदा हरित्वेन तन्निवृत्तिं कुर्यादेव, अन्यथा नामार्थस्य याथार्थ्यं न स्यात् । अत एव हरित्वमुक्त्वा फलबाधाभावकथनमेवोक्तं, न तु दुःखहर्तृत्वमुक्तम् । स्वयमेव चेत्स्वास्थ्यं कुर्यात्तदा स्वस्यैव फलप्रतिबन्धकत्वं भवेदित्येतदभिप्रायज्ञापनार्थमप्युक्तं **हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे** इति ।) यथा मातॄणां बालपोषकत्वाभावाशक्यत्वमेवमत्रेश्वरस्य बाधाकरणमिति भावः ॥ १९ ॥

यद्यप्येतन्मार्गीयतापस्य सर्वानाश्यत्वं, तथापि ज्ञानमार्गस्तापनाशमात्रे प्रसिद्ध इति तन्मार्गबोधकवचनैस्तापनाशमाशङ्क्य तेषामपि तापनाशकत्वाभावमाहुः **ज्ञानिनामपीति** ।

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तत्र हेतुः । ज्ञानमार्गस्य भक्तिमार्गापेक्षया दुर्बलत्वेन भक्तिमार्गस्य च प्रबलत्वेन तद्वाक्यानां नैतद्वाधाभिभावकत्वम् । ज्ञानभक्तिमार्गयोर्दुर्बलत्वप्रबलत्वविचारः श्रीमदाचार्यैर्दशमस्कन्धविवरणे 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीत' इत्यत्र कालनियामकत्वमुक्त्वापि मत्त्युद्रेकानन्तरं समुद्विजे भवद्धेतोरिति वचनेन ज्ञानमार्गीयमाहात्म्योपमर्दनपूर्वकं भक्तिमार्गप्राबल्यमेव निरूपितमिति विस्तरभिया नात्र विचारः । तथापि ज्ञानमार्गस्यापि प्रामाणिकत्वात् कदाचित् ज्ञानिवाक्यैश्चित्तव्यासङ्गमात्रत्वमपि भवेदिति तस्याप्यभावार्थं भगवत्कृतां रक्षामाहुः **न भक्तं मोहयिष्यतीति** । (जन्मप्रकरणीयतृतीयाध्याये भगवत्प्रादुर्भावानन्तरं वसुदेवस्तुत्यनन्तरं देवकीमातृचरणैर्मर्यादामार्गीयमाहात्म्यज्ञानपूर्वकं 'रूपं यत्त' दिति स्तुतावन्ते 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीत' इति पद्ये कालनियामकत्वेन पूर्वं स्तुत्वापि पश्चा'दुपसंहर विश्वात्म'न्निति प्रार्थनानन्तरं व्यूहरहितशुद्धपुरुषोत्तमप्राकट्यानन्तरं शुद्धभक्तिमार्गीयभावप्राकट्ये सति पूर्वस्तुतिहेतुभूतमर्यादामार्गीयभावत्वेन पूर्वस्तुत्युक्तमर्यादामार्गीयमाहात्म्यज्ञानजनितकालनियन्तृत्वादिज्ञाननिराकरणसामर्थ्यं शुद्धभक्तिमार्गीयभावस्यैव दृष्टम् । न तु पूर्वभावस्यैतद्भावनिराकरणसामर्थ्यम् । यद्येवं न स्यात्तद्वैपरीत्यं स्यात् । तस्माद्भक्तिमार्गस्यैव सर्वमार्गाधिकप्राबल्यं विचार्यैवाचार्यैरुक्तं **न भक्तं मोहयिष्यतीति** ।) रक्षाकरणे हेतुमाहुः **आत्मप्रद इति** । आत्मानं स्वरूपानन्दं प्रकर्षेण ददातीत्यात्मप्रदः । यद्यप्यधुना तत्प्रकारकदानस्याप्रतीतिस्तथापि वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वेति शास्त्राच्छीघ्रं दास्यतीति सिद्धवदेवोक्तमात्मप्रद इति । हेत्वन्तरमप्याहुः **प्रियश्चेति** । यो यस्य प्रियः स तत्कार्यसिद्धौ यदि विलम्बं सहेत तदा प्रियत्वमेव न स्यादिति शीघ्रं तत्कार्यसिद्ध्यर्थं चित्तव्यासंगमसहमानोऽविलम्बेन रक्षामेव कृतवान्, न तु विलम्बम्, अतः सम्यगेवोक्तं **प्रियश्चापीति** । एवं रक्षायामव्यभिचारिहेतुद्वययुक्तम् । **ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यतीत्य**त्र मोहाभावार्थं रक्षाकरणं निरूप्य रक्षाकरणस्यावश्यकत्वाय तद्गतधर्मद्वयपूर्वकं रक्षामुक्त्वापि पुनर्यदुक्तं **किमर्थं मोहयिष्यतीति** तत्रायमाशयः । भक्तेष्वपि यत्रात्मप्रदानेच्छा तत्रैव ज्ञानिवाक्यजमोहनिवृत्त्यर्थं रक्षा, यत्र नात्मप्रदानेच्छा तत्र ज्ञानिवाक्यजमोहनिवृत्तिरक्षापि नेत्यर्थः । तत्र निदर्शनम् । द्विजपत्नीनां व्रजसीमन्तिनीवद्भगवत्पुन्भक्तयोपयोगिदेहत्वत्त्वमत्यार्तिभरेण गत्वा सेवां करिष्याम इति बुद्ध्या सर्वसामग्रीसम्पादनपूर्वकं पत्यादिसर्वबन्धुनिराकरणपूर्वकं चागमनम् । आगतासु तास्विव भगवद्वचनं तद्देवोत्तरदानेन सर्वप्रकारसाम्येप्यात्मप्रदानेच्छाऽभावाद्व प्रीतयेतुरागयेत्यादिज्ञानमार्गीयवाक्यैर्जनितमोहस्य निवृत्त्यर्थं न रक्षाकरणम् । व्रजसीमन्तिनीष्वात्मप्रदानेच्छाप्रादुर्भावात्तथा रक्षा कृता । यथा 'रजन्येषे'त्यादिमर्यादाधर्मवाक्यैः 'श्रवणाद्दर्शना'दित्यादिज्ञानमार्गीयवाक्यैश्च मोहसम्भावनापि नाभूत् । प्रत्युत स्वविचारितप्रयोजनविरोधित्वेन तन्निराकरणमभूत् । अग्रेपि चतुश्चत्वारिंशाध्याये

१ पुष्टि ।

भगवत्प्रेषितः श्रीमदुद्धवः 'श्रूयतां प्रियसन्देश' इति भगवत्सन्देशव्याजेन तापवैक्लव्याद्य-
भावार्थमुपदिष्टस्यापि ज्ञानस्य भगवता स्वात्मप्रदानेन रक्षितत्वेन सर्वात्मना स्वोपदिष्टमार्गमो-
हाभावदर्शनपूर्वकं 'दृष्ट्वैवमादिगोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लव'मिति पूर्वोक्ततापवैक्लव्यादिदर्शनेन
सर्वात्मना स्वप्रयासनिष्फलत्वं तापादिभावस्यातिप्रबलत्वं दृष्ट्वा तासु सर्वाधिकानिर्वचनी-
योत्कर्षदर्शनेन स्वस्मिन् भगवत्कृपापात्रत्वेप्यत्यपकर्षस्फूर्त्या स्वस्य साक्षात्तच्चरणारविन्देषु
शिरःस्पर्शनेन नमनायोग्यत्वं ज्ञात्वा 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणु'मित्यनेनैकरेणुमेव यत्र
नमस्कृतवान् । तस्माद्यत्रैवात्मप्रदानं तत्रैव ज्ञानमार्गीयवाक्यमोहाभावः, नान्यत्रेत्येताव-
त्प्रमेयं मनसि कृत्वोक्तं किमर्थं मोहयिष्यतीति ॥ २० ॥

एवं संन्यासनिर्णयमुपपाद्योपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

यस्माद्भक्तिमार्गीयः संन्यासप्रकार एतादृशोऽतो यदि तादृक्प्रकारवत्त्वं तदैतदुक्त-
प्रकारेण परित्यागः विरहानुभवैकार्थः **परित्यागो विधीयतां** क्रियतामित्यर्थः ।
अन्यथा एतदुक्तप्रकाराकरणे **स्वार्थात्** स्वस्यात्मनोऽर्थात् पुरुषार्थसिद्धेः सकाशाद्भ्रश्यते
च्युतो भवतीत्यर्थः । **इति** एवंप्रकारिका **मे** मदीया **मतिः** । मदीयत्वकथनेन
मतेरनुभवरूपत्वं निरूपितम् । **निश्चिता** निःसन्दिग्धेत्यर्थः ॥ २१ ॥

एवं पूर्वश्लोके मतेर्निश्चितत्वकथनान्निश्चितत्वे हेतुमाहुः इतीति ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इतीति समासौ, **कृष्णप्रसादेन** कृष्णः सदानन्दः पुरुषोत्तमः, तस्य प्रसादः
प्रसन्नता पूर्णकृपेत्यर्थः, तेन साधनेन कृत्वा **वल्लभेन** श्रीकृष्णवल्लभेनेत्यर्थः । **विनिश्चितं**
विशेषेण इदमित्थतया निर्णीतम् । निश्चये कृष्णप्रसादस्य साधनत्वोक्त्या तदितरसाधना-
साध्यत्वमुक्तम् । निर्णीतमेवाहुः **संन्यासवरणं भक्ताविति** । **भक्तौ** भक्तिमार्गे
संन्यासवरणं संन्यासाङ्गीकारप्रकारः । अथवा **भक्तौ** भक्तौ सत्यां अथवा **भक्तौ**
भक्त्यर्थं भजनार्थं इदं संन्यासरूपं भगवतो वरणं वरणमेवेत्यर्थः । विपरीते बाधकमाहुः
अन्यथेति । **अन्यथा** भक्तिव्यतिरेकेण करणे उक्तप्रकाराभावात् **पतितो भवेत्**,
तस्मान्मार्गात् च्युतो भवेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

पितृपादाब्जकृपया विवृतोऽस्ति यथामति । संन्यासनिर्णयस्तेन प्रसीदन्तु मयीश्वराः ॥१॥
भक्तिमार्गे पुमर्था ये सिद्धास्ते सर्वथा मयि । तैरेव च कृतार्थोहमिति मे सुदृढा मतिः ॥२॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणैकधनेन श्रीवल्लभेन विरचितं
संन्यासनिर्णयविवरणं सम्पूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीमद्रघुनाथविरचितविवरणसमेतः ।

विठ्ठलेशपदाम्भोजं भक्त्या नत्वा विचार्यते ।
आचार्यप्रोक्तसंन्यासनिर्णये तत्प्रसादतः ॥ १ ॥

अथ कर्ममार्गैकनिष्ठानां भगवत्प्राप्तिलक्षणमुख्यफलासम्बन्धात्क्लेशनैरन्तर्यदर्शनेन जाररेऽपि तत्क्लेशजनितग्लान्यभावाच्च कदाचित्सङ्गवशाद्भगवदीया अप्येवंविधा मा भूवन्निति तदर्थमादावेव सुखोपायं संन्यासं निरूपयन्ति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

शरीरादिवैकल्ये जाते पूर्वदशां स्मृत्वा मया तदानीमेव भगवदर्थं किमिति न यत्नमितीदृशो यस्तापः स पश्चात्तापः । भगवत्तद्भक्तातिरिक्तविषयाणां परितः सर्वतो बाह्याभ्यन्तरराहित्येन यस्त्यागः स परित्याग इत्युच्यते । स पूर्वोक्तपरित्यागो मार्गद्वये कर्तव्यत्वेनोपदिष्ट इत्यर्थः ॥ १ ॥

तृतीयमार्गस्यापि सत्त्वात्तत्रापि कथं नेत्यत आह कर्ममार्ग इति ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

अत्र कर्ममार्गपदेन सकामान्तःकरणस्य संन्यासनिषेधो बोध्यते । अन्यथा प्रवृत्तिमार्गे संन्यासविधायकवाक्याश्रवणादेवाकरणे सिद्धे तन्निषेधो नोपपद्येत । प्राप्तिपूर्वकत्वान्निषेधस्य । युगान्तरे तु शरीरशोषणव्रतादिनाप्यन्तःकरणस्य विषयपराङ्मुखतोपपद्यते । कलौ तु तत्साधनव्रतादिकर्मणां साद्गुण्याभावाद्यथोक्तफलानर्हत्वेन संन्यासानुपयुक्तत्वात्सुतरां न कार्य इत्यर्थः । तदेवं मार्गद्वय एव कर्तव्यत्वेन प्राप्तौ ज्ञानापेक्षया भक्तेरभ्यर्हितत्वात्प्रथमं भक्तिमार्गे कथं कर्तव्य इत्येतादृशी विचारणा क्रियत इत्यर्थः ॥ २ ॥

श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं कर्तव्यश्चेत्स नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

श्रवणादीति । वैयर्थ्याभावपूर्वकं भक्तिसाधनश्रवणादिषु प्रवृत्त्यर्थं सन्यासश्चेत्कर्तव्यस्तदा स एवंविधः इह भक्तिमार्गे न स्वीक्रियत इत्यर्थः । ननु श्रवणादिसाधनानां भक्त्यनुकूलत्वाद्भक्तिसाधनश्रवणादिसम्पत्त्यर्थं संन्यासः कुतो नेत्यत आह **सहायसङ्गसाध्यत्वादिति** । भगवत्तत्त्व जिज्ञासोरेकाकिनः श्रवणादेः सहायस्य सङ्गः सम्पत्तिस्तत्साध्यत्वात् । नहि श्रावयितारं विना श्रवणं सम्भवति । नच श्रुतस्यापि ग्रन्थपर्यालोचनगुरूपसत्त्यादिना विना स्थैर्यम्, अतस्तदंशस्य त्यक्तस्यापि पुनः स्वीकारे धान्ताशित्वमेव । इदमेकं बाधकम् । अपरमाह **साधनानामिति** । अल्पकालपर्यन्तं श्रवणादिसाधनमादरणीयमित्यपि नास्ति, यतो यावज्जीवमपक्वकषायैर्योगिभिः साधनानि रक्ष्यन्त एव । इदं द्वितीयम् ॥ ३ ॥

अभिमानादिति ।

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

विनिदिपादशायां सर्वथा कामक्रोधायनपगमाद्भन्थ्यादिपक्षपातेन प्रतिवादिनिराकरणाय यद्योपि सम्भाव्यते, तादृशश्चाभिमानकृतः सन्यासे कृतेऽप्योपि नोचित इत्यर्थः । इदं तृतीयम् । **नियोगादिति** । गुर्वाज्ञा नियोगः । तदकरणे प्रत्यवायः, तत्करणे व्यासङ्गः, तथा सति नेष्टसिद्धिरिति भावः । इदं चतुर्थम् । **तद्धर्मैरिति** । सन्यासे सर्वत्यागस्य मुख्यत्वात् श्रवणादीनां ग्रन्थादिस्वीकारसाध्यत्वात् परस्पर धर्मैर्विरोधाद्भक्तिमार्गेन्यैशेपरत्वेन संन्यासो न प्रशस्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

भगवद्धर्माचरणे अनर्थकरगृहादीनां बाधकत्वात् प्रतिबन्धापगमाय सन्यासो यदि कर्तव्यस्तदापि बाधकत्वमाह **अग्रेपीति** ।

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्स कामतः ॥ ५ ॥

गृहादिसङ्गाभावाय सन्यासे कृतेपि तदनन्तर **तादृशैः** पूर्वोक्तसहायादिभिरेव **सङ्गो भवति** । अन्तःकरणस्य सर्वांशे भगवत्परत्वाभावात् । **नान्यथा** । (न) भगवदेकपरतेत्यर्थः । ननु भगवदर्थत्वेनैतमपि क्रियमाणे फल भविष्यत्येवेति चेत्तत्राह **स्वयं चेति** । भक्तिमार्गे निरुद्धमिदमिति ज्ञात्वापि यः संन्यसेत्, स विषयवासनावलितान्तःकरणत्वेन भगवद्रसाननुभवात्त्यक्तविषयेष्वेवाभिनिविशेत् । **स कामतः** कामित्वाद्विषयाक्रान्तः

१ वैराग्यभावपूर्वकमिति पाठ । २ कर्तव्यत्वेन प्राप्तौ ज्ञानापेक्षया भक्तिमार्गे न स्वीक्रियत इति पाठ ।
३ अनर्थकरणेति पाठ ४ असाधकत्वमिति पाठ ।

पाषण्डी च भवेत् । धर्मध्वजित्वात् । दृढवैराग्याभावे तादृशधर्माचरणं निष्फलमेव । तदुक्तं भगवता 'दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् । स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्' । अन्यदपि, 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते' इति ॥ ५ ॥

नन्वेतादृशानामपि कदाचिन्महता कालेन फलं भविष्यत्येवेति चेत्तत्राह **विषयाक्रान्तेति** ।

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

विषयाभिनिविष्टान्तःकरणानां हरेरावेशः चित्ते हरिस्वरूपस्थितिर्न भवतीति शेषः । तर्हि **सर्वदा**, न कालेनैवत्यनेन । अत इति । यतः पूर्वोक्तानां दोषाणां सम्भवः अतः कारणादत्र अस्मिन्विचारे, **भक्तौ** भक्तिमार्गे, **साधन** इति निमित्तसप्तमी । तेन साधनसम्पत्त्यर्थं यः परित्यागः स सुखं नावहति, न करोतीत्यर्थः । न केवल सुखाभावः, किन्तु दुःखमपि इति भावः ॥ ६ ॥

तर्हि किं लिप्सुः प्रवर्ततेत्यपेक्षायामाह **विरहेति** ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

'तन्मनस्कास्तदालापा' इत्यादिषु प्रसिद्धो यो व्रजसुन्दरीणां श्रीकृष्णाङ्गसङ्गवियोगकालीनो भावविशेषः कथनानिर्वचनीयः अनुभवैकवेद्यो यः सोत्र विरहपदेनोच्यते, तस्यानुभवः साक्षात्कारः,तदर्थं तु संन्यासो भक्तिमार्गीयः प्रशस्त इत्यर्थः । उक्तमपि पुनः शिक्षार्थमाहुः **स्वीयेति** । स्वस्य बन्धो बन्धनहेतुर्गृहादि:, तन्मात्रैकनिवृत्त्यर्थं चेत्संन्यासः, तदा **सोऽत्र** भक्तिमार्गे धन्य एव ज्ञेयः, तस्य स्वमार्गीययथोक्तफलासम्पादकत्वात् । **नान्यथा** । बन्धातिरिक्तफलासम्पादक इत्यर्थः । अत्र चेदिति पदमध्याहार्यम् ॥ ७ ॥

न[१]न्वाचार्यवान् पुरुषो वेदे'त्यादिवाक्यैर्गुरुमहत्त्वं संन्यासादेः श्रूयते, तदुक्तसाधनाचरण च । तत्र सर्वं प्रकृते कथं सेत्स्यत इत्यत आह **कौण्डिन्यगोपिका** इति ।

कौण्डिन्यगोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

कौण्डिन्यनामा यो महर्षि ।याश्च रासमण्डलान्तर्वर्तिन्यो **गोपिकाः** ।कौण्डिन्यश्च गोपिकाश्चेति द्वन्द्वः । विरहानुभवार्थसंन्यासे **गुरव** उपदेष्टार एताः **प्रोक्ताः** सम्यगुक्ताः । नहि भक्तिमार्गे एतदतिरिक्तस्यान्यस्यैवविधत्व सम्भवति । यद्यपि तासां साक्षादुपदेष्टृत्वं न दृश्यते, तथापि तदाचरणं श्रुत्वा दृष्ट्वा वा यः प्रवर्तते, त प्रति तादृशालौकिकमार्गप्र-

१ तत्र न सर्वेति पाठ ।

दर्शकत्वात्तासामेव गुरुत्वं युक्तम् । श्रूयते च भविष्योत्तरे अनन्तव्रतकथायां कौण्डिन्यस्य सर्वत्यागपूर्वकं भगवदेकपरतया स्थितस्य शीघ्रमेव तत्प्राप्तिः । तथा 'ततो जगाम कौण्डिन्यो निर्वेदाद्गहनवरम् । अनन्तं मनसा ध्यायन् कदा द्रक्ष्यामि केशवम् । व्रतं निरशनं कृत्वा ब्रह्मचर्यं जपन् हरिम् । विह्वलः प्रययौ सोऽप्यरण्यं जनविवर्जितं' मित्यादि । व्रजसुन्दरीणां तु 'गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै' रित्यादिषु स्फुटमेवालौकिकतथाविधत्वम् । यद्यप्येतासां साम्यं कर्तुं मनसाप्यशक्यम्, तथापि स्वागसंतोधिकस्य सर्वथा अभाव एवान्यत्रेति ज्ञापनार्थम् । एतादृशसर्वात्मभावपूर्वकान्यविषयपरित्यागे झटिति भगवत्प्राप्तिरिति भावः । साधनं च प्रोक्तमित्यर्थः । किं तत्साधनमित्यपेक्षायामाह । तनोति स्वरूपानन्दानुभवं विस्तारयतीति तत् । तादृशो यो यस्य भक्तस्य यादृशी भावना तया सिद्धः सम्यग्भावविशेषः स एव साधनस्थानीयः । एतदतिरिक्तस्यान्यस्य यागादेः साधनत्वं नेष्यत इत्यर्थः । यद्वा तद्गुरुत्वेनोक्तं यत्तत्साधनम् ॥ ८ ॥

एवंविधसंन्यासवतः प्रवृत्तिवैलक्षण्यमन्यापेक्षया ज्ञानादिभिरप्रतीकार्यत्वं चाहुः विकलत्वमिति ।

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

उद्देश्यवस्त्वप्राप्तिदशायां चिन्ताव्याकुल्याद्विकलत्वं विक्षिप्तचित्तत्वम् । तथैवास्वास्थ्यं शरीरे तदलाभे वैवर्ण्यपाण्डुरत्वादि । एतद्द्वयमपि प्रकृतिः स्वभावान्तःपात्येव, नौपाधिकम् । तादृशावस्थस्य उपायान्तराप्रतीकार्यदुःखत्वमाह प्राकृतमिति । भगवल्लीलौपयिकस्वरूपज्ञानापेक्षयान्यच्छास्त्रजन्यमल्पसारं ज्ञानं तदत्र प्राकृतमुच्यते । गुणाश्चाणिमाद्यैश्वर्यादियोगसिद्धयः । तदिदं सर्वमप्येवं वर्तमानस्यैतादृशावस्थस्य न हि बाधकाः, न समीहितान्तरायहेतवो भवन्तीत्यर्थः । एवंदशापन्नस्य शास्त्रीयं माहात्म्यादिबोधकं ज्ञानं न तच्छोकनिवर्तकम् । यत्र सर्वसम्मतस्वास्थ्यहेतुज्ञानस्याप्यप्रयोजकत्वम्, तत्र किं वाच्यमैश्वर्यादीनामिति भावः । प्रकृतेरिति पाठे वैकल्यं विपर्यासः । अन्यत् समानम् ॥ ९ ॥

ज्ञानमार्गीयसंन्यासापेक्षया यथा भक्तिमार्गीयस्य संन्यासस्योत्तमसाधनत्वं तथैव तत्फलस्यापीत्याहुः सत्यलोक इति ।

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषतः ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

सत्यलोको ब्रह्मलोकः । तत्र ज्ञानात् संन्यासाश्रमरहितकेवलज्ञानादपि स्थितिर्भवति । संन्यासेन सहिता तु विशेषतः पुनरावृत्तिरहितेत्यर्थः । तथा च नारायणे श्रूयते 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले

पराभूतात् परिमुच्यन्ति सर्वे' इति । भक्तिमार्गीयमाह 'भावनेति । यत्र यस्मिन् फले भावनैव साधनं भवति तत्र फलमपि तथा भावनानुरूपमेव भवेत् । यथा ब्रह्म लोकप्राप्तिसाधनानां फल्गुत्वादल्पफलसम्पादकत्वम्, न पूर्णस्य, एवं भावनानामनन्तत्वात् फलस्याप्यानन्त्यमिति भाव । अत एवाचार्यैरुक्तम् 'प्राकृता सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् । पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम'ेति । भगवच्चिन्तनपरस्य ब्रह्मलोको नानुरूपं फलमिति तु श्रीविष्णुपुराणे श्रूयते । तद्यथा, 'यस्मिन् न्यस्तमतिर्न याति नरकं स्वर्गोपि यच्चिन्तने विघ्नो यत्र निवेशितात्ममनसो ब्राह्मोपि लोकोऽल्पकः । मुक्तिं चेतसि य स्थितोऽमलधियां पुंसां ददात्यव्ययः किं चित्रं यदघं प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्तिते' इति ॥ १० ॥

तादृशाः इति ।

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
यत्रिश्च प्रकटः स्वात्मा वह्निवत् प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

क्विप्प्रत्ययान्तस्य बहुवचनम् तादृशा इति ज्ञेयम् । ये केवलज्ञानमार्गीयास्ते सत्यलोकादावेव तिष्ठन्ति, नतु पुरुषोत्तमे, भक्तिमार्गानन्तःपातित्वात् । आदिपदेन सङ्कर्षणादिस्थानं ज्ञेयम् । यद्यपि 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते' इति वाक्याद्ब्रह्मलोकादप्यग्रे गतिस्तन्निष्ठानां श्रूयते, तथापि भजनानन्दाननुभवादेतदपेक्षया तुच्छत्वमेवेति भाव । तर्हि ब्रह्मलोकस्थानामपि कुतो न भजनानन्दानुभव ? भजनीयस्वरूपस्यात्र प्रवेशाभावा दित्याह यत्रिश्च प्रकट इति । आकाशवदन्तर्बहिश्च प्रकट सिद्धोपि स्वात्मा भगवानन्त स्थितोपि वह्नि प्रकटीभूय स्वलीलाभिनिविष्टचित्तेषु यदैव प्रविशेत्तदैवान्तर्हितो भवेत्, तदैव सकलो बन्धो गृहादिर्नाशमेति, तिरस्कृत भवति, न त्वन्येनापि प्रकारे णेत्यर्थ । अत एवोक्तम् 'प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयते'ति । यथा शुष्ककाष्ठस्थितो वह्नि शीतशातनासमर्थ, स एव मन्थनादिना बहिर्भूतो ज्वालादिरूपेण तत्रैव काष्ठ प्रविष्ट काष्ठं स्वात्मसात्कृत्वा शीतं निवर्तयति, एवं वह्नि स्थितमानन्दघनस्वरूपमपि भक्तभावनाभावितं यावन्न पुन प्रविशति, तावन्न तत्स्वरूपप्राप्तिरिति भाव । ज्ञानमार्गी याणां तद्बन्धलेशाभावान्न तत्प्राप्तिशङ्कापि ॥ ११ ॥

ननु विरहावस्थाया किमवलम्बनं जीवनमित्यत आह गुणास्त्विति ।

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनाय भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवत्सङ्गस्य राहित्यात् । अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी । तेन सङ्गराहित्यं प्राप्य स्थिते सति गुणास्तस्यैवानुक्रियमाणा लीलास्तदीयगुणानुवादो वा । तदुक्तम् 'तव कथामृतं तप्तजीवन'मिति । त एव जीवनाय भवन्ति । हिशब्द प्रसिद्धौ ॥ १२ ॥

भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

अत्रास्मिन् जीवने अन्तर्हितो भगवानेव बाधकश्चेत्सोपि फलरूपत्वान्नैवंविधो भवतीत्यर्थः। ननु गुणानां जीवनहेतुत्वोक्तावपि यावन्न दृग्गोचरत्वं स्वरूपस्य भवेत्, तावत्तापापायोपि नेति तदर्थं स्वास्थ्यजनकं प्रकारान्तरेण बोधकवाक्यं कर्तव्यं चेत्तत्राह स्वास्थ्यवाक्यमिति । न कर्तव्यं न स्वयमन्यस्मात्श्रोतव्यम् । न चान्यस्मै श्राव्यमित्यर्थः। तथाच स्वास्थ्यं भगवानेव करिष्यतीत्याह दयालुरिति। यतो निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छुः, अतो भक्तानामेतादृगवस्थां ज्ञात्वा विलम्बं न करिष्यति, अतो न विरुध्यते, न प्रतिकूलमाचरिष्यति । प्रस्तुत परोक्षभजनानन्ददानेपि भक्तकुलं प्रति स्वस्य ऋणित्वमेवाङ्गीकरोति । तच्च भगवतैवोक्तम् 'न पारयेहं निरवद्यसंयुजा'मित्यादि । एवंविधानां स्वास्थ्यवाक्यसहस्रैरपि नेष्टसिद्धिरिति परमार्थः ॥ १३ ॥

दुर्लभोयमिति ।

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।

अयं भक्तिमार्गीयो यः परित्यागः स प्रेम्णा निरुपधिस्नेहादेव सिध्यति, अतो दुर्लभः, अन्यैः साधारणैः कर्तुमशक्य इत्यर्थः ॥ १३३ ॥

भक्तिमार्गीयं निरूप्य ज्ञानमार्गीयमाह ज्ञानमार्गे इति ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ।

विचारोत्रोपपत्तिस्तस्मादित्यर्थः। स द्विप्रकारकोऽपि ज्ञेयः । अपिशब्दोऽत्र गर्हायाम् । द्वैविध्यमाह ज्ञानार्थमिति । ज्ञानोत्पत्त्यर्थमेकः । उत्तरस्य मोक्षस्याङ्गं तदर्थमिति यावत् । यद्यपि ज्ञानार्थस्यापि मोक्षाङ्गत्वमेव, तथापि प्रयोजनवशाद्द्वैविध्यम् । अन्यथा कर्मणोपि द्वैविध्यं न स्यात् । परन्तूभाभ्यामपि जन्मशतैर्बहुजन्मभिरभ्यासेन सिद्धिर्मोक्षो भवति । न भक्तिमार्गीयवज्झटिति । अत एव भगवताप्युक्तम् 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' इति । व्यवहारेपि विद्वत्संन्यासो विविदिषासंन्यास इति श्रूयते द्वैविध्यम् । भक्तिं विहाय केवलज्ञानार्थमेव यः संन्यासः स दोषग्रस्तत्वान्न कर्तव्य इत्याह ज्ञानं चेति । चकारान्मोक्षोपि साधनसापेक्ष एव । तत्र हेतुः ।

यज्ञादिश्रवणात्। यज्ञादिकं साधनत्वेन श्रूयत इत्यर्थः। इदं तु गीतायाम् 'द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा' इत्यादिषु स्फुटम्। यज्ञादीनां साधनानामेव फलसम्पादनक्षमत्वात्, तच कलौ सर्वथैव न सम्भवतीत्यतस्तत्करणं पश्चात्फलदशायां तापायैव, न सुखाय। पूर्वोक्तधर्मध्वजित्वेन पापण्डित्वमेव स्यात्। अपिशब्दादग्रेऽपि फलाभावः। अत एव श्रीमद्भागवते 'श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य' इत्यादिनोक्तम्। यत एवंकरणे पश्चात्तापः फलासम्बन्धश्च। तस्मात् ज्ञाने न, ज्ञानमार्गे न संन्यसेत्, कलौ साधनप्रकरणफलत्वात्कालकृतदोषाणां प्राबल्यात्सुतरामेव न कार्यं इति वस्तुस्थितिरित्यर्थः ॥ १४, १५, १६ ॥

एवं भक्तिमार्गेऽपि दोषमाशङ्क्य समाधत्ते भक्तिमार्गेऽपीति।

भक्तिमार्गेऽपि चेदोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरं।
अन्यथा मातरो बालान् स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

अत्रारम्भ इति। अस्मिन्भक्तिमार्गीयसंन्याससोपक्रममात्रेऽपि कृते न नाशः, न कृतोपक्रमवैयर्थ्यं, नापि विघ्नो भवेत्, नापि प्रत्यवायः। तदुक्तं भगवता 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयादि'ति, श्रीभागवतेऽपि 'तथा न ते माधव तावकाः क्वचि'दित्यादिना। किञ्च, पूर्वमेवं चिकीर्षोः कस्यचिदन्ययाभाव इत्यर्थे सर्वस्मात्तद्दृष्टान्तस्याप्यभावात्, अतो ज्ञानमार्गीयवदत्रास्य न पातादिशङ्केत्यर्थः। भक्तिरहितज्ञानमार्गीयस्य तु पातः श्रूयते श्रीभागवते 'येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः। आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रय'इति। किञ्च, असिद्धस्य स्वास्थ्यहेतोस्तुच्छनिष्पादेः परितः सर्वतस्त्यागादेव न बाधः सम्भवति। अन्तर्बहिः सिद्धविषयस्य तु खेटफलत्वादेव न तत्सम्भव इत्यर्थः। यदि तदेकाश्रितानामपि तस्मादेव बाधः स्यात्तदा मातृमात्रैकजीवनान् बालान्मातरोऽपि न क्वचित्पुपुषुर्न स्तन्यैः पुष्णीयुः, पुष्टाः न कुर्युः, प्रत्युतानिष्टं च कुर्युः, न त्वेवं क्वचिदस्तीत्यतो न बाधशङ्कालेशोऽपीति भावः ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

अल्पज्ञं प्रत्याहुः ज्ञानिनामिति।

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

ज्ञानमार्गप्रशंसावाक्यैरपि तद्द्वारा स्वभजने प्रवृत्तं न मोहं प्रापयिष्यति। इदमुत्कृष्टमिदं वेलेवंविधम्। ननु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य स्वतन्त्रस्य कदाचिदेवमपि करणं

सादिति चेत्तत्राह आत्ममद इति । स्वस्वरूपं भक्तेभ्यो दत्तवान्, तदधीनत्वेन स्थापितवान्, यश्च स्वात्मत्वेन प्रियश्च । अत एवोक्तम् 'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मे'ति । अपिशब्दादेवमजानतामभक्तानामप्रियश्च । चकारात् स्वस्य भक्तस्य कृत्स्नबुभुक्षुत्वमपि । एतादृशस्यापि मोहकत्वे न किमित्कारणमस्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

उपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

उक्तप्रकारेण भक्तिमार्गे स्थित्वा विरहानुभवार्थमेव क्रियताम्, अन्यथा इमं प्रकारान्तरं त्यक्त्वा प्रकारान्तरेण तदाचरणे स्वार्थात् स्वस्मिन्नेवार्थ्यते अन्विष्यत इति स्वार्थो भगवान् तस्माद्भ्रश्यते दूरे पततीत्यर्थः । इति एवंप्रकारिका मे निश्चिता बुद्धिरित्यर्थः । यद्वा, स्वार्थात् समीहितफलादित्यर्थः ॥ २१ ॥

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इतीति । कृष्णः प्रसाद्यते येन, कृष्णस्य प्रसादोऽन्येषां यस्मादिति वा । तत्प्रसादरूप एवेति वा । ईदृशेन वल्लभेन भक्तौ भक्तिमार्गे संन्यासस्य वरणं वरतीति स्वीकरणम् । इति उक्तप्रकारेण विशेषतो निश्चितं निर्धारितम् । भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्येदं विहायान्यथा अन्येन ज्ञानमार्गाद्युक्तप्रकारेण स्वीकरणे पातित्यमेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

आचार्यचरणाम्भोजरजोरञ्जितवाग्दृढ़म् ॥
कृतवान् भक्तिसंन्यासविचारे सुविचारणाम् ॥ १ ॥
कर्मणा मनसा वाचा प्राणैर्दारैर्धनैरपि ॥
विठ्ठलेश त्वदीयोस्मि नान्यथा ज्ञातुमर्हसि ॥ २ ॥

इतिश्रीवल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृतौ
संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोकुलोत्सवविरचितविवरणसमेतः ।

यत्पदाब्जरसास्वादविस्मृतान्यसुखा मुहुः ।
रमन्ते तद्गुणालापैस्तं वन्दे गोकुलेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ सकलश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायादिप्रमाणसम्मतः भगवदानन्दानुभव एव सर्वेषां परमफलम् । तत्रापि भजनानन्दानुभवः श्रीगोपीजनवल्लभस्य । तथाहि । 'रसो वै सः' इत्यादिभ्यो भगवान् रसरूपः । रसश्च शृङ्गारः । स च संयोगविप्रयोगभेदेन द्विविधः । तेन तदुभयभावात्मकभगवदानन्दानुभव एव परमफलम् । स च लीलासृष्टौ प्रवेशे सति सम्भवति । ततः पूर्वदशायां तु संयोगाभावात् सर्वपरित्यागपूर्वकः विप्रयोगभावानुभव एव परमफलम् । सर्वपरित्यागं विना लौकिकासक्तस्य सत्त्वादव्यग्रतया विप्रयोगानुभवासम्भवात् । स च परित्यागः कस्मिन् मार्गे कर्तव्यः, कदा वा कर्तव्यः, कथं वा कर्तव्यः, किमर्थं वा कर्तव्यः, करणानन्तरं च तस्य कीदृशी दशेत्येतत्सर्वनिर्धारार्थं विचारप्रयोजनमनुवदन्त एवाचार्याः परित्यागविचारं प्रतिजानते पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च **परित्यागः** कर्तव्यः, तत्रापि सिद्धदशायामेव, न तु साधनदशायाम् । साधनदशायामत्यन्तवैराग्याभावेन परित्यागानिर्वाहात् पाषण्डित्वप्रसङ्गेन कृतोपि परित्यागः पश्चात्तापाय भवति । एतावत्तारतम्यज्ञानाभावे भगवदीया अपि पूर्वमेव परित्यक्तसर्वार्थाः सन्तः पश्चात्तप्ता भवेयुः, तथा तान् दृष्ट्वा स्वयमपि पश्चात्तप्ता भवेयुः, तथा चान्येषां स्वस्य च पश्चात्तापस्यानाविर्भावार्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । यद्वा । सकलदेवजीवानां भगवत्प्राप्त्यर्थं भगवदाज्ञया ह्याचार्याणां भूलोकेऽवतारः । सा भगवत्प्राप्तिश्चाचार्यैर्भक्तिमार्गप्राकट्येन क्रियते । तत्र यथा सर्वसिद्धान्तमुक्तवन्तस्तथा अव्यग्रतया निरन्तरं विप्रयोगभावानुभवार्थं **परित्यागोपि** पूर्वमेव कथनीयः । तथा चैतावत्कालं वृथा विलम्बः कृत इति यः पश्चात्तापः तस्य निवृत्त्यर्थं **परित्यागो विचार्यत** इत्यर्थः । अथवा । परित्यागेन पूर्वमहर्निश

विप्रयोगभावानुभवः, तदनन्तरमलौकिकदेहेन संयोगभावानुभवः । तथा च पश्चात् परित्याग-नन्तरं तापश्च निवृत्तिश्च तापनिवृत्ती, तयोर्निमित्तं परित्यागो निर्धार्यत इत्यर्थः । तेनोभय-प्रकारकभगवद्भावानुभवे आचार्योयम एव हेतुरिति सूचितम् । यत्र 'निरहानुगवैकार्थसर्व-त्यागोपदेशक'इति सर्वोत्तमे उक्तम् । तदव्यवधानविषया सवासन इति परिशब्दार्थः । ननु परित्यागः कस्मिन्मार्गे कर्तव्य इति चेत् ? तत्राहुः **स मार्गद्वितये प्रोक्त** इति । विशेष आधिक्यम्, तेन सिद्धदशा विशेषः । **विशेषतः** इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च **भक्तौ ज्ञाने** च विशेषं सिद्धदशां प्राप्य **मार्गद्वितये** भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च स परि-त्यागः प्रकर्षेण उक्तः, कर्तव्यत्वेन कथित इत्यर्थः ॥ १ ॥

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

अथ **कर्ममार्गे** साधनदशायां ज्ञानमार्गे उपासनामार्गे साधनदशायां **भक्तिमार्गे** च परित्यागः पश्चात्तापायेति तन्निवृत्त्यर्थं परित्यागस्य विचारः क्रियते । विशेषतः विशेषं प्राप्य । स च सिद्धदशा उभयोः । यद्वा, बहुजन्मसु परित्यागः कर्तव्य इति आवृत्ति-बाहुल्यमेव विशेष इति ज्ञानमार्ग एव **विशेषत** इत्यन्वेति । निष्कामतया कर्मकरणं चित्त-शुद्ध्यर्थम्, कर्ममार्गे पत्नीं विना च यज्ञादिकरणमसम्भवीति न परित्यागः सम्भवति । पत्नी-साहित्येपि निष्कामतया कर्माचरण सन्यास एवेति चेत् सोपि कलौ देशादिशुद्ध्यभावान्न सम्भवतीत्याहुः **सुतरां कलिकालत** इति । यद्वा । आयुषश्चतुर्थभागे संन्यास इति यन्मतं तस्मिन्नपि मते भक्तिं ज्ञानं च विना केवल कर्ममार्गे विरक्तिं विना न कर्तव्यः परित्यागः किन्तु विरक्तावेवेति भक्तेर्ज्ञानस्य वा सिद्धदशां विना न सम्भवतीति **कर्ममार्गे न परि-त्यागः, सुतरां कलिकाले** ॥ २ ॥

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत्स नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥
विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

श्रवणादीनां निरन्तरसम्यग्रतया सिद्ध्यर्थं यदि स नेष्यते भावोद्बोधकत्वाद्भगव-

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोकुलोत्सवविरचितविवरणसमेतः ।

यत्पदाब्जरसास्वादविस्मृतान्यसुखा मुहु ।
रमन्ते तद्गुणालापैस्त वन्दे गोकुलेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ सकलश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायादिप्रमाणसम्मत्या भगवदानन्दानुभव एव सर्वेषा परमफलम् । तत्रापि भजनानन्दानुभव श्रीगोपीजनवल्लभस्य । तथाहि । 'रसो वै स' इत्या दिभ्यो भगवान् रसरूप । रसश्च शृङ्गार । स च सयोगविप्रयोगभेदेन द्विविध । तेन तदुभयभावात्मकभगवदानन्दानुभव एव परमफलम् । स च लीलासृष्टौ प्रवेशे सति सम्भवति । तत पूर्वदशाया तु सयोगाभावात् सर्वपरित्यागपूर्वक विप्रयोगभावानुभव एव परमफलम् । सर्वपरित्याग विना लौकिकाशस सत्त्वादव्यग्रतया विप्रयोगानुभवासम्भवात् । स च परि त्याग कस्मिन् मार्गे कर्तव्य , कदा वा कर्तव्य , कथ वा कर्तव्य , किमर्थं वा कर्तव्य , करणानन्तर च तस्य कीदृशी दशेत्येतत्सर्वनिर्धारार्थ विचारप्रयोजनमनुवदन्त एवाचार्या परित्यागविचार प्रतिजानते पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषत ॥ १ ॥

भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च **परित्याग** कर्तव्य , तत्रापि सिद्धदशायामेव, न तु साधन दशायाम् । साधनदशायामत्यन्तवैराग्याभावेन परित्यागानिर्वाहात् पाषण्डित्वप्रसङ्गेन कृतोपि परित्याग पश्चात्तापाय भवति । एतावत्तारतम्यज्ञानाभावे भगवदीया अपि पूर्वमेव परित्यक्त सर्वार्था सन्त पश्चात्तप्ता भवेयु , तथा तान् दृष्ट्वा स्वयमपि पश्चात्तप्ता भवेयु , तथा चान्येषा स्वस्य च पश्चात्तापसन्ताननिर्मोकार्थ परित्यागो विचार्यत इत्यर्थ । यद्वा । सकलदैवजीवाना भगवत्प्राप्त्यर्थं भगवदाज्ञया ह्याचार्याणा भूलोकेऽवतार । सा भगवत्प्राप्तिश्चाचार्यैर्भक्तिमार्ग प्राकट्येन क्रियते । तत्र यथा सर्वसिद्धान्तमुक्तवन्तस्तथा अव्यग्रतया निरन्तर विप्रयोगभावा नुभवार्थं **परित्यागोपि** पूर्वमेव कथनीय । तथा चैतावत्काल वृथा विलम्ब कृत इति य पश्चात्ताप तस्य निवृत्त्यर्थं **परित्यागो विचार्यत** इत्यर्थ । अथवा । परित्यागेन पूर्वमहर्निश

विप्रयोगभावानुभवः, तदनन्तरमलौकिकदेहेन संयोगभावानुभवः । तथा च पश्चात् परित्यागानन्तरं तापश्च निवृत्तिश्च तापनिवृत्ती, तयोर्निमित्तं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । तेनोभयप्रकारकभगवद्भावानुभवे आचार्योयम एव हेतुरिति सूचितम् । यच्च 'विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशक'इति सर्वोत्तमे उक्तम् । तदव्यवधानविवक्षया सवासन इति परिशब्दार्थः । ननु परित्यागः कस्मिन्मार्गे कर्तव्य इति चेत्? तत्राहुः **स मार्गद्वितये प्रोक्त इति ।** विशेष आधिक्यम्, तेन सिद्धदशा विशेषः । **विशेषतः** इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च भक्तौ ज्ञाने च विशेषं सिद्धदशां प्राप्य **मार्गद्वितये** भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च स परित्यागः प्रकर्षेण उक्तः, कर्तव्यत्वेन कथित इत्यर्थः ॥ १ ॥

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

अथ **कर्ममार्गे** साधनदशायां ज्ञानमार्गे उपासनामार्गे साधनदशायां **भक्तिमार्गे** च परित्यागः पश्चात्तापायेति तन्निवृत्त्यर्थं परित्यागस्य विचारः क्रियते । विशेषतः विशेषं प्राप्य । स च सिद्धदशा उभयोः । यद्वा, बहुजन्मसु परित्यागः कर्तव्य इति आवृत्तिबाहुल्यमेव विशेष इति ज्ञानमार्ग एव **विशेषत** इत्यन्वेति । निष्कामतया कर्मकरणं चित्तशुद्ध्यर्थम्, कर्ममार्गे पत्नीं विना च यज्ञादिकरणमसम्भवीति न परित्यागः सम्भवति । पत्नीसाहित्येपि निष्कामतया कर्माचरणं संन्यास एवेति चेत् सोपि कलौ देशादिशुद्ध्यभावान्न सम्भवतीत्याहुः **सुतरां कलिकालत** इति । यद्वा । आयुषश्चतुर्थभागे संन्यास इति यन्मतं तस्मिन्नपि मते भक्तिं ज्ञानं च विना केवलं कर्ममार्गे विरक्तिं विना न कर्तव्यः परित्यागः किन्तु विरक्तावेवेति भक्तेर्ज्ञानस्य वा सिद्धदशां विना न सम्भवतीति **कर्ममार्गे न परित्यागः, सुतरां कलिकाले** ॥ २ ॥

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत्स नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥
विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

श्रवणादीनां निरन्तरमव्यग्रतया सिद्ध्यर्थं यदि स नेष्यते भावोद्बोधकत्वाद्भगव-

दीयाः सहायास्तेषां सगेन श्रवणादयः साधनीयाः । पूजादीना साधन च रक्ष्यम्, साधनदशायां अभिमानश्च विद्यते । 'तावत्कर्माणी'ति वाक्यात् साधनदशायां पूर्णविरक्त्यभावाद्वेदादिरूपभगवन्नियोगाद्वर्णाश्रमधर्मा कर्तव्या एव । सन्यासधर्मे सह श्रवणादीनां विरोधोऽपि । गृहे भगवदीयै. सगामावात्त्यागः कार्य इति चेत्तत्राहुर्गृहादेरिति । गृहत्यागे कदाचित्कुजनितसत्सग. सादिलाशया कार्य इति चेत्तत्राहुः स्वयं चेति । विपर्ययेन्त करण आक्रान्ते सत्सगार्थं तत्रोद्यम एव न भवतीति भावः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यगोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥
विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥
तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनाय भवन्ति हि ॥ १२ ॥

कौण्डिन्यादावपि भावनयैव भाव सिद्ध इत्याहुर्भावो भावनयेति । ज्ञानं ब्रह्मज्ञानम्, गुणा सत्त्वादयश्च, भगवदिच्छया यदि भवन्ति तदा ते बाधका । यत्र भावना साधन तत्र भावनानुरूप फलम् । ननु तादृशस्य ज्ञान गुणाश्च कथ बाधका भवेयुस्तत्राहुर्भावना साधनं यत्रेति । तथा च यादृशी भावना तदनुरूप फलम् । तेन यावत्पर्यन्त तल्लीलाभावना तावत्तदनुरूप फल, यावद् ब्रह्मज्ञानेन सर्वत्र ब्रह्मभावना तावत्तदनुरूप फल, यावच्च सत्त्वादिगुणे कृत्वा विषयेषु भावना तावत्तदनुरूप फलम् । तथा च भावभावनाना साधारण्यात् फलेपि तथात्वम् । बाधकत्व विवृण्वन्ति तादृश इति । ब्रह्मभावनादियुक्ता सत्यलोकादावेव तिष्ठन्तीत्यर्थः । ननु ब्रह्मभावनया किं स्यादित्यत आहुर्बहिरिति । यदि बहि प्रकाश एव न स्याद्यदि च पश्चाद्वह्निवदन्तर्न प्रविशेत्तदापि न ससारलय· । यदि गुणेष्वासक्ति स्यात्तदा ते बाधका भवेयु, परन्तु तादृशाना पूर्वमेव गुणेष्वासक्तेर्निवृत्तत्वाद्गुणा केवल जीवनाय भवन्ति, न तु बन्धका । यद्वा । तादृशानां सर्वत्यागादन्यै· कैश्चिदपि न सङ्ग, प्रभुरविप्रयोगे च जीवनमशक्यम् । यदि च भगवदीयै· सङ्ग स्यात्तदा तद्वार्तयापि जीवन स्यात्, भगवतश्च तादृशानामपि जीवनमन्योपायद्वारार्थं सम्पादनीय भवति । तदा भगवतस्तेषा जीवनार्थं प्राकृतेष्वपि गुणेषु तेषा मनो यत्किञ्चित्स-

योजयति । नन्वेवं गुणेष्वासक्त्यभावादत्यन्तवियोगे जीवनं न स्यात्, तथा च जीवनविघातकत्वेन भगवान् बाधकत्वेनाभिमतः स्यादित्याशंक्याहु र्भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥
दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३½ ॥

जीवनविघातकत्वेपि प्रतिक्षणं फलरूपभगवद्भावानुभावकत्वान्न बाधकः । न हि तदवसातो जीवनमधिकमस्ति । यद्वा । ननु यदि भगवांस्तेषां मनो गुणेषु किञ्चित्संयोजितवांस्तदोत्तरोत्तरं गुणेष्वधिकासक्त्या भगवद्भावस्य विघातः स्यात्, तथा च भावविघातकत्वेन भगवान् बाधकः स्यादित्याशंक्याहुः भगवानिति । नहि भगवान् भावं विहन्तुं गुणेषु तेषां मनः संयोजयति, किन्तु तेषां जीवनार्थम् । तथा च यावता तेषां जीवनं भवति तावदेव तेषां मनो गुणेषु योजयति, न तु गुणेष्वधिकामासक्तिं जनयति । कुतः । फलरूपत्वात् । नहि फलं बाधकं भवति । ननु भगवान् स्वतोन्यद्वारा तेषां स्वास्थ्यवाक्यान्येव कथं न सम्पादयति, येन स्वस्थतया जीवनं भवेत्, तत्राहुः । स्वास्थ्यवाक्यमिति । विप्रयोगभावं बाधित्वा जीवनसम्पादनमनुचितं यतः । न हीतोपि जीवनमधिकमस्ति, अर्हे तव्यः । तथा करणं चाशक्यम् । न ह्येतद्भावस्य बाधनं भगवतान्येन वा कर्तुं शक्यम् । वक्ष्यन्ति च 'हरिरत्र न शक्नोती'ति । शक्यार्थे तव्यस्तदा । ननु परमदयालुः कथं तेषां जीवने उपेक्षां करोति, तत्राहुः दयालुरिति । न ह्येतादृशभावसम्पादकस्य दयालुता विरुध्यते ॥ १३, १३½ ॥

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ॥ १६½ ॥

ज्ञानमार्गे विविदिषाविद्वत्ताभेदेन द्विविधोपि संन्यासो विचारितः । तद्द्वयमाहुर्ज्ञानार्थमिति । ज्ञानार्थं ज्ञाननिमित्तं यः संन्यासः स एकः, विविदिषासंन्यास इति यावत् । उत्तराङ्गं ज्ञानापेक्षया उत्तरं अग्रिमं मुक्तेरङ्गं यः संन्यासः स द्वितीयः, विद्वत्संन्यास इति यावत् । परन्तु ज्ञानमार्गीयसंन्यासे बहुजन्मभिर्मुक्तिः, न त्वेकजन्मना । 'बहूनां जन्मनामन्त' इति भगवद्वाक्यात् । तयोर्मध्ये विविदिषासंन्यासस्तु युगान्तरे कर्तव्यः, न तु कलावित्याहुः ज्ञानमिति श्लोकेन । तमो रजश्च विहाय केवलसत्त्वान्तःकरणः सन् निष्कामतया यदि

यज्ञादिकं करोति तदा ज्ञानमुत्पद्यते । संन्यासे च सामर्थ्याभावाद्यज्ञादिकं न सम्भवति । ज्ञाने च यज्ञादिकं सामर्थ्यत्वेन श्रूयते । सर्वं विहाय वनं गत्वा योगादिना ज्ञानसाधनं च कलौ न सम्भवति । विघ्नानां बाहुल्येनान्तःकरणे लौकिकवासनानामनिवृत्तत्वान्मनःस्थैर्याभावाद्योगादिकमेव न सिध्यति यतः । अतो विविदिषादशायां संन्यासः कलौ पश्चात्तापायैव भवति, न तु सन्तोषायेत्यर्थः । किञ्च । चित्तस्थैर्याभावे सति ततोऽधिकं पापण्डित्वमपि भवेदित्यपिशब्दः । चकारात्तत्कार्यरूपो नरकश्च । तस्मात् ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं विविदिषादशायां न संन्यसेत् । अथवा ज्ञानेन हेतुना संन्यसेत्, न तु ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वम् । युगान्तरे सम्भवेदपि, कलौ तु दोषाणामतिप्रबलत्वात् कथमपि न निर्वहतीत्याहुः सुतरामिति । स्थितं पर्यवसन्नम् ॥ १४, १५, १६, १६३ ॥

ननु यदि कलौ दोषाः प्रबला एव, तदा भक्तिमार्गेऽपि कथं फलसिद्धिरित्याशंक्य भक्तिमार्गे दोषलेशोऽपि नास्तीत्याहुः भक्तिमार्गेऽपीति ।

> **भक्तिमार्गेऽपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥**
> **अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।**
> **स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥**
> **हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।**
> **अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥**
> **ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।**
> **आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥**
> **तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।**
> **अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥**

यदि भक्तिमार्गेऽपि दोषसम्भावना तदा कर्तव्यत्वेन किमुच्यते । एकोऽपि दोषो नास्तीति ज्ञापनार्थमेकवचनम् । तमेव दोषाभावप्रकारमाहुः अत्रारम्भ इति । अत्र भक्तिमार्गे आरम्भे प्रवेशमात्र एव नाशो न भवति । यदि भक्तिमार्गेऽपि दोषाः स्युः, तदा कदाचिन्नाशोऽपि स्यात्, न त्वेवम्, तेन दोषसम्भावनैव नास्ति । ननु भक्तिमार्गीयाणामपि कचित्कामक्रोधादयो दृश्यन्ते, तत्कथं सर्वात्मना दोषाभाव इति चेत् । सत्यम् । (तत्सम्बन्ध्यङ्गीकारो) भगवदङ्गीकारो हि नित्यः । नहि भगवानङ्गीकृतं कदाचिदप्यनङ्गीकरोति । तेन यत्र कचिद्दोषा अपि दृश्यन्ते, तत्रापि क्रमेण दोषानपसार्य भगवान् फलं सम्पादयत्येव । अतो यथा यथा भगवान् तेषां हृदि भक्तिमार्गमानयति, तथा तथा दोषापगमः । अतो यदंशे भक्तिमार्गाप्रवेशस्तदंश एव दोषसत्त्वम्, तेन भक्तिमार्गे दोषाणामसम्बन्ध एव । किञ्च । न वा कचिदिदं दृष्टचरं श्रुतं वा यद्भक्तिमार्गे प्रविष्टस्यापि नाशो जात इति । तेन दृष्टान्त-

स्याप्यभावात् भक्तिमार्गे दोषलेशोऽपि । अत एव भरतस्य जन्मान्तरायेपि फलसिद्धिः । अत एव मधुरास्थसत्रिणां मध्ये बहिर्मुखत्वेपि पश्चात् पश्चात्ताप एव । ननु भक्तिमार्गे **नाशो** न भवतीति सत्यं, **परन्तु यदि भक्तिमार्गं न त्यजेत्** । तथा च साधनदशायामत्यागेपि सिद्धदशायामत्यन्तविप्रयोगक्लेशमसहमानः सन् **मनःस्वास्थ्यनिमित्तं** तन्मार्गं परित्यज्य लौकिकपदार्थमेव यदि किञ्चित्परिगृह्णीयात्तदा नाशो भवत्येवेति चेत्तत्राहुः **स्वास्थ्यहेतोरि**ति । यदैव भगवन्मार्गे प्रवेशस्तदैव लौकिकस्य **परित्यागः, तदनन्तरं** च यथा यथा भगवद्भावस्तथा तथा लौकिकेष्वधिकाधिकैवाऽरुचिर्जायते । तथा च लौकिकस्य **स्वास्थ्यहेतोः** सर्वस्यैव **परित्यागात्** केन पदार्थेनास्य भगवद्भावस्य **बाधः** अन्तरायः सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः । यदि कदाचिदत्यन्तं विप्रयोगभावेनातिक्लेशादिदमपि मनस्यायाति यत्कथमपि यद्ययं भावो निवृत्तो भवेत्तदा सम्यगिति तथाप्यशक्यो भावस्य परित्यागः । न ह्येतादृशः क्षणमपि भगवन्तं विस्मर्तुं शक्नोति । न वान्येन पदार्थेनैतादृशस्य मनःस्वास्थ्यं सम्भवति । यद्वा, **स्वास्थ्यहेतोः** स्वास्थ्यनिमित्तम् । लौकिकं हि सर्वं तस्योद्वेगकारीति स्वास्थ्यनिमित्तं सर्वस्य लौकिकस्य परित्यागात् केन पदार्थेन अस्य भावस्यान्तरायो भवेत्, न केनापीत्यर्थः । अथवा । **स्वास्थ्यहेतोः** स्वास्थ्यनिमित्तं परित्यागात् भगवद्भावस्य **परित्यागात्** । अयं भावः । भगवद्भावत्यागो हि **स्वास्थ्यनिमित्तं** कर्तव्यः, तच्चान्येन न सम्भवति । न ह्येतादृशस्यान्येन **स्वास्थ्यं** सम्भवति । तथा च केनान्तरायः सम्भवेत्, न **केनापी**त्यर्थः । वस्तुतस्तु भावत्याग एव न सम्भवतीति पूर्वमुक्तमिति दिग्वः । नन्वेतादृशस्य स्वयं भावत्यागो न सम्भवतीति सत्यम् । परन्तु यदि कालादयः प्रतिबन्धं कुर्युः, तदा नाशो भवेदेवेति चेत्, तत्राहुः **हरिरि**ति । अत्र विप्रयोगभावे भगवानपि प्रतिबन्धं **कर्तुं न शक्नोति**, तत्र के वराकाः कालादय इत्यर्थः । न चैवमसामर्थ्यं भगवतः । वस्तुन एव तथात्वात् । ननु भक्तिमार्गे प्रवेशे सति सर्वथा न सम्भवति नाशः, परन्तु भक्तिमार्गप्रवेशे तु केवल भगवदङ्गीकार एव मूलम् । नहि भगवदङ्गीकारं विना भक्तिमार्गरुचिर्भवति । भगवतश्च किं प्रयोजनं येन प्रवेशयेत्, तथा च कथं फलसिद्धिरित्याशंक्य **भगवान्** केवलं कृपयैव प्रवर्तयतीति दृष्टान्तेन बोधयन्ति **अन्यथे**ति । यदि **प्रयोजनं विना कोपि न प्रवर्तेदेव**, तदैतावत्कालं विश्वसिन् बालान् मातरो न पुपुषुरित्येव त्वयोक्तं स्यात् न त्वेवम् । किन्तु पुपुषुरेव । तथा भगवानपि प्रयोजनं विनैव केवलं कृपयैव सर्वं सम्पादयतीत्यर्थः । अग्रे **बालानां** प्रयोजनसहस्रसाधकत्वेपि मातृणां तदुद्देशेन न प्रवृत्तिः, किन्तु केवलं वात्सल्यादेव सर्वं सम्पादयतीत्याशयः । ननु भगवदङ्गीकारात् प्रवृत्तस्यापि यदि ज्ञानमार्गीयैः संसर्गः स्यात्, तदा तद्वाक्यैर्बुद्धिविपर्यासे कथं फलसिद्धिरिति चेत्, **तत्राहुर्ज्ञानिनामपी**ति । न हि भगवदङ्गीकारमभिभूय तद्वाक्यानि बुद्धिं विपर्यासयितुं शक्नुवन्ति । भगवांश्च यं भक्तिमार्गेऽङ्गीकृतवांस्तं कदापि ज्ञानिवाक्यैर्नान्यथा करोति । सिद्धदशायां तु न सम्भवत्येव, कदाचित्साधनदशायां

सम्भवेदित्याशंक्येदमुक्तम् । यद्वा । ज्ञानिनो विविधबुद्धिप्रकारकुशलाः । तेनात्यन्तचतुरेणाप्यन्यथा बोधयितुमशक्यो भक्तः । अग्रेपि कदापि मोहं न जनयतीति भविष्यत्प्रयोगः । ननु कथं ज्ञायते भगवानेव मोहयिष्यतीति, न ह्युत्तमपदार्थं कोपि कस्मैचिद्दातुं समीहत इति चेत्, तत्राहुरात्मप्रद इति । यः स्वात्मानमपि प्रयच्छति तस्य सर्वफलदाने कः सङ्कोचः । ते न महोदारत्वात् सर्वस्वमपि ददाति, न तु मोहयति । प्रियश्च अतः प्रीतिकर्तृभ्यः सर्वस्वदानमुचितमेव । परमकृतज्ञत्वात् निर्णयमाहुस्तस्मादिति । उक्तप्रकारेण सिद्धदशां प्राप्य स्वार्थात् स्वप्रयोजनात् ॥ १७–२१ ॥

उपसंहरन्ति इतीति ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

कृष्णः श्रीगोकुले प्रकटः । नहि तत्प्रसादं विनैतद्भावतत्त्वं ज्ञातुं शक्यम् । अत एव **तद्वल्लभत्वं** स्वस्मिन् नाम्नैवाहुः । **संन्यासवरणं** सन्यासाङ्गीकारः । **भक्तौ** भक्तिमार्गे । यद्यपि ज्ञानमार्गेपि संन्यासनिर्णय उक्तः, तथाप्येतद्विचारं मनस्यागते तस्य पुरुषार्थेष्वेव गणना जायते । **अन्यथा** सिद्धदशां विना पातः पूर्वस्थितभावात् प्रच्युतिः ॥ २२ ॥

प्रणम्य च प्रभुं टीका गोकुलोत्सवसूरिणा ।
श्रीगोविन्दसुतेनेयं कृता संन्यासनिर्णये ॥ १ ॥

इति श्रीगोवर्धनधारिचरणकमलैकतानश्रीगोकुलोत्सवविरचितं संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवरणसमेतः ।

पदारविन्दद्वन्द्वं तद्वन्देऽहं दिव्यमद्भुतम् ।
हृदि यद्धारणात् कोपि तापः प्रादुर्भवत्यलम् ॥ १ ॥
मुदा तत् श्रीमदाचार्यपदाब्जं दैन्यदा" ।म् ।
मुहुः प्रणम्य संन्यासनिर्णयो विवरिष्यते ॥ २ ॥
तथाहि । यावत्प्रेम यत् सकलं पुष्टिमार्गीयमस्ति तत् ।
तावद्विचारितं तत्र संन्यासो न विचारितः ॥ ३ ॥
इति तत्स्वरूपविज्ञानाभावेनैव कृते सति ।
तस्मिन् स्वीयो भवेन्मार्गाच्च्युतो हीति सुनिश्चितम् ॥ ४ ॥
तदानिष्टं स्वकीयस्य मार्गे स्यादिति चेतसि ।
पश्चात्तापो महान् श्रीमदाचार्याणाममूत्ततः ॥ ५ ॥
तन्निवृत्त्यर्थमेतस्य विचारोपेक्षितस्ततः ।
हेतुसाधनतश्चैव फलतश्च स्वरूपतः ॥
अधिकारादपि परस्तादस्य स निरूप्यते ॥ ६ ॥

तत्र प्रथमं स्वमार्गाङ्गीकृतस्य स्वमार्गीयभजने प्रवृत्तस्य भक्तिभावदार्ढ्येनान्तरासक्तिसिद्ध्यर्थं श्रीमदाचार्याः परित्यागविचारोपक्रमं कुर्वन्ति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

पूर्वपीठिकोक्तपश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः । अन्यत्स्पष्टम् । विचारमेवाहुः स इति । परित्यागः, मार्गद्वितये, भक्तौ पुष्टिमार्गीयायां ज्ञाने च विशेषतः कर्तव्यत्वेन प्रोक्तो, नान्यमार्गे ॥ १ ॥

ननु यथा भक्तिः ज्ञानं च मार्गौ तथा कर्मापि मार्ग इति तत्रापि स कर्तव्य इति चेत्, तत्र निषेधमाहुः ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

कर्ममार्गे तु न कर्तव्यः । सुतरां कलिकालतः । 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादि'ति श्रुतेः अहर्निशं कर्मविधिकृतेरेवावश्यकत्वात् परित्यागानवसर एव । यद्यप्याश्रमचतुर्थो भागस्तुरीयाश्रमेण नेय इति तत्रापि विधिर्वर्तते, तथापि सुतरां कलिकालदोषेण रोगादिजराजनितपीडया संन्यासाश्रमधर्मनिर्वाहः कर्तुमशक्य इति विपरीतफलकत्वान्न कर्तव्य इति भावः । अतः कारणात् मार्गयोः एव कर्तव्यत्वस्य प्राप्तत्वात् तत्र च स्वोपयोगित्वात् **आदौ भक्तिमार्गे तस्य विचारणा** विचारकरणम्, तच्च कदा, किमर्थं, कर्तव्यमित्यादिरूपमित्यर्थः ॥ २ ॥

तदेव निरूपयन्ति । यथा ज्ञानमार्गे विविदिषाविद्वद्भेदेन परित्यागस्य द्वैविध्यम्, तथा भक्तिमार्गेऽपि साधनसिद्ध्यर्थे फलसिद्ध्यर्थे च कर्तव्यत्वे प्राप्ते तत् द्वैविध्यं संभवतीति, तत्र श्रवणादिनवधाभक्तिसाधनार्थं तत्करणे स्वकीयस्य वक्ष्यमाणानिष्टं भविष्यतीति तन्निषेधमाहुः ।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यः स न नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
अग्रेऽपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

परित्यागं कृत्वा श्रवणादीन्साधयामीति यदि **कर्तव्यस्तदा स परित्यागो नेष्यते** नाङ्गीक्रियते, इष्टसाधकाभावात् । तत्र हेतूनाहुः । श्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात्, श्रवणकीर्तनादिकर्तारः भगवद्धर्मपरा अपि मार्गस्वरूपज्ञानात् गृहस्थिता एव । तेषां सङ्गेन साध्यत्वम्, नान्यथा । अस्य तु त्यागानन्तर'मेकाकी निस्पृहः शान्त' इत्यादिवाक्यादेकाकित्वेनैव स्थितेरावश्यकत्वात् सत्सङ्गाभावेनैव कुतः श्रवणादिसिद्धिरिति तदर्थं न कर्तव्यमेवेति भावः । किञ्च, कदाचित्तत्सङ्गेऽपि तेषां गृहस्थत्वेन सांसारिकत्वज्ञानात् त्यागिनः तेषु प्रवृत्तिरेव न । प्रवृत्तावपि ते ह्यस्याग्रे किमपि न कथयन्ति, यतस्ते मार्गस्वरूपज्ञातारः, अयं तु मार्गाच्युत इत्यतस्तदर्थं सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । यतः स्वमार्गीयसङ्गाभावे साधारणसङ्गेन वक्ष्यमाणावस्थैव भवेत्, न तु स्वमार्गज्ञानमपि । किञ्च, **साधनानां च रक्ष-**

णादिति । अहोरात्रिप्रणवप्राणायामादिसाधनविधेरेव रक्षणस्यावश्यकत्वात् श्रवणादिप्रपञ्चा-नवसर एवेति । किञ्च, प्रपञ्चत्वसम्भवेपि तस्य साधकत्वाभावमाहुः **अभिमानादिति** । संन्यासग्रहणानन्तरं तत्त्वमस्यादिवाक्यादात्मनि सोहमित्यभिमानो भवति, भक्तिमार्गे तु समर्पणानन्तरं देहप्राणेन्द्रियादीनां भगवदधीनत्वं भवति, तदा दासत्वान्न ममेत्यभिमान इति । स्वधर्मं विहाय स्वकीयस्य श्रवणार्थं परधर्मरूपत्यागकरणे इष्टप्राप्त्यभावः, प्रत्युत विपरीत-फलमपि भवेदिति स न कर्तव्य इति भावः । किञ्च, **नियोगादिति** । स्वमार्गाङ्गीकृत-स्यान्यत्र विनियोगः सर्वथा ह्यनुचितः । त्यागानन्तरं विहितत्यागसाधनकरणे देहादीना-मन्यत्रैव विनियोगो भवेत्, नतु साक्षात्पुरुषोत्तम इति । स्वमार्गफलासाधकत्वात्तथेति भावः । किञ्च, **तद्धर्मैरिति** । पुष्टिमार्गधर्मैश्च विरोधतः । अयं परित्यागो विधिप्रयुक्तत्वान्मर्यादा-मार्गीयो भवितुमर्हति, न पुष्टिमार्गीयः । पुष्टिमार्गो हि समस्तविधिभिरस्पृष्टः, तदा तत्प-रित्यागः सुतरां तथेति प्रमाणातीत इत्युभयोर्धर्माणामपि भेदाद्विरोधः स्यादिति तथा । चकारात् स्वरूपफलयोरपि भेदः । एवं स्वमार्गाङ्गीकृतस्य श्रवणादिभक्तिसिद्ध्यर्थं संन्यास-निषेधकथनेन 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः । अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभि'रित्युक्त-प्रकारेण स्वधर्मनिष्ठया सेवैव कर्तव्या, नान्यदिति सूचितम् । ननु गृहमेव बाधकं भवेत् तदा तु कर्तव्य इत्याशंक्य तस्यापि निषेधमाहुः । गृहमादिपदेन तत्सम्बन्धिनश्च सर्वे यद्यपि धर्मप्रतिकूला एव, तथापि श्रवणादिसाधनार्थं संन्यासग्रहणं न कार्यम् । किन्तु तत्परित्यागेन भगवदीयैः सह सेवा कर्तव्येति ज्ञाप्यते । अत एव 'भार्यादिरनुकूलश्चे' दित्यादिषु साधनार्थमनुकूलतद्ग्रहणाभिप्रायेण प्रतिकूलगृहत्याग एवोपदिश्यते, न तु संन्यासग्रहणम् । तयोक्ते 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इति भक्तिवर्धिनीवचनविरोधः स्यात् । किञ्च, श्रीभागवतेपि भक्तिसाधनार्थं 'मदर्थेऽर्थपरित्याग' इत्यारभ्य 'एवं धर्मैर्मनुष्याणा'मित्यादिभिरसर्वसमर्पणरूपः त्याग उक्तो, न तु संन्यासः, अन्यथा 'त्वयोपभुक्तस्रगन्ध'इत्यनेन विरोधः स्यात् । यतः सेवाकरण एवोच्छिष्टभोजनम्, न तु संन्यासे, सेवाऽभावात् । एवं सति **साधनार्थ**मपि त्याग उक्त इति तत्स्व-रूपज्ञानेन स्वमार्गीयः कश्चित् संन्यासग्रहणं कुर्यादिति प्रकृते तन्निषेध उक्त इति सर्व-मनवद्यम् । अतः परं **गृहादेर्बाधकत्वेन** संन्यासग्रहणे तादृशैः सह सङ्ग एव भवेत्, किन्तु स्वयमपि तादृशो भवतीत्याहुः । स्वयमपि तथा । ते साधनत्यागिनः धर्मध्वजिनः विषयाक्रान्ता वेशमात्रधारिणः पापण्डिनः, तथा स्वयमपि तत्सङ्गेन विषयाक्रान्तः पापण्डी च स्यात् । तत्र हेतुः कालतः । कलिकालदोषत इत्यर्थः । अथवा कालत इत्युप-लक्षणम् । कालकर्मस्वभावेभ्य इत्यर्थः । यतः मार्गच्युतजीवस्य कालाद्यधीनत्वमेव, मार्ग-स्थितस्यैव तदनधीनत्वेन तस्य भगवदधीनत्वेन भगवान् रक्षां करोति । तादृशत्यागिनो भगवदधीनत्वाभावाद्रक्षाऽभावेन तथात्वमेवेति भावः । एवं तत्सङ्गदोषं निरूप्य फलाभाव-

माहुः । यदैवं विषयाक्रान्तो भवेत्तदा विषयाक्रान्तानि, देह इत्युपलक्षणम्, किन्तु, देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणानि येषाम् । सर्वदा सर्वकालं भवेत्, प्रवेशस्यावकाश एव नास्ति, तदावेशो न भवतीति सिद्धान्तात् तस्यापि भगवदावेशो न भवेदिति सर्वस्वहानिरेव भवतीति भावः । अतः कारणादत्र पुष्टिमार्गे पुष्टिमार्गीयस्य साधने भक्तौ साधनभक्तिसिद्ध्यर्थं त्यागः सुखावहो न भवति, अनिष्टपर्यवसानात् । अतः स सर्वथा न कर्तव्य इति ज्ञापितम् ॥ ३–६ ॥

ननु तर्हि कदा किमर्थं च कर्तव्यं इत्याकांक्षायां तस्य प्रयोजनकथनेनैवाधिकारिणं चाहुः ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥
विकलत्वं तथाऽस्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥
तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥
भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥
दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३½ ॥

विरहानुभवार्थं परित्यागोऽस्मिन्मार्गे प्रशस्तो भवति । अन्यथा नेत्यर्थः । अत्रेदमाकूतम् । स्वमार्गीयसाङ्गीकारादारभ्य श्रीकृष्णसेवैव कर्तव्या, नान्यदिति सिद्धान्तः । तदुक्तम् 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'ति । सा सेवा साधनरूपा फलरूपा चेति द्विधा । मानसी सा सेवा फलरूपा, तत्साधनरूपा तनुजवित्तजात्वेनोक्ता । एवं सति मार्गनिष्ठया सर्वसमर्पणपूर्वकं सर्वेषां तनुवित्तादीनां भगवत्येव विनियोगकरणेन सेवाकरणे तत्स्वरूपे प्रेम जायते । एतदेवोक्तम् । 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इत्यारभ्य 'ततः प्रेमे'त्युक्तं भक्तिवर्धिन्याम्, नो चेदिह स्वानस्य विजातीयत्वेन बाधकत्वात् साम्प्रतं वा स्वानुसन्धानाभावेन पुनर्विजातीय-

सङ्क्षेपि तस्य न नाश इति तत्रैव 'यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापी'त्युक्तम् । एवं सति अस्य त्यागस्य पूर्णपुष्टिभाववानेवाधिकारी, नान्यः, तस्य प्रयोजनमपि प्रचुरभावपोषेण **विरहानुभव** एवेति सुष्ठूक्तं तथा । ननु तर्हि **परित्याग** एव कर्तव्यः, संन्यास एव किमर्थं कार्यः, तत्र हेतुमाहुः **स्वीयेति** । स्वीया गृहसम्बन्धिनस्तत्क्रियमाणो यो बन्धः तन्निवृत्त्यर्थं **वेषः** । अन्यथा संन्यासाश्रमो धर्माचरणार्थं न भवतीत्यर्थः । विजातीयमिलनस्य भावघातकत्वात् । तदुक्तं फलप्रकरणे 'अस्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्ष'मित्यत्र । 'यथा व्याघ्राग्रे देहाभिमानी'ति । ननु तथापि भक्तिमार्गीयभावपोषार्थमपि विहितत्वात् गुरूपदेशं विना कथं तत्सिद्धिरित्याशंक्य गुरूनिरूपयन्ति । **कौण्डिन्य** ऋषिरनन्तगुणश्रवणेनानन्तस्वरूपासक्त्या तत्कालमेव सर्वत्यागं कृतवान्, पुनस्तद्विरहेण विकलः सन् जडादिष्वपि प्रश्नं चक्रे । तथात्रापि स्वरूपसेवाकरणे प्रेमासक्त्यनन्तरं पुष्टिमार्गीयभावोदयक्षण एव त्यागः कर्तव्य इति साम्येन स गुरुरुक्तः । अपरे **गुरवो गोपिकाः** । यथा पूर्वमप्यासक्तौ सत्यां वेणुनादश्रवणानन्तरं त्यागे कृते प्रभुसङ्गमस्तासामप्यभूत् । अग्रे पुनरन्तरासक्तिदार्ढ्यार्थं विरहानुभवोपि जातः, येन 'तन्मनस्कास्तदालापा नात्मागाराणि सस्मरुः' इत्यादि विकलत्वास्वास्थ्यादिरूपावस्थाप्यासीदिति साम्येन तासां च गुरुत्वं निरूपितम् । एवं सति तद्रीत्या तथा कृते एतस्यापि फलं सेत्स्यतीति भावः । ननु यथा 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे'दिति श्रुत्या ज्ञानमार्गीयसंन्यासे वैराग्यं साधनम्, तथात्र किं साधनम्, तदाहुः **साधनं** चेति । **भावनया सिद्धो यो भावः तत्साधनम्** । पूर्वमपि भावो जायते, परं कृत्रिम इति । तादृशस्य साधनत्वं न, आसक्त्यनन्तरं 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारकमनोरथात्मकभावनया सिद्धिं प्राप्तो यः पूर्णः पुष्टिमार्गीयो गूढो **भावः तत्साधनम्** । **न अन्यदिति** । अतिरिक्तं साधनं नेष्यते । सापेक्ष्यत्वाभावान्नापेक्षित इत्यर्थः । एवं सति वैराग्यमप्येतदेव, न ज्ञानमार्गीयम् । यतो भगवत्स्वरूपव्यतिरिक्ते सर्वत्रारुचिरिति भक्तिवर्धिन्यां 'स्नेहाद्रागविनाशः स्या'दित्यादिना तथा स्फुटीकृतम् । ननु ज्ञानमार्गे वैराग्येण त्यागे कृते विषयाभिलाषाभावात् देहेन्द्रियैः प्राकृतधर्मराहित्य चिन्तादिस्वास्थ्यं च भवति, प्रकृते त्यागादारभ्य प्रतिदिनं तथा भावने वैकल्यमस्वास्थ्यमेव सकलेन्द्रियेषु वर्धत इति प्राकृतविषयधर्मवत्त्वमेव लक्ष्यते, तत्कथं फलसिद्धिरित्याशंक्य तद्धर्मस्वरूपमाहुः । बाह्यानुसन्धानराहित्यपूर्वकमन्तःस्वरूपानुभवसमानाधिकरणचेष्टितं यत्सकलेन्द्रियाणां तद्विकलत्वम्, बहिरपेक्षया विपरीतान्तर्भावरूपाः कलाश्रेष्ठ्या येषां तेषां भावस्तत्त्वमित्यर्थः । **तथा** बहिः प्रियसङ्गाभावजनितायां सकलेन्द्रियाणां स्वास्थ्याभावोस्वास्थ्यम् । एतद्द्वयमपि विप्रयोगभावस्य **प्रकृतिः** साहजिको धर्मः । यथा ज्ञानमार्गे वैकल्याभावः स्वास्थ्यं तस्य प्रकृतिः, तथा पुष्टिमार्गे तद्विपरीतधर्मवत्त्वं तद्भावस्य **प्रकृतिः** । अनेन यावत्पर्यन्तं विकलत्वास्वास्थ्यादि-

रूपा प्रकृतिः न सिध्यति, तावत्पर्यन्तं तद्भावस्यापि न पूर्णत्वमिति सूचितं भवति । अत एव तद्भावानन्तरं पुनर्नाशाभावेन प्रयत्नाभाव उक्तः 'यावज्जीव'मिति भक्तिवर्धिन्याम् । ननु तर्हि विषयसम्बन्धित्वमायातमित्याशंक्य तन्निराकुर्वन्ति प्राकृतं न हीति । प्रकृतिगुणविकारजन्यं तदुभयमपि न भवति । हीति निश्चयः । अयं भावः । पुरुषोत्तमस्वरूपं तु रसात्मकम्, रसो हि द्विविधः, संयोगविप्रयोगभेदेन, इति स्वरूपमपि तथा, तत्र संयोगे स्वरूपं बहिः प्रकटं भवति । विप्रयोगे भावात्मकतया तत्तदिन्द्रियेष्वाश्लिष्टं सदन्तरेव रसपोषं करोति । परन्तु तापरूपेण स्थितत्वाददर्शने च तापं जनयति, इति तज्जनिततीक्ष्णभावभावनया पूर्वोक्तप्रकारेणान्तःस्वरूपानुभवे तदनुसारिचेष्टाकरणेन विकलत्वं बहिः प्रतीयते । दर्शनाभावेनास्वास्थ्यं चेत्युभयधर्मस्य रसात्मकभगवत्स्वरूपजन्यत्वेन रसात्मकत्वादलौकिकानन्दरूपत्वमेव । न तु प्राकृतत्वमिति सुष्ठूक्तं प्राकृतं न हीति । एतेन यथा यथा विकलत्वमस्वास्थ्यं स्यात्तथा तथा फलविलम्बाभाव इति सूच्यते । एतत्प्रकृतिं निरूप्य यथा (ज्ञान) मार्गे परित्यागानन्तरं सकलपदार्थस्फूर्त्या सर्वे ज्ञानं गुणाश्च भगवद्धर्मरूपात्मानुभवेन साधकास्तथा प्रकृतेपि तेषां साधकत्वमाशंक्य साधकत्वस्य का सम्भावना, प्रत्युत बाधकत्वमित्याहुः ज्ञानमिति । एवं वर्तमानस्य विकलत्वास्वास्थ्यरूपमप्राप्तस्य ज्ञानं बहिरनुसन्धानेन पदार्थस्फूर्तौ सर्वगुणा भगवल्लीलादिधर्मरूपाश्च कदाचित्प्रच्युतास्तेन व्यभिचारिभावानां वैचित्र्याद्वा हृदि स्फुरति, तदा मनसस्तदवलम्बनं भवति । यथा महासमुद्रे मज्जतः तृणस्येव । तदा तज्जनितयत्किञ्चिदपि स्वास्थ्ये फले बाधका एव, न तु साधकाः । किञ्च, ये लीलागुणाः पूर्वं भावपोषणे साधकाः जातास्त एव गुणाः साम्प्रतमेतादृगवस्थायां जीवनसम्पादकत्वेन बाधका भवन्ति । एतेन विरहानुभवस्य पूर्णत्वेन जातत्वात् जीवनस्थितेः प्रयोजनाभावात् । अतः परं मूर्च्छादीनां दशम्येवावस्था फलसाधिकेति तेषां बाधकत्वमुक्तमिति ज्ञापितम् । एवं सति लीलादीनां धर्मरूपत्वेन बाधकत्वकथनात् केवलधर्मिस्फूर्तिरेव फलसाधिकेत्यपि ज्ञापितं भवति । ननु ज्ञानमार्गे ज्ञानगुणमनःस्वास्थ्यादीनां साधकत्वम्, भक्तिमार्गेपि कथं बाधकत्वमित्याकांक्षायां मार्गभेदेन साधनफलभेदात् तथात्वमाहुः । **संन्यासेन विशेषितात् सम्यक् साधितात् ज्ञानात् प्रथमं सत्यलोके स्थितिर्भवति** । पश्चाद्ब्रह्मणा सह मुक्तिरुक्तेति ज्ञानानन्तरमेव **सत्यलोकस्थितेः** कथनात्तत्र मनःस्वास्थ्यगुणादीनामेव साधकत्वम्, तद्व्यतिरेकेण ज्ञानस्थैर्याभाव इति तेषां साधकत्वमुक्तम् । एतेन ज्ञानमार्गस्य साधनं फलमपि चोक्तम् । प्रकृते 'भगवता सह संलाप'इत्याद्युक्तप्रकारकसाक्षात्स्वरूपसम्बन्धभावेनैव **साधनम्** । तत्र च तत्सम्बन्धव्यतिरेकेण स्वास्थ्यसम्भावने च स्वास्थ्यमेव फलसाधकम्, नो चेत् फलमेव न भवेत् । तत्रापि यादृशी पूर्वोक्तप्रकारिकान्तर्भावना तादृशमेव सर्वेन्द्रियास्वास्थ्यं बहिरनुभवात्मकं फलमपि भवेत्, न तु ज्ञानमार्गेत्यामान्यवे सत्यलोके स्थितिः, पश्चादन्तरेव केवलमात्मलयमात्रमिति फलं चापि तथा भवेदित्युक्तम् । किञ्च,

लयोप्यक्षर एव, न तु पुरुषोत्तमे । सोपि ब्रह्मणा सहेति फलसिद्धौ महान् विलम्ब उक्तः । तत्रापि साधनफलभेदः । प्रकृते साक्षात्पुरुषोत्तमस्य रसात्मकत्वात् रसस्य संयोगविप्र- योगात्मकत्वाद्बाह्याभ्यन्तरभेदेन संयोगे विप्रयोगे च स्वरूपरसानुभव एव । न तु साधनफलभेदः । एवं सति विकलत्वास्वास्थ्यादिदशायाः पूर्वोक्तरीत्या साधनरूपायामपि साक्षात्स्वरूपानुभव एव भवतीति ज्ञानमार्गफलापेक्षया एतत्साधनस्यापि सर्वोत्कृष्टत्वं निरूपितम् । ननु ज्ञानस्य फलं मुक्तिः, सत्यलोकस्थितिः किमर्थं भवतीत्याशङ्क्याहुः । तादृशाः संन्यासविशिष्टपूर्णा ज्ञानयुक्ता अपि **सत्यलोकादौ** तिष्ठन्त्येवेति निश्चयः । अत्र **संशयो न** । यतस्तेषां तु ब्रह्मणा सहैव मुक्तिसम्भवात्तावत्पर्यन्तं तत्रैव स्थितेर्नियतत्वात् तत्र सा मर्यादास्तीति । आदिपदेन तादृशत्वाभावे लोकान्तर एव स्थितिः । ननु तत्रापि फलसिद्धौ महान् विलम्बो निरूपितः । प्रकृते तादृगवस्थायां यदि गुणाद्यनुसन्धानं न भवेत्तदा तत्कालमेव फलसिद्धिरिति तत्प्रकारं निरूपयन्ति **वह्निरिति** । पूर्वोक्तभावनया भगवान् एव स्फुरतीत्यर्थः । स चेदतिविगाढभावेन तदात्मकतया गुण- गानद्वारा साक्षाद्बहिः प्रकटो भूत्वा रसानुभवं कारयित्वा पुनस्तिरोहितः प्रचुरतापात्मकः सन्नन्तःप्रविशेत्, **तदैव** तत्क्षणमात्रेणैव **सकलो बन्धः** प्राकृतदेहरूप एव बहिः साक्षा- त्फलानुभवे प्रतिबन्धः, स तादृशप्रचुरतापेन मूर्च्छादिदशमावस्थां नाशमेति । तत्र दृष्टान्तः **दारुदहनोपयुक्तो वह्निवत्** । यथा दार्वन्तर्गतो वह्निः सदैव तिष्ठति, परन्तु दारुदहनोपयुक्तो न भवति । यदा पुनर्मथनेन वह्निः प्रकटो भवेत्, तदा तत्सम्बद्धः सन् तदन्तःप्रविश्य क्षणेनैव सर्वं दार्वंशं प्रज्वालयति । न केवलं तावन्मात्रम्, किन्तु तत् स्वसदृशमपि करोति, तथा अयमपि स्वात्मरूपत्वेन तदन्तर्गतो विगाढभावेन मथनेनैव तथा भूत्वा पुनस्ति- रोभूयान्तस्तापरूपेण प्रविशेत्तदा तं तथा कृत्वा स्वसदृशीं रसात्मकतामलौकिकवयोगुणादि- सम्पत्तिमपि करोतीति दृष्टान्तधर्मसाम्येन सूचितं भवति । एवं सति यथा दारुण्यार्द्रत्वं यदि भवेत्तदा सोप्यसमर्थो धूममेव जनयति, तथा प्रकृते यत्किञ्चिदस्वास्थ्यस्यार्द्रत्वस्थानीयत्वात् धूमवद्गुणगानादिकमेव भवेत्, तदा तत्सम्बन्धः सः, न तु बन्धनिवृत्तिरित्याशयेनोक्तं 'न चान्यथे'ति । एतत्प्रकाराभावे न भवतीत्यर्थः । एतत्सर्वं फलप्रकरणीयद्वितीयाध्याये 'गायन्त्य उच्चै'रित्यस्य विवरणे 'शब्दो हि धूमवलोक' इत्यादिना निरूपितम् । एतेनास्वास्थ्यादावेव फलविलम्बाभाव इति तदेव साधकम्, न गुणादिस्फूर्तिरिति पूर्वाशङ्का निरस्तेति भावः । ननु विप्रयोगस्य केवलमस्वास्थ्यैकप्रकृतिकत्वात् तदुत्तरक्षण एव प्रतिबन्धनिवृत्तिं कथं न करोति । एवं सति विप्रयोगभावार्थं जीवनसम्पादकत्वेन गुणानां साधकत्वं तस्मिञ्जाते प्रयोजनाभावा- मध्ये गुणाद्यवलम्बनं कारयति । अत एवोक्तं 'मन्तर्हिते भगवती'त्यस्य विवरणे 'यावत्स तापोन्तः प्रविशेत् तावता भगवल्लीला प्रविष्टे'ति । तत्प्रवेशे तस्य तदेकस्वभावात् । तदनुभवाभावो यतः ।

१ एतत्प्रकारभावेन भवतीति पाठः ।

तादृगवस्थायां स्वास्थ्यकारकत्वेन बाधकत्वमिति न कोपि विरोधः । अत एव ज्ञानं गुणाश्चेति पूर्वं बाधकत्वमधुना गुणास्त्वित्यनेन साधकत्वं चोक्तम् । एतेन भगवतोपि बाधकाभावो निरूपितः । एवं गुणानामवस्थाभेदेन बाधकत्वसाधकत्वनिरूपणात् भगवतो बाधकत्वाभावं निरूप्यातःपरमपि चेद्गुणाद्यवलम्बं स्थापयेत्, तदा स्वास्थ्ययुक्तत्वात् बाधकत्वं भवेदिति तदभावमाहुः । एवं सम्पूर्णे विरहानुभवे जाते बहिःसाक्षात्फलदानार्थं यतो भगवानलौकिकैश्वर्यवीर्यगुणादिसकलस्वोपयोगशक्तिसहितं स्वरूपं कृत्वा स्थितो भवति । अतः फलरूपत्वात्स्वस्य अत्र दशायां फलबाधको गुणाद्यवलम्बो नेष्यते, भगवता नेष्यत इत्यर्थः । अयं भावः । फलानुभवार्थं भक्तस्य यावती परीक्षा भगवतः कर्तव्या भवति, तावती सर्वा विरहानुभवेन सम्पन्ना जातेस्ततःपरमपि फलविलम्बे जाते स्वस्यैव बाधकत्वं भवेत्, तदधिकारस्य जातत्वात् । अतः सुष्ठूक्तं नात्रेति । ननु तादृगवस्थायामपि तादात्म्यवत्तया यथा प्रियेण सह भाषणादिकं प्रियाया भवति, तथा तादृग्भावनया प्रियस्यापि तत्सम्भवतीति तदेव वाक्यं स्वास्थ्यकारकं भविष्यति । अथवा 'हा नाथे'त्यत्र क्रियाशक्त्या तादृगवस्थायां स्वास्थ्यकरणम्, तथा प्रकृते चापि वचनेनापि तत्सम्भवतीत्याशंक्य तत्राहुः स्वास्थ्येति । यद्यपि पूर्वावस्थायां तथा करोति, तदनन्तरं तदपि स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यमिति न करोति, प्रयोजनस्य जातत्वात् । अत्र हेतुः । दयालुरिति । अतो न विरुध्यते । विरोधित्वेन न भूयत इत्यर्थः । विरोधी स एव यः परस्यानिष्टं करोति । अयं परमदयालुरिति सकलेष्टसिद्धिं कृतवानिति भावः । एवं सति तादृशस्य स्वरूपस्थितौ गानम्, लीलाप्रवेशे प्रलाप इति मूर्च्छा तदवस्थया निरूप्यते । अतः परं दशमावस्थायाः पूर्वोक्तप्रकारेण प्रतिबन्धनिवृत्त्या फलसिद्धिरिति सर्वमवदातम् । एतदेव सर्वं फलप्रकरणेपि निरूपितम्, विरहानुभवेन परीक्षानन्तरं 'रुरुदुः सुस्वर'मित्यारभ्य 'तन्वः प्राणमिवागत'मित्यादिना । एवं स्वमार्गीयपरित्यागस्वरूपं निरूप्य, अस्य दुर्लभत्वमाहुः । अयमिति स्वरूपनिर्देशः । तथा चेदृशः परित्यागः, साधनासाध्यत्वादति दुर्लभः । तर्हि कथं सिध्यति तत्राहुः प्रेम्णेति । श्रीमदाचार्योक्तनिष्ठया साक्षात्स्वरूपसेवाकरणेन तत्स्वरूपे प्रेमासक्तिव्यसने सम्पन्ने चैतत्परित्यागाधिकार इति तदा सिध्यति, नान्यथा । अन्यसाधनप्रकारेण नेत्यर्थः । अत एव दुर्लभप्रेमासक्तिजनितस्वरूपसम्बन्धाभिलाषजन्यदुःखं तेन लाभो यस्येति तथा निरूपितम् । अथवा । प्राकृतस्याप्राकृते प्रेमासम्भव इति तद्धेतुं पक्षान्तरेणाहुः प्रेम्णा भगवत्प्रेम्णा इति । श्रीमदाचार्याङ्गीकारवशेन स्वरूपानन्ददानोपयोगि प्रेम भगवतस्तस्मिञ्जायत इति तस्यापि तत्सम्भवतीति तयोक्तम् ॥ ७-१३३ ॥

एवं स्वमार्गीयकर्तव्यविधिं निरूप्य तारतम्यज्ञापनार्थं ज्ञानमार्गीयतद्विधिं निरूपयन्ति ज्ञानमार्ग इति ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोऽपि विचारितः ॥ १४ ॥
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पापण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ॥ १६½ ॥

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो मया द्विविधो विचारितः । तदेव द्वैविध्यं विचारपूर्वकमाहुः । एकः संन्यासः ज्ञानसाधनार्थं, अपरः ज्ञानोत्तरं मुक्त्यङ्गमित्यर्थः । तत्र संन्याससिद्धिस्तु जन्मशतैः अनेकशतसहस्रजन्मानन्तरं भवति । न तु शीघ्रम् । तत्र हेतुः । ज्ञानमिति । ज्ञानोत्तरं संन्यासाधिकारः । तत् **ज्ञानं च साधनापेक्षम्**, साधनं चित्तशुद्धिः; तदपेक्षा । तत्पुनर्यज्ञादिश्रवणान्मतं सम्मतम्, नान्यथा । आदिपदेन तपआदीन्यन्यान्यपि ज्ञेयानि । तत्रापि निष्कामत्वेन कृते चित्तशुद्धिः । तत्रापि बहुजन्मानन्तरम् । अत एवोक्तं बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् भवतीति । कदाचित् ज्ञाने जातेऽपि सत्यलोकस्थितेरावश्यकत्वान्मुक्तेर्विलम्बः एवेति **सिद्धिर्जन्मशतैरपी**त्युक्तम् । **एवमुत्तराङ्ग**संन्यासं साधनफलसहितं निरूप्य, अत्रापि ज्ञानसाधनार्थं स चेद् भवेत्तदा तस्य फलासाधकत्वं विपरीतफलकत्वं चाहुः । यतः पूर्वोक्तसंन्यासाधिकारो यज्ञादिकरणेन शतसहस्रजन्मानन्तरं चित्तशुद्ध्या ज्ञाने जाते भवति **अतः कलौ** चित्तशुद्ध्यभावेनैव कृतः संन्यासः **पश्चात्तापायै**व भवत्, न त्वन्यथा । उक्तफलाय नेत्यर्थः । सकलेन्द्रियाणां कलिकालाधीनत्वे स्वस्वविषयासक्तत्वात्त्यागे तेषां लोलुपत्वेन स्थैर्याभावात् । मया वृथैव संन्यासः कृत इति **पश्चात्तापो** भवेदिति भावः । केवलं पश्चात्तापमात्रमेव न भवेत्, किन्तु क्रमेण विषयासक्त्या वेषमात्रपर्यवसायित्वमपि । तदाहुः **पापण्डित्वमिति** । अन्तर्विषयासक्तिर्बहिस्तदाश्रमवेषमात्रं पाषण्डत्वं भवेत् । चकारादारूढपतितत्वजनितं पापमपि भवेदित्यर्थः । तस्मादनिष्टपर्यवसानात् ज्ञाने ज्ञानसाधनार्थं न संन्यसेदिति भावः । नन्वेवं निषेधः कथम् । कश्चित्समीचीनः स्वेन्द्रियनिग्रहादिना तमर्थं साधयति चेत्तत्राहुः **सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः** ॥ १४–१६½ ॥

भक्तिमार्गेऽपि तेषां बाधकर्तृत्वं सम्भवेदित्याशङ्कां स्वयमेवोद्धाटयन्ति ।

भक्तिमार्गेऽपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥
तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तिमार्गेपि चेत्यागिन पूर्वोक्तदोष प्रसज्येत तदा किं कार्यमिति प्रश्न । तत्रोच्यते, ससाधनमित्यर्थ । तदेवाहु अत्रारम्भे । भक्तिमार्गीयत्यागारम्भे । यद्यपि आरम्भभेदेन विरहानुभवानन्तर प्रचुरभावावस्थाभावसमयो ज्ञाप्यते, तथापि पुनर्नाशो न स्यात् । यतस्तस्य पूर्वमेव सकलेन्द्रियाणा भगवदधीनत्वात्, तत्रैव विनियोगकरणेन भगवत्स्वरूपैकनिष्ठविषयव्यसनवत्त्वमेव जातम् । न तु प्राकृतविषयग्रहणस्य भावोपि स्थित, तत्तदभावे कुत तत्तद्दोषसङ्क्रमणावकाश इति भाव । एतेन तादृशभावस्यापि फलान्त पातित्वमेव, न तु साधनत्वमिति ज्ञापितम् । ननु तथापि विषयभोगपदार्थेषु दृष्टेषु यत्किञ्चित्स्वास्थ्य भवेदपि **दृष्टो** योऽन्त नाशक पदार्थ तस्याप्यभावान्न **नाश** इत्यर्थ । पदार्थे दृष्टे कदाचित्सम्भवेदपि, प्रकृते व्यसनानन्तर गृहस्थितेर्बाधकत्व मत्वैव तत्पदार्थाना त्याग कृत इति दर्शनस्याप्यभावात् तथेति भाव । अत एव 'यदा स्याद्व्यसन कृष्ण' इत्युक्त्वा 'तादृशस्यापि सतत'मित्यनेन तस्य त्याग उक्त । ननु तथापि वासना चेत्तिष्ठति, तदपि तथा भवेदिति, तदभावमाहु **स्वास्थ्यहेतो**रिति । स्वास्थ्यहेतुपदार्थस्य परित स्त्यागाद्वासनासहितत्याग परित्याग, वासनया विषयग्रहण भवति, तदभावाद्बाध केन पदार्थेनास्य सम्भवेत् । अपि तु न केनापीति भाव । वासनासहितत्यागकथनेन दृष्टेपि तस्मिन् न तद्ग्रहणमिति सूचितम् । अनेन पदार्थास्तादृशस्य स्वास्थ्यहेतवोपि न भवन्ति, किन्तु भगवत्स्वरूपनिष्ठा एवेति ज्ञापित भवति । एतदेवोक्त निरोधवर्णने 'बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्या सोपि सिध्यती'ति । ननु तर्हि अदृष्टादिना स कदाचित्सम्भवेत् तत्राहु । यद्यपि **हरिः** कालकर्मादीनामपि सर्वेषा नियन्ता सर्वेश्वर, तथापि तादृगवस्थानन्तर स्वस्य रसात्मकत्वेनैव तादृशस्य विलम्बजनितबाधा कर्तु न शक्नोति । तत्करणे न रसो न वा कीर्ति, यत स्वय **हरिः** एतादृगवस्थाजनितदु ख हन्तुमेव रसात्मकसाक्षात्फलरूपत्वेन प्रकट । एतदेव 'पीताम्बर धर स्रग्वी' त्येतस्य विवरणे विवृतमित्यत्रापि **हरि**पदेन स एव भाव उक्त इति ज्ञापित भवति । एतेनेदानीं बाधाकरणे स्वस्य फलरूप हरित्व च गच्छतीत्यनापि **हरि**पदेन स एव भाव उक्त । तद्भावोत्कर्षश्च निरूपित । अत एव 'न पारयेह'मित्यादिवचनम् । एव सति **हरिरेव न शक्नोति** तर्हि अपरे कालकर्मादयदृष्टादय कुत शक्ता भवन्तीत्यर्थ । अशक्तौ दृष्टान्तमाहु **अन्यथे**ति । यद्येतादृशस्यापि हरिर्बाधा करोति, तदा मातरोपि स्वया त्मजान् स्तन्यै पोषण न कुर्यु । यथा तासा स्वबालबाधकरणमशक्यम्, किन्तु पोषणमेव कुर्वन्ति, तथा **हरे**रपीति भाव । एतेन **हरि**रपि तत्पोषणमेव करोतीत्यपि सूचितम् । अथवा

हरेर्मातृदृष्टान्तकथनात् युक्तत्वानुपपत्तेः **क्रियायाश्च** विध्यर्थकस्यापेक्षितत्वात् पुपुपुरिति
भूतार्थकतत्प्रयोगानुपपत्तेश्च कथन गूढाभिसन्धिरस्तीति लक्ष्यत इति पक्षान्तरेण स
एवोच्यते। तथाहि । हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधामित्यत्रासाधारणो हेतुः, यतो मातरः
पुपुपुः इत्यन्वयसम्बन्धः । अयं भावः । पूर्वं श्रीमद्गोपिकानां गुरुत्वमत्र निरूपितमिति
गुरुत्वात्ता एव मातृरूपा ज्ञेयाः। यथा गुरोर्वरदाने फलसिद्धिः, तथा तासां दान एव तावतैव
सिद्धिः, **नान्यथेति** । तास्तादृशे अङ्गीकृते स्वभावपोषणं कृतवत्यः । अतस्तत्कृतौ प्रभोरपि
शक्त्यभावो युक्ततमः, तद्भावाधीनत्वादिति भावः। ननु ता एतावत्किमर्थं कुर्युरिति चेत्तत्राहुः।
अन्यथेति । यद्येता एव स्वस्य गुरुत्वात्तस्मिन् पुत्रत्वेपि सिद्धे एव पोषणं न कुर्युस्ततस्ताः
अन्याः साधारण्यः सहजकठिनाः स्त्रियः। तास्तु मातरः स्वबालान् स्तन्यैर्न पोषयेयुरित्यर्थः ।
एतेन यदि ता अप्येवं कुर्वन्ति पुत्ररूपे तस्मिन्, एतासां परमवात्सल्यस्वभावात् पोषणं युक्तमे-
वेति निरूपितम्। एतदेवोक्तं निरोधवर्णने 'पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः'। एवं सति पूर्वोक्तानुपपत्तिद्वय-
मपि निरस्तं भवतीति सर्वमनवद्यम्। अत्र दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च **मातर** इत्यस्यावृत्तिः कर्तव्या।
ननु यथा ज्ञाने स्वस्मिन् ब्रह्मभावस्फूर्त्या सर्वत्र ब्रह्मात्मकत्वभानादैक्यमेव भासते, ननु द्वितीय-
पदार्थभानम्, तेन च तेषां सर्वदा स्वास्थ्यं तिष्ठति, तथा प्रकृतेपि स्वस्मिन् भगवदावेशे नासा-
वहमित्यादिरूपज्ञाने केवलं तदैक्यभानमेव, न द्वितीयपदार्थस्येति ज्ञानमार्गीयैक्यप्रतिपादक-
वाक्येन ऐक्यसाम्येन कदाचिदैक्यभावजनितमोहेन स्वास्थ्यं सम्भवेदित्याशंक्य तदभाव-
माहुः । पूर्वोक्तितावत्प्रत्येकप्रत्यूहेषु सत्स्वपि यदि तन्निवारणेनैतावत्पर्यन्तं तद्रक्षामेव कृतवान्
प्रभुः, तदा **ज्ञानिनामपि वाक्यैनैक्यप्रतिरूपेण भक्तं** तादृशं न **मोहयिष्यति** । तथा
चोक्तं भ्रमरगीते श्रीमदुद्धवोक्तैः 'श्रूयतां प्रियसन्देशः' 'भवतीनां वियोगः' इत्याद्यैक्यप्रतिपाद-
कज्ञानिवाक्यैस्तासां **मोहो** न जातः, किन्तु तच्छ्रवणेन प्रत्युताततप्ततैलपतितजलबिन्दुवत्
प्रचुरतीव्रविरहाग्निज्वालजालज्वलितास्ता अभवन्निति। प्रकृतेपि तादृशावस्थायां तथा न करि-
ष्यति, प्रत्युत तद्रीतिमेव करिष्यतीति भावः। नन्वेवं सर्वथाऽस्वास्थ्यकारकं तापमेव कथं स्थाप-
यति, तत्र हेतुमाहुः **आत्मप्रदः प्रियश्च**, अतः **किमर्थं मोहयिष्यति**। अयं भावः । अत्र
भगवान् रसात्मकः साक्षात्स्वरूपानन्ददानार्थम्, मुख्यतस्तत्र प्रीतिरूपो गुणश्च हेतुः । स वै
तादृशावस्थाभावे पुष्टो न भवति, किन्तु च्युत एव तिष्ठति, तत्पुष्टत्वाभावे तद्दानमपि न सि-
ध्यति, रसात्मकत्वादेव साम्ये सर्वदा स्थापयति । एवं सति यत्र भगवतः स्वरूपानन्ददानेच्छा
प्रियत्वं च, तत्र तद्वाक्यजनितमोहो न भवति। यत्र नैतदुभयम्, तत्र मोहो भवतीति सूच्यते। तथा
चोक्तं दशमस्कन्धे 'द्विजपत्नीषु तदानन्ददानेच्छाभावात् पुष्टिमार्गीयप्रियत्वाभावाच्च न प्रीतये
अनुरागाये'त्यादिज्ञानिवाक्यजनितमोहो जातः । यतः ताः परावृत्य स्वगृहानगमन्। फल-
प्रकरणे तु श्रीस्वामिनीनां सर्वत्यागेनागमनपूर्वकमनन्तरमेव पूर्ववदेव 'श्रवणाद् दर्शना'दित्या-
दिवाक्यैः स्वात्मदानेच्छासद्भावात् पुष्टिमार्गीयप्रियत्वस्यापि विद्यमानत्वान्मोहो न जातः, प्रत्यु-

तेश्वरवाक्यानां सर्वाधिकबलत्वेपि तन्निराकरणं चक्रुरिति सुष्ठूक्तं **किमर्थं मोहयिष्यतीति** । अतः परमेतावदुक्तस्य निर्गलितार्थमाहुः । यस्मात्साधनार्थपरित्यागो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः ॥ अन्यथा पुष्टिमार्गीयभावाभावे तस्मिन् कृते स्वार्थात् पुष्टिमार्गीयपुरुषार्थाद्भ्रश्यते च्युतो भवतीत्यर्थः । अत्र प्रमाणमाहुः **इति मे निश्चिता मतिः** । इति यस्य धर्मस्य यथा स्वरूपं तत्स्वरूपज्ञानादेव तस्मिन्निश्चयः । स्वमतेरेवेति स्वस्यैव मतिः प्रमाणत्वेनोक्ता ॥१७–२१॥

एवं संन्यासनिर्णयं कृत्वोपसंहरन्ति ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इत्येवं प्रकारेण भक्तौ सत्यां एव संन्यासवरणं कर्तव्यत्वेन निश्चितम् । तत्र हेतुभूतं साधनद्वयमाहुः **कृष्णप्रसादेन वल्लभेन** चेति । **कृष्ण**पदेन रसानन्दात्मक-गूढभावात्मत्वं सूचितम् । तादृशस्य प्रसादेन, प्रसादस्यापि नैकविधत्वं सम्भवतीत्युक्तं **वल्लभे**नेति, अतिप्रियेणेत्यर्थः । एवं एतेन भावात्मकप्रीतिगुणविशिष्टत्वं प्रसादस्य ज्ञापितम् । तादृशत्वाभावे परित्यागस्वरूपज्ञानमेव न भवेत्, निश्चयः कथं कर्तुं शक्यः । तत्रापि विशेषेणेदमित्थतयेति मदुक्तस्य सन्देहो न कार्य इति निरूपितम् । निश्चयकरणप्रयोजनमाहुः **अन्यथे**ति । एतत्करणाभावे परित्यागस्वरूपाज्ञानात् अधिकाराभावे कृते त्यागे स्वाङ्गीकृतोपि **पतितो भवेत्**, पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तिमार्गोद्भ्रष्टो भवेदित्यर्थः । एवं सति परमकारुणिक-स्वभावात् स्वकीयानां रक्षैव कृतेति भावः ॥ २२ ॥

श्रीमदाचार्यकरुणां वर्णयामि कथं यतः ।
यतः स्वतस्त्यागभावप्रकाशं मादृशेऽकरोत् ॥ १ ॥
ययेमे ज्ञापिता भावाः स्थापयतु स एव तान् ।
यादृशस्तादृशः स्वीयस्त्वदेकशरण विभो ॥ २ ॥
यदत्र मन्मतेर्दोषाद्विरुद्ध प्रभवः स्वतः ।
क्षमन्तां तत्र च तवाश्रयण शरणं मम ॥ ३ ॥

इति श्रीघनश्यामात्मजश्रीगोपेशविरचितं
संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोपेश्वरविरचितविवृतिसमेतः ।

विविधविरहभावावेशजक्लेशभाजामनुभवविषयः सन् गोपिकानां कृपाब्धिः ।
कलयति निजरूपानन्दपीयूषपानं सकृदपि स कृतार्थं मां प्रसन्नः करोतु ॥ १ ॥

श्रीगोपिकाधीशपथानुगानां सेवाकथासक्तिसमर्थनाय ।
य एक एवास्ति विभुस्तमेव श्रीवल्लभाख्यं मुहुराश्रयेहम् ॥ २ ॥

श्रीमद्वल्लभसूनोः श्रीविट्ठलनामधेयस्य ।
पदकमलद्वयममलं मनसि मदीये समुल्लसतु ॥ ३ ॥

स्वाचार्यचरणपङ्कजपरागपुरुरागपरभागान् ।
अभिवन्दे पितृचरणानहमतिभक्त्या तदात्ममतिः ॥ ४ ॥

अथाम्नायाद्यखिलप्रमाणप्रतिपन्नरसात्मकश्रीपुरुषोत्तमविरहानन्दविविधभाववृन्दानुभवः स सर्वात्मभावप्रपत्तिमात्रप्राप्यत्वात् सर्वपरित्यागमन्तरेण तदसम्भवादावश्यको भक्तिमार्गे परित्यागः, स च कर्मज्ञानभक्त्यादिमार्गभेदाद्विभिन्नरूप इति स्वमार्गीयपरित्यागमतिविलक्षणमनाकलयतां तत्तत्संशयवशंवदानां निजमार्गाङ्गीकृतजीवानामविचारितः परित्यागः पश्चात्तापायैव भवितेति सकलसंशयापनुत्तिपुरःसरं तदपगमाय स्वभक्तेषु परमानुपमकृपाकिर्मीरितमूर्तयः श्रीमदस्मदाचार्यचरणाः किञ्चित्प्रयोजनं प्रकटमुदीरयन्तस्तद्विचारप्रतिज्ञामाचरन्ति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलमितरत्तत्सम्बन्धित्वेनैव तथात्वेनोच्यत इति राद्धान्तात् तस्य च 'रसो वै स' इत्यादिश्रुतिभ्यो रसत्वेन सिद्धत्वादुभयविधमुख्यरसात्मनः स्वमार्गपतेः स्वरूपानन्दं श्रीमदाचार्यवर्यवरणवशात्प्रभुसेवादिपरतया सुखं गृहादिषु सतां संयोगप्रकारेण यथाधिकारमनुभवतामपि विप्रयोगप्रकारेण तदनुभवाभावादन्तरेयोन्मिष-

द्भिरनन्तविधैरभिलापे सन्तत दन्तुरितस्वान्तानामस्माक शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यसम्बन्धिनामपि स्वमार्गमुख्यफलविप्रयोगभावानुभवो न भविष्यति । तस्य सर्वात्मभावान्तर्गतसर्वत्याग साध्यत्वादस्मासु तज्ज्ञानस्याप्यभावेन क तदाचरणतत्फलादिसम्भावनापीत्येवरूपो य उत्क टस्ताप स पश्चात्तापपदेनानोच्यते । यतोयमुररीकृतमुररिपुमार्गनिपुणतराणामाचार्यवर्यपद-पद्मप्रसादजुषामेवाधिहृदयमुदयमासादयति, न पुन साधारणानाम्, तन्निवृत्तिश्च भक्तिमार्ग प्रवर्तकश्रीमदाचार्यचरणैकसाध्येति । तदर्थं **परित्याग:** सन्यास स्वमार्गीय श्रीमदाचार्य चरणै**र्विचार्यते** । स्वरूपत फलत सम्यक्तया मार्गान्तरीयतदसङ्कीर्णत्वेन निरूप्यत इत्यर्थ । तथा च वक्ष्यमाणविधया विचारित स्वमार्गीयसन्यासस्वरूपादिक सम्यगवगम्य भगवदङ्गीकाराधिकारतारतम्यभाजस्तत्र प्रवर्तमाना विगलितपश्चात्तापास्तदनुरूप फलमनुभविष्यन्तीति भाव । यद्वा । भक्तिज्ञानयो सिद्धदशायामेव सन्यास साधीयान्, न साधनदशाया, तदा तादृशवैराग्यविरहेण कृतस्यापि तस्यानिर्वाहात् पश्चात्ताप एव पर्यवसित इत्येततारत म्यानवगमे त्यक्ताखिलानामपि भक्ताना पश्चात्ताप, तद्दर्शनेन स्वस्यापि स स्यादिति तदनु-त्पत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थ । अथवा, जीवाना प्रभुप्राप्त्यर्थं भक्तिमार्गमाविष्कृत वद्भि श्रीमदाचार्यचरणैरवश्य स्वमार्गीय परित्यागोपि मुख्यफलसिद्ध्यर्थं प्रागेव निरूपणीय । स तदैव न कथ निरूपित । किमिति विलम्ब कृत इति य पश्चात्तापो भवेत्तद पगमाय परित्यागो विचार्यत इत्यर्थ । ननु विचारविषय परित्याग कर्त्तव्यतया कामिहि तस्तदनन्तर तन्निर्णयवार्तेत्याकाक्षायामाहु **स मार्गद्वितय** इति । **स** परित्यागो **मार्ग-द्वितये भक्तौ ज्ञाने विशेषत:** विलक्षणफलसाधकत्वलक्षणाद्व्यावर्तकधर्मत **प्रोक्त:,** श्रुतिश्रीभागवतादिष्वभिहित इत्यर्थ । अत एव 'सन्त्यज्य सर्वविषया'नित्यादिषु य सर्व त्याग श्रीमन्नस्थभक्तेषु स पर्यवसितविप्रयोगानुभवफल एव, ज्ञानमार्गीयेषु तु स नैवविध, किन्त्वपवर्गपर्यवसायी । यद्वा, विशेष परिपाकदशा भक्तिज्ञानयोस्तदनन्तरमेव परित्याग प्रोक्त । अन्यथा तद्धर्मनिर्वाहाभावेन दोषविशेषपर्यवसानापातात् । विशेषत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च भक्तौ ज्ञाने च विशेष सिद्धदशापन्नत्व प्राप्येति वार्थ । अथवा, विशे षत इत्यस्य प्रत्यासत्तिवशाज्ज्ञान इत्यनेनैवान्वय । इत्यश्चैकजन्मनि परित्यागेन ज्ञानमार्गे मुक्त्यभावादनेकजन्मसु तत्करणमेव विशेषपदार्थोवसेय ॥ १ ॥

नन्वेव कर्ममार्गेपि परित्यागकरणे किं बाधकमित्याशकाया तन्निषेधमाहु **कर्ममार्गे न कर्तव्य** इति ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

कर्ममार्गो हि सकामनिष्कामभेदेनानेकविधकर्मकरणरूप, तथाविधश्रुतिनिरूपित, तस्मिन्परित्यागो निरवकाश इति न कर्तव्य । न च 'यदहरेव विरजे' दिति श्रुत्या बोधित त्वात्परित्यागः सति निर्वेदे दुर्वार इति वाच्यम् । कर्ममार्गस्य यत्नादिक्लनाकन्दलितका

मनाक्लापस्य निर्वेदोदयनिदानभावायोगात्। न च निष्कामकर्मकरणं मनोमलिनिमानमपनीय विरक्तिमुत्पादयिष्यतीति वाच्यम्। तत्रापि सहधर्मिणीसाहित्यनैयत्येन तत्प्रत्यूहानपायात्। न च निष्कामकर्मकरणमेव संन्यास इति वाच्यम्। कर्मत्यागस्यैव तथात्वौचित्यात्। न च काम्यकर्मत्यागमादाय तथात्वं शक्यवचनम्। सङ्कोचे मानाभावात्। क्वचित्तस्मिन्नपि तत्प्रयोगस्यौपचारिकत्वात्। मुमुक्षूणां सर्वत्यागदर्शनाच्च। न च मुमुक्षुषु जीवन्मुक्तेषु च तत्तत्कर्मकृतिव्यापृतिरुक्तैवेति वाच्यम्। भगवन्नियोगेनैव तेषु लोकसङ्ग्रहाद्यर्थत्वात्तस्याः। किञ्चास्तामन्यद्बाधकम्, काल एव बलवद्बाधकस्तत्रेत्याहुः **सुतरां कलिकाल** इति। कलिकालस्तावद्भगवद्भजनस्यैव साधकस्तदतिरिक्तस्य बाधक एवेति तत्र तत्र सिद्धम्। तया च तथाभूतात्तस्मादनिर्वाहप्रत्यवायादिकं प्रतीत्य कर्ममार्गे सुतरां संन्यासो न कर्तव्य इत्यर्थः। एतेन काम्यकर्मत्यागलक्षणो गौणोपि त्यागः प्रत्युक्तः। मुख्याङ्गत्वात्कालो निर्दिष्टः, परमयं देशादीनामप्युपलक्षकः। तेन कलौ देशकर्त्राद्यशुद्ध्यापि न परित्यागः कर्ममार्गे सिध्यति। अत एवायुपस्तुर्थभागे संन्यास इति मतमपि वैराग्यं विना तदसम्भवेन भक्तिज्ञानपरिपाक एव तद्दार्ढ्येन तत्रैव सावकाशमिति कालादिदोषाच्च कर्ममार्गे निरवकाशमिति ध्येयम्। एवं कर्ममार्गे परित्यागं प्रतिषिध्य भक्तिज्ञानमार्गयोः कर्तव्यतया परिशेषिते तस्मिन् प्रथमं कुत्रत्ये विचारः कार्य इत्यत्राहुः **अत आदाविति**। यतः कर्ममार्गे बाधध्रौव्यात् परित्यागो न कर्तव्योतो भक्तौ ज्ञाने च कर्तव्यतया तद्विचारस्य प्राप्तौ स्तस्य भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वात् भक्तेः प्राथम्याच्च सिद्धदशायां च तस्य कर्तव्यत्वादादौ भक्तिमार्गे परित्यागस्य विचारणा। भक्तिमार्गे किं साधनदशायामेव परित्यागः कार्यः, किं वा फलदशायामाहोस्विदुभयत्र वेतिरूपा क्रियत इति शेषः ॥ २ ॥

ननु भक्तिमार्गे परित्यागः स्थापितश्चेत्तदा साधनदशायामपि स कर्तव्य इत्याशङ्क्य सहेतुकं तदनङ्गीकारमाहुः **श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थमिति**।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते।
सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

श्रवणादीनि यानि साधनरूपाणि तेषां प्रकर्षेणाव्यग्रतया सिद्धिर्निष्पत्तिर्गृहादिषु व्यासक्तेषु न सम्भवतीति तदर्थं स परित्यागः कर्तव्यश्चेत्, नेष्यते नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः।

श्रवणादीनां प्रसिद्धिरुत्कृष्टफलं तदर्थं परित्यागः कर्तव्यश्चेन्नाङ्गीक्रियत इति वार्थः । कुत इत्याकांक्षायामाहुः **सहायसङ्गसाध्यत्वादित्यादि** । गृहादिषु तत्कार्यव्यासङ्गस्यानिवार्यत्वादेकान्ततः श्रवणादिसाधननिर्वाहो न भवतीति तत्परित्यागेन क्वचित्तच्चित्तैकाग्र्येण सम्पादनीयमिति मनसिकृत्य यस्त्यागः स कथमुपपद्यतां, यतः श्रवणादीनि सहायसङ्गसाध्यानि, सहायाः कथकादयो विविधस्वभावाः, तेषां सङ्गः सद्भावेन तदुपसत्तिरूपः, तेन सम्पाद्यान्यतस्त्यागानन्तरमावश्यकस्यासङ्गत्वादेर्भङ्गप्रसङ्गतः प्रशिथिलवैराग्यात् पुनस्तत्तदाकांक्षोन्मज्जनेन च न श्रवणादिसाधनार्थं परित्यागः शक्याभ्युपगमः । किञ्च, त्यागमात्रान्न कार्यसिद्धिरिति श्रवणादिसिषाधयिषोस्तत्साधनानां तत्तदवसरे उपेक्षितानां रक्षणं कर्तव्यं, ततस्त्यागः कथं लब्धात्मकः स्यात् । अपि च, साधनमार्गीयस्य कृतेपि त्यागे तत्तत्पदार्थेषु श्रवणाद्यर्थमपेक्ष्येषु नाभिमानो निवर्तते, प्रतिक्षणमुदेत्येव, त्यागे च स निवर्तनीयः सर्वथेति तत्सत्त्वे स न युज्यते । साधनदशायां वेदाज्ञारूपभगवन्नियोगाच्च वर्णाश्रमधर्माणामुल्लङ्घनं न शक्यमित्यशक्य एव त्यागः । अन्यच्च, श्रवणादिसाधनानां तद्धर्मैः परित्यागधर्मैः पर्यटनादिभिः समं विरोधो न शक्यविधूनन इति न कथमपि साधनभक्तिरूपश्रवणादिषु परित्यागः सम्भवति । ननु तथापि गृहादिकं सत्सङ्गासम्पादकतया श्रवणादिषु प्रतिपक्षभूतमतस्तदर्थं तत्परित्याज्यम्, तथा सति कदाचित् सत्सङ्गोपि स्यादित्याशंक्य समाधानमाहुः **गृहादेरिति** । **बाधकत्वेन** श्रवणादिविरोधित्वेन । **साधनार्थं** श्रवणाद्यर्थम् । **तथा यदि** परित्यागश्चेत् । तदा **अत्रापि** त्यागानन्तरमपि तथाविधदार्ढ्याभावात्तादृशैरेव परित्यक्तश्रवणादिपरिपन्थिगृहादिसदृशैरेव सङ्गो भवति, **अन्यथा** प्रकारान्तरेण गृहादिपरित्यागरूपेण श्रवणादिकं तु न भवतीत्यर्थः । ननु भवतु भवनादिपरित्यागकर्तुस्तादृगपरसङ्गः, तथाप्यन्तरुद्गतवैराग्यादिनैव श्रवणादिनिर्वाहो भविष्यतीति न तत्त्यागोनुचित इति चेत्, तत्राहुः **स्वयं चेति** । यदि वैराग्यमन्तर्जागरूकं भवेत्, तदा क्रमेण बाधकनिबर्हणे निर्वहेदपि श्रवणादिकम्, परन्तु साधनदशायां तादृशं तदेव दुरापम्, अतस्त्यागस्तु विरोधिभिर्विधूयेतैव, किन्तु स्वयमपि तु पुनः विषयैरागन्तुकैरनेकरूपैर्भोग्यैराक्रान्त उपमर्दितः सन् कालतः कलिरूपात् भक्तातिरिक्तपरिपन्थिनः पाषण्डी तत्तद्विरुद्धाचरणवान् भवेदित्यर्थः । **सकामत** इति पाठे क्रोधलोभाद्युपलक्षकात् कामतो बलिष्ठदोषात् स तथा स्यादित्यर्थः । तेन विना वैराग्यं त्यागोधमः, तत्तद्विषयप्रतिहतः, फलाय नावकल्पते, प्रत्युत प्रत्यवायमेव सम्पादयति, प्रमाणविरुद्धाचरणमुत्पादयतीति भावः । ननु विषयैराक्रमणेपि श्रवणादिभिर्भगवदावेशस्यापि सम्भवात्तन्महिम्ना त्यागो निष्प्रत्यूह इति चेत्तत्राहुः **विषयाक्रान्तदेहाना**मिति । भगवदावेशे सति त्यागे न कापि क्षतिः । किन्तु विषयैर्देहादिकं येषामाक्रान्तं तेषां **हरेः** सर्वदुःखहर्तुर्विषयदोषदर्वीयसो निर्दोषसेव्यस्यावेशो हृदयादावागमनं तत् सर्वदा कस्मिन्नपि काले न भवति । किन्तु 'विषयान् ध्यायत' इत्युक्तरीत्या नाश एव भवतीत्यर्थः । न च विषयाणां श्रवणाद्यनभिभावकत्वात्र तत्प्रयुक्तभगवदावेशा-

नुपपत्तिरिति वाच्यम् । 'नराणां क्षीणपापाना'मिति वाक्यात्तादृशेष्वेव श्रवणादि प्रयोज्य
प्रभ्वावेशस्योपपत्तेः । न च 'बाध्यमानोपि मद्भक्त' इत्यादिवाक्यैर्विषयसत्त्वेपि का क्षतिरिति
वाच्यम् । उक्तवाक्यानां विषयसुखवैमुख्येन सेवमानस्य प्रमादात्तत्कृतबाधेपि प्रभुरति-
कृपार्द्रस्तद्दोषमपाकरोति, अतो न विषयाभिभव इत्यभिप्रायकत्वात् । अत एव प्रायःपदमु-
पात्तं तत्र । एतद्वाक्याभिप्रायान्तरमस्मत्पितृव्यचरणकृतौ विवेकधैर्याश्रयविवृतौ विलोकनीयम् ।
एवं साधनभक्तिमार्गे समर्थितं त्यागाभावमुपसंहरन्ति अतोत्रेति । यतो बहून्येव
बाधकान्युक्तान्यतोऽत्र साधने भक्तौ श्रवणादिरूपसाधनभक्तिमार्गे त्यागः संन्यासः सुखावहः
आनन्दहेतुर्नैव भवतीत्यर्थः । साधनपदमेवकारश्च फलभक्तौ त्यागस्य सुखनैयत्यावगत्यै ॥

नन्वेवं भक्तिमार्गे न युक्तश्चेत्परित्यागः, तर्हि ज्ञानमार्गे एवास्ताम्, एवञ्च भक्तिमार्गे
व्यर्थस्तद्विचार इति चेत्तत्राहुः विरहानुभवार्थमिति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥
विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥
तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥
भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥
दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३½ ॥

तुशब्दः साधनमार्गीयत्यागव्यावृत्त्यर्थः । साधनभक्तौ परित्यागस्य बहुबाधका-
स्कन्दितत्वेनासम्भवेपि रसात्मकस्य प्रभोः परमफलरूपद्वितीयदलविविधभावास्वादन-
लक्षणो यो विरहानुभवस्तदर्थं परित्यागः सर्वात्मभावाङ्गभूतः संन्यासः प्रशस्यते, प्रशस्तो
भवति, किंवा प्रकर्षेण मोक्षाधिककक्षापन्नत्वेन कथ्यत इत्यर्थः । तेनातिशयितभगवदङ्गी-
कारात्तयाधिकाराधिगमेन विधीयमानः परित्यागः परमपुमर्थरूपतद्विप्रयोगरसानुभावक-
तया भक्तिमार्गे भव्यतम एवेत्येतद्विचारः सुचारुतर इति भावः । ननु ज्ञानमार्गीयसंन्यास-

ग्रहणे यथा विहितत्वात् काषायवस्त्रवेषः **क्रियते, स हि** सातिशयो मोक्षार्थः, तथा भक्तिमार्गीयसंन्यासग्रहणे स न भवतीति किमर्थं तत्सम्पादनमिति चेत्तत्राहुः **स्त्रीयबन्धनिवृत्त्यर्थमिति** । अत्र विरहानुभवार्थे भक्तिमार्गीये परित्यागे ज्ञानमार्गीयसंन्यासे प्रसिद्धो वेषस्तं विना भार्यादिभिः प्रतिबन्धः कार्य इति स्वीयैर्दारादिभिर्यो बन्धः प्रतिबन्धः, किंवा स्वीयेषु बन्ध आसक्तिः प्रतिबन्धरूपा तन्निवृत्त्यर्थं कर्तव्यो, न चान्यथा, प्रकारान्तरेण ज्ञानमार्गीयेण न कर्तव्य इत्यर्थः । यथा ज्ञानमार्गीयसंन्यासे तादृग्वेषस्यादृष्टविशेषद्वारापवर्गोपयोगित्वम्, न तथा भक्तिमार्गीयसंन्यासे, तस्य स्वीयबन्धनिवृत्तिमात्रप्रयोजनत्वेनैवात्र कर्तव्यत्वादितरथा तदभावादिति भावः । ननु ज्ञानमार्गे गुरुतदुपदिष्टसाधनादेरिष्टसिद्धिः, न पुनः संन्यासमात्राद्, भक्तिमार्गीयसंन्यासे तु तदप्रसिद्धेः कथं फलसिद्धिरित्याशङ्कायां तत्प्रसिद्धिमाहुः **कौण्डिन्यो गोपिका इति** । कौण्डिन्यो महर्षिः स गुरुः प्रोक्तः, गोपिका घोषभूषणरूपाः सीमन्तिन्यः, ता भक्तिमार्गीये विरहानुभवपर्यवसायिनि संन्यासे गुरवः प्रोक्ताः, श्रीभागवतादिषु सम्यक्कथिता इत्यर्थः । अत्रायमभिप्रायः । कौण्डिन्यस्यानन्तगुणवर्णनाकर्णनोदीर्णतदभ्यर्णगमनादिमनोरथार्णवभवदनन्तभावसन्तप्ताशेषकरणवृत्तेः कृत्स्नपरित्यागेन विपिनगह्वरादिषु तदन्वेषणविवशस्य सर्वपरित्यागपूर्वकतादृगार्तिलक्षणविरहानुभवहेतुभावप्रकाशकत्वमस्ति । गोपिकानां तु स्वप्राणप्रेष्ठप्रस्फुरत्सर्वात्मभाववत्तया रासोत्सवादिप्रस्तावे तथात्वं स्फुटतरमेवेति लोकवेदातीतशुद्धपुष्टिमार्गीयप्रकारस्य प्रभुणा स्वप्रयोजनार्थं स्वभोग्यभक्तास्थापितस्य प्रथमं तत एव प्राकट्यात्तत्रैव गुरुत्वं समञ्जसतमम् । महर्षौ तु तद्दर्शनार्तिप्रकर्षतौल्यात्तदुक्तिः, प्रमाणमार्गीयस्यात्र मुख्यं गुरुत्वमयुक्तमिवेति । तेन गुरुत्वमत्रैतत्परित्यागफलसाधनीभूतभावप्रकाशकत्वं विवक्षितम्, न तूपदेष्टृत्वम्, तस्य प्रकृतेऽभावात् । एतत्संन्यासस्य ज्ञानमार्गीयतद्विलक्षणत्वेनैतादृशस्यैव तस्य वक्तुमौचित्यात् । उपदेष्टृत्वस्यापि तदर्थज्ञापनमात्रौपयिकतया फलतो विशेषाभावाच्च । अत एव 'एवं सत्यस्मिन्मार्गे स्वामिन्य एव गुरव इति ज्ञापितं भवती'ति निरोधविवृतिप्रकाशे श्रीमदस्मत्प्रभुचरणचारूक्तिश्चकास्ति । 'स्वामिन्य एवे'त्येवकारान्मुख्यं गुरुत्वमेतासामवसेयमित्यन्यदेतत् । किञ्च, न केवलमेता एतादृशभावमात्रस्य निजमार्गीयस्य प्रकाशिकाः, किन्तु यथा स्वभजनपराणामेतद्भावफलं सिध्यति, तथानुकम्पा सम्पादिका इति विरहानुभवात्मकफलौपयिकधर्मवत्त्वलक्षणं साधनत्वं गुरुत्वेऽपि न विरुद्धं, कर्तुरिव निमित्तकारणत्वमित्याशयेनाहुः **साधनं च तदिति** । तत्प्रसिद्धं मुख्यं साधनं गोपिका एवेत्यर्थः । चोऽप्यर्थे । तेन श्रीमदाचार्यचरणानुग्रहभरविजृम्भिततत्प्रकटितैतन्मार्गीयप्रकारपरिकलनावतामेतद्भावसजातीयभाववत्त्वैतद्भजनपूर्वकं प्रभुभजने यथोक्तमुख्यफलं भवतितरां निर्विचिकित्समिति भावः । अत एव भगवद्भजनापेक्षयाप्येतासां भजनमुत्तममिति सूक्तिः श्रीमदाचार्यचरणानाम् । नन्वेवमेतासु गुरुत्वे व्यवस्थापितेऽपि किमेतत्प्रकाशितं स्वमार्गीयं साधनमित्यत आहुः **भाव इति** । सर्वात्मभावयुक्तानां भक्तानां विप्रयुक्तत्वदशावशादुन्मिषतो मनोवागविषयस्य

भावस्य भगवत्स्वरूपात्मकत्वेन रसात्मकत्वात्तस्य भावनया स्वाचार्यानुग्रहभरसमुत्पतथाविध-
भगवदङ्गीकारादेवोदयमानया सिद्धः पर्यवसितो यस्तत्सजातीयोऽनुभवैकगम्यो भावः
स एव तन्मार्गीयतया पूर्वोक्ते परित्यागफले साधनमिष्यते, अन्यत् ज्ञानमार्गीयत्यागे
प्रसिद्धं किमपि साधनत्वेन नेष्यते, नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः । यद्वा । असिद्धस्य भावस्य सा-
धनत्वायोगेन प्रियतमस्य गुप्ततया स्थितस्य विप्रयोगरीत्या तत्तद्भावपोषकस्य तादृग्भक्त-
निजविषयकोत्कटार्तिनिरीक्षणेन प्रतिक्षणविलक्षणरसभावानुभवविचक्षणस्य प्रभोः शुद्धपुष्टि-
भक्तकर्तृकया परमार्तिपूर्वकप्रियान्वेषणतर्वोद्विग्नगुणगानतत्तदवस्थासम्बन्धिभावविषयिण्या
भावनया तेष्वेव सिद्धः फलितो यः कोप्यनिर्वचनीयोनुभवैकविषयवैभवः स्वविषयातिरिक्त-
स्मरणहरणस्वभावः स एवोक्तभक्तानामनुग्रहेणैव कदाचिदन्यत्रापि क्वचिदुदितः परित्याग-
फले साधनमिष्यत इत्यर्थः । एतेनोक्तभक्तानां गुरुत्वं सम्यगुपपादितं भवतीति भावः ।
नन्वहर्निशं विरहभावनामभ्यस्यतस्तत्परिपाकदशायां नियमतो वैकल्यावस्थ्यादिकं
यद्भवति तत् कथं फलरूपरसभावेऽन्तर्भावार्हम्, लौकिकतत्तुल्यरूपत्वदर्शनेन प्राकृतत्वस्य
दुर्वारत्वादिति चेत्तत्राहुः विकलत्वमिति । विकलत्वमनुसन्धेयस्यानुसन्धेयस्य चा-
नुसन्धानानुसन्धानान्यथानुसन्धानादिजनको व्यभिचारिभावः । तथा तत्सदृशं व्यभिचारि-
भावरूपं प्रथमानुभूतप्रियविषयकतत्तदर्थोत्कटाभिलापजनितमस्वास्थ्यं, येन तदतिरिक्ते वस्तु-
नि रुचिव्याघातः । ईदृशभावानामन्येषामुपलक्षणमेतद्द्वयं फलीभूतस्य विरहभावस्य प्रकृतिः
प्रकारः स्वभावो वा, हि यतः प्राकृतं लौकिकं दुःखादिजन्यं न भवति, अतः फलरूपरसभा-
वान्तर्भावो नैतस्यानुपपन्न इत्यर्थः । नहि यज्जातीयं कार्यं दुःखादितो जायते, न तज्जातीयं
सुखादित इत्यस्ति नियमः । शोकादिव हर्षादप्यश्रूद्गमादेर्दर्शनात् । अत एवैवमुक्तं श्री-
मदाचार्यचरणैर्दशमस्कन्धविवरणे, 'नहि दोषेणैव कार्यं भवति, गुणेन न भवतीति वक्तुं
शक्यम्, दुःखादप्यश्रूणि आनन्दादप्यश्रूणी'ति । एवं संन्यासफलसाधनाद्यभिधाय,
तत्सम्पत्तिमतो बाधकान्याहुः ज्ञानमिति । एवं विकलत्वास्वाम्यादिना वर्तमानस्य सततस्तस्य
भक्तिमार्गीयपरित्यागवतः । किञ्चैवं परित्यागप्रकारेण वर्तमानस्य भक्तिमार्गीयस्य तस्य
विकलत्वास्वास्थ्यादिभावस्य ज्ञानमात्माभेदानुभवरूपं बहिःसंवेदनाद्यभावद्वारा तादृ-
क्तीव्रतापोपशामकतया स्वास्थ्यप्रयोजकं, गुणा भगवतो धर्माः, पूर्वं बहुधानुभूता बहव
एवानुभवैकवेद्या ये सजातीयभावैर्भक्तैः सम्भूय भूयः क्रमेण मिथो गीयमानाः स्वास्थ्यमु-
पजनयन्ति, बाधका विरोधिन इत्यर्थः । ननु ज्ञानमार्गे संन्याससहकृतात् ज्ञानाद्यादृशं फलम्,
भक्तिमार्गेपि त्यागात्तादृशमेव भविष्यतीति न फलत कोपि विशेष इति चेत्तत्राहुः सत्य-
लोक इति । फलभेदः सामग्रीभेदप्रयोज्य इति ज्ञानमार्गीयेण संन्यासेन विशेषितात्
ज्ञानात् तत्त्वज्ञानात् सत्यलोके स्थितिर्ब्रह्मलोकप्राप्तिरिति यावत्, सा ज्ञानमार्गीयस्य संन्या-
सिनो भवति. भक्तिमार्गीयस्य तस्य विरहभावानुभावकभावसिद्धिहेतुभूतया भावनया

सहकृतत्वादत्र भक्तिमार्गीयत्यागे, भावना साधनं प्रयोजिका, तत्र फलमपि तथा, तेनैव प्रकारेण विरहानुभवात्मकं भवेत् । ननु सत्यलोकादिसदृशं, कारणानुरूपस्यैव कार्यस्य न्याय्यत्वात् । सत्यलोकाद्येतत्त्यागफलयोस्तारतम्यं तु सुमेरुसर्षपयोरिव सुप्रसिद्धमेवेति क इतोधिको विशेषोभिधेय इति भावः । किम्, ज्ञानमार्गीयस्य त्यागिनः फलं यन्मुख्य-तयाम्नातमपवर्गाख्यम्, तदपि न त्वरितमेव भवति, किन्त्वतिविलम्बेनैवेत्यभिसन्धायाहुः **तादृशा** इति । तादृशाः संन्यासविशिष्टज्ञानवन्तः सत्यलोकादौ ब्रह्मलोकादाववान्तरफल-तयोपनते तिष्ठन्त्येव, न तु झटिति मुच्यन्त इत्यर्थः । 'ते ब्रह्मलोके त्वि'ति श्रुत्या तन्मुक्तिवि-लम्बावधारणात्तल्लोकस्थितिरसन्दिग्धेति **न संशय** इत्युक्तम् । तेन भक्तिमार्गीयत्याग-फलचिन्तायामविचारितरुचिरस्याप्यस्यातिचिरेणैव चेत्प्राप्तिः, तदा तदाशामप्यवलम्ब्य स्थितिः श्रेयसी, न पुनरेतद्वुचिलवोप्युचित इति भावः । नन्वेवं भक्तिमार्गीयत्यागेपि कुतः शीघ्रं फलसम्भवो यतस्तत्प्रतिबन्धकस्तत्तदहन्ताममतादिरूपो बन्धस्तदवस्थस्तन्नाशश्च ज्ञाना-दिकं विना कथमित्याशङ्क्य तत्प्रकारमाहुः **वह्निश्चेदिति** । सर्वपरित्यागानन्तरं विर-हभावभावनाभ्यासमुपस्थस्यान्तस्तद्भावरूपेण स्थितोऽत एव स्वात्मा निरुपधिप्रियत्वाज्जीवन-हेतुत्वाच्च तत्त्वेन स्फुरितः स कदाचिदत्युत्कटतापवैकल्यादिभावस्वभावाद्यद्यन्तर-नुभूयते तादृशो **वह्निः** प्रकटो दृगादिगोचरश्चेद्भवति, तथाभूतश्च यदि पुनरन्तःप्रविशेत् तत्र दृष्टान्तो **वह्निवदिति** । यथा काष्ठनिष्ठो वह्निः कदाचिन्मथनादितो बहिः प्रकटीभूय पुनस्तन्मध्ये प्रविष्टः काष्ठतामपाकृत्य वह्निरूपतां सम्पादयति, तथा भगवानप्यात्मत्वे-नान्तःस्थितो विरहभावोद्रेकाद्बहिरागतः पुनः सम्बद्धः सर्वथा प्रतिबन्धकमपनीय निज-भावरूपतां सम्पादयतीत्यर्थः । वह्निदृष्टान्तेन स यथा तापहेतुरूपेणैवं सम्बद्धः स्वरूपात्म-कत्वं कुरुते, तथा भगवानपि विप्रयोगभावप्रकारेणैव सम्बद्धस्तद्भावरूपतामित्यपि सूचितम् । तदैव पुनः प्रवेशक्षण एव **सकलः** सर्वोपि तत्तदहन्ताममतारूपो बन्धो **नाशमेति** प्राप्नोति, न चान्यथा, प्रकारान्तरेणात्र प्रतिबन्धकस्य नाशो न भवतीत्यर्थः । नन्वेवं कारणैक्येऽहन्ता-ममतात्मकस्य बन्धस्य विलये प्रलयानलादप्यतिप्रबले विप्रयोगे च प्रादुर्भूयमाने, जी-वनमेवाशक्यं स्यात्, तत्तद्रसभावानुभवस्तु दूरदूरतर इत्यत आहुः **गुणास्त्विति** । तुशब्दः प्रकारान्तरव्यावृत्त्यर्थः । गुणाः स्वरूपात्मका भगवद्धर्मात्मकाः ते पूर्वं तथा तथा-नुभूता वियोगदशायां सङ्गराहित्यात् बहिःप्रियदर्शनाद्यभावात् अतिविरहतापविह्वलतया कमपि प्रकारं प्राप्नुवतां भक्तानामग्रिमैवंविधरसानुभवाय भगवता सर्वभावेन रक्षणी-यानां जीवनार्थं भवन्ति । ननु स्वास्थ्यमप्युत्पादयन्ति येन तद्भावान्तरायः स्यात् । हि युक्तोयमर्थः । रसात्मकस्य धर्मिणो विरहेण सन्दिग्धस्थितीनां जीवनं स्वरूपात्मकतया तदीयगुणानामेव शक्यं यतः । यद्यपि धर्मिणो विरहस्य सर्वाधिकबलतया सर्वतिरोधाय-कत्वाज्जीवनं कथमपि न जाघटीति, तथापि तस्य प्रियगुणगानप्रादुर्भावावकाशप्रदत्वात्तेषां

जागरूकत्वान्न
च पर्यायेण मुहुरुपगीयमानानां पेपीयमानपीयूषवजीवनजननस्वभावस्य
काप्यनुपपत्तिः । न चैवं गुणैर्जीवनसम्पत्त्यनन्तरं विरहभावस्य तिरोभावः प्रसज्येतेति
वाच्यम् । तेषां जीवनाधिककार्यानुपधायकत्वेन तस्य तादवस्थ्यात् । विरहानुभवार्थं तज्जी-
वनमात्रस्य भगवच्चिकीर्षितत्वाच्च । नन्वेवं सति स्वविरहसन्तापभरपीडितस्वान्तानाम-
वस्थां विचार्य सर्वसमर्थो भगवानेव यदि कदाचिदपि लोकसिद्धस्वास्थ्यादिना प्रकारा-
न्तरेण वा तद्भावमुपशमयेत्, तदा स्वयमेव बाधकः स्यादिति चेत्तत्राहुः भगवानिति ।
अत्र अस्मिन् स्वविप्रयोगतीव्रतापादिभावानुभवे भगवान् यद्यपि सर्वैश्वर्यसहितः, त-
थापि बाधकः केनापि प्रकारेणास्य विघातको नेष्यते, कुतः, फलरूपत्वात्, निरवध्यानन्द-
रसात्मकत्वादित्यर्थः । यदि भगवान्मनागप्येतद्भावमपनयेत्तदा रसस्य संयोगविप्रयोगभे-
देनोभयरूपत्वादन्यतरभावानुभवाभावे स्वस्य तथात्वमेव न सिध्येत् । सर्वात्मभाव-
वस्तु स्वरूपात्मकं रसमविरतं वितरत एव फलरूपत्वाभ्युपगमादिति भावः । एवं च 'रसो
वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति ।' 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजी-
वन्ती'त्यादिश्रुतिव्याकोपोपि नोपनिपतति । ननु तथापि परमकरुणापरीतो भगवान् भक्तानां
भूरितरमात्मविरहक्लेशमसहमानस्तदुपशमाय सर्वथा स्वास्थ्यप्रतिपादकवाक्यानि करि-
ष्यति, अन्यथा स्वदयालुत्वविरोधः स्यादिति चेत्तत्राहुः स्वास्थ्यवाक्यमिति । स्वास्थ्य-
मागन्तुकक्लेशनिवृत्त्या पूर्ववत्स्थितिः, तत्प्रतिपादकं वाक्यं प्रभुणा न कर्तव्यम् । न
चैवं सति सामर्थ्ये दुःखदर्शी कीदृशो दयालुरिति शङ्कनीयम् । एवंविधविरहक्लेशादि-
भावस्य परमपुमर्थरूपत्वेनैतदभावसम्पादन एव दयापचयापातो यतः । अतः स्वत एवै-
तादृशभावनिवहान्निजेष्वनिशं विशदयतो निर्व्यूढो दयातिशय इति मनसिकृत्योक्तं द-
यालुर्न विरुध्यत इति । न ह्येतादृशभावानां प्रतिक्षणं संरक्षणपोषणादितोप्यधिकं कश्चि-
त्किञ्चित्कृपाकार्यमस्ति । क्लेशादित्वेन प्रतीतिमात्रमत्र परं प्राकृतानाम्, वस्तुतस्त्वमी रसात्म-
का अनुभवैकवेद्या निरवद्यभगवद्भावा इति सुस्थमखिलम् । स्वास्थ्यवाक्यमित्येकवचनेनै-
कमपि तादृग्वाक्यं प्रभुर्न करोति, येनैतद्भावबाधः स्याद्, बहूनां तु सम्भावनैव केति भावः ।
एवं भक्तिमार्गीयं परित्यागमभिधाय तस्य दुरापत्वं वदन्तस्तत्सिद्ध्युपायमाहुः दुर्लभोय-
मिति । अयं भक्तिमार्गीयपरित्यागो दुर्लभः, शुद्धभगवत्स्नेहातिरिक्तसाधनालभ्यत्वात् ।
अत एव तथाभूतप्रभ्वनुग्रहप्रभवेन प्रेम्णा शुद्धस्नेहेन सिध्यति, तस्य तत्तत्स्वकार्यपरम्परया
तन्निर्वाहकत्वात्, नान्यथा, न तु विहितेन केनापि प्रकारेणेत्यर्थः । तेनैतदर्थिनां तदीयानां
प्रेम्णि प्रयत्नः प्रतिष्ठितो भवतीति भावः । यत्रैतत्साधनस्य प्रेम्ण एव दुर्लभत्वम्, तत्रै-
तत्साध्यपरित्यागस्य दुर्लभत्वं किं वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायो द्योत्यते ॥ ६–१३३ ॥

एवं स्वमार्गीयं संन्यासं विचार्य ज्ञानमार्गीयसंन्यासविचारमाहुः ज्ञानम[illegible] इति ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पापण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ॥ १६½ ॥

तुशब्दो भक्तिमार्गीयत्यागव्यावृत्त्यर्थः । ज्ञानमार्गे मोक्षार्थं विविदिषाविद्वत्ताभेदेन द्विविधोपि संन्यासो विचारितः । तदेवाहुः **ज्ञानार्थमिति** । ज्ञानार्थं ज्ञानप्रयोजनार्थं यः स विविदिषासंन्यासस्तस्य ज्ञानेच्छाप्रयुक्तस्य ज्ञानोत्पादनोपयोगित्वात् । उत्तराङ्गं मुक्त्यङ्गं यः स तु विद्वत्संन्यासस्तस्य ज्ञानोत्तरभाविनो मुक्तावेवोपक्षयात् । चकारेण मुक्तिचरमकारणे ज्ञानेपि तदुपयोगः सूच्यते । तत्र विविदिषासंन्यासः कलौ न सम्भवतीत्यभिधास्यते । विद्वत्संन्यासस्तु यद्यप्यस्ति, परं तस्मिन् सिद्धिर्मुक्तिर्जन्मशतैरनेकजन्मभिर्भवति । 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यत' इति प्रभुवाक्यात् । ज्ञानार्थं संन्यासस्तु कलौ न सिध्यतीत्याहुः **ज्ञानमिति** । ज्ञानं च न केवलं संन्यासाद्भवति, किन्तु साधनापेक्षं यज्ञदानाद्यधीनं मतं, साधनत्वेन यज्ञादीनां श्रवणात् । 'तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेने'ति श्रुतेः । तानि च देशकालादिसाध्यानि, तच्छुद्धिः कथमपि कलौ न भवति । यतोतः **कलौ स** विविदिषासंन्यासः कृतः **पश्चात्तापायैव** भवति, **नान्यथा,** यतः फलान्तरमपि शंक्येतातः सर्वथैव न कर्तव्य इति भावः । किंच, न केवलं पश्चात्तापस्तस्य पर्यवस्यति, किन्त्वन्यदपीत्याहुः **पापण्डित्वमिति** । पापण्डित्वं स्वधर्मविरुद्धाचरणं च भवेत् । अपिशब्दस्तज्जन्यपापसमुच्चयार्थः । यस्मादीदृशोयं संन्यासस्तस्मात् ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं न संन्यसेदित्यर्थः । यद्वा । ज्ञानेन हेतुना संन्यसेत्, नतु तेन विनेत्यर्थः । अपिच युगान्तरे यथा कथञ्चिद्विविदिषासंन्यासस्य निर्वाहः शक्येतापि, कलौ तु कलयापि नेत्याहुः **सुतरामिति** । कलिदोषाणां बहूनां प्रबलत्वादशक्यबाधत्वादिति स्थितं, पर्यवसन्नमित्यर्थः ॥ १४–१६½ ॥

ननु यदि कलिदोषप्राबल्याज्ज्ञानमार्गे न संन्यासस्य निर्वाहस्तर्हि तत एव भक्तिमार्गेपि तस्य तथैति तुल्यमित्येवमाशङ्कन्ते **भक्तिमार्गेपीति** ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥
तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तिमार्गेपि चेत् कलिसम्बन्धी दोषः प्रबलस्तदा नाश एव स्यात्, ननु त्यागस्य फलपर्यवसानमिति किं कार्यं, स्वीकार्यो वा ज्ञानमार्गीयः परित्यागः, परिहार्यो वा भक्तिमार्गीयोपीति महत्सङ्कटमिति प्राप्ते, उच्यते, समाधानमिति शेषः । तदेवाहुः **अत्रारम्भ** इति । ज्ञानमार्गे संन्यासस्योपक्रमे कलिकालादिदोषैः साधनवैगुण्यात्तदनिर्वाहे **नाशः** फलाभावो युज्यते । न च तत्र दोषसत्त्वे किं मानमिति वाच्यम् । 'कलेर्दोषनिधे'रिति वाक्येन भगवद्भजनातिरिक्ते तत्सद्भावस्य बोधितत्वात् । दृष्टस्य श्रुतस्य वा नाशस्यैव दोषोन्नायकत्वाच्च । अत्र भक्तिमार्गे आरम्भे उपक्रमे त्यागस्येति शेषः **नाशः** फलाभावो न स्यात्, कलेरन्यत्र बाधकस्यापि भक्तिमार्गे साधकत्वेन साधनवैगुण्याप्रसक्त्या संन्यासस्यानिर्वाहासंभवात् । भक्तिमार्गस्य ज्ञानकर्मादिभ्यो बलवत्त्वस्य बहुलमुपलम्भात् । 'न कर्हिचिन्मत्परा नंक्ष्यन्ति' 'न मे भक्तः प्रणश्यती'त्यादिभिर्भक्तस्य नाशाभावावधारणाच्च । एकादशस्कन्धे 'न ह्यंगोपक्रमे नाशो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपी'त्यनेनारम्भदशायामपि तदभावस्य प्रतिज्ञातत्वाच्च । तेन भक्तिमार्गे दोषलेशोपि न शङ्कितुं शक्य इति भावः । किञ्च, भक्तिमार्गे परित्यागवान् कश्चिन्नष्टो दृष्टः श्रुतो वा येन तद्दृष्टान्तेनान्यस्मिन्नप्याधुनिके **नाशः** शक्यवचनः स्यादतो **दृष्टान्तस्याप्यभावतो** भक्तिमार्गे न कश्चिदुन्नेतुमपि शक्यते दोष इति न नाशसम्भावनालेशोपि । ननु तथापि विरहव्यथाव्याकुलः सन् यदि कोपि कदाचित् स्वास्थ्यसम्पादकं कमपि पदार्थमुपादद्यात्तदा तस्य भावस्य वा बाधः स्यादेवेति चेत्तत्राहुः **स्वास्थ्यहेतोरिति** । स्वास्थ्यहेतोः स्वास्थ्यप्रयोजकस्य येनैवैतद्भावविघातकं किञ्चिदपि स्वास्थ्यं भवति तस्य सर्वस्यैव पूर्वमेव सर्वभावेन त्यागादस्य भावस्य त्यागिनो वा बाधः प्रतिघातः केन पदार्थेन सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः । ननु लौकिकस्य बाधकस्यासम्भवेप्यलौकिकाः कालादय एव बाधका भविष्यन्तीति चेत्तत्राहुः **हरिरिति** । यद्यपि हरिः सर्वदुःखहर्ता समर्थः सदयश्च, तेन भक्तक्लेशलेशमपीक्षितुं न क्षमः, तथाप्यत्र अस्मिन्नतिप्रचुरविप्रयोगभावे **बाधां नाशं** स्वरूपरसामृतैरेतद्भावरूपैर्भक्तानामपोषणरूपं कर्तुं न शक्नोति, समर्थो न भवति । अपरे कालादयः कुतो बाधां कर्तुं शक्ष्यन्तीत्यर्थः । इहायमभिसन्धिः । भगवान् हि रसत्वेनैव 'रसो वै स' इत्यादिश्रुत्या निरूपितः, तत्त्वं च संयोगविप्रयोगात्मके शृङ्गार एव विश्रान्तमिति तदुभयात्मकः स्वयं स्वस्वरूपात्मकानेव तत्तद्रसभावांस्तत्तद्विहृतिभिरत्यनुगृहीतेष्वाविर्भाव्य तदनुभवं विदधत्तदुद्बोधितनिजभावनिचयानां चानुभवमनिर्वचनीयानेकप्रकारैर्भक्तानां सम्पादयन् स्वरूपानन्ददायको महोदारो मुहुर्मुहुर्विप्रयोगादिभावपोषणमेव कर्तुमर्हति, न तु तद्विघातमपि, स्वस्य भावात्मकत्वात्तेषां चातिप्रव-

त्वाद्भक्तविषयकैर्भावैः स्वस्य तदधीनत्वभावनात् निरवधिकृपानिधित्वस्य प्रकटितत्वाच्च
ननु तथापीश्वरः स्वतन्त्रः कदाचिद्भावमन्यथयेदेव, न तु नियमेन पोषयेदित्याशङ्क्य तत्
स्वभाव एवेदृशो यदेतद्भावं पोषयत्येव, न तु नाशयतीतीममर्थं व्यतिरेके दृष्टान्तेन समर्थयन्ति
अन्यथेति। यदि भगवान् स्वरूपामृतैरुक्तभावैर्भक्तान्न पोषयेत् कश्चित्, किन्त्वेतद्भावबाधनमेव
कुर्यादिति तदा लोके मातरो जनयित्र्यो बालान् स्तनन्धयान् स्तन्यैः कश्चित् न पुपुषुर्न पोषि-
तवत्य इत्यपि स्यात्। तत्तु तथाभूतस्वभावानां तासां सर्वथैवाप्रसिद्धमसम्भावितमशक्यं च, एवं
भगवतोपि स्वस्वरूपामृतैर्भक्तानामपोषणमेतद्भावनाशनरूपमित्यर्थः। तेन स्तन्यादिदानेन बा-
लकानामपोषणे यथा मातृषु वात्सल्यस्वभावस्य तेषां जीवनस्य चान्यथाभावः स्यात्, तथा स्वरू-
पामृतदानेन भक्तानामपोषणे स्वरूपात्मकानुभूयमानविप्रयोगभावबाधनलक्षणे भगवति तादृक्-
स्वभावस्य भक्तानां जीवनस्य चान्यथा भावः स्यादिति भावः। ननु यद्यप्ययं भावः सर्वाशक्य-
बाधस्तथाप्येतद्भावस्य बहिःसंवेदनदशायामेवोद्गमारम्भेन ज्ञानस्य च तन्नाशकत्वेनैता-
दृशभाववतो भक्तस्य भगवदिच्छया ज्ञानिभिः संगे सति तद्वाक्यैरेतद्भावविपर्यासेन चित्तस्यान्य-
थावृत्तिरूपो मोहो भविष्यत्येव, तेन च फलप्रतिबन्ध इति चेत्तत्राहुः **ज्ञानिनामपीति**।
यद्यपि 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'त्यादिवाक्यैर्ज्ञानस्य तादृशभक्तिपरिपन्थित्वमिति तद्वत्संगे
भवति भाववैपरीत्यं, तथापि भगवान् भक्तं तादृशं ज्ञानिनामपि वाक्येन ज्ञानाद्भक्तेराधिक्य-
ज्ञापनाय तन्मार्गीयाणां संसर्गं संपाद्यापि तद्वाक्येन बहिःसंवेदनविघटनद्वारा तद्भावविरो-
धिना अत्युत्कटभाववन्तं न मोहयिष्यति, तथा सति तद्भावमेव तस्य न सम्पादयेत्, प्रयो-
जनाभावात्। अग्रे तस्य ज्ञानिवाक्यादिभिर्निरस्यत्वात्। किञ्चैवं सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणसिद्धं
ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यमुस्सिदेत्। अतो भक्तस्य भावः केनाप्यन्यथा कर्तुमशक्य इति
न फलप्रतिबन्धसम्भावनापीति भावः। लृड्प्रयोगेणाग्रेपि मोहानुत्पादः सूच्यते। ननु प्रभु-
कृतिप्रयोजनमाकलयितुमशक्यं तदिच्छामन्तरेणेति कदाचित्तत्तमपि भावं प्रत्यादिस्थेत्, तदा
ज्ञानिवाक्यैर्भक्तमपि मोहयेदेवेत्याशंकायामाहुः **आत्मप्रद इति**। यत आत्मानं रसरूपं
भक्तेभ्यः प्रकर्षेण विमुक्तसंकोचतया ददाति, प्रियः प्रीत्याश्रयश्च, अपिशब्दात्तदधीनश्च भवति,
अतो दित्सितस्य स्वरूपस्यैतद्भावातिरिक्तप्रकारेण दानासम्भवादेतद्भावरहिते तद्दानाभावेना-
त्मादेयतापत्तेः प्रीत्यन्यथात्वप्रसक्तेः प्रयोजनाभावाच्च **किमर्थं मोहयिष्यतीत्यर्थः**।
एवं स्वमार्गीयं परित्यागं सम्यग्विचार्य तं कर्तुमुपदिशन्ति **तस्मादिति**। यस्मादुक्तातिरिक्त-
प्रकारेण कृतः परित्यागः पश्चात्तापैकपर्यवसितस्तस्मादुक्तो यः प्रकारो 'विरहानुभवार्थं
त्वि'त्यादिना तेन परित्यागो भक्तिमार्गीयः संन्यासो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः। तथा सति
पश्चात्तापनिवृत्तिपूर्वकमुक्तफलमप्रत्यूहं भविष्यतीति भावः। ननूक्तपरित्यागफलस्यैतत्प्रकारेणैव
सिद्धावपि प्रकारान्तरकृतपरित्यागे किञ्चित्प्रयोजनं भविष्यत्येव, तस्यापि तत्र तत्रोक्तत्वादिति
चेत्तत्राहुः **अन्यथेति**। अन्यथा प्रकारान्तरेण संन्यासे **स्वार्थात्** स्वप्रयोजनात् **भ्रश्यते**
भ्रष्टो भवति, तेन पश्चात् तत्र **एव भवेदिति** मे एतद्भावतत्त्वाभिज्ञस्य निश्चिता मतिर्निःसन्दि-

ग्धा बुद्धिरतो मदीयैरेतन्मत्यनुसारिभिः प्रकारान्तरं सर्वथैव नोपादेयमित्यर्थः ॥ १७–२१ ॥

उपसंहरन्ति इतीति ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इतिशब्दः समाप्तौ । कृष्णप्रसादेन कृष्णः फलात्मा, यशोदाद्युत्सङ्गलालितः, तस्य प्रसादः, परमकाष्ठापन्नोऽनुग्रहः, तेनासाधारणालौकिकहेतुनालौकिकस्यैतन्निश्चयजननासामर्थ्यात् वल्लभेनेति प्रथितेन प्रभोः प्रियेणात एव रसात्मकतत्स्वरूपस्य संयोगविप्रयोगभावतदवान्तरभेदानुभववता भक्तौ फलरूपायाम् संन्यासवरणं पुष्टिमार्गीयपरित्यागाङ्गीकार इति यावत्, तत् विशेषेण स्फुटतया गुप्ततया वा निश्चितं निर्धारितं, अन्यथा एतन्निश्चयाभावे फलरूपभक्त्यभावे या प्रकारान्तरेण संन्यासमुरीकुर्वन् पतित उक्तसमार्गीयसंन्यासफलात् प्रच्युतो दोषवांश्च भवेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

श्रीविठ्ठलेशचरणाब्जयुगानुगश्रीकल्याणरायतनयेन मुदा विचार्य ।
गोपेश्वरेण विहिता विवृतिर्वितन्यात् संन्यासनिर्णय इयं विदुषां विनोदम् ॥ १ ॥

इतिश्रीश्रीगोकुलाधीशपदसरसिजसेवापथप्रवर्तकश्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जरजोणुशरणश्रीकल्याणरायात्मजश्रीहरिरायानुजश्रीगोपेश्वरविरचिता संन्यासनिर्णयविवृतिः सम्पूर्णा ॥

---

१ गीर्भिगोपालदासस्य श्रीगोकुलनिवासिनः । गोपेश्वरेण विवृति कृता संन्यासनिर्णये ॥ १ ॥ इत्यधिकम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतः ।

स्वाचार्यवर्यचरणोदितभक्तिमार्गप्रारम्भकालिकजनत्यजनप्रकारम् ।
संन्यासनिर्णयमयं विवृणोति दासः श्रीबालकृष्णपदपद्मनिवेशितात्मा ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा यदा देहदेशपरित्यागविषयकं भगवदाज्ञाद्वयं पुरःस्फूर्तिकविचारेण न कृतवन्तः, तदा सेवकत्वात् पश्चातापे जाते, लोकत्यागविषयिण्यां भगवतस्तृतीयाज्ञायां जातायां, विचारितवन्तः, किं भगवान् मदुपर्यप्रसन्नोस्ति, नवेति । तत्र यद्यप्रसन्नः स्यात्, उपेक्षेतैव, न त्वाज्ञापयेद्, अतो द्वितीयैव कोटिः; परं तत्र किं कारणमिति विचारे सूक्ष्मटीकानिवृत्त्याऽतिसर्जनरूपदेशत्यागस्य, माधवभट्टकाश्मीरिनिवृत्त्योपचयरूपदेहत्यागस्य च भगवतैवं कारितत्वात् पूर्वाज्ञयोर्देशदेहशब्दौ यौगिकावगतौ । ततस्तदाज्ञाद्वयं भगवतानेन प्रकारेण साधितमित्येव कारणमिति निश्चित्य पूर्वाज्ञाद्वयवत्तृतीयस्या अपि दुर्ज्ञेयतां निश्चित्य, यद्यप्याज्ञाद्वयं सम्पन्नम्, तथापि स्वतस्तु न कृतम् । अतस्तदकरणजः पश्चात्तापः कथं निवर्तेत इति विचारे करिष्यमाणाज्ञाविषयविचारादेव भगवान् निवारयिष्यतीति निश्चित्य स्वावस्थासूचनपूर्वकं परित्यागनिरूपणं प्रतिजानते पश्चात्तापेत्यादि ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

अत्र केचित् प्राञ्चो भक्तिमार्गीयपरित्यागेतरसर्वपदार्थान् विचार्य त्यागविचाराभावजनितस्वपश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागविचारप्रतिज्ञेत्याहुः । अन्ये तु कर्ममार्गीयाणां संसारवैराग्यस्य वार्धक्येप्यभावात् तत्सङ्गवशेन कदाचिद्भगवदीया अपि तादृशा मा भूवन्निति तदर्थं सुखोपायस्य संन्यासस्य निरूपणप्रतिज्ञेत्युक्त्वा, शरीरवैकल्ये जाते पूर्वदशां स्मृत्वा, मया पूर्वमेव भगवदर्थं किमिति न यत्नः कृत इतीदृशो यो भगवदीयानां तापः स पश्चात्ताप इत्याहुः । इतरे तु भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च साधनदशायां सिद्धदशायां च परित्यागः कर्तव्यत्वेनोक्तः,

१ श्रीमद्गोकुलनाथचरणाः । २ श्रीमद्रघुनाथचरणाः । ३ श्रीगोकुलोत्सवाः ।

तत्राद्यायां पूर्णवैराग्याभावेन सम्यक्परित्यागासम्भवात् पाषण्डित्वप्रसङ्गेन पश्चात्तापायैव सः स्यात्, एतत्तारतम्यज्ञानाभावेन भगवदीया अपि पूर्वं परित्यजन्तः पश्चात्तप्ता भवेयुः, तथा तान् दृष्ट्वा स्वयमाचार्या अपि पश्चात्तापमाप्नुयुरिति तदुभयविधपश्चात्तापानुदयाय प्रतिज्ञेत्याहुः । अन्ये तु आचार्यैर्निबन्धे 'त्रिदण्डं परिगृह्णीत सर्वशास्त्राविरोधि त'दित्याज्ञापनात्तद्वीक्ष्य पुष्टिमार्गीयोपि तुरीयाश्रमत्वेन त्रिदण्डं परिगृह्णन् पश्चात्तापमाप्नुयात्, अतस्तदनुदयाय पुष्टिमार्गीयसन्न्यासविचारारम्भ इत्याहुः । अन्ये तु श्रुत्यादिप्रमाणप्रतिपन्नस्य रसात्मकस्य भगवतो विरहात्मकभावानुभवः सर्वात्मभावप्रपत्त्येकलभ्यः सर्वपरित्यागं विना न सम्भवतीति तस्य त्यागस्य स्वरूपादिकमविदुषां ज्ञानादिमार्गेष्वपि परित्यागस्योक्तत्वात् सन्दिहानानां स्त्रीयानामविचारतः परित्यागः पश्चात्तापायैव भवेदिति तदभावाय विचारारम्भ इत्याहुः । मया तु तेषां परस्परविसम्मतिमवलोक्यान्तःकरणप्रबोधग्रन्थस्थपश्चात्तापपरित्यागपदयोरत्र प्रत्यभिज्ञानात् स एव पश्चात्तापोत्र निवर्त्यत्वेनादृत इति न दोषः । ननु भगवदाज्ञाया जातत्वात् तया तत्कर्तव्यतायाः स्वयं च निश्चितत्वाद्विचारस्य किं प्रयोजनमत आहुः स इत्यादि विचारणेत्यन्तम् । स परित्यागः मार्गद्वितये प्रोक्तः, मार्गस्य द्वितयं मार्गद्वितयम् । अत्र संख्याया अवयवे तयबित्यनेन द्विशब्दादवयवे तयप् । अवयवशब्दश्च 'अङ्गं प्रतीकोवयव' इति कोशादङ्गाख्य एकदेशे रूढः, सोत्र न सङ्गच्छते, सुङ्ख्याया गुणत्वेन तत्र देशभेदस्य वक्तुमशक्यत्वात्, किन्तु 'सत्वं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिहे'ति द्वादशस्कन्धे उपादानकारणेपि प्रयुक्त इति तदत्र ग्राह्यम् । तथा च सङ्ख्यायाः कारणं संख्येयं तदत्र वदति । समासे मार्गस्येत्यभेदे षष्ठी, तेन मार्गाभिन्नौ यौ द्वित्वसंख्यासंख्येयौ तयोः प्रकर्षेणावश्यकर्तव्यत्वेनोक्त इत्यर्थः । तत्र कौ तौ मार्गावित्यपेक्षायां, कुतश्च तत्रोक्त इत्यपेक्षायां चाहुः भक्तौ ज्ञाने विशेषत इति । भक्तिमार्गे आरम्भदशायां सिद्धदशायां च, ज्ञानमार्गे विविदिषादशायां विद्वद्दशायां च वैराग्याद्यतिशयरूपं विशेषमभिप्रेत्योक्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

ननु 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया, ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चे'त्येकादशस्कन्धे भगवद्वाक्यात् त्रयोपि योगा नृणां श्रेयःसाधकत्वातुल्या इति कर्ममार्गे कुतो नोक्त इत्यत आहुः कर्ममार्ग इत्यादि ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

चातुराश्रम्यपक्षेण यद्यपि कर्ममार्ग उक्तस्तथापि 'कर्मयोगस्तु कामिना'मिति भगवता तस्य कामाधिकारकत्वेनोक्तत्वात्परित्यागस्य च वैराग्याधिकारकत्वात्तत्र न कर्तव्यः । यद्यपि 'वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वाथ दुःखित' इत्यङ्गिरसा आतुरभयभीतयोरप्युक्तस्तथापि कलि-

१ श्रीद्वारकेश्वरा १। २ श्रीगोपेश्वरा ।

कालतः कलिकालं प्राप्य सुतरां न कर्तव्यः । कलिवर्ज्येषु संन्यासस्यापि गणनादित्यर्थः । तर्हि मास्तु कर्ममार्गे तस्य कर्तव्यता, तथापि यत्प्रोक्तस्तेनैव यथा कर्तव्यो, विचारस्य किं प्रयोजनमित्याकांक्षायामाहुः अत्र इत्यादि । अत्र तत्तन्मार्गे तत्तद्दशायां परित्यागस्योक्तत्वात् भक्तिमार्गे आदौ आरम्भे कर्तव्यत्वमभिप्रेत्य विचारणा यथा कथञ्चित्सञ्जातभक्तेः पुंसो भक्त्युत्कर्षजनकश्रवणादिनिर्वाहार्था एका आरम्भदशा, तैरभ्यस्तैरासक्तिसिद्ध्यर्था द्वितीया, तदुत्तरं व्यसनसिद्ध्यर्था तृतीया, तत्र यस्यां दशायां कलिकालादिकृतदोषसम्बन्धो न भवति तदर्थं तदीयदशाफलस्वरूपप्रकारविचारः क्रियत इत्यर्थः । एवं सार्धेन प्रयोजनमुक्तम् ।

अत्रायमर्थः । एकादशस्कन्धस्य सप्तदशेऽध्याये, 'यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् । स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तन्मे व्याख्यातुमर्हसी'त्युद्धवप्रश्ने चातुराश्रम्यं वदता भगवताष्टादशाध्याये 'इष्ट्वा यथोपदेशं मा'मित्यादिभिः पञ्चदशभिः संन्यासाश्रमरूपः परित्याग उक्तः । तदनन्तरं भक्तिवैराग्ययोराधिक्ये 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः, सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर' इत्यादिभिः सार्धैर्दशभिर्द्वैविध्य परित्याग उक्तः । अत्र च ज्ञानभक्तिमार्गिणोर्धर्माः समाना एव सद्भीर्योक्ताः । एवं पूर्वोक्तेपि बोध्यम् । तथा 'न्यासे कुटीचकः पूर्वं बह्वोदो हंसनिष्क्रिया'विति चत्वारो भेदाः संन्यासस्य तृतीयस्कन्ध उक्ताः, तेन मार्गत्रयेपि तस्य कर्तव्यता । यद्यपि कर्ममार्गे तृतीयस्य चतुर्थे पादे 'पुरुषार्थोतःशब्दा'दित्यधिकरणस्थे'ष्वाचारदर्शना'दित्यादिषु पञ्चसु सूत्रेषु वशिष्ठादीनां ब्रह्मविदामग्निहोत्रादिकर्मकरणाचारदर्शनात्, 'जनको ह वै वहु दक्षिणेन यज्ञेनेज' इति ब्रह्मविदोपि जनकस्य कर्मकरणश्रुते 'स्तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति श्रुतौ विद्याकर्मभ्यां फलारम्भश्रावणात्, 'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा तं दर्शपूर्णमासयोर्वृणीत' इति कल्पश्रुतौ ब्रह्मविदोपि ब्रह्मत्वेनर्त्विक्त्वश्रावणात्, 'आर्षिनं धूम्रललाममालभेत यो दुर्ब्राह्मणः सोमं पिपासेत्, ऐन्द्राग्नं पुनरुत्सृष्टमालभेत य आतृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबेत्, विच्छिन्नो वा एतस्य सोमपीथो यो ब्राह्मणः सन्नातृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबति । यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुया'दित्यादिश्रुतिभिः कर्मकरणस्य नित्यताश्रावणात्, कर्मणश्च दम्पत्यधिकारकत्वाज्जैमिनिमते आश्रमपक्ष एव, यथा कथञ्चित्कर्मकरणाशक्तौ सर्वत्यागकरणम्, 'यदहरेवे'त्यादिश्रुतिस्तु कर्माशक्ततदनधिकार्यन्धपङ्ग्वादिविषयेति न तद्वैयर्थ्यमिति कर्मविचारकजैमिनिसिद्धान्तात् कर्ममार्गे न कर्तव्यः । अथ 'तुल्यं दर्शन'मित्यादिसूत्रेषु शुकसंवर्तऋषिजडभरतदध्यान्तेन दर्शनस्य साधारणतया कर्मावश्यकत्वासाधकत्वाच्चैनैव च परित्यागस्यान्धपङ्ग्वाद्यधिकारकत्वनिरासेन जैमिनिमते प्रव्राजश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात्, 'एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुः ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे, एतद्ध स्म वैतत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रिरे,' 'एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राजे'त्यादिभिर्बह्वीभिः श्रुतिभिः प्रव्राजचोधनेन कर्मकरणश्रुतेरसार्वत्रिकत्वनिश्चयनात् । 'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मे'त्यत्रापि ब्रह्मपदेन वेदस्याभिप्रेततया तद्विद एवार्त्विज्यचो-

धनेन तया श्रुत्या ज्ञानस्य कर्मशेषतया आपादयितुमशक्यत्वात् । 'आश्विनं धूम्रललाम'-मित्यादिषु कर्मनियमवत् 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशु'रित्यादौ त्यागनियमस्यापि श्रावणेन रागोपाधिक एव कर्मनियम इति निश्चयेनाविशेषात्, उत्तरे वयसि तुरीयाश्रमतया द्रव्ययज्ञत्यागेपि जरामर्यामिहोत्रश्रुत्या तत्सिद्धौ यावज्जीवाग्निहोत्रादिश्रुतेरप्ययाधाच्च जैमिन्युक्तदूषणपरिहारे जाते कर्ममार्गीयचातुराश्रम्यपक्षस्याक्षुण्णत्वात् कर्ममार्गे परित्यागः कर्तव्यत्वेनायाति, तथापि'अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकं, देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जये'दिति वर्जनस्मृत्या कलिकालतस्तत्र न कर्तव्यः। यदि च, 'यावद् वर्णविभागोस्ति यावद्वेदः प्रवर्तते । संन्यासं चाग्निहोत्रं च तावत् कुर्यात् कलौ युगे'इति प्रतिप्रसवात् कर्ममार्गेपि कर्तव्यत्वं त्यागस्य विभाव्यते, तदापि जाबालश्रुतौ चातुराश्रम्यपक्षे पूर्वमुक्त्वा, ततः 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वाथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे'दिति समाप्तौ विरागस्यैव सर्वत्राधिकारत्वेन श्रावणात्, एकादशस्कन्धे 'यदा कर्मसु काम्येषु लोकेषु निरयात्मसु । विरागो जायते सम्यङ्न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्तत' इत्यादिना वैराग्य एव तस्य पक्षस्य भगवता कथितत्वात् कलौ च सर्वधर्मशून्ये वैराग्यस्यासम्भवात् सुतरां न कर्तव्यः। अतश्चातुराश्रम्यपक्षेण प्राप्तस्येदानीमधिकाराभावाद्यदा ज्ञाननिष्ठा भक्तिनिष्ठा वा भवति, तदा तस्मिन्मार्गे कर्तव्यः। तत्र स्वस्य भक्तिमार्गीयत्वेन भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वादादौ पूर्वं विचारणा तत्प्रकारचिन्ता क्रियते, तथा च स यद्येकस्मिन्नेव मार्गे उक्तः स्यात्, यदि वा मार्गत्रयेप्येकविध एवोक्तः स्यात्, तदा भगवदाज्ञावाक्ये सन्देहाभावान्न विचारः स्यात्, अस्ति तु सर्वत्रोक्तः, तत्र कः कीदृशो वा भगवदाज्ञाविषय इति निश्चेतुं विचार्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं प्रयोजनमुक्त्वा विचारमारभन्ते श्रवणादीत्यादि ।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

श्रवणादीनां नवविधभक्तीनां प्रकर्षेण अविच्छेदेन सिद्ध्यर्थं परित्यागः कर्तव्यश्चेत् सः पक्षः नेष्यते नाङ्गीक्रियते। अयमर्थः । भगवता हि नृणां श्रेयोविधि-

१- 'मार्गत्रये' इति पाठः ।

त्सया ज्ञानकर्मभक्तिरूपं मार्गत्रयमुक्तम्, निर्विण्णाः, कामिनः, न निर्विण्णा नातिसक्ताश्चेति यथायथं तदधिकारिणश्चोक्ता एकादशे 'योगास्त्रय' इत्यादिना । त्रिष्वपि संन्यासश्च तत्र निरूपितः । तथा'न कर्मणे'ति श्रुतौ च त्यागस्य अमृतत्वरूपं फलमुक्तम् । तच फलं मार्गादेव, न तु केवलात् त्यागात्, त्यागस्य तत्तन्मार्गाङ्गत्वेन तत्र फलश्रुतेरर्थवादत्वस्यैव विचारितत्वात् ।'यन्न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः, व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपी'ति वाक्ये त्यागमात्रेण स्वप्राप्त्यभावस्य भगवता कथनाच । अतस्तस्य कथञ्चिदुपकारकत्वमेव । तत्राधिकारश्च वैराग्यात्, तद्यथा यथोत्कृष्यते तथा तथा त्यागो मार्गस्योपकरोति । तस्योत्कर्षश्च कथं स्यादिति विचारे केवलादृष्टमात्रेण तदसम्भवान्मार्गानुकूला दृष्टसामग्री श्रवणाद्यविच्छेदरूपा ग्राह्या । अतस्तत्सिद्धयर्थं त्यागः कर्तव्यश्चेत्, स पक्षो नात्रेष्यते, न भगवन्मतेङ्गीक्रियते । अयमर्थः । भगवता हि 'यदा कर्मविपाकेष्वि'त्यादिभिः साधनदशापन्नस्य परित्यागकथने अटनमेव तस्योक्तम्, न तु क्वचित्स्थित्वा श्रवणादिकरणम्, ततो 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षक' इत्यादिभिः सार्धैर्नवभिः परित्यागं सिद्धदशापन्नयोर्ज्ञानिभक्तयोरुक्त्वा ततो ज्ञाननिष्ठस्यापरोक्षज्ञानाभावे 'दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान्', 'अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपव्रजेत् । तावत्परिचरेद्भक्त्या श्रद्धावाननसूयकः, यावद्ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृत' इति द्वाभ्यां विविदिषासंन्यासोपि संगृहीतः । ततो 'यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः, ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति । सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा । अविपक्वकषायोस्मादमुष्माच विहीयत' इति द्वाभ्यां ज्ञानवैराग्यराहित्ये अविपक्वकषायस्यालोकद्वयहानिरुक्ता । भक्तिमार्गीयस्य तु साधनदशायां संन्यासे किमप्यधिकं नोक्तम्, किन्तु 'भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसे'त्यादिद्वाभ्यां संक्षेपेण चातुराश्रम्यधर्ममुक्त्वा 'इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक् । सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढा'मिति फलोक्तिपूर्वकं चातुराश्रम्यधर्मनिरूपणमुपसंहृतम् । तेन भक्तिमार्गीयस्यापि तत्र सन्निहितो भिक्षुधर्म एव मुख्य इति सिध्यति । एवं सति यदि श्रवणाद्यर्थं संन्यासः क्रियेत, तत्स्वरूपेण तद्धर्मैश्च विरोधः स्यादित्याशयेन प्रथमं संन्यासस्वरूपविरोधात्मकं दोषं व्युत्पादयन्ति सहायेत्यादि । संन्यासस्वरूपं हि जाबालश्रुतौ 'तदैके प्राजापत्या'मित्यारभ्य 'एवमेवैतद्भगव'न्नित्यन्तेनोक्तम्, तदेवैकादशस्कन्धे 'इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्वा सर्वस्वमृत्विजे । अग्नीन्स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजे'दित्यन्तेनोक्तम् । तथा सति 'अग्न्युपचयनं कृत्वा जीवश्राद्धविधानतः' श्राद्धाष्टकं विधाय प्राजापत्यामिष्टिं कृत्वा मन्त्रेणाग्नीन् स्वप्राण आवेश्य नैरपेक्ष्येण सर्वत्र परिभ्रमणमिति सिध्यति । श्रवणादिकं तु सहायसङ्गसाध्यम्, सहायः समानशीलतया सहकारी, तत्सङ्गेन साध्यम् । नहि श्रावयितारं विना श्रवणं सिध्यति, न वा श्रोतारं विना कीर्तनम् । तौ च नैतेन सह परिभ्रमत इति न श्रवणकीर्तनयोः सिद्धिः । प्रभूत्यपर्थेमिति पाठे तु प्रकर्षेण भूतिर्विद्यमानतेति पूर्वोक्त एवार्थः ।

अथैतेन सह परिग्रमतस्तदा नैरपेक्ष्येण सर्वत्रैकाकिपरिभ्रमणरूपं संन्यासस्वरूपं विरुन्धः (स नेष्यत इत्यर्थः ।) किञ्चेदानीमुत्कटमेधाविशेषाभावात् श्रुतमपि स्वरूपलीलादिकं न हृदि तिष्ठतीति तत्स्थित्यर्थं पुस्तकादिकं रक्षणीयम्, अर्चनार्थं तदुपकरणमपि रक्षणीयम्, तदपि नैरपेक्ष्यं विरुणद्धि । अतः श्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात्तत्साधनानां रक्षणाच्च संन्यासस्वरूपविरोधतः **स नेष्यत** इत्यर्थः । यद्वा, 'यस्त्वसंयतषड्वर्गः' इति द्वाभ्यामसंयतषड्वर्गस्य त्रिदण्डोपजीवने बाधकं कथयता भगवता पूर्वोक्तत्रिदण्डिसाधनरक्षणं सूच्यते, तद्रक्षणं च 'एकश्चरेन्महीमेता'मित्यादिभिर्ये धर्माः पूर्वमुक्तास्ते एव कर्तव्यत्वेन सिध्यन्ति, न तु श्रवणादिकम्, एकचरणे सहायसङ्गाभावात्, सत्यपि सहायसङ्गे स्थितेः कर्तुमशक्यत्वात् । तथा च संन्यास उक्तानां साधनानां संन्यासे अवश्याचरणात् । एवं सत्यत एव परस्परस्वरूपविरोधेन तथेत्यर्थः । यद्यपि मूले स्वरूपविरोधत इति पदं नास्ति, तथाप्यग्रे तद्धर्मैश्च विरोधत इति चकारदर्शनात् मयैवं व्याख्याने समुचित इति न दोषः । अथ त्रिदण्डिनोपि चातुर्मास्ये एकत्रस्थितेः स्मरणात् भगवतापि 'विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशय' इति कथनात् साधनरक्षणपूर्वकं स्थित्वा श्रवणादिसाधने को दोष इत्याकांक्षायां परस्परधर्मविरोधरूपं दोषान्तरं व्युत्पादयन्ति **अभिमानादि**त्यादि । अभिमानो गर्वः, अहन्ताममतात्मको वा, तस्मात्, स्थितौ हि, तत्र 'भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान् वर्जयंश्चरेत्, सप्तागारानसंक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता । बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः । विभज्य यावितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृत'मिति द्वाभ्यामेको भिक्षाप्रकार उक्तः । तत्र सप्तागारेषु कस्यचित् दुष्टान्ने आते तद्दोषमज्ञात्वा च तस्य भक्षणे कृते त्रिविदिषादशायामिव श्रवणादिसाधनदशायामपि ग्रन्थादिपक्षपातेन शरीराभिमत्या च प्रतिवादिनिराकरणार्थं पारुष्यावमानयोः सम्भवात् । 'अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चने'ति संन्यासधर्मेषु भगवदुक्तस्यातिक्रमेण **तद्धर्मविरोधः** । किञ्च, **नियोगतः** नितरां योगो नियोगः, 'तस्मात्सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणा'मिति द्वितीयस्कन्धवाक्यतेपामावर्तनं तस्मात् । न हि सकृत् कृतं श्रवणादिकं प्रेमभक्तिं जनयति, किन्त्वावर्त्यमानम्, आवृत्तिश्च स्थित्वा, सा च 'एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः । आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान्समदर्शन' इत्याद्युक्तैः परित्यागधर्मैर्विरुध्यते । अतो हेतुद्वयोपपादितात्द्धर्मविरोधादपि तथेत्यर्थः । ननु मास्तु श्रवणाद्यर्थं संन्यासरूपो वैधः परित्यागः, तथापि गृहादीनां विषयासक्तिजनकतया भगवदासक्तिबाधकत्वेनावश्यं त्याज्यत्वात् । 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः । सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर' इत्युक्तरीतिकस्य त्यागान्तरस्य भगवदासक्तिसाधनार्थं करणे को दोषः, तादृशत्यागे च स्वरूपधर्मविरोधरूपपूर्वोक्तबाधकाभावात्, वैराग्यस्य ज्ञानाजनकत्वं यदा, तदा गृहत्यागः कर्तव्य इति पक्षस्य नलकूबरमणिग्रीववस्तुतात्पर्यनिरूपणप्रसङ्गे निर्णीतत्वाच्चेत्याशंकां परिहर्तुं व्युत्पादयन्ति **गृहादे**रित्यादि । गृहधनादेर्भगवदासक्तिबाधकत्वेन साधनार्थं भगवदासक्ति-

साधनार्थं, यदि तथा अवैधत्यागः कर्तव्यश्चेत् सोपि नेष्यत इत्यर्थः । नेष्यत इति पदद्वयं अत्राप्यनुषज्यते ।

एवमनूद्य परिहरन्ति अग्रेऽपीत्यादिद्वाभ्याम् । त्यागो हि न स्वतन्त्रं साधनमपि तु मार्गाङ्गतयेति पूर्वं व्युत्पादितम् । तथा सति मार्ग एव स्वतन्त्रः साधकः । स च 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये'ति वाक्यात्सर्वं श्रवणादिकमेवापेक्षते । तच्च श्रावयित्रादिरूपं सहायम् । ते च 'हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः' इत्यादिना जलभेदे ये निरूपिताः, तादृशास्त्विदानीं दुर्लभा इति 'गायकाः कूपसंकाशा' इत्यादिना य उक्ता गायका वा पौराणिका वा मिलन्ति, ते च यथा स्वयं गृहासक्तो विरजिष्यमाणो वा तादृशा एव, न तु स्वत उत्कृष्टाः, अतोऽग्रेपि **तादृशैरेव संगो भवति, नान्यथा,** नोत्कृष्टप्रकारकः । तथा च संगदोषेण स्वाभिप्रेतफलाभावान्नेष्यत इत्यर्थः । अथ यदि तादृशा मध्यमाधिकारिणो मिलन्ति, तदा गृहपरित्यागे को दोष इत्याशंकायां स्वीयदोषादपि तथात्वमाहुः स्वयं चेत्यादि । चोप्यर्थे । स्वयमपि विषयाक्रान्तः । 'इन्द्रियैर्विषयाकृष्टै'रिति न्यायेन पञ्चेन्द्रियविषयाकृष्टमानसस्तानभिध्यायन् पाषण्डी स्यात्, 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते' इति गीतावाक्यात् तादृशः सत्पथधर्मात्मकधर्मशास्त्राभासः पाषण्डी स्यात् । तत्र कालस्यापि सहायतामाहुः तु कालत इति । तु पुनः धर्मप्रतिपक्षरूपात् कलेरपि तथा स्यात् । अतस्तादृशानां संगेपि पाषण्डित्वात् पतितः स्यादतो नेष्यत इत्यर्थः । अथ 'कलिं सभाजयन्त्यार्या' इत्यादिवाक्यैः कलेः (श्रवण) कीर्तनाद्यनुगुणत्वेन गृहत्यागे दोषाभावो विभाव्यते, तदापि दोषमाहुः विपर्येत्यादि । सत्यं कालः कीर्तनानुगुणः, तथापि फलांशे एवानुगुणो, न तु साधनस्वरूपांशे, तेषु वाक्येषु तथैवोपलम्भात् । अतो विपयाक्रान्तदेहानां पूर्वोक्तरीत्या विषयाकृष्टस्थूललिंगशरीराणां कालतः कलेः सकाशात् हरेरावेशः सर्वदा न, भगवच्चित्तता सर्वदा न भवति, किन्तु कदाचित् । तथा सति यदा आसुरावेशः स्यात्तदा पूर्वोक्तस्य सर्वस्य प्रतिबन्धात् पाषण्डित्वमेव भवेत् । अतो नेष्यत इत्यर्थः । कामत इति पाठे तु काम इच्छा, तया च विषयकामनया तथा स्यादित्यर्थो योध्यः । तदेतन्निगमयन्ति अतोत्रेत्यादि । अतः उक्तेभ्यो दोषेभ्यः, अत्र काले, **भक्तो** भक्तिमार्गे, **साधने** साधनदशायाम्, तादर्थ्यसप्तमीपक्षे आसक्तिसाधनार्थं वा, **त्यागो** गृहपरित्यागः नैव सुखावहः । इदानींतनवीतरागिवत् पाषण्डित्वमापादयन् भगवदासक्तिरूपं सुखं न जनयति, तस्मात् मध्यमायामपि साधनदशायां सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । अत्र भक्तिमार्गे भगवता कर्तव्यत्वेन प्रोक्तस्य परित्यागस्य प्रेममभक्तिसाधनदशायामकर्तव्यत्वे साधिते पारिशेष्यात् तत्सिद्धफलदशायां फलोपकार्यङ्गत्वेन कर्तव्य इति सिद्धम् ॥ ३-६ ॥

तत्र 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतपे'ति गीतायां भगवद्वाक्यात् फलस्य त्रयी विधा । तत्र कस्मै फलाय कर्तव्य इति

विचारणायां प्रवेशस्य मत्कर्मकृन् मत्परम इति वाक्योक्तसाधनान्तरसापेक्षत्वात्ततः पूर्वमुक्त-
योर्ज्ञानदर्शनयोरर्थे कर्तव्य इत्याशयेनाहुः **विरहेत्यादि** ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेशः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥
विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥
तादृशः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥
भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥
दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३३ ॥

विरहानुभवः, विरहसामयिको वानुभवो विरहानुभवः, विरहान-
विरहस्यानुभवो **विरहानुभवः**, विरहसामयिको वानुभवो विरहानुभवः, विरहान-
न्तरोनुभवो वा विरहानुभव इति त्रिधा सम्भवति, तदर्थं कर्तव्य इति फलति, तत्राद्ये पक्षे
जीवस्य सृष्ट्यादौ व्युच्चरणाज्जातो यो विरहस्तस्योद्बोधन आसत्त्या कृते तस्याभीक्ष्णमनुभ-
वार्थं, द्वितीयपक्षे तु, भक्तियोगमायाभ्यां सह कृत्यासक्तिभ्रमन्यायेनोत्पादितोध्यासरूपो यो
भगवदनुभवस्तदर्थं, तृतीयपक्षे तु 'तासामाविरभू'दित्यादिनोक्तो यः साक्षात्काररूपोनुभव-
स्तदर्थं, तथा चैवं त्रिविधो विरहानुभवोर्थः प्रयोजनं यस्य तद्विरहानुभवार्थं, क्रियाविशेषण-
मेतत् । तदर्थं तथया स्यात्तथा **परित्यागः प्रशस्यते**। एकादशस्कन्धे भगवता 'वाग्गद्गदा
द्रवते यस्य चित्त'मित्यनेनात्यन्तं स्तूयते, अतस्तदर्थं कर्तव्यः । अत्रायमर्थः । पुष्टिमार्गीयाणां
जीवानां भगवद्रूपसेवार्थं कायात् सृष्टिः । ते तु जीवाः शुद्धमिश्रभेदाद् द्विधा । तत्र मि-
श्राणां कदाचिदन्यासक्त्या वाहंकारेण वा मर्यादास्थापनार्थं वा शापादिना भगवद्वियोग इति
पुष्टिप्रवाहमर्यादायां स्थितम् । तथा गद्येपि सहस्रपरिवत्सरमितकालाद्व्युच्चरणेन भगवद्वियोगः ।
स च केनचित्प्रकारेण वाऽनन्यभक्त्या वा भगवता निवार्यते । भक्तिमार्गाश्च बहुविधाः ।
तत्रास्मिन्मार्गे यदा निवारयितुमिच्छति तदा तस्य केनचित्प्रकारेण विरहौत्कण्ठ्यमुत्पादयति[1] ।

१ विरहोत्कण्ठामिति पाठः ।

किञ्च, माया ह्यन्यत्र स्थितमन्यत्र प्रत्याययतीति 'ऋतेर्थं यत्प्रतीयेते'त्यत्र सुबोधिन्यां स्थितम्। भगवांश्च रसलीलायां योगमायामुपाश्रयतीति पञ्चाध्याय्यारम्भे स्थितम्। सा च न विश्वमायाऽपि तु भगवद्योगार्था माया। एवं सति यदा भगवानेनं जीवं युयुक्षति, तदास्य योगमायया स्वाज्ञानं विरहं चोत्पादयति, अनन्यभक्तिश्च परमा तिरोधाननाशिका। अन्तर्बहिश्च भगवन्तमनुभावयति। भगवांस्तु सर्वमन्तर्बहिर्व्याप्नुवानोपि विरुद्धधर्माश्रयत्वात् परिच्छिन्नः। एतन्मार्गे च भगवतो बहिः प्राकट्यमेवाभीष्टं, तदैवेश्वरवादोन्यदा शून्यवादः। एवं सति युयुक्षाविषयस्य भक्तस्यानन्यभक्तिकृतो योन्तःसाक्षात्कारस्तस्य बहिष्ट्वमापादयन्ती माया ह्यासक्तिप्रमन्यायकं करोति। तादृशो यः साक्षात्कारः, सर्वात्मभावजन्यो भूमविद्यायां सर्वविधप्रत्ययविलक्षणतया सिद्धः, स एव विरहानुभवपदेन बोधितः। तदर्थं यः परित्यागः स एकादशस्कन्धे चतुर्दशाध्याये भगवता अत्यन्तं स्तूयते। किञ्च, विरहानन्तरभावी अनुभवो बहिः साक्षात्काररूपं सम्यग्दर्शनं, तदर्थं यः परित्यागः स भगवता प्रकर्षेण, 'यथा अधनो लब्धधने विनष्टे' इति सार्धद्वाभ्यां पञ्चाध्याय्यां स्तूयते, अतस्तदर्थं कर्तव्य इत्यायाति। एतयोरावस्य प्रशंसा श्रूयते। तथा हि, 'वदन्ति कृष्ण श्रेयांसी'त्यादिना वैदिकोक्तसाधनानां भगवदुक्तभक्तेश्च तारतम्ये पृष्टे, भगवता 'धर्ममेके यशश्चान्य' इत्यादिना भक्तेः फलोत्कर्षं, 'अकिञ्चनस्य दान्तस्ये'त्यनेन स्वरूपोत्कर्षं, 'न पारमेष्ठ्य'मित्यादिभिरनन्यभक्तोत्कर्षं, 'निःकिञ्चना' इत्यनेन स्वसुखोत्कर्षं, 'बाध्यमानोपी'ति द्वाभ्यां स्वभक्तेर्बलवत्त्वं, 'न साधयती' त्यनेन स्ववशीकर्तृत्वं, 'भक्तिः पुनाती'त्यर्धेन भक्तेरत्यन्तपावनत्वं, 'धर्मः सत्ये'त्यनेन धर्मादीनामतादृशत्वं चोक्त्वा, 'कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना। विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशय' इत्यनेन ऊर्जितां भक्तिं लक्षणैः परिचाययित्वा, ततो 'वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं, रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च। विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाती'त्यनेन विरहावस्थाव्यञ्जनपूर्वकं तादृशभक्तिमानत्यन्तं स्तूयते। अतस्तस्यां दशायां जातायां तदर्थं कर्तव्य इत्यर्थबलादायाति। तथा तत्रैव द्वितीयाध्याये कविनापि 'मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य' 'यानास्थाय नरो राज'न्नित्यादिभिर्भगवद्धर्मानुपक्रम्य, 'शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके। गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसंगः। एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः। हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः। खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः। भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एव कालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोनुघासं। इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः। भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षा'दित्यनेनोच्यते। एतत्सुबोधिन्यां च प्रथमस्कन्धीये 'नामान्यनन्तस्ये'ति नारदवाक्ये कर्मज्ञानभक्तीनां त्रयाणां फलसाधकत्वश्रितयानुकल्पो य

उक्तस्तत्स्वरूपमत्र कविनोच्यत इत्येवमवतार्यैते पञ्चश्लोका व्याख्याताः । तत्र प्रथमे 'आदौ गृहान्निर्गत' इति कथनेन त्यागावस्था बोधिता, भगवज्जन्मादिश्रवणं तद्गानं विचरणं लज्जाभावश्च, अनुकल्पस्वरूपत्वेन बोधितः । ततो द्वितीये 'एवं व्रत' इत्याद्युक्तैरष्टधर्मैः प्रकृत्युल्लङ्घने-नालौकिकत्वरूपं लोकबाह्यत्वं बोधितम् । तेन विरहानुसन्धानावस्थैव स्फुटीकृता । ततस्तृतीये एवं विचरणकर्मणा लोकपरित्यागेन ज्ञानभक्ती एकहेलया युगपन्निरूपिते । तत्र खादिषु समुद्रान्तेषु लौकिकप्रत्यक्षविषयेषु प्रणमनक्रियाकर्मत्वं हरिशरीरत्वेनोच्यते । तेन तेषु तयात्वज्ञानमर्यादाक्षिप्यते । अत आक्षिप्तेन 'ज्ञात्वे'त्यन्तेन ज्ञानं 'प्रणमेदनन्य' इत्यनेन साधनभक्तिर्बोध्या । ततश्चतुर्थपञ्चमाभ्यां दृष्टान्तपूर्वकं परमभक्तिभगवज्ज्ञानतदितरविरक्तीनां युगपद्भवनेन साक्षात्परमशान्तिरूपं फलमुक्तम्, तेनापि कर्मज्ञानभक्तीनां यत्परमं फलं तदनेन मार्गत्रितयानुकल्परूपेण परित्यागेन भवतीति तादृशत्यागप्रशंसैव सुबोधिन्युक्तप्रकारेण सिध्यतीति बोध्यम् । नन्वेवं सत्यत्र संन्यासवेशः कुतो नोक्त इत्यत आहुः स्त्रीयेत्यादि । स्त्रीयाः पुत्रदारादयः तत्कृतो यो बन्धः, तस्य तेष्वासक्त्यभावेपि तेषां स्वस्मिन्याऽऽसक्तिस्तन्निवृत्त्यर्थं, अत्र अस्मिन्भक्तिमार्गीये संन्यासे, स वेशः, त्रिदण्डकौपीनधारणादिवेशः । न चान्यथा । चोवधारणे, अन्यथा तत्कृतबन्धाभावे सति, न च नैवापेक्षितः, अतो यस्य बन्धसंभावना तस्य स वेश आवश्यको, नान्यस्येत्यसार्वत्रिकत्वान्नोक्त इत्यर्थः । ननु भगवदुक्तेषु प्रशंसावाक्येषु परित्यागो न प्रकटतया प्रतीयते, कविवाक्येषु च ज्ञानमिश्रभक्तेः प्रशंसा प्रतीयते । खं वायुमग्निमिति वाक्यात् । तथा सति शुद्धभक्तिमार्गीयस्य त्यागस्य प्रशंसा कथं निश्चेतुं शक्या, तत्प्रसिद्ध्यभावादित्याकांक्षायां तत्प्रसिद्ध्यर्थमाहुः **कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरव** इति । कौण्डिन्यो ह्यनन्तदोरकस्याग्नौ प्रक्षेपेणोत्पन्नादपराधाद् दारिद्र्यमापन्नः, स्वपत्न्याः शीलाया वाक्यादनन्तापराधजन्यं तद्बुध्वा निर्विण्णोऽनन्तं ध्यायन् क द्रक्ष्यामीत्याशया गृहादन्नं निर्गतो, निरन्नं व्रतं ब्रह्मचर्यं च कृत्वा हरिं जपन् निर्जनेरण्ये चूतवृक्षं गोप्रभृतींश्चेतनानचेतनांश्च बहून् पप्रच्छ, तैः सर्वैरपि नानन्तोस्माभिर्दृष्ट इत्युक्ते विह्वलीभूतो जीविते निराशो दीर्घमुष्णं च निश्वस्य भूतले पपात, ततः किञ्चित्कालोत्तरं संज्ञां प्राप्यानन्तेति जल्पन् तस्मिन्क्षणे सुनिर्विण्णोऽभूत् । ततः कृपयाऽनन्तदेवोपि वृद्धब्राह्मणरूपेण प्रत्यक्षीभूय 'इत एही' त्युक्त्वा पातालं प्रवेश्य, कौण्डिन्यं दक्षिणे करे गृहीत्वा स्वपुरीं दर्शयामास । तत्र दिव्यसिंहासनस्थितं स्वात्मानं च स्वायुधगरुडाद्युपशोभितं दर्शयामास । ततस्तं दृष्ट्वा परया मुदा प्रसन्नः कौण्डिन्यः 'पापोहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः । त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष शरणं मे भवाच्युत । अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम् । यत्त्वदंघ्रियुगांभोजे मन्मूर्द्धा भ्रमरायत'इत्युक्तवान् । भगवांस्तु तस्मै दारिद्र्यनाशनं धर्मं सनातनं विष्णुलोकं च वरं दत्तवानिति भविष्योत्तरे भगवता युधिष्ठिरं प्रत्युक्तम् । तेनायं परित्यागः स्त्र्यादिकृतबन्धाभावात् संन्यासवेषरहितः स्वफलसाधने साधनान्तरापेक्षारहितः

प्रसन्नध्येयसाक्षात्कारफलकः अवैधः शुद्धभक्तिमार्गीयश्चेति सिध्यति । अत एव वेदस्तुतौ 'एकदा नारदो लोका'नित्यत्र सुबोधिन्यामुक्तम् । 'एवमेव च परिभ्रमणं कर्तव्यं यथा कौण्डिन्येन कृत'मिति । गोपिकानां तु फलप्रकरण एव भगवत्प्राप्त्यर्थं सर्वपरित्यागः पूर्वमुक्तः । ततो मदमानाभ्यां भगवत्तिरोभावे भगवद्विचयनं, ततः प्रसादार्थं गानं, ततो दैन्येन रोदनं, ततो भगवत्प्रादुर्भावः, ततो भगवत्कृता तत्त्यागप्रशंसा, ततो लीलानुभव उक्तः, तत्रापि पूर्ववदेव वेपराहित्यादिकं फलपर्यन्तं सिद्धम्, अतस्त एवात्रैतत्परित्यागप्रवर्तकत्वाद्गुरवः, तथा चैवं शास्त्रप्रसिद्धत्वात् । 'एवं मदर्थोज्झित'त्यादिना भगवता व्रजभक्तकृतत्यागस्य प्रशंसनाचैकादशस्कन्धीयप्रशंसावाक्यानामप्येतदारंभावस्थासूचकतयैतत्प्रशंसायामेव तात्पर्यम् । तत्रापि द्वादशाध्याये 'रामेण सार्धं'मित्यादिभिस्तत्कृतसाधनस्यैव प्रशंसनात्, उद्धवस्य तदर्थसन्देह एवाग्रिमग्रन्थानताराच्च । उचितं चैतत्, यदारम्भः प्रशस्तस्तस्य परमा काष्ठा प्रशस्तेति । अतस्तस्यैव सा प्रशंसा निश्चेयेत्यर्थः । अत्र कौण्डिन्यग्रहणं निरपेक्षभक्तानां बहुविधत्वात्तत्कृतपरित्यागार्थं बोध्यम् । एतत्प्रशंसायास्तद्वददर्शनात्, विरहोत्तरभाव्यनुभवार्थमात्रत्वेनैव विवक्षितत्वाच्च । एवं च यो यो यादृग्भक्तिमान् त्यागं चिकीर्षति तस्य तस्य तादृग्भक्ता एव भगवत्साका गुरव इत्यपि बोधितम् । भगवदुद्धवसंवादसमाप्तौ अञ्जसा सिद्धिहेतुप्रश्ने 'देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि चे'ति भक्तचरिताश्रयणस्य तथात्वेनोपदेशादिति । एतेषां गुरुत्वं च स्वचरितेनैतन्मार्गप्रवृत्तिप्रयोजकत्वाद्दत्तात्रेयगुरूणां पृथिव्यादीनामिव बोध्यमित्याशयेनाहुः साधनं च तदिति । एतेनोपदेशानपेक्षाप्यत्र बोधिता । अत्र विरहानन्तरभाविनां तत्कृतानां साधनानां बहुत्वात्तानि सर्वाणि कर्तव्यान्युत किञ्चिदेकमित्यपेक्षायां तत्सर्वप्रयोजकमादिभूतं यत्साधनमवश्यं विवक्षितं तदत्र कार्यतयेष्यत इत्याहुः भावो भावनयेत्यादि । भगवति परमा रतिर्भावः । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयत' इति वाक्यात् । सोपि न स्वतः सिद्धो विवक्षितः, तस्य स्वाभाविकत्वात्, किन्तु भावनया निरन्तरचिन्तया सिद्धः प्रचितः तादृशस्यैव साक्षात्कारफलकतायाः साधनान्तरसाधकतायाश्च पूर्वोक्तोपाख्यानद्वयेपि सिद्धत्वात् । अतः स एव साधनं, नान्यदिष्यते, अन्यद्विचयनादिकं साधनत्वेन नेष्यत इत्यर्थः । ननु तस्यापि तत्र सत्त्वात् कुतः साधनत्वेन नेष्यते इत्यत आहुः विकलत्वमित्यादि । जडेष्वयोग्येषु च प्रश्नो विकलत्वम् । तथा अस्वास्थ्यं प्रकृत्या स्थित्यभावः । एतत् द्वयं प्रकृतिः निरहानन्यास्वभावः । तत्रापि हेतुः प्राकृतं न हीति । प्रकृतिसम्बन्धि प्राकृतं, स्वस्थानस्थात्रातं न दृश्यते, हि यतो हेतोः, तथा च यदि स्वस्थानस्थोहेतुकं स्यात्तदा साधनत्वेनेष्येत । अतस्तद्भावान्नेष्यत इत्यर्थः । नन्वेकादशस्कन्धे 'शृण्वन् सुभद्राणी'त्यादिश्लोकत्रयोक्तभगवज्जन्मकर्मकथाश्रवणकीर्तनगानादयः सर्वत्र भगवच्छरीरत्वेन ज्ञानं च स्वस्थानस्थधर्मत्वात् साधनत्वेनेष्यन्तां भक्तानां तद्धर्मत्वादित्याशङ्कायामाहुः ज्ञानमित्यादि । ज्ञानं

सर्वस्य भगवच्छरीरत्वेन ज्ञानम् । **गुणाश्च** श्रवणकीर्तनगानविषया भगवद्गुणा अपि, **तस्यैव**
भावनाप्रचितभावस्यैव, **वर्तमानस्य** तदन्तःकरणादिषु व्याप्तस्य, **बाधकाः** वर्तमानता-
नाशकाः, यथायथं शुकादिषु मथुराप्रयातभगवद्वियुक्तविशोकगोपिकासु च दृष्टाः, अतो
नेष्यन्त इत्यर्थः । ननु तादृशज्ञानं साक्षात्कारफलकम्, गुणाश्च शोकाभावफलकाः, 'विशोका
अहनी निन्यु'रिति वाक्यात् । अतः विरहानुभवस्वरूपबाधेपि को दोष इत्याकांक्षायां प्रथ-
मतः ज्ञानभावनयोः फलतारतम्यं व्युत्पादयन्ति **सत्येत्यादि** । **संन्यासेन विशेषितात्**
सहकृतात् सर्वत्र ब्रह्मस्थितिबोधकात् परोक्षज्ञानात्, **सत्यलोके** चतुर्मुखलोके स्थितिः ।
'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले
परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे' इति (तैत्तिरीय) श्रुतेः । अस्यां श्रुतौ वेदान्तविषयकनिश्चितपरो-
क्षज्ञानवतां संन्यासिनां शुद्धसत्त्ववत्त्वेन ब्रह्ममुक्तिकाले परामृतं प्राप्य मुक्तिरुक्ता । छान्दोग्ये
तु 'यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवती'ति मरणानन्तरमेव भावनानुरूपं
पारलौकिकतात्कालिकफलं श्रावितम् । अतो यत्र पुरुषे **भावना साधनं तत्र तथा तादृशमेव**
फलं भवेत् । **चोऽवधारणे** । तथा च ज्ञाने फलस्य भेदः कालस्य विलम्बश्च दोष इत्यर्थः ।

ननु 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्
कुरुते तथे'ति गीतावाक्यात् प्रबले ज्ञाने कर्मणां निःशेषनाशात् न कालविलम्बः । 'हरेः
शरीर'मित्युक्ततया ज्ञानस्य भगवद्विषयत्वाच्च न फलभेद इत्याशंकायामाहुः **तादृश इत्यादिसा-**
र्धम् । **तादृशः** प्रबलज्ञानवान् **सत्यलोकादौ** विद्युद्वरुणेन्द्रप्रजापतिलोकेषु तिष्ठत्येव, तत्र-
त्यभोगेन स्वप्रारब्धमपनयन्नातिवाहिकवैद्युतपुरुषागमनपर्यन्तं स्वप्रारब्धानुसारेण तिष्ठत्येव **न**
संशयः । परान्तकालप्रतीक्षाऽभावेपि वैद्युतपुरुषप्रतीक्षाया आतिवाहिकाधिकरणे सिद्धत्वात् ।
ज्ञानप्राबल्येपि तादृशस्य विलम्बे सन्देहो नेत्यर्थः । नन्विदं भावनापक्षेपि तुल्यमित्याशंकायामाहुः
वह्निरित्यादि । अरणिमथनप्राबल्येन वह्निरिव भावनाप्राबल्येन बहिः प्रकटः स्वात्मा पुरुषोत्तमो
यदि वह्निवद्बहिर्व्याप्य पुनरन्तःप्रविशेत्, तदैव तस्मिन्नेव काले सकलो बन्धो बाह्य आभ्यन्तरश्च
नाशमेति, निवर्तते, **न चान्यथा** अन्यथा न निवर्तते एव । तथा च 'यदा सर्वे प्रलीयन्ते कामा
येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत' इति श्रुत्या तदानीमेव बन्धाभावस्य
फलाध्यायद्वितीयपादारम्भे 'वाङ्मनसि दर्शना'दिति सूत्रे विचारितत्वात् अन्तर्गृहगतगोपिकासु
तथैव दर्शनाच्चेति न भावनापक्षस्य ज्ञानतौल्यम् । अतो विलम्बापादकत्वात् ज्ञानं साधनत्वेन नेष्यत
इत्यर्थः । एतेन शुद्धभक्तिमार्गीयत्यागे ज्ञानमिश्रपक्षोपि निवारितः । तर्हि गुणानां तथात्वम-
स्त्वित्याकांक्षायामाहुः **गुणास्त्वित्यादि** । **तुः** शङ्कानिरासे । श्रवणादिविषया गुणाः सङ्ग-
राहित्यात्, भावनासिद्धस्य भावस्याप्राबल्ये भगवतो बहिः प्राकट्याभावेन तत्सङ्गराहित्यादुद्बुद्धे
विरहे जीवनार्थं भवन्ति । **हि** निश्चयेन । विशोकवाक्ये तप्तजीवनवाक्ये च तथैव सिद्ध-
त्वात् । अतो विलम्बापादकत्वेन मध्यमाधिकारे ते उपयुज्यन्ते । अतो मुख्याधिकारे तेपि
साधनत्वेन नेष्यन्त इत्यर्थः । ननु यद्येवं गानादिविषयाणां गुणानामपि बाधकत्वम्, तर्हि

भाव्यमानस्य भगवतोपि विलम्बापादकत्वेन बाधकत्वं कुतो न स्यादित्यत आहुः **भगवा-निव्यादि** । स हि फलरूपः, प्राप्तश्चेत् फलमेव जातं साधनस्य, अतः फलरूपत्वात् साधनावस्थानिवर्तकत्वेपि बाधकत्वेन नेष्यत इत्यर्थः । एतेन येषु वहिः प्राकट्योत्तरमन्तःप्रवेशस्तेषां सद्योमुक्तिः, येषु च बहिः प्राकट्यमेव, नान्तःप्रवेशस्तेषामिहैव लीलानुभव इति मुख्येष्वपि व्यवस्था सूचिता । तेन न कोपि क्वापि विरोध इति ध्येयम् । ननु यदि भगवान् फलरूपत्वान्न बाधकः, तदा फलरूपत्वादेव यथा विजने दर्शनार्थं यतमानाय नारदाय दर्शनं दत्वा तिरोहितः सन् पुनर्दर्शनार्थं यतमानं तं प्रति 'हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसी'ति स्वास्थ्यार्थं वाक्यमुक्तवान्, तस्य स्वास्थ्यं च कृतवान्, तथा अत्र कुतो न वक्ति? स्वास्थ्यं च कुतो न करोतीत्यत आहुः स्वास्थ्येत्यादि । स्वास्थ्यं च वाक्यं **स्वास्थ्यवाक्यम्**, विभाषैकवद्भावः । स्वास्थ्यसहितं वाक्यं स्वास्थ्यवाक्यं तत्, भगवतः न कर्तव्यम्, अर्हे तव्यः, कर्तुं योग्यं न भवति । तत्र हेतुः, **दयालुर्न विरुध्यत** इति । अयमर्थः । नारदो क्षपितकषायः परं शुद्धभाव इति तस्य स्वास्थ्यार्थं तिरोहित एव वाक्यमुक्तवान्, स्वास्थ्यं च कृतवान् । प्रकृते त्वन्तर्गृहगतानामिवास्य बन्ध एव तत्कालं नाशनीयः । स बन्धो यदि प्रारब्धकृतस्तदा भगवद्विरहजतीव्रतापभगवदाविर्भावजाश्लेषसुखाभ्यामेव निवर्तनीयः, भावसौक्ष्म्यात् । यदि तादृशेपि वाक्यं वदेत्, स्वास्थ्यं वा कुर्यात्, तदा सद्योमुक्तिं विरुन्ध्यात् । अतो दयालुस्तान्न विरुध्यते । अयं कर्मकर्तरिप्रयोगः । तथा च स्वास्थ्यवाक्यकरणमेव दयालुं विरुणद्धि । स्वयं तु दयालुर्न विरुध्यते । अतः परमकृपया स्वयमेव शीघ्रं बन्धनिवृत्तिं विधास्यन् तत् द्वयं न करोतीत्यतः स्वास्थ्यवाक्यं कर्तुमनर्हमित्यर्थः । ननु यद्येवं तर्हि 'वाग्गद्गदे'त्यादिना भुवनपावनत्वेन यः स्वयं प्रशंसितः, तादृशस्य स्वास्थ्यादिकमपि न करोतीत्याशंकायामाहुः **दुर्लभोयमित्यादि** । अयं सद्योमुक्तिसम्पादकः **परित्यागः** तादृशस्यापि दुःप्रापः । तत्र हेतुः । **प्रेम्णा सिध्यति नान्यथेति** । तथा च ते यद्यपि परमभक्ताः, तथापि सर्वज्ञत्वात् केचन पुष्टिमिश्राः, केचन गुणज्ञत्वान्मर्यादामिश्राः, न तु शुद्धाः सदा प्रेमयुताः स्वरूपमात्रपराः । अतस्तादृगधिकाराभावात् करोतीत्यर्थः । एवमत्र भक्तिमार्गीयत्यागे गुरुद्वयस्य कथनेन फलविलम्बशैघ्र्यतात्कालिकफलकथनेन चावस्थाभेदादिसूचनादधिकारिभेदात् त्रैविध्यं निरूपितम्, स्वरूपं च सपरिकरं विचारितम्, प्रेमभेद एव तत्र तत्र तादृशाधिकारसम्पादक इति च साधितम् ॥ ७–१३ ॥

अतः परं नन्वेकादशस्कन्धीयप्रशंसायाः भक्तिपरमकाष्ठारूपेऽस्मिन् दुर्लभे परित्यागे पर्यवसन्नतायां प्रारम्भदशायामेतस्य परित्यागस्य निरूप्यवचया ज्ञानमार्गीयत्यागतौल्येन विशेषभावादविचारितत्वाचैतं विहाय विचारितो ज्ञानमार्गीय एव कर्तव्यः, किमेतद्विचारेणेत्याशंकायां भक्तिमार्गीयस्यारम्भदशायां निःश्रेयसत्वं वक्तुं ज्ञानमार्गीयस्य सनिरातामनिविलम्बतां च साधयन्ति **ज्ञानमार्गे इत्यादि** ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पापण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ॥ १६½ ॥

तुः पूर्वोक्तशङ्कानिरासे । ज्ञानमेव मार्गो ज्ञानमार्गः । तत्र द्विविधोपि सन्यासो ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च यथा स्यात्तथा विचारितः । क्रियाविशेषणद्वयमेतत् । उत्तरतन्त्रे तृतीयस्य तुरीये पादे 'ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हीति' सूत्रे विविदिषोर्ज्ञानोत्पत्त्यर्थतया जातज्ञानस्य फलानुभवप्रतिबन्धनिवारकत्वेनान्तरङ्गतया च कर्तव्यत्वेन निर्णीतः । परं सिद्धिः साक्षात्काररूपा जन्मशतैः, न तु शीघ्रम्, 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ' इति गीतावाक्ये परोक्षज्ञानवतो 'वासुदेवः सर्व'मिति स्वप्रपत्तेर्बहुजन्मान्ते कथनात् । प्रपत्तिरपरोक्षं ज्ञानम्, तस्य विलम्बेन भवने हेतुं व्युत्पादयन्ति ज्ञानं चेत्यादि । ज्ञानं गीतावाक्योक्तरीतिकसाक्षात्काररूपं साधनापेक्षम्, कर्मज्ञानभक्तिरूपं साधनं स्वोत्पत्तावपेक्षते । अत्र प्रमाणम्, यज्ञादिश्रवणात् निष्कामानामपि यज्ञकरणस्य 'अथाकामयमान' इति श्रुतौ प्रतिपादनात्, तदेतत् 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववदि'ति सूत्रे विचारितम्, ज्ञानं च न शमदमादिमात्रेण सम्पद्यते, किन्तु यथाश्रममाश्रमकर्माणि शमादिसहकारित्वेनापेक्षत इति सहकारित्वसूत्रे व्युत्पादितम् । अतः देशद्रव्यादिरूपसाधनवैगुण्येन विहितकर्मात्मकसहकारिशून्यैः केवलैः शमादिभिर्ज्ञानानुदयात् स विविदिषादशोक्तः संन्यासः कलौ पश्चात्तापाय अनन्तरं खेदाय । तर्हि विद्वद्दशोक्तः कर्तव्य इत्यत आहुः नान्यथेति । अन्यथा विद्वत्प्रकारकः कलौ तत्साधनासम्भवान्नेत्यर्थः । किञ्च, न खेदमात्रं किन्तु पापण्डित्वं चापि भवेत् । भिक्षादिशुद्ध्यभावेनोपधर्मसंसर्गवत्त्वम्, चकारादवकीर्णित्वम्, अपिशब्दात्, 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत् स आत्महे'ति वाक्योक्तः पातः संगृह्यते । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । यस्मात् विविदिषासंन्यासस्य कलौ खेदादिजनकत्वम्, विद्वत्संन्यासस्य चासम्भवस्तस्मात् ज्ञानमार्गे वैधं संन्यासं न कुर्यात्, तत्र हेतुः, सुतरामित्यादि इति स्थितमिति । कलौ संन्यासं निषेधद्भिः शास्त्रकारैरेव निर्णीतमित्यर्थः । तेन संन्यासप्रतिप्रसवशास्त्रं काचित्कत्वान्न सर्वत्रोपयुज्यत इति बोधितम् । एवमत्र भगवदाज्ञया कर्तव्यस्य परित्यागस्य विचारणायामेतावत् सिद्धम् ।

कर्ममार्गे जैमिनिमते परित्यागस्याकर्तव्यता, मतान्तरे चातुराश्रम्यपक्षेण कर्तव्यत्वेपि कलिकालादकर्तव्यता, भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वेनोक्तत्वेपि श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं करणे संन्यासस्वरूपतद्धर्मयोर्विरोधात् संन्यासत्वेन रूपेणावैधत्यागरूपेण चाकर्तव्यता, तथैव खेदसाधनार्थं

करणेपि प्रेमानन्तरं त्वैधस्य परित्यागस्य स्वत एव सिद्धिर्मुख्याधिकारिणः । तत्र च नाज्ञापेक्षा, तथैव मध्यमस्यापि । परं तस्य प्रारब्धप्रतिबन्धेनेषद्विलम्बः फले । तथैव ज्ञानमिश्रस्यापि । ज्ञानमार्गे तु विविदिषादशायां विचारितोपि कलिकालजदोषसम्भावनान्न कर्तव्यः, विद्वत्सन्न्यासस्य तु कलिदोषेण ज्ञानासम्भवादसम्भव एव ॥ १४–१६३ ॥

अतः परं प्रेमारम्भदशायां परित्यागोवशिष्यते, तं विचारयितुं प्रश्नमुखेनाशङ्कन्ते भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमिति ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥
ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥
तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तेः प्रेमरूपाया यो मार्गः उपायभूतः परित्यागस्तत्रापि कलिप्रभृतिभिः कृतो दोष उत्पद्यते चेत्तदा तत्परिहारार्थं किं कार्यमित्यर्थः । तत्रोत्तरमुखेन समादधते उच्यते । अत्रेत्यादि । अत्र प्रेमभक्तावारम्भे आरम्भदशायां परित्यागे नाशः कलिप्रभृतिभिः कृतेन दोषेण तदवस्थातो हीनत्वसम्भवः स न स्यात् । तत्र हेतुः । दृष्टान्तस्याप्यभावत इति । अत्र नाशपदं सप्तम्या विपरिणतं पुनरन्वेति, तथा च अत्रारम्भे नाशेऽनुमीयमाने दृष्टान्तस्याभावात् अपिना दोषान्तराच, तथा हि उक्तारम्भदशायां गृहत्यागकर्ता नश्यति, तदानीं त्यागकर्तृत्वात्, अत्र यदेवं तदेवमित्यन्वयव्याप्तौ दृष्टान्ताभावः, व्यतिरेके तु यत्र यत्र तादृशत्यागकर्तृत्वे सति नाशाभावः, तत्र तत्र त्यागकर्तृत्वाभाव इति व्याप्तेरेव शून्यता, तादृशत्यागकर्तृत्वे सतीति विशेषणानङ्गीकारे तु तादृशव्याप्त्या गृहस्थादिष्वेवानाशसिद्ध्या तादृशत्यागकर्तृत्वस्यैवालाभ इति दृष्टान्ताभावः । यदि तु भक्तिमार्गीयारम्भदशायां तत्त्यागकर्तृत्वात् अविपक्वकषायत्वाद्वा सङ्गदोषसंभवाद्वा श्रवणादिप्रसिद्धधर्मत्यागकर्तृवदित्यनुमातव्यम्, तदाप्यसङ्गतम्, नारदपूर्वजन्मदृष्टान्तेन वाद्ययोः साधारणत्वात्, तृतीयस्य तु 'गायन्विलज्जो विचरेदसङ्ग' इति वाक्येन स्वरूपासिद्धत्वात् । पूर्वोक्तदशायां गृहत्यागकर्ता न नश्यति, पूर्वोक्तारम्भदशायां त्यागकर्तृत्वात्, पूर्वजन्मीननारदवदिति प्रत्यनुमानेन निरस्तत्वाच । न चेदमप्रयोजकम् । नारदपूर्वजन्मकथासन्दर्भीयवाक्यैस्तादृशां नाशस्यैवासिद्धत्वादिति । अनेनैव हेतुना नाशानुमाने तु सिद्ध एव दृष्टान्ताभाव इति सुष्ठूक्तं दृष्टान्तस्याप्यभावत

इति । किञ्च, अयं त्यागो हि भगवद्धर्मः । 'धर्मान्भागवतान् ब्रूते'ति निमेः प्रश्ने कविना 'ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये । अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्' इति लक्षयित्वा 'कायेन वाचे'त्यादिभिः कथ्यमानेषु 'गायन् विलज्जो विचरेदसङ्ग' इत्यनेनासङ्गविचरणरूपस्य त्यागस्यापि बोधनात् । भगवद्धर्मस्यारम्भेपि न ध्वंस इत्यपि भगवतैवोक्तं 'न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपी'ति । तथा चातोपि न नाश इत्यर्थः । न चैवं सति श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कृते त्यागे कथं ध्वंस इति शंक्यम् । तस्यां दशायामज्ञानात्तत्करणेन उपक्रमत्वाभावात् । 'ज्ञात्वारम्भ उपक्रम' इति कोशेन ज्ञात्वारम्भस्यैवोपक्रमत्वादिति । ननु मास्तु नाशस्तथापि देहरक्षणार्थं भिक्षादेरावश्यकत्वात् फलविलम्बसम्पादको बाधः केन वार्यतेत्यत आहुः स्वास्थ्येत्यादि । त्यागिनः स्वास्थ्यस्य हेतुर्हि विगर्ह्याभिन्नेषु चतुर्षु वर्णेषु भिक्षा तस्यास्त्यागात् । 'चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोप्यशुष्यन् । रुद्धा गुहाः किमजितोवति नोपपन्नान् कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्' इत्युक्तरीत्या त्यागात् । यद्वा, अत्र स्वास्थ्यहेतुपदं परित्यागविशेषणम्, परित्यागादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थः स्वरूपावस्थित इति यावत् । तस्य भावः स्वास्थ्यम्, तद्धेतुर्यः परित्यागस्तं प्राप्य जीवन्मुक्त एव जात इति । अस्यैतादृशस्य बाधः केन सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः । नन्वेवमविद्याकामादीनां बाधकत्वाभावेपि कालादिभिर्बाधः केन वार्यतेत्याकांक्षायां कैमुतिकन्यायेनाबाधमुपपादयन्ति हरिरित्यादि । हरिः स्वर्तुः सर्वाघदुःखहर्ता सोपि अत्रास्मिन् परित्यागे बाधां कर्तुं न शक्नोति । अस्य भगवद्धर्मस्य स्वयमेवोक्तत्वात्, 'वक्ता कर्ता विना नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवी'ति वाक्येन स्वयमेवावनाद्य । तथा सति अपरे कालादयः कुतो हेतोः कर्तुं शक्नुयुः । ते हि भगवदधीना इति न तत्कृतोपि बाधसम्भव इत्यर्थः । अत्र तर्कमाहुः अन्यथेत्यादि । अत्र पुपुषुरिति अत्यन्तापह्नवे लिङ्वक्तव्य इति वार्तिकाल्लिट् । तथा च स्वधर्मोत्पादको रक्षकश्च भगवानेव यदि बाधां कुर्यात्, तदा मातरो जनयित्र्यः बालान् स्वोत्पन्नान् यत्स्तन्यैः पुष्णन्ति, तत्र पुपुषुः, ततश्च तत्कृतं पोषणमत्यन्तापह्नुतमेव स्यात्, तथा च भगवत्कृतो बाधस्तर्कादपि बाधित इत्यर्थः । ननु भवत्वेवं, तथापि मोहनार्थं नियुक्ता या माया सा तु स्वकार्यं मोहं कुर्यादेव, 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छती'ति वाक्ये भगवत्प्रियतमस्य ज्ञानिनोपि तत्कृतमोहस्योक्तत्वादित्यत आहुः ज्ञानिनामित्यादि । 'ज्ञानिनामपी'ति वाक्यं ज्ञानिनामपि वाक्यं उत्तरपदलोपी समासः । तथा चानेन मार्कण्डेयवाक्येन ज्ञानिनामेव मायाकृतो मोह उक्तो, न तु भक्तानां, अतः सा भक्तं न मोहयिष्यति । गीतायां 'दैवी ह्येषे'ति वाक्ये भगवता तस्याः प्रपत्तितरणीयत्वकथनात्, उक्तविधभक्तस्य च प्रपन्नत्वे सन्देहाभावात्, अतो दूरापास्तं मोहनमित्यर्थः । न चेति कारणाभावे ज्ञानिनामिति पदस्य कथं वाक्यबोधकत्वमिति शंक्यम्, प्रक्षिप्ताध्यायेषु 'यावद्वत्सके'ति श्लोके 'सर्वं विष्णुमयं गिर' इत्याचार्यैः श्रीधरेण च सर्वं विष्णुमयमिति पदद्वयस्येति कारणाभा-

वेपि 'सर्वं विष्णुमयं जग'दिति वाक्यप्रतीकताया अङ्गीकारेणात्रापि तथोक्तौ दोषाभावादिति । चाचामतेप्येवम् । किञ्च, अयं भक्तः आत्ममदः आत्मानं भगवते प्रकर्षेण सर्वसाहित्येन समर्पितवान्, न तु स्वार्थमात्मानमपि स्थापितवान् । तथा प्रियश्चायं भगवतः, 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' इति वाक्यात् । माया तु भगवतस्तद्भक्तेभ्यश्च जिहेति, 'विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेमुया । विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः' इति द्वितीयस्कन्धवाक्यात् । उक्तभक्तस्य तु न दुर्धीत्वम्, भगवति बद्धसौहृदत्वात् । नाप्यन्यत्रासक्तिः । अतः किमर्थं मोहयिष्यति । तथा चोक्तैर्हेतुभिः सापि न भक्तं मोहयितुं शक्तेत्यर्थः । एवमेतेन विचारणेनास्मासामारम्भदशायामपि भक्तिमार्गीये त्यागे न पश्चात्तापादिदोषसम्भावनेति सिद्धम् । तद्वदन्त उपसंहरन्ति तस्मादित्यादि । यस्मादन्ये त्यागप्रकाराः सदोषाः असम्भविनश्च, मुख्यस्त्वाज्ञां नापेक्षते । तादृशभावधृतत्वेन स्वाभाविकत्वात् । अतोऽयमेवाज्ञाविषयो भवितुमर्हति, तस्मात् उक्तप्रकारेण भगवतोऽवं प्रसाद्यतेन प्रकारेण भक्तिमार्गीयः परित्यागो विधीयताम्, भक्तैः कर्तव्यः । अन्यथा उक्ताधिकाराभावेपि त्यागकरणे श्वधिकारसद्भावेपि तदकरणे च स्वार्थात् स्वस्य यः अर्थः प्रयोजनं विरहानुभवो भगवत्प्रसादश्च तस्माद्भ्रश्यते, च्युतो भवतीत्यर्थः । अत्र स्वस्य निश्चयमाहुः इति मे निश्चिता मतिरिति । एवंप्रकारिका निश्चयवती मम बुद्धिरित्यर्थः । श्रीमदुद्धवकर्तृकश्च परित्याग एवंरूपस्तृतीयस्कन्धे चतुर्थाध्याये 'इहागतोऽहं विरहातुरात्मे'ति 'सोऽहं तद्दर्शनाह्लादवियोगार्तियुतः प्रभो'रित्येताभ्यां बोधितः । तृतीयस्य चतुर्थे पादे 'बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्चे'त्यधिकरणे विचारितश्च । तत्र हि प्रचुरभगवद्भावमात्रवतः साक्षात्स्वरूपभोगवतो वा गृहत्यागः कर्तव्यो न वेति संशये फलस्य सिद्धत्वान्नायस्य कर्तव्यः । 'मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मता' इति वाक्यात् गृहाणां बन्धकत्वाभावेन द्वितीयस्यापि न कर्तव्य इति प्राप्ते आह 'बहि रित्यादि । उक्तपूर्वपक्षनिरासाय तुशब्दः । भावमात्रे साक्षाद्भगवत्सम्बन्धे चेत्युभयथापि बहिः गृहाद्बहिर्गमनम् गृहत्याग इति यावत् । स आवश्यकः । तत्र प्रमाणमाह 'स्मृतेराचाराच्चे'ति । 'त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु । मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृक् विचरस्व गा'मित्यादि स्मृतिर्भगवद्भाववतस्तत्सङ्गविशिष्टस्यापि बहिर्गमनमाह । तदाचारोपि तथैव श्रूयते, अतस्तयेति निष्कर्षं उक्तः । अयं च त्यागो नाश्रमधर्मरूपः, तस्य पूर्वे 'उर्ध्वरेतःसु च शब्दे ही'त्यत्र विचारितत्वात् । न चैवमस्यासिन्सूत्र उक्तत्वे विचारितत्वेनेति कुतो नोक्तमिति शङ्क्यम् । प्रकारस्यानुल्लेखेन तथात्वाभावात् । शुकसंवर्तादिकर्तृकस्य ज्ञानमार्गीयस्यावैधसंन्यासस्यापि तथात्वाच्चेति ॥ १७–२१ ॥

एवं त्यागप्रकारं तत्कर्तव्यताप्रकारं च निरूप्योपसंहरन्ति इति कृष्णप्रसादेनेति ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

एव सर्वे प्राश्च आहु । मम त्वन्यत् प्रतिभाति, उपक्रमे परित्यागो विचार्यत इति कथनात्, उक्तश्लोके च परित्यागो विधीयतामिति कथनाच्च तत्रैवोपसहारप्रत्यभिज्ञानात्, इति कृष्णप्रसादेनेति श्लोकस्तु तत्रैव विशेषान्तरस्य बोधनाय । तथा हि । आचार्याणा पुर स्फूर्तिकविचारेण देहदेशपरित्यागविषयकभगवदाज्ञाद्वयाकरणाभिमानजनितखेदे सति यदा लोकपरित्यागविषयिणी तृतीयाज्ञा जाता, तदा तद्वाक्यार्थविचारेऽनेन प्रकारेण कृते भगवान् विशेषत प्रसन्नो भूत्वा तस्य सन्यासरूपतामाचार्याणा मनसि स्फोरितवान्, तदेतदस्मिन् श्लोके बोधयन्ति इति कृष्णप्रसादेनेति । इति एव पूर्वोक्तप्रकारेण परित्यागे विचारिते सति य कृष्णप्रसाद पूर्वस्मादतिरिक्त तेन कृत्वा वल्लभेन भगवत्प्रियेण मया भक्तौ भक्तिमार्गे सन्यासवरणं उद्धववत् सन्यासाङ्गी करण त्रिविनिश्चित विशेषतो निश्चितम् । अन्यथा एवमाज्ञाऽभावे तत्करणे पतितो भवेत् । भक्तिमार्गीयधर्माणा सन्यासधर्माणा चेतरेतरविरुद्धत्वात् भक्तिमार्गतश्च्युतो भवेदि त्यर्थ । विशेषनिश्चयस्तु, 'आहिताग्नेस्तु सन्यासो वैराग्यादुत्तरायुषि । यावज्जीवश्रुतेस्तत्र न निरोध कथञ्चन । यजमानोऽग्निवचनाज्जरामर्याग्निहोमता । आत्मयागविधानाच्च द्रव्य यागविनिन्दनात् । श्रेयानित्यादिवचनादपुनर्भाववाक्यत । न्यासो विधेयस्तत्रादौ प्रातर्हुत्वा यथाविधि । भार्यानुज्ञा तु नापेक्ष्या देवादारादिवाक्यत । त्व ब्रह्मेति च नापेक्ष्य पुत्राणा लौकिकत्वत । आग्रूपचयन कृत्वा जीवश्राद्धविधानत । आभ्युदेवप्रकारेण श्राद्धान्यष्ट समाचरत् । वर्गत्रय प्रसिद्ध हि तत्र आत्मत्रय मतम् । देहेन्द्रियप्राणदेवा गोलाधिष्ठानदेवा॰ पञ्चमे देवता मता । शिर पाण्यादयश्च देवा यन्तुर्देवास्त्वगादिका । सप्तमे गुणदेवास्तु ब्रह्माद्या चक्षुराद्यास्तत परम् । विधाहङ्कृतिदेवाश्च रुद्र सङ्कर्षण शिव । पान चेति समाख्याय तथा अष्टमे मता । ततो दण्डत्रय शिक्य पवित्र जलभाजनम् । सर्वो ग्रन्थ उत्सन्न, पूर्णो न लभ्यत इत्यत एते वागग्निकाक्रतिं भित्यादिषु श्लोकेषु वर्तते । भगवता श्लोका न विवियन्ते । अतस्तदुक्तप्रकारस्तत्तच्छाखीयसन्यासपद्धतिभ्योऽवगन्तव्य । भगवता सन्यासस्य स्फोरणादेवाचार्यैस्त्रिदण्डसन्यास एव कृत । भार्यादिभिराज्ञाया अदाने स्वपण शाण्णासन प्रदर्श्य तेर्निर्गच्छत शीघ्र निर्गच्छतेत्युक्ते करककौपीने गृहीत्वा निर्गता । ततो ऽग्निरपि शान्त । ततो यथाविधिं सन्यास गृहीत्वा अरैलग्रामात् काश्यामागता । मासमात्र चानशन कृतम्, दिनाष्टक च मौनव्रतम्, तेन पूर्वाज्ञाद्वयस्यदेशदेहत्यागो पाक्षिकदोषप रिहारेण कृतो । तत आषाढशुक्लद्वितीयाया सिद्धिं गता इति प्राचा वाक्याद्वगम्यते ।

कमापसहृतिगतश्रुतिसूत्रग यद्यद्बोधित भगवता निजभृत्यमुख्ये ।
यत्नतस्तदनुसृत्य च वाक्यजात सन्यासनिर्णयमय व्यवृणोत्तदीय ॥ १ ॥

इति श्रीपीताम्बरात्मजश्रीपुरुषोत्तमविरचित विवरण सम्पूर्णम् ॥

---

१ नारायणे दत्तोधर इलाधव श्रीत्र्यम्बक उपलभ्ये नूतनपुस्तक ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतः ।

विचारितपरित्यागाः पश्चात्तापनिवृत्तये ।
प्रसीदन्तु सदा मह्यमङ्गीकृतपितृत्वकाः ॥ १ ॥

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

भक्तानां स्वहिताज्ञानेपि भगवांस्तेषां हितमेव सम्पादयतीति वस्तुस्थितिः । अतः साधनदशायां भक्तेन चिकीर्षितेपि परित्यागे तस्य पतनमाशङ्क्य तत्र विघातं करोति । ततो भक्तस्य तत्स्वरूपाज्ञानात् पश्चात् सेवावसरे भावनादशायां तापो भवति, मया चिकीर्षितेपि महाफले परित्यागे भगवान्विघातं करोति, अतो मयि न कृपेति मम फलप्रसाधिकाराभावात् सर्वमेव व्यर्थमित्येवंरूपः । तन्निवृत्त्यर्थं परित्यागः केन कर्तव्यः, कदा कर्तव्यः, किं वा तस्य स्वरूपमित्येवं विचार्यते, स्वमनस्येव युक्तिभिः परिशील्यते, तत्स्वरूपं पश्चात्तापाय योज्यते, न तु कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते । साधनदशायां निषेधस्य फलदशायां च स्वकृत्यसाध्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः । भक्तिमार्गीयेण फलानुभवकाले कृतो देहेन्द्रियादिषु स्वीयत्वत्यागोधिकारिभेदेन पूर्वसिद्धत्यागो वा परित्याग इति कर्तृकालस्वरूपाणां त्रयाणामुत्तरं भविष्यति, तज्ज्ञाने मम साधनदशापन्नत्वाद्भगवांस्तद्विघातं कृपयैव करोतीति स्वस्मिन् कृपाज्ञानेन पश्चात्तापनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः । युक्तिभिः स्वमार्गीयनिर्धारार्थं सामान्यतः सर्वनिर्णयमाहुः स इति । फलरूपभक्त्यनुभावार्थं च मार्गद्वये विशेषतः प्रोक्त इत्यर्थः । यद्यपि कर्ममार्गेप्याश्रमधर्मत्वेनोक्तः, तथापि यावज्जीववाक्यस्यापि विद्यमानत्वात् विशेषतो नोक्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

कर्तव्यताबोधकवाक्येन प्राप्तिककर्तव्यत्वमाशङ्क्य तदपि निराकुर्वन्ति कर्मेति ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

यावजीववाक्येन प्रत्यवायश्रवणात् पाक्षिकोपि दोष परिहरणीय इति न्यायेन न कर्तव्य इति भाव । वाक्यद्वयस्य रागारागभेदेन व्यवस्थायामपि कलो तु 'अग्निहोत्र गवा लम्भ'मित्यादिवाक्यै प्रत्यक्षत एव निषधादेशादीना दुष्टत्वाच्च न कर्तव्य एवेत्याहु सुतरा मिति । स्वस्य भक्तिमार्गविचारकत्वात्तन्मार्गीयकर्तव्यतामेव विचारे हेतुत्वेनाहु अत इति ।

तत्रापि साधनदशाया निषेधमाहु श्रवणादीति ।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनाना च रक्षणात् ॥ ३ ॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधत. ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥
विषयाक्रान्तदेहानां नावेश. सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्याग. सुखावहः ॥ ६ ॥

एतेषा साधनरूपाणा प्रकर्षण गेहीयानामनुकूलत्वेपि कदाचित् स्वासक्तिसम्पादनेन प्रति बन्धकानामससर्गेण सिद्ध्यर्थं कर्तव्य इति चेत्? स परित्यागोस्माभिर्नेष्यते, इष्टफलसाधक त्वादित्यर्थ । प्रतिकूले तु त्याग उचित एवेति भाव । तद्विशदयन्ति सहायेति । श्रवणे सहायभूतो यस्तादृशाना सङ्गस्तत्साध्यत्वात् श्रवणादीनामिति शेष । एकाकिनस्तदसम्भवात् ग्रन्थावलोकनादिना स्वत एव शक्तितात्पर्यनिर्धारसम्भवे दोषा तरमाहु साधनानामिति । पु स्तकादीनामित्यर्थ । तावत्स्थापनेपि परित्यागो न सिद्ध इति भाव । अत एव 'ग्रन्थान् नेवाभ्यसेत् बहू'निति वाक्यम् । यत्किञ्चिद्ग्रन्थाभ्यासस्तु पुस्तक विनापि भवतीति बहूनित्युक्तम् । एव स्वरू पासाधक दोषद्वयमुक्तमित्यनयो समुच्चयेनेकरूपत्वबोधनार्थं चकार । फलासाधक दोषद्वयमाहु अभिमानादिति । भूयोभ्यासेन प्रतिभोत्पत्तो पुस्तकादिरूपसाधनत्यागेपि अन्त करणाशुद्ध्या अह ज्ञानीत्यभिमानो भवेत् । ततो मुख्यफलासिद्धि । तीर्थादिभिरन्त करणशुद्धावभिमानाभावे दोषान्तरमाहु नियोगादिति । नियोगो विधिस्तस्माद्धेतोरित्यर्थं । मुख्यफलस्य विध्यस्पृष्टत्वा द्विहितत्वेन कृतेन त्यागेन न तत्सिद्धिरिति भाव । एव फलासाधक दोषद्वयमुक्तमिति चकार । मुख्यदोषमाहु तद्धर्मैरिति । तस्य भगवतो भजनकर्मणो धर्मैस्तनुवित्तजसेवारूपैर्विरोधात् । त्यागे सति तादृशसेवाऽसम्भवादित्यर्थ । तथा च फलरूपाया मानस्या पूर्वोक्तदोषैरसिद्धि । तनुवित्तनायाश्च त्याग इत्युभयभ्रश इति भाव । नन्वेव सति सेवाश्रवणादिसाधकस्थापनेन भार्यादेरनुकूलत्वेपि स्वासक्तिसम्पादनरूपपाक्षिकदोषसद्भावेन बाधकत्वात् पाक्षिकोपि दोष परिहरणीय इति न्यायेन त्याग कर्तव्य इत्याशङ्क्य निषेधन्ति गृहादेरिति । भार्यादेरित्यर्थ । साधनार्थमिति । अन्यनानासक्त्या सेवाश्रवणादिसम्पादनार्थमित्यर्थ । तादृशैरिति । रागिभि स्वस्मिन्नासक्तिसम्पादकैरित्यर्थ । नान्यथेति । अतिविरक्तैरित्यर्थ । तादृशेरुच्छृङ्खले

सेवाश्रवणादिकमपि न सिध्येदिति भावः । ननु ते कीदृशा अपि भवन्तु, स्वस्य किं दूषणमित्यत आहुः स्वयं चेति । ते विषयाक्रान्तास्तत्सङ्गात् स्वयं च तदीयैर्विषयै रूपादिभिराक्रान्तो लुब्धः सन् पाखण्डी वेदविरुद्धविषयभोगकर्ता भवेदित्यर्थः । ननु दृढचित्तः कथमेवं भवेदित्यत आहुः कालत इति । कलिकालस्यादार्ढ्यसम्पादकत्वादिति भावः । साधनदशायां कालस्य प्रबलत्वान्निश्चितमेव स्यादिति पक्षान्तरनिरासकस्तुशब्दः । भार्यादिसहभावे विषयाक्रमणेपि पाखण्डित्वं तु न भवेदिति भावः । ननु निषिद्धविषयाक्रमणे भवतु नाम वेदमार्गविरोधः, स्वमार्गीयफलस्य तु विध्यस्पृष्टत्वात् तत्र किं बाधकमित्याशङ्क्य स्वमार्गविरोधमप्याहुः विषयेति । स्वकीयैरनिषिद्धैर्विषयैरन्तःकरणमेवाक्रान्तं भवति । तदपि देहेन्द्रियप्राणानामनाक्रान्तत्वात् तैः सेवाश्रवणादिकरणे निवर्तेत । तदा नित्यभगवदावेशो भवेत् । परकीयैर्निषिद्धैस्तु दुर्लभत्वेन निरन्तरभावनया दृढैर्दृढजनकैः प्रातिलोम्येन देहपर्यन्तमाक्रान्तं भवति । तथा च देहपदेनेन्द्रियप्राणान्तःकरणानामाक्रमणं कैमुत्येन सूचितम् । तादृशानां सर्वस्यापि सङ्घातस्य विषयाक्रान्तत्वेन सेवाद्यसम्भवात् तैर्विषं यान्तीति व्युत्पत्त्या विषयैर्मृत्युरूपं दुःखमेव भवेत्, न तु दुःखहर्तुरावेशेनामृतरूपभगवदानन्द इति भावः । सर्वदेति । एवमपि गुणगानादिना तत्काले कदाचिद्भगवदावेशो भवेदपि, न तु सर्वदा । तादृशस्तु कादाचित्कत्वेनागन्तुकत्वादसमर्थ इति भावः । उपसंहरन्ति अतोत्रेति । अतो भगवदनावेशादेव हेतोरत्र मार्गे साधनभक्तिसिद्ध्यर्थं परित्यागो न भगवदानन्दप्रापकः, किन्तु मृत्युरूपदुःखप्रापक इत्यर्थः ॥ ३–६ ॥

द्वितीयदलानुभवाय फलानुभवकाले त्यागाभ्यनुज्ञामाहुः विरहेति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥
विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशोधितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥
तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥
भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥
दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३½ ॥

पूर्वसंयोगव्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः । सुप्तप्रबुद्धन्यायेन । तदनन्तरं जातस्तु संयोगो विरहाभिन्न एव, तदर्थं परितस्त्यागो देहेन्द्रियादीनामप्यननुसन्धानरूपः । प्रकर्षेण गुरूपदेशमार्याभ्यनुज्ञादिव्यतिरेकेणैव फलसाधकत्वेन शस्यते । तर्हि वेषोपि तथा न स्यादित्यतस्तत्प्रयोजनमाहुः स्वीयेति । बहिस्तथावेषाभावे स्वीयानां भार्यादीनामन्तःकरणबन्धो वासनारूप एतस्मिंस्तिष्ठेदेव, वेषे तु कृते अयमस्मदुपयोगानर्ह इति ज्ञानेन स्वीयानां वासना एतस्मान्निवर्तेतेति तदर्थं स त्रिदण्डिवेषोत्र मार्गे शस्यते इति पूर्वेणान्वयः । न चान्यथेति । फलार्थं चकारात् साधनसिद्ध्यर्थं च नेत्यर्थः । ननु गुरूपदेशाभावे 'यस्त्विच्छया कृतः पुम्भि'रिति वाक्याद्धर्माभासत्वेनाधर्मवत्त्वमेतस्य स्यादित्यत आहुः कौण्डिन्य इति । कुण्डिने भवा कौण्डिनी, आद्यमहिषी । तत्प्रधानत्वात् तस्या एव सर्वत्राविष्टत्वात् सर्वा एव महिष्यः कौण्डिन्यः । तथा च कौण्डिन्यो गोपिकाश्चेति वाचिककायिकतिरोधानद्वयजनितद्विविधविरहानुभवविशिष्टं गुरुद्वयमित्यर्थः । तथा च तयोर्नियामकत्वान्न स्वेच्छाकृतिरूपो दोषः । ननु तत्कृतोपदेशासम्भवात् कथं गुरुत्वमत आहुः साधनं चेति । तत् एतद्द्वये निरन्तरभावनया सिद्धं स्थायिभावरतिरूपं क्रमेण तिरोधानद्वये वचनैः स्वरूपेणोत्कटं सत् साधनम् । चकारात् फलमपि तत्र सिद्धो विरहानुभव एव । तथा च साक्षादुपदेशाभावेपि साधनफलबोधकत्वात् गुरुत्वमिति भावः । नन्वेवं साधनसाध्यत्वे 'नायमात्मे'ति वाक्यविरोध इत्यत आहुः भाव इति । भावनया चर्वणया सिद्धं स्थायिभावरतिरूपं विरहानुभवस्य साधनं वरणादन्यत्प्रवचनादिरूपं नेष्यते, किन्त्विदं सर्वं वरणान्तःपात्येवेति न पूर्वोक्तवाक्यविरोधः । ननु विरहे विकलत्वास्वास्थ्याभ्यां दुःखानुमानात् कथं फलत्वम् ? आनन्दस्यैव फलत्वादित्यत आहुः विकलत्वमिति । एतद्द्वयमन्तःस्थितस्य विरहात्मकस्यानन्दरूपस्य भगवत एव प्रकृतिः स्वभावो धर्म इति यावत् । न त्वानन्दतिरोभावेन दुःखरूपायाः प्रकृतेर्धर्म इत्यर्थः । तादृशे दुःखधर्मत्वं नोचितमिति हिशब्दः । एवं सर्वदा द्वितीयदलानुभवे पूर्वदलाननुभवात् पूर्णरसानुभवो न भवेदतः पूर्वदलानुभवमाहुः ज्ञानमिति । ज्ञानं 'तद्दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धन'मित्यत्रोक्तं प्रेमबन्धनदर्शनम्, गुणा ऐश्वर्यादयश्च क्रमेण तस्यैव वर्तमानस्य गुरुद्वयस्य बाधकाः, पूर्वानुभवं बाधित्वा पुनः संयोगरसानुभावका इत्यर्थः । तत्र प्रकारमाहुः सत्येति । ज्ञानात् तत्पूर्वोक्तात् सत्यस्याक्षरब्रह्मणः श्रीवत्सस्य लक्ष्म्याश्च लोके विशाले स्थाने वक्षसि स्थितिः 'आश्लिष्य बाहुना राज'न्नित्यत्रोक्ता भवति । नन्वेवंप्रकारं ज्ञानं तु पूर्वमप्यासीदतः कथं पूर्वं तिरोभावसम्पादनमत आहुः संन्यासेनेति । सम्यक् न्यासेन विरहे देहेन्द्रियाद्यननुसन्धानेन विशेषितं प्रेमबन्धनज्ञानं जातमित्यर्थः । नित्यज्ञानवत्त्वेपि रसमार्गस्थस्य भगवतो रसमर्यादयैव ज्ञानोद्बोध इति सिद्धान्तात् । नन्वेतादृशज्ञानस्य सत्यलोकस्थितिरूपस्य फलस्य चाद्यमहिष्यामेवोक्तत्वात् कथं सर्वासां गुरुत्वमित्यत आहुः भावनेति । पूर्वोक्तं भावसाधकभावनारूपं साधनं तथा आद्यमहिषीसदृशं यत्र भक्तेषु भवेत् फलं चकारात् तत्साधनं भावश्च तथा पूर्वसदृशं विरहानु-

भवरूपं यत्र भक्तेषु **भवेत् तादृशा भक्ताः** महिषीरूपाः सत्यलोके आदिपदेन 'तामुत्थाप्य चतुर्भुज' इत्यत्रोक्तोत्थापनकेशसमूहनवक्त्रमार्जनादिना भुजादिषु च **तिष्ठन्त्येव**, तावत्सिद्धौ तावदपि युक्तमेवेत्येवकारः । तत्र 'बाधान्यासामपी'त्यतिदेशादत्र संशयो न कार्य इत्याहुः **न संशय** इति । ननु पूर्वमपि संयोगस्य विद्यमानत्वात् कथं विरहानन्तरं जातस्यैव फलत्वमत आहुः **बहिरिति** । स्वस्य भक्तस्यात्मा भगवान् वाचिकतिरोधानलीलया **बहिः प्रकटो** भक्तस्वरूपाद्बहिर्भूतो भिन्नश्चेत् सन् पुनर्भक्तस्वरूपे प्रविशेत्, सत्यलोकादौ तत्स्थापनेन तत्प्रत्यङ्गेषु सयुज्य स्थितो भवेत्, तदैव सकलो देहेन्द्रियादिषु वासनारूप आध्यात्मिकोऽपि बन्धो नाशमेति, नान्यथा तिरोभावातिरिक्तप्रकारेण न भवतीत्यर्थः । विरहेतितापेन देहेन्द्रियाननुसन्धाने सर्वांशेन तद्वासनानिवृत्तिः, तदनन्तरं संयोगेऽप्याध्यात्मिकाविद्याया निवृत्तत्वाद्देहेन्द्रियादिकमात्मा च भगवदीयत्वेनैव प्रियो भवति, भगवानपि भगवत्त्वेनैवेति मुख्यो निरोधो सिद्धो भवतीति पूर्वसंयोगेऽप्याध्यात्मिकबन्धस्य विद्यमानत्वान्न तस्य फलत्वम्, किन्त्वस्यैव निरोधस्यैव फलत्वादिति भावः । तत्र दृष्टान्तः **वह्निवदिति** । यथा वह्निर्मथनेन काष्ठाद्बहिर्भूतः सन् पुनः काष्ठे यदा प्रविशति तदा काष्ठांशं निवर्तयति तथेत्यर्थः । एवं वाचिकतिरोभावे वचसोत्कटेन भावेन विरहानुभवः, ज्ञानेन संयोगानुभवः पुनरेवमिति पौर्वापर्येण दलद्वयानुभव एव, नान्यावस्थेति प्रथमगुरौ साधनं फलं चाभिहितम् । द्वितीयगुरौ कायिकतिरोभावे स्वरूपेणोत्कटेन भावेन विरहानुभवः, गुणैः संयोगानुभवः, संयोगेऽपि न विरहबाधः, विरहेऽपि न संयोगबाध इति सार्वदिकशबलितरसानुभव इति । ततोऽपि विशिष्टं साधनं फलं चेत्यभिप्रेत्य पुनः पूर्वदलानुभवे साधनं दलस्वरूपं चाहुः **गुणास्त्विति** । पूर्वं गुरौ ज्ञानं सर्वांशेन विरहं बाधित्वा संयोगानुभावकमुक्तम्, न तथा गुणा अत्रेति तुशब्दः । किन्त्वेकांशेन विरहं बाधित्वा संयोगानुभावका इति । सन्नराहित्याद्देहेन्द्रियादिभिर्यः सन्नस्तद्राहित्यात्ततिरोभावाद्धेतोः स्वयमेव देहेन्द्रियादिरूपा भूत्वा फलानुभवाय जीवनसम्पादनार्थं साधनरूपा भवन्ति । न तु सर्वथा विरहबाधिका इत्यर्थः । विरहेणासुपमर्दिना देहेन्द्रियादितिरोभावे भगवद्गुणा एव तद्रूपा भूत्वा तत्र स्थिता इति चतुर्थाध्याये निरूपितम् । अत एव पञ्चमाध्यायेऽपि गुणरूपा एव ता इति निरूपितम् । तथा च सङ्गमेऽपि विरहे इवात्युत्कटदिदृक्षासत्त्वेन न सर्वथा विरहबाधः । अत एव सङ्गमेऽपि 'दिदृक्षितदृशोऽभ्यगम'न्निति वाक्यम् । विरहेऽप्यान्तररमणान्न सर्वथा संयोगबाधः । अत एव 'वर्णयन्त्योमिथर्मिथ' 'रेमिरेऽहस्सु तच्चिताः' । 'निशोका अहनी निन्यु'रित्यादिवाक्यानि । एवं शबलितरसानुभवः सर्वदा, न त्वेकतरबाधः । अत्र कदाचिद्दिदृक्षापूर्तिप्रलापादिभावा अपि जायन्ते । उद्धवोपदेशानन्तरभावे तु सर्वदैव भवन्ति तस्मात्यन्तिकत्वम् । ननु विरहभावस्य प्रबलत्वाद्गुणैर्बाधासम्भवेऽपि भगवान् न्यसङ्गेन तद्भावबाधकः स्यादित्याशङ्क्याहुः **भगवानिति** । भगवानुभयफलरूप इति स्वरूपतो नैकतरबाधक इत्यर्थः, किन्तु वाक्यं स्वास्थ्यजनकं विरहभाननिवर्तकं 'मया परोक्षं भजता तिरोहितं'मित्यादिरूपं वदति । तादृशं वाक्यं तु एताभिर्न कर्तव्यं न मन्तव्यं, 'स्वागतं वः' इत्यादि-

वाक्यवत् । एतासां स्वरूपमात्रनिष्ठत्वाद्वाक्यैः पूर्वभावोपमर्दो न भवतीत्यर्थः । ननु दलयो-
रुभयोर्विरुद्धत्वादेकदैवोभयदलरूपो भगवान्मर्यादया विरुध्यत इत्यत आहुः दयालुरिति ।
भगवानेतासु दयालुरतो दयया शवलितपूर्णरसदित्सया मर्यादामप्यतिक्रम्य लीलां करोति ।
अतो न विरुध्यते, विरोधविषयो न भवतीत्यर्थः । ननु विरहभावात् पूर्वम् 'प्यात्मारामोप्यरी-
रम'दिति प्रकारकभावस्य जातत्वात्तदैव देहेन्द्रियादितिरोभावरूपः परित्यागः कुतो न सम्पन्न
इत्यत आहुः दुर्लभ इति । अयं पूर्वोक्तः परित्यागो दुर्लभः, दुःखेन वियोगात्मकेन लभो लाभो
यस्य तादृशः । तत्र हेतुः । प्रेम्णा भावनासिद्धेन रत्याख्येन सिध्यति, नान्यथा, प्रकारान्तरेण
न सिध्यति । तादृशप्रेमौत्कट्यं तु विरहात्मकदुःखे एव भवति । अतो दुर्लभत्वान्न वियोगात्
पूर्वं तत्सिद्धिरित्यर्थः ॥ ७–१३½ ॥

ज्ञानमार्गीयं निरूपयन्ति ज्ञानमार्गे त्विति ॥

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ॥ १६½ ॥

भक्तिमार्गीयोस्माभिर्विचारितः, ज्ञानमार्गीयस्तु प्रमाणगम्यत्वात् तैर्विचारित एव ।
अस्माभिस्त्वनूद्यते, परप्रीतिविभेदज्ञापनाय तुशब्दः । विविदिषाविद्वद्भेदेन द्विविधोपि प्रमाणै-
र्विचारितः । साधनमपि विचारितमित्याहुः ज्ञानार्थमिति । भक्तिमार्गीयेण त्यागेन विरहानु-
भवार्थं साधनत्वेन भावः पूर्वमुक्तः । ज्ञानमार्गीयेण 'यदहरेव विरजे'दिति प्रकारेण त्यागेन
आत्मापरोक्षरूपज्ञानार्थं साधनत्वेन उत्तरं मुख्यमङ्गं श्रवणं, तदपि विचारितं 'मात्मा वारे द्रष्टव्य'
इति वाक्यादित्यर्थः । पूर्वस्मादेतस्य वैलक्षण्यमाहुः सिद्धिरिति । परमत्र जन्मशतैरनेक-
जन्मभिः सिद्धिर्भवति, तत्र तु न विलम्बः, 'बहूनां जन्मनामन्ते' इति वाक्यादिति
भावः । नन्वायुर्भागप्रकारेण कृते कर्ममार्गीयेपि संन्यासे तुरीयाश्रमे ज्ञानमेवाभिहितम् ।
अतो विशेषाभावात् कर्ममार्गीयोपि कुतो न कर्तव्य इत्याशङ्क्य मार्गद्वयीयज्ञानयोर्भेदार्थं
कर्ममार्गीयज्ञानस्वरूपमाहुः ज्ञानं चेति । ज्ञानमार्गे पञ्चाग्निप्रकारेणाधिकारिदेहस्य सिद्ध-
त्वाज्ज्ञानमस्मिञ्जन्मनि साधनानपेक्षम्, श्रवणरूपं तु साधनं फलनान्तरीयकत्वात्
फलाङ्गमेव, अत एवोत्तराङ्गमित्युक्तम् । कर्ममार्गीयं तु ज्ञानमस्मिन्नपि जन्मनि साधनापेक्षम्,
गार्हस्थ्ये यज्ञादयः कर्तव्या इति श्रवणाद्धेतोर्मतं सम्मतमित्यर्थः । चस्त्वर्थे, पूर्वज्ञानव्यवच्छे-
दाय । अतः साधनाधीनत्वात् साधनानां कलौ देशादिदोषेणासिद्धत्वाच्चित्तशुद्ध्यभावेन
ज्ञानानुदयान्मया वृथैव परित्यागः कृत इत्याकारकपश्चात्तापाय स कर्ममार्गीयः संन्यासो

भवेत्। नान्यथेति। ज्ञानभक्तिप्रकारकस्तु साधनानपेक्षत्वात्तथा न भवेदित्यर्थः। न केवलं पश्चात्तापमात्रं किन्तु दोषसम्बन्धोपि भवेदित्याहुः पापण्डित्वमिति। चित्तचाञ्चल्याद्वेदविरुद्धकार्यकर्तृत्वमपि भवेत्। कदाचिद्दोषाभावेपि पाक्षिकदोषसम्भावनया विद्यमानत्वात् फलसिद्ध्यभावाच्च न कर्तव्य इति चकारः। पूर्वोक्तपश्चात्तापसमुच्चयार्थमपिशब्दः। तस्माद्धेतोर्ज्ञाने साधनापेक्षज्ञानसिद्ध्यर्थं न संन्यसेत्, संन्यासं न कुर्यादित्यर्थः। ननु कालदोषा इव कर्मापि प्रमाणसिद्धमतः कालेन कथं कर्मबाध इत्यत आहुः सुतरामिति। कलिदोषाणां सुतरां कर्मापेक्षयापि प्रबलत्वात्। काले कर्मविधाने कर्मणः कालाधीनत्वात् कालस्य कर्मापेक्षया प्रबलत्वम्। 'रश्म्यनुसारी'त्यारभ्य 'योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैत' इति सूत्रेण कर्मणि कालबाधस्य व्यवस्थापितत्वादिति स्थितिरित्युक्तम् ॥ १४–१६ ॥

ननु तत्र तु ज्ञान एव कालानपेक्षोक्ता। अतः कर्मणीव भक्तावपि कालबाधः प्राप्त इत्याशङ्क्य तत्समाधानमाहुः भक्तिमार्गेपीति।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे।
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥
ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥
तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम्।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

किं कार्यं, भक्तिमार्गेणैव स्थेयं, तं मार्गं परित्यज्य ज्ञानमार्गो वा आश्रणीय इत्याशङ्कायां समाधानमुच्यते। व्यासस्य ज्ञानावतारत्वेन ज्ञानरूपत्वात्तन्मार्गसमाधानं व्यासेरुक्तम्। अस्माकमास्यत्वेन भक्तिरूपत्वाद्भक्तिमार्गसमाधानमस्माभिरुच्यते इत्यर्थः। तत्र ज्ञानमार्गे फलदशायामेव बाधाभाव उक्तः। अत्र तु साधनदशायां फलदशायां च तयेति ततोपि वैशिष्ट्यबोधनार्थं पूर्वं साधनदशायां बाधाभावमाहुः अत्रेति। आरम्भे साधनदशायामित्यर्थः। बाधो हि स्वरूपतः फलतः साधनतश्चेति। तत्र प्रथमं स्वरूपतस्तदभावमाहुः न नाशः स्यादिति। भगवतः सर्वतः प्रबलस्य रक्षकत्वान्न भवत्येवेति स्यादिति विधिरुक्तः। फलतस्तदभावमाहुः दृष्टान्तस्येति। कालदृष्टो यः अन्तः फलं तस्याभावात्। स्वदृष्टमेव हि फलं कालेन नाश्यते, इदं तु फलं कालातीतम्, अतः कथं फलनाशद्वारा श्रवणादिसाधननाशः कालेन कर्तुं शक्येतेत्यर्थः। साधनतस्तदभावमाहुः स्वास्थ्येति। कालकृतनाशस्य विवक्षितत्वात् स्वं कालस्तत्स्थत्वं श्रवणादीनां नाश इति यावत्। सर्वमेव नष्टं सत् कालस्थं भवति। तादृशनाशस्य हेतुर्विषयादिः। विषयोपाधिकमेव श्रवणादिकं नाश-

प्रतियोगि भवति, न तु भगवदीयम्, स्वास्थ्यस्य नाशस्य हेतोर्विषयादेः परित्यागात् स्थितस्य
च भगवति समर्पणादित्यर्थः । भगवदीयो विषयस्तु स्थितोपि कालेन नाशयितुमशक्य
इति साधनतोपि नाशाभाव उक्तः । अतः प्रकारत्रयस्याप्यभावादस्य साधनभूतश्रवणादेः
कालकृतो बाधः केन प्रकारेण सम्भवेदित्यर्थः । फलस्य तु बाधः सम्भावयितुमपि न शक्य
इति तत्र कैमुत्यमाहुः हरिरत्रेति । दुःखहर्तृत्वेन सर्वात्मना विरहं बाधितुमुचितोपि तद्बा-
धस्यापि भगवद्रूपत्वेन प्रबलत्वात्तद्बाधां कर्तुं न शक्नोतीत्युक्तम् । अपरे कालादयः कुतो
हेतोः करिष्यन्ति, एकांशेनापि बाधहेतुभूतयोर्ज्ञानगुणयोरपि कालाद्यतीतत्वात् कुतो हेतोरि-
त्युक्तम् । भगवान् संयोगं पुनरनुभावयितुं तं भावमेकांशेन ज्ञानगुणाभ्यां बाधयति, सर्वां-
शेन तु बाधनेऽशक्तः । कालादयस्तु बाधहेतोः संयोगरूपफलस्य ज्ञानगुणरूपस्य साधनस्य च
स्वागम्यत्वात् कुतो हेतोरेकांशेनापि बाधितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः । एवं भगवतोऽशक्तौ स्वरूपमेव
हेतुरिति दृष्टान्तेन बोधयन्ति अन्यथेति । भगवतो बाधकत्वे मातरो न पुपुषुरित्यपि स्यात् ।
तथा च यथा मातृस्वरूपस्यैव तथात्वान्मातरो बालान् स्तनैर्न पुपुषुरित्यसम्भावितम्,
तथा भगवत्स्वरूपस्यैव तथात्वाद्भगवता सर्वांशेन भावबाधनमप्यसम्भावितमिति बिम्ब-
प्रतिबिम्बभावसिद्ध्या दृष्टान्तालङ्कारसिद्धिः । ननु 'तर्हि भवतीनां वियोगो मे न ही'त्यादीना
कथं विरहाभावबोधनमित्यत आहुः ज्ञानिनामपीति । ज्ञानिनां ज्ञानमिश्रभक्तिमार्गीयाणामपि
सम्बन्धिना तादृशवाक्येन भक्त ज्ञानांशरहितं शुद्धभक्तं न मोहमिष्यति, पूर्वसिद्धविरहानुभव-
रहितं न करिष्यति । ज्ञानमिश्रभक्तिमार्गीयाणामेव तादृशैर्वाक्यैर्विरहबाधो भवति । एतासां
तैर्वाक्यैः प्रत्युत स भाव उत्कटो जातः । एतच्च विवृतं तत्रैव । ननु ज्ञानिन इव भक्तमपि कुतो न
मोहयति, अशक्तावपि तुल्यबलत्वादधिकप्रयासेन तत्सम्भवादित्याशङ्क्य तत्र प्रयोजनाभावं हेतु-
त्वेनाहुः आत्मप्रद इति । ज्ञानमिश्राणां विरहे विप्रयोगरसात्मकस्य स्वरूपस्य न प्राकट्यम्,
अत आत्मनः स्वरूपभूतस्यानन्दस्य दानार्थं पूर्वभाव बाधयति । सुखदातृत्वेनैव च प्रियः,
अतो दुःखाबाधे प्रियोपि न स्याद्, अतः पूर्वं बाधयतीत्यात्मदाने प्रीतिरूपप्रयोजनद्वयं भगव-
न्निष्ठं भक्तनिष्ठं च निरूपितम् । एतासां तु विप्रयोगरसात्मकस्वरूपानुभवाद्विरहेपि भगवान्
आत्मप्रदः । निरुपाधिकप्रीतिविषयत्वात्तादृशदुःखेपि प्रियः । अतः प्रयोजनद्वयस्य तदापि
सिद्धत्वात् किमर्थं कस्मै प्रयोजनाय मोहयिष्यतीत्यर्थः । तत्र 'नीलाम्बुदश्यामो हृदयाद-
पसरत्वि'त्यादिनोक्तोपि भावो जायते इति चकारः । परं तस्य व्यभिचारिभावत्वान्न स्थायि-
भावरूपप्रीतेर्हानिः । तादृशस्वरूपदानेपि प्रीतिसूचनायापिशब्दः । एवं गुरुद्वये सिद्धं सर्वं
निरूपितम् । तत्राधुनिकस्य यावत्कर्तव्यं तदाहुः तस्मादिति । यतो भक्तिमार्गीयस्य न
बाधस्तस्माद्धेतोस्त्वेन गुरुद्वये सिद्धेन प्रकारेण परित्यागो विधीयतामित्यभ्यनुज्ञा । गुरौ दल-
द्वयमुक्तम् । तत्रैकदलार्थं तत्सम्पादकः परित्याग आधुनिकेनापि कर्तव्यः । अपरस्य तु दलस्य
तत्र सिद्धस्य नाधिकार इति तदाकाङ्क्षायां बाधकमाहुः अन्यथेति । परित्यागादन्यप्रकार-
करणे इत्यर्थः । अपरदलेच्छायामपि स्वस्मिन् सिद्धादर्थात् फलाद्भ्रश्यते, ततोप्यधः पतती-

त्पर्यः । अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येवेत्यवधारणात् । एतस्य फलान्तरविचारस्य प्रमाणागम्यत्वात् स्वस्यैवाऽसत्वेन भक्तिरूपस्य मतेः सम्मतिमाहुः इति मे निश्चिता मतिरिति ।

उपसंहरन्ति इति कृष्ण इति ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

कृष्णस्य प्रसादेन करणेन तस्यैव वल्लभेन कर्त्रा निनिश्चितं, भक्तौ फलरूपभक्तिसिद्ध्यर्थम् । सन्यासो व्रियते स्वीक्रियते अनेन करणेन तादृशो विचारः संन्यासवरणम् । इति समासमित्यर्थ । 'अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणे'त्यनेन भक्तिमार्गीयस्यैव तात्पर्यविषयत्वेनोपक्रान्तत्वात्तेनैनोपसंहारः । स्वनिश्चितमिदमेव । ज्ञानमार्गीयं तु प्रमाणैर्निश्चितमेव, स्वयमनूदितं परमिति भाव । अन्यथाकरणे बाधकमाहुः अन्यथेति । स्वयं निश्चितात् फलमार्गीयादनूदिताच्च ज्ञानमार्गीयादन्यथा साधनमार्गप्रकारेण कर्ममार्गप्रकारेण वा करणे तस्मात् साधनात् पतितो भवेत्, निरुद्धाचरणात् स्वयमेव पतितो भवेत् । ननु भगवांस्तत्पातक इति श्लेषे स्वामिनामग्रहणस्य हेतुत्वेनानुक्तत्वात् कर्मपदमित्यनेन सूत्रवाक्यविवरणे प्रयुक्ता भक्तिमार्गमर्यादा सूचिता । स्वस्येतन्निश्चयस्य सिद्धत्वेपि करणकर्तृकथनेनैवविधनिश्चये कृष्णप्रसाद एव साधनम्, तन्निश्चयत्वमेव च स्वरूपयोग्यतासम्पादकमित्यनुग्रहेतरसाधनासाध्यत्वं सूचितम् । नन्वेवं सति स्वस्य दासत्वगायाति, अत एव ग्रन्थान्तरेपि 'इति श्रीकृष्णदासस्ये'त्युक्तम्, अन्यत्र च 'वैश्वानराद्वास्पते'रित्येनेनाधिदैविकात्मत्व स्वयमेवोक्तम्, अतः कथं विरोधपरिहार इति चेदुच्यते । यथा भगवतो 'जीवय मृतमिव दास'मित्यादिवाक्यैस्तथात्वमप्युच्यते, तत्र रसात्मकत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वाद्रसस्य च तादृविधत्वाद्धर्मिग्राहकमानेनोभयरूपत्वम्, न तु कस्यचिदारोपितत्वमिति निर्णयः, तथा प्रकृतेपि रसात्मकत्वेन दासरसानुभवार्थमाविर्भावात्तद्रसस्यैव तथाविधत्वादुभयरूपत्वम्, न तु किञ्चिदारोपितम्, अतो यथार्थवादित्वेनासत्याचद्वाक्यमखिलप्रमाणमूर्धन्यमिति तदनुग्रहभाजनैरवगन्तव्यम् । एवमेवाग्निकुमारचरणेष्वपि भगवत्त्व 'यावन्ती पदपद्मानी'त्यादिपूक्तं तद्दासीत्वमित्यादिकं यद्यद्रसानुभवे यद्यदुक्तं तत्तत्सर्वमनारोपि तमेवेति ज्ञेयम् । एतेन विरुद्धधर्माश्रयत्वकथनेन भक्तेष्व स्वस्य भगवत्त्वमेव सूचितं भवति, मानुषभावस्वीकारादनधिकारिणा परं न तथा प्रतीतिरिति विभावनीयम् । पूर्वप्रणिपातादिकरणेपि 'न पारयेह'मित्यादिवाक्यै भक्तप्रकारक दासत्वं न सम्पन्नम्, अत एवमाविर्भूय ग्रन्थद्वयोक्तप्रकारेण स्वामिनीदासरसत्वमनुभूतवानिति भाव ॥ २२ ॥

स्वीयेषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभि । वदनानलदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णतामगात् ॥१॥

इति श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृता संन्यासनिर्णयस्य
विवृतिः सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवृतिसमेतः ।

निबन्धे 'त्रिदण्डं परिगृह्णीत सर्वशास्त्राविरोधि तत्' इत्यादिवचनैरुपेत्यात्र त्रिदण्ड-
विषयकेष्टसाधनताभ्रमाद्भ्रमवशेन पुष्टिमार्गीयोपि तुरीयाश्रमत्वेन त्रिदण्डं गृह्णन् पश्चात्ता-
पमाप्नुयाद्, अतस्तदनुदयाय पुष्टिमार्गसंन्यासस्य विचारमारभन्ते ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

कलिकालजन्यदोषाक्रान्तत्वात् कर्ममार्गीयस्य विलम्बेन फलजनकत्वात् ज्ञानमार्गीयस्य
च परित्यागस्य सदोषत्वमुद्भाव्य पुष्टिमार्गीयपरित्यागस्य किं प्रयोजनं, कोत्र गुरुः, किं वा
साधनं, का च परित्यागिनो व्यवस्थितिरित्यादिविचारः क्रियते इत्यर्थः । तथा चैवं विचारेण
परित्यागे निर्णीते सत्यन्यत्र प्रवृत्त्यनुदयात् पश्चात्तापानुदय इति भावः । स इति । यस्य
विचारः क्रियते स परित्यागो भक्तौ भक्तिमार्गे ज्ञाने ज्ञानमार्गे च कर्तव्यत्वेन प्रोक्त
इत्यर्थः । विशेषत इति । मार्गद्वितयप्रोक्तोप्यपि ज्ञानमार्गे विशेषत उक्त इत्यर्थः ।
तथा च वेदस्मृतिपुराणेतिहासेषु सर्वत्र प्रसिद्धत्वाद्विशेषेणोक्तः, भक्तिमार्गे तु भगवदनुग्र-
हैकलभ्यभजनानन्दानुभवयोग्यतासम्पादकविरहानुभवार्थं भगवत्कृतवरणरूपस्तद्रसिकेष्वेव प्र-
सिद्धत्वाद्विशेषेण नोक्त इति भावः ॥ १ ॥

ननु मार्गद्वितयप्रोक्त एव विचार्यते, न तु कर्ममार्गीयः, तथा च तस्याविचारे को
हेतुरित्यत आहुः ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

वस्तुतो ज्ञानमार्गेपि न कर्तव्य एव, अनन्तजन्मभिः सिद्धिसम्भवात्, परन्तु ज्ञानमार्गे
दैवात् ज्ञानसिद्धौ पाक्षिक्यपि सिद्धिः, अतः कर्तव्योपि, कर्ममार्गे तु न कर्तव्य एवे-
त्याशयेन सुतरामित्युक्तमिति बोध्यम् । तत्र हेतुः कलिकालत इति । कर्ममार्गस्य देश-
कालद्रव्यकर्तृमन्त्रादिसापेक्षत्वात् कलौ तु देशादीनामशुद्धत्वात् कर्ममार्गीययावत्पदार्थसिद्धिः
कालत्रयेपि बाधितेत्याशयः । तथा च कलिकालजन्यदोषाक्रान्तत्वेनाकर्तव्यत्वात्तद्विचारोपि
न क्रियते इति भावः । अत इति । सत्वरासन्दिग्धफलजनको निर्दोषोऽवश्यकर्तव्यश्च,
अतो हेतोः ज्ञानमार्गीयपरित्यागविचारात् प्रथमं भक्तिमार्गीयो विचार्यते इत्यर्थः ॥ २ ॥

तत्र प्रथमं परित्यागप्रयोजनं विचारयन्तः प्रयोजनानन्तरमाशङ्क्य दूषयन्ति ।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

प्रेमजनकश्रवणादीनां गार्हस्थ्ये व्यासङ्गान्तरेण सम्यगसिद्धेः, प्रकर्षेण सिद्ध्यर्थं परित्यागः कर्तव्य इति पक्षो नेष्ट इत्यर्थः । अनिष्टत्वे हेतुमाहुः । श्रवणे सहायाः श्रवणकारयितारः तत्सङ्गसाध्यत्वात् श्रवणस्येत्यर्थः । तथा च परित्यागे सर्वसङ्गराहित्येन स्थितिरपेक्षितेति भावः । ननु मास्तु श्रवणार्थं, कीर्तनस्मरणादिनिमित्तपरित्यागे को दोष इत्यत आहुः साधनानामिति । कीर्तनस्मरणादिसाधनानां वाङ्मनसादीनां प्रेमाभावात् स्वतोऽप्रवर्तमानानां प्रयत्नेन कीर्तनस्मरणादिषु रक्षणात् स्थापनात् प्रवर्तनादिति यावत् । तथा च स्वतः प्रवृत्तिरहितानीन्द्रियाणि बलेन प्रवर्तनाद्विक्षेपमासादयन्तीति भावः । एवं पादसेवनादिषु सर्वेन्द्रियप्रवृत्तौ स्वयमूह्यम् । दार्ढ्यार्थं हेत्वन्तराण्याहुः अभिमानादिति । मया सर्वं परित्यक्तं, मत्समः कोपि नास्तीत्येवमादिरूपाद् गर्वादित्यर्थः । तथा चैवं गर्वे सति सर्वेषामुद्वेगजननात् ऐहिको वेदस्मृत्यादिनिन्दनात् पारलौकिकश्चोपद्रव इति भावः । नन्वभिमानत्यागे को दोषोत आहुः नियोगादिति । ईश्वराज्ञालक्षणाद्वेदादेरित्यर्थः । तथा च वेदादिप्रसिद्धयतिधर्मानुष्ठाने सति अनुष्ठानरूपव्यासङ्गात् श्रवणस्य सम्यगसिद्धिः, तदनुष्ठानाभावे त्वारूढपतित एव स्यादिति नियोगादुपद्रव इत्यर्थः । ननु 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते' इति वाक्याद्भगवदीयैकसङ्गः सन् श्रवणादीनि कुर्वाणः सत्सङ्गवशात् शनैः शनैः स्वतः प्रवर्तमानेन्द्रियो गर्वमप्यकुर्वन् उक्तवाक्याद्यतिधर्मानपि नानुतिष्ठन् सत्सङ्गातिरिक्तं सर्वं परित्यजेत्तदा को दोष इत्याशङ्क्याहुः तद्धर्मैरिति । पुष्टिमार्गीयपरित्यागधर्मैरित्यर्थः । तथा च पुष्टिमार्गीयरसिकानुभवैकसाक्षिकभगवद्दूरणरूपपरित्यागे भावनासिद्धभावातिरिक्तयावत्साधनानामनभिमतत्वात् भावपोषकविरहानुभवातिरिक्तयावत्पदार्थस्य व्यासङ्गान्तरजनकत्वेन तत्तदनुभवसाक्षिकभावरूपैः प्रकृतपरित्यागधर्मैः विरोधात् परित्यागकारणीभूतप्रेमजनकश्रवणादिसिद्ध्यर्थं कर्तव्यो नेत्याशयः । तथा च विचारसारब्धत्वात् प्रकृतप्रयोजनकातिरिक्तपरित्यागकथनम्, वस्तुतस्तु विरहानुभवातिरिक्तप्रयोजनकः परित्यागः पुष्टिमार्गीयभक्तानां बुद्धिस्थोपि न प्रभवति, कुतोस्य कर्तव्यतेति ध्येयम् । ननु भावविरोधित्वान्मास्तु श्रवणाद्यर्थं, परन्तु पुष्टिमार्गीयभक्तोपदिष्टप्रकारेण साध्यमाने भावलक्षणे नरूपानन्दस्य साधने प्रतिबन्धकीभूतभार्यादेस्त्यागे को दोष इत्याशङ्क्याहुः गृहादेरिति । सा-

धनार्थं साधनं भावस्तत्सिद्ध्यर्थं यदि चेत्तया परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । तया च प्रतिबन्धक-निवृत्तिरवश्यं सम्पादनीयेति गृहादेर्भावोत्पत्तौ प्रतिबन्धकत्वेन चेत् परित्यागो भावरूपसाधन-सिद्ध्यर्थमिति भावः । दोषमाहुः अग्रेपीति । तादृशीर्भावसिद्धौ प्रतिबन्धकैरेवेत्यर्थः । तया च कृतेपि भेषजे न क्षान्तो व्याधिरिति न्यायापात इति भावः । नान्यथेति । ये अन्यथा अतादृशा अबाधकाः साधका इति यावत्तः सङ्गो न भवतीत्यर्थः । तथोक्तं निबन्धे विवृतौ 'सन्ति मद्भावं प्रासा नत्वेतादृशा भक्ता' इति । यद्यपि 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति निबन्धे प्रोक्तं, तथापि स परि-त्यागः पूजानिर्वाहजनकत्वेनोक्तः, न त्वेतद्देहावसान एव भजनानन्दरूपफलार्थमिति पूजानि-र्वाहको भिन्नः, अयं च भिन्न इत्यनुसन्धेयम् । तया च पूजानिर्वाहके तु सहायसङ्गेत्यादिनो-क्तमेव दूषणमित्यपि ध्येयम् । तर्हि प्रकृतगृहादिपरित्यागस्य का गतिरिति चेत्, न । प्रकृते तु गृह एव तिष्ठन्नविरतमेव तन्मार्गीयोपदिष्टप्रकारेण भावनां कुर्वाणः सिद्धभावलक्षणसाधनः सन् गृहादि सर्वं परित्यजति विरहानुभवार्थं, न तु साधनसिद्ध्यर्थमिति सर्वमवदातम् । ननु बाधकं गृहादि परित्यज्य सर्वसङ्गरहितः सन् भावनया भावलक्षणं साधनं साधयेचदा को दोष इति अत आहुः स्वयं चेति । आहारादिविषयाप्राप्त्या क्लिष्टः सन् तदेव ध्यायन् विषयाक्रान्तः स्यात् । ततो मनसेन्द्रियाणि स्मरन् मिथ्याचारपदवाच्यः पाषण्डी तु भवेत्, तथा च भावरूपेष्टसिद्धिस्तु दूरे, प्रत्युतानिष्टसिद्धिरिति भावः । नन्विन्द्रियनिग्रहे सर्वमुपपद्यत इत्यत आहुः कालत इति । कलाविन्द्रियनिग्रहस्य दुःसाध्यत्वादित्यर्थः । विषयाक्रान्तत्वे पाषण्डि-त्वम्, एकमनिष्टमुक्त्वा द्वितीयं प्रबलदनिष्टमाहुः विषयाक्रान्तेति । देहो लिङ्गशरीरं तस्य मोक्षपर्यन्तमनवरतमुपचीयमानत्वाद्देहपदेनोक्तिः, एवञ्च लिङ्गशरीराध्यक्षत्वेन (अध्यस्तत्वेन) तदभेदं मन्यमान आत्मैव (देह) पदेनोच्यते, तथा च विषयाक्रान्तात्मनां भगवदावेशः कदापि न भवतीत्यर्थः । इत्थं च यदर्थं सर्वोप्युद्यमस्तस्यैवासिद्धेर्महदेवानिष्टमित्यर्थः । उप-संहरन्ति अतोत्रेति । यत उक्तदूषणानि अतो भक्तौ श्रवणादिसिद्ध्यर्थं अत्र साधने अनन्यभावलक्षणसाधनसिद्ध्यर्थं च परित्यागो नैव सुखावह इत्यर्थः ॥ ३–६ ॥

एवं प्रयोजनान्तरेण प्रयोजनान्तरकृतपरित्यागे च दूषणमुक्त्वा प्रकृतप्रयोजनमाहुः ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥
विकलत्वं तथाऽस्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥
तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥
भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥
दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३½ ॥

निरोधलक्षणे 'हरिमूर्तिः सदा ध्येया सङ्कल्पादपि तत्र ही'त्याद्युक्तप्रकारेणान्तररमणान्त-पातिसयोगविशेषानुभवेनोत्पन्नस्योत्कण्ठाविशेषस्य विषयीभूतानां भगवत्स्वरूपनिष्ठतत्तत्पदार्थानामनवाप्तेर्भवति हि विरहस्तदनुभवाय परित्यागः प्रशस्त इत्यर्थः । प्रयोजनमुक्त्वा प्रकारमाहुः । अत्रास्मिन् परित्यागे वेदादिषु प्रसिद्धः स वेशो बन्धुजनकृतबन्धनाशनिमित्तत्वेनैव स्वीकार्यः, न तु संस्कारत्वेनेत्यर्थः । काषायदण्डादिधारण तत्प्रयोजन चोक्त्वा गुरुमाहुः । भगवदर्थमेव सर्वविषयत्यजनात् कौण्डिन्यो गुरुः, गोपिकास्तु सर्वप्रकारेषु गुरव इत्याशयः । गुरुमुक्त्वा साधनमाहुः साधनं चेति, । तत् पुष्टिमार्गीयरसिकेषु प्रसिद्धमित्यर्थः । किं तदत आहुः भाव इति । ननु भावे किं साधनमित्याकांक्षायामाहुः भावनयेति । भावे भावनैव साधनम्, अन्यत् साधनान्तर तद्रसिकसम्मत नेत्यर्थः । तथा च ज्ञानमार्गीयपरित्यागे श्रवणमननादिभिरुत्पन्न ज्ञान मोक्षे साधनं, तथा भावनया सिद्धो भाव. स्वरूपानन्दे साधनमिति भावः । साधनमुक्त्वेदानीमस्य ज्ञानिसदृशी दशान्यादृशी वेत्यत आहुः । विकलत्वमात्माद्यनुसन्धानराहित्यम् । अस्वास्थ्यमभिलषितार्थानवाप्तेर्यावद्विषयनिर्वेदादनिवृत्तिरिति यावत् । तथा च सङ्कल्पप्रतिभाते भगवति जातासु चक्षूरागचित्तासङ्गसङ्कल्पनिद्राच्छेदतनुताविषयनिवृत्तित्रपानाशोन्मादमूर्छान्तासु नवस्ववस्थासु विषयनिवृत्तिपर्यन्तानामस्वास्थ्यपदेन त्रपानाशोन्मादमूर्छानां विकलत्ववगिरनेनोक्तिरिति ध्येयम् । एव च अस्वास्थ्य विकलत्व च भावनासिद्धभाववतः प्रकृतिः स्वभावः स्वाभाविकमिति यावत् । हि निश्चयेन प्राकृत न, प्राकृता. सत्वरजस्तमोगुणास्तत्सम्बन्धि न भवतीत्यर्थ. । ननु गुणजन्यज्ञानेनापि जडोन्मत्तसदृशव्यवस्थाजननात् भवति विकलत्वं, तथा तमोगुणजन्यप्रमादमोहाज्ञानैरपि तज्जायते । एव रजोगुणजन्यलौकिकविषयलोभे सति लौकिकविषयानवाप्तेरपि स्यादस्वास्थ्यम् । तथा चैतेपि विकलत्वास्वास्थ्ये प्राकृते एवेत्याशङ्क्याहु. ज्ञानमिति । एव वर्तमानस्य विकलत्वास्वास्थ्यसहितैतादृशभाववतो निर्गुणमपि ज्ञान बाधक, गुणा अपि बाधकाः, तथा च यद्यप्रतिबध्य निर्गुण ज्ञान स्यात्तदैकात्म्यस्फूर्त्यादयः, यदि च सत्वरजस्तमांसि स्युस्तदा सगुणज्ञानलौकिकविषयलोभप्रमादमोहाज्ञानैश्च प्रतिबन्धजननात् अय भाव एव नोत्पद्येतेत्यन्यथानुपपत्त्या ज्ञानस्य गुणानां चाभावनिश्चयाद्विकलत्वास्वास्थ्ययो. प्राकृतत्व दुर्वचमित्याशय. । न च गतिस्मितप्रेक्षणेत्यादिनिरूपितैकात्म्यस्फूर्तिरपि प्रतिबन्धिकास्त्विति वाच्यम् । तस्यास्तूत्तरसामयिकभावान्तरेण प्रतिबध्य-

स्यात् । यद्यपि पुष्टिमार्गीयैकात्म्यस्फूर्तिलक्षणं रसान्तःपाति निर्गुणं ज्ञानमप्रतिबध्यमप्रसिद्धमेव, तथापि 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृत'मिति भगवद्वाक्याद्भगवद्विषयकं भगवच्चरणारविन्दरूपाक्षरविषयकं च ज्ञानं सत्त्वगुणजन्यमपि ज्ञानं निर्गुणमेव, तच्चाप्रतिबध्यं सत् प्रतिबन्धकमिति बोध्यम्। एवं च निर्गुणं ज्ञानं प्रतिबन्धकं यत्र, तत्र गुणानां प्रतिबन्धकत्वे किं वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायप्रदर्शनपूर्वकं गुणानां प्रतिबन्धकत्वाय ज्ञानमित्युक्तमिति विभावनीयम् । ननु रजस्तमसोरास्तां लौकिकविषयलोभादिजननेन प्रतिबन्धकता, सत्त्वस्य तु ज्ञानमात्रजननेन कथं प्रतिबन्धकतेत्याशङ्क्य तुरीयाश्रमविहितश्रवणादिना सत्त्वगुणोद्रेकात् जातस्य सगुणज्ञानस्य मोक्षरूपफलान्तरविषयकेच्छाजननपूर्वकं सत्यलोकलक्षणफलजननात् प्रतिबन्धकत्वमाहुः । विशेषितात् सहकृतादित्यर्थः । नन्वत्र ब्रह्मणा सह मोक्षोऽपि, ततोर्वाक् ब्रह्मलोकीयसुखानुभव इति फलद्वयजननेन पुष्टिमार्गादुत्कृष्ट इत्यत आहुः । यत्र भावे यथा भावना कारणं तत्र तथा फलमपि स्यात्, तथा च भावनया यथा भावो जन्यते, तथा भावेन स्वफलमपि जन्यत इत्यर्थः । एवं च भावनयास्मिन्नेव जन्मनि भावो जन्यते यथा, तथा भावेन भजनानन्दलक्षणं स्वफलमपि झटित्येतद्देहावसानाव्यवहितोत्तरक्षण एव जन्यत इति भावः । एवं भावस्योत्कर्षमुक्त्वा ज्ञानस्यापकर्षमाहुः तादृशा इति । अप्राप्तमोक्षा एवेत्यर्थः । इत्थं चानेकजन्मक्रियमाणयोगाभ्यासादिभिर्ज्ञानं विलम्बेन जन्यते यथा, तथा ज्ञानमपि ब्रह्मस्थितिपर्यन्तं ब्रह्मलोके स्थापयित्वा ब्रह्मणा सह मोक्षजननाद्विलम्बेनैव स्वफलमपि जनयतीत्येवमादिरूपाद्भावात् भावसाधनात् भावफलाच्च स्फुटतर एव ज्ञाने ज्ञानसाधने ज्ञानफले चापकर्ष इति भावः । नन्वास्तां तावत् भावस्त्वरया फलजनकः, परन्तु यदुक्तं स्वसाधनीभूतभावनातः सत्वरमुत्पन्नत्वात् स्वफलमपि सत्वरमेव जनयति भावस्तन्न साधु । नहि वर्षशतेन पुष्टो दृढदण्डो घटजननेऽचिरयति, नवा सत्वरमुत्पन्नं कपालं सति प्रतिबन्धे सज्जीभवति घटमुत्पादयितुम्, तथा च को हेतुर्भावस्य सत्वरफलोत्पादन इत्याशङ्क्य आहुः । यथा दारुण्यभिभूतो वह्निर्मथनेनोद्भूतः सन्नन्तःप्रविष्टः सर्वं भस्मसात्करोति तथाविर्भूतो भगवान् सर्वमप्यविद्यारूपं बन्धं नाशयतीत्यर्थः । तथा च व्यापकत्वात् सर्वत्रैव भगवानस्ति, यदा तु भक्त्या अन्तःकरणे प्रकटीभूयान्तःकरणे प्रकटो भवति, न कदाचित्तिरोधत्ते इति यावत्, तदा झटित्यविद्यानाशात् स्वरूपानन्दानुभव इति भावः । न चेति ज्ञानमार्गीयप्रकारेण नैवमित्यर्थः । ज्ञाने तु स्वापप्रबोधवदुदयानुदयाभ्यां चिरेण ब्रह्मणा सह मुक्तिरिति भावः । नन्वविद्यावद्धस्य जीवनं सम्भवति, नत्वबद्धस्य । तथा च बन्धे नष्टे किं प्रयोजनं जीवनस्य, किं वा जीवनसाधनमिति आशङ्क्याहुः । तुशब्दात् कारणान्तरव्यावृत्तिः । भगवद्गुणा एव जीवनं सम्पादयन्ति । हि निश्चितोयमर्थ इत्यर्थः । ननु गुणाः किमर्थं जीवयन्तीत्यत आहुः सङ्गेति । सङ्गराहित्याद्विरहात् प्रयोजनीभूतादित्यर्थः । तथा च भजनानन्दानुभवयोग्यतासम्पादकविरहानुभवसिद्धिनिमित्तं गुणा एव जीवनार्थं भवन्तीत्याशयः । ननु सर्वसमर्थो भगवान् यथा गुणैर्जीवयति, तथा संयोगेनैव कुतो न जीवयति, यतः किञ्चित् स्वास्थ्यमपि

स्यादित्याशङ्क्याहुः **भगवानिति** । यदि संयोगं सम्पादयेत्तदा भजनानन्दानुभवयोग्यताजनकविरहनाशजननेनास्वाप्यापगमात्, स्वयमेव प्रतिबन्धकः स्यात्, तथा च फलरूपस्य स्वस्य स्वप्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वं नोचितमित्यर्थः । नन्वतिक्लेशात् कदाचिद्धैर्येणास्य मनसि फलप्राप्तिसन्देहोदयजन्यमस्वास्थ्यं स्यात्तन्निवृत्त्यर्थं सन्देहनिवारकं वचनं वक्तव्यम्, यथा ब्रह्मानन्ददानार्थं यतमानं नारदं प्रति 'गन्ता भजनतामसी'त्युक्तवांस्तथेत्याशङ्क्याहुः **स्वास्थ्येति** । कर्तुमेव योग्यं न भवति यतोऽयं दयालुरनुग्रहकर्ता यतश्च स्वयं न निरुध्यते । निरोधी नातो हेतोः, तथा च स्वेच्छयानुगृह्य दुर्लभपरित्यागपर्यन्तं सर्वं सम्पादितवान्, अतो दयालुर्यतश्च स्वप्रापकभावोत्पत्तौ प्रतिबन्धकं न कृतवानतोऽविरोधी, इत्थं चाविरुद्धानुग्राहको भगवांस्तथैव मनः प्रेरयति यथा न सन्देहोदयः, न च तज्जन्यमस्वास्थ्यमिति तादृशवाक्यं प्रयोजनाभावान्न कर्तुमुचितमिति भावः । इदानीं प्रकृतपरित्यागाधिकारं वदन्त उपसंहरन्ति **दुर्लभोयमिति** । ज्ञानमार्गीयवैराग्यमिवात्र व्यसनरूपं प्रेम साधकम् । तथा च प्रेमवानधिकारीत्यर्थः । नेति । प्रेमाभावेऽयं परित्यागः सिध्यत्येव नेत्यर्थः । दुर्लभो भगवदनुग्रहैकसाध्यत्वाद्दुष्प्राप इत्यर्थः ॥ ७–१३½ ॥

इत्थं प्रकृतमुपसंहृत्य ज्ञानमार्गीयसंन्यासे किञ्चिदाहुः ।

> **ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥**
> **ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।**
> **ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥**
> **अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।**
> **पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥**
> **सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ॥ १६½ ॥**

विचारित इत्यविचारेपि सिद्धवन्निर्देशाद्वस्तुतोत्र न किञ्चिद्विचार्यमस्तीत्यर्थः । तथाहि, विद्वत्संन्यासस्य प्रकृतपरित्यागविचार एव प्रसङ्गाद्व्यवस्थोक्तैव सत्यलोक इत्यादिना । परमवशिष्यते विविदिषासन्यासः, तस्य तूच्यत एवेति न किञ्चिदपि विचार्यमस्तीत्याशयः । अवशिष्टव्यवस्थामाहुः **ज्ञानार्थमिति** । उत्तरस्य स्वजन्यज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमुत्पत्स्यमानस्य मोक्षस्य अङ्गपरम्परया प्रयोजकः, न तु साक्षाज्जनकः, तथा चैतादृशपरित्यागो ज्ञानोत्पत्त्यर्थं चेत्क्रियेतेत्याशयः । दोषमाहुः **सिद्धिरिति** । परन्तु तत्फलमनेकैर्जन्मभिर्भवतीत्यर्थः । ननु सत्वरमेव कुतो न भवतीत्यत आहुः **ज्ञानं चेति** । यज्ञा आदिर्यस्येदृशश्रवणाद्भवति, यतः साधनापेक्षं **मतं** कारणसापेक्षं स्वीकृत सर्वैरित्यर्थः । तथा च यतेर्मानसमखानामावश्यकत्वात् कृतिपूर्वकमेव श्रवणमुचितम् । इत्थं च मानसमखश्रवणयोस्तत्तदिन्द्रियनिग्रहाधीनत्वात् निग्रहस्य सुतरामशक्यत्वाच्चानेकैरपि जन्मभिः सिद्धिर्दूरतरा ज्ञानस्येति भावः । उक्तं च निबन्धे 'तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात् परमात्मनः । विद्यां प्राप्नोत्युरुक्लेशः क्वचित् सत्ययुगे पुमा'निति ध्येयम् । इममेवार्थमाहुः **अत इति** । सत्ययुगे कदाचिदपि सिद्धिः, कलौ तु पश्चात्तापातिरिक्तं

किमपि फलं न भवतीत्याशयः । नेति । अस्मिन्नर्थे न काचिद्विप्रतिपत्तिरित्यर्थः । एवमनेष्टसिद्ध्यभावमात्रं न, किन्त्वनिष्टसिद्धिरपि भवतीत्याहुः पाषण्डित्वमिति । यथोक्ताश्रमधर्माणामनाचरणाद्वेदमार्गाच्युतेः पाषण्डित्वं, चकारान्नरकोपि स्यादित्यर्थः । उपसंहरन्ति तस्मादिति । ज्ञाने ज्ञानमार्गे संन्यासो न कर्तव्य इत्यर्थः । इत्थमकर्तव्यत्वसाम्यादुपस्थितज्ञानमार्गीयसंन्यासस्य स्थूणानिखननन्यायेन पुनरकर्तव्यतामाहुः सुतरामिति । कलिदोषप्राबल्यात् सुतरां न कर्तव्य इति स्थितं, प्रथममेवोक्तमभून्मयेत्याशयः । तथा चोभावपि न कर्तव्यौ, समानदोषत्वादिति भावः ॥ १४–१६३ ॥

एवं मार्गान्तरीययोः सदोषत्वमुक्त्वा प्रकृतस्य सयुक्तिकं निर्दोषत्वमाहुः ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥
ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥
तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तिमार्गे परित्यागकृतौ यदि दोषसम्भावना तदा किं कर्तव्यमित्यर्थः । तथा च परित्यागः कर्तव्यो न कर्तव्यो वेत्याशङ्कायां समाधानमुच्यत इत्यर्थः । समाधानं वदन्तः प्रथमं प्रवृत्तिप्रतिबन्धकविघ्नरूपं दोषमाशङ्क्य तदभावमाहुः । अत्रास्मिन् परित्यागे आरम्भे प्रवृत्तौ नाशो विघ्नो न भवेदित्यर्थः । ननु मास्तु प्रवृत्तौ प्रतिबन्धकस्तदभावस्यानुभविकत्वात् परन्तु फले प्रतिबन्धकान्तरानुमाने को दोष इत्यत आहुः दृष्टान्तेति । अनुमानस्य दृष्टान्तसापेक्षत्वात्तदभावादनुमातुं न शक्यत इत्यर्थः । अपिशब्दात् सद्धेतोरप्यभावान्नानुमानमित्याशयः । ननु लौकिकविषयानुरागात् स्वर्गाद्यक्षरानन्दतामुष्मिकफलाभिलाषाश्चास्वास्थ्यनाशेन फलप्रतिबन्धलक्षणो दोषः प्रकृतपरित्यागेपीत्याशङ्क्याहुः स्वास्थ्येति । स्वास्थ्यहेतोरस्वास्थ्यनाशकस्येत्यर्थः । तथा च भजनानन्दातिरिक्तयावदभिलाषविषयाणां प्रथममेव तुच्छीकृत्य परित्यक्तत्वात्तदभिलाषाभावेन फलप्रतिबन्धः केन स्यात्, न केनापीत्यर्थः । ननु कालादयश्चेत्प्रतिबन्धकाः स्युरत आहुः हरिरिति । अपरे कालादय इत्यर्थः । पूर्वपक्षिणं मनसिकृत्याहुः अन्यथेति । प्रश्ने चासन्नकाल इति सूत्रेणासन्नकालिक्यां क्रियायां पृच्छमानायां पुपुषुरिति लिट् । अन्यथा बाधां करोति भगवानिति, यदि त्वं निश्चितोसि तदाहं पृच्छामि, कच्चिदद्य प्रातः सङ्गवे वा मातरो बालान् स्तन्यैर्न पुपुषुः किमित्यर्थः । तथा चैतावत्कालं तु मातरोर्भकपोषणपरा एव सर्वसंमतास्त्वया त्वद्य किमपुष्णन्त्यो दृष्टा इतीदृशः प्रश्नः पुपुषुरित्यस्य वाच्यः । इत्थं च

यद्यसम्भावितमर्भकपोषाभावमद्राक्षीत्तदा भगवत्कृतबाधामपि मनस्यानयेः । एवं चोभयमपि शशविषाणायमानमिति भावः । ननु दैवात् मिलिता ज्ञानिनः स्वानुभवज्ञापनपूर्वकं स्वमार्गोपदेशं कुर्युस्तदा का गतिरत आहुः । यद्वा, ननु भगवान् स्वयं प्रतिबन्धं न जनयति, परन्तु सर्वमोहिका माया नेन्मोहमुत्पाद्य मार्गान्तररुचिलक्षणं प्रतिबन्धं जनयेदित्याशंक्याहुः । **ज्ञानिनामपीति** च वाक्यं चेति कर्मधारयः । तथा च 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छती'ति वाक्येनेत्यर्थः । एवं चास्मिन् वाक्ये ज्ञानिनामित्युक्तम्, ननु भक्तानामपीत्यतो ज्ञानिमोहजनन एवास्या शक्तिर्न तु भक्तमोहजनन इत्याशयः । **मोहेति** । अतीतवर्तमानमोहयोरभावस्त्वेतन्मार्गान्यथानुपपत्त्यैव निश्चितः, परमवशिष्यते सन्दिग्धसम्भवो भविष्यमाणः स तु पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इति न मोहयिष्यतीत्यनेन परिह्रियत इति ध्येयम् । ननु भगवदिच्छाया दुरूहतरत्वाद्भगवतः स्वतन्त्रत्वात् कदाचित्स्वयमपि मोहयेदत आहुः **आत्मप्रद** इति । लुब्धो द्वेष्टा वाऽभविष्यद्मोहयिष्यद्भगवांस्तु जीवकृतिसाध्यसाधननिरपेक्षः सन् स्वात्मानमपि प्रकर्षेण ददद्दद्दुदारः, तथा द्वेष्टापि न भवति, उदासीनोपि न भवति, अपि तु प्रियः, तथा च प्रयोजनयोः लोभद्वेषयोरभावान्नैव **मोहयिष्यतीत्यर्थः** । अत्रापि अतीतवर्तमानमोहयोरभावस्तु वरणान्यथानुपपत्त्यैव निश्चितः,अवशिष्टस्तु सूच्यत एवेति ध्येयम् । एवं प्रकृतपरित्यागे दोषाभावमुपपाद्य प्रवृत्तिं विदधति । **यस्मात्सर्वथा** निर्दोषस्तस्मादुक्तप्रकारेण 'स्त्रीयवन्धनिवृत्त्यर्थं वेश' इत्याद्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः । स्वार्थाद्विरहानुभवलक्षणस्वप्रयोजनात् रहितो भवतीत्यर्थः । किमत्र प्रमाणमत आहुः **इति मे** इति । निश्चिता साक्षात्कृतविषया मतिरेव प्रमाणमित्याशयः ॥ १७–२१ ॥

नन्वयं परित्यागः किं तुरीयाश्रमः, किं वा भक्तिमार्गीयः साधनविशेष इति सन्दिहानं प्रत्याहुः ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इति समाप्तोयं ग्रन्थ इत्यर्थः । भगवत्प्रसन्नतया हेतुभूतया साक्षात्कृतमित्यर्थः । भक्तौ भक्तिमार्गे **संन्यासवरणं** परित्यागलक्षणो भगवदङ्गीकारः । तथा च नायं तुरीयाश्रमः, न वा भक्तिमार्गीयः स्वकृतिसाध्यः साधनविशेषः, किन्तु भगवत्कृतो जीवस्याङ्गीकाररूपोयं परित्याग इत्याशयः । **अन्यथा**ङ्गीकाराभावे **पतितो**ऽस्मान्मार्गात् च्युतो भवेत् । तथा चैतन्मार्गाच्च्युतिः पातित्यमेवेति पतितपदप्रयोग इति बोध्यम् । इत्थं च भगवानेव स्वभिन्नयावल्लौकिकालौकिकविषयेभ्योन्तःकरणं निरुध्य यदि स्वस्मिन् व्यसनं सम्पादयेत्तदायं परित्यागो भजनानन्दानुभवयोग्यतासम्पादकविरहानुभवार्थं कर्तव्यः, नो चेत्तनुवित्तजैव सेवा कर्तव्येति श्रीमदाचार्यचरणानामाशयोऽनिशमनुसन्धेयः । तथा चोक्तं विद्वन्मण्डने श्रीमत्प्रभुचरणैः 'तस्याङ्गीकारो मर्यादैव हितकारिणी'ति ॥

चाचाश्रीगोपेशकृता संन्यासनिर्णयविवृतिः सम्पूर्णा ॥

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतं-पञ्चदश-

निरोधलक्षणम्

षड्भिष्टीकाभिस्समलंकृतम्

१. चाचा श्रीगोपेशानाम् ४. श्रीवल्लभानाम्

२. काका श्रीवल्लभानाम् ५. श्रीपुरुषोत्तमानाम्

३. श्रीहरिरायाणाम् ६. श्रीव्रजराजानाम्

परिशिष्टत्रयोपेतम्

१ श्रीहरिरायाणां प्रथमा असम्पूर्णा टीका

२. श्रीलालूभट्टकृत-निर्णयार्णवान्तर्गत-
एतद्ग्रन्थसंशयनिरास.

३. श्रीलालूभट्टकृत—निरोधस्वरूपनिरूपणम्-
दशमसुबो. योजनान्तर्गतम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-नित्यलीला-स्थित-गोस्वामिश्री-
१००८- श्रीपुरुषोत्तमलालजी-महाराजश्री-त्रैतैया-स्मृती-
सदात्मजैः-गोस्वामिश्री-१०००श्रीगोपाललाल-महाराजै
प्रकाशितम्

वि. सं. २०३७ श्रीवल्लभाब्द : ५०३

प्रकाशक :
गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोपाललालजी महाराज
श्रीमहाप्रभुजीका बड़ा मन्दिर, पाटनपोल, कोटा,
राजस्थान, ३२४००६, भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति
राज संस्करण १००० प्रति
श्रीवल्लभाब्द ५०३
ग्रंथ परिचय लेखक . गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :
स्टुडियो बहार, २३-ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी, बम्बई–४००००७

गोस्वामिश्री १००८ श्रीपुरुषोत्तमलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

निरोधलक्षण ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने गुजरातके आपके शिष्य राजा दवे और माधव दवे के लिए लिखा था. एक किंवदन्तीके अनुसार इसका रचनाकाल वि स. १५६६ है. [१]

चौरासी वैष्णवोकी वार्ताके अन्तर्गत इन दोनो भाईओकी कथा भावप्रकाशमे यो मिलती हैं :

"राजा दुबे – माधौ दुबे के माता–पिता मादे भये तब दोऊ बेटानसो कहें–'अब हमको या समे श्रीरनछोडजीके दरसन करावो तो बहोत आछो.' तब वे दोऊ डोली माड़े करि माता–पिताको बैठारि श्रीठाकुरजीको सग ले चले सो श्रीरनछोड़जीके दरसन माता–पिताको कराये. तब तहा कछुक दिनते श्रीआचार्यजी द्वारकामें हते .. तब राजा दुबे – माधौ दुबे लोगनसो पूछे–'इहा कछु कथावार्ता–भगवतचर्चा होत होई तो तहा जंये .. तब एकने कही–'श्रीवल्लभाचार्यजी पृथ्वी–परिक्रमा करि इहा पधारे है सो कथा बहोत आछी कहत है'. .तब दोऊ भाई प्रसन्न होई आगे आई बैठे. तब श्रीआचार्यजी नन्दमहोत्सवको वर्णन – श्रीभागवत दशमस्कन्धके पाचमे अध्यायको वर्णन किये सो नन्दालयकी लीलाको प्रकट अनुभव दोऊ भाईनको कराय दिये. .

.. श्रीआचार्यजीके पास बड़े सबेरे आई बिनती किये– 'महाराज ! हमकों सरनि लीजिये.' तब श्रीआचार्यजी दोऊ भाईनको फेरि न्हवाईके नाम सुनाये ब्रह्मसम्बन्ध कराये पाछे श्रीआचार्यजी कहे–'अब तुम भगवत्सेवा करो !'.. सो श्रीआचार्यजी श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराई राजा दुबे – माधौ दुबे के माथे पधराये ओर आज्ञा किये–'सब ठौरते मन छुटाई निरोध करि भगवत्सेवा करो.' तब राजादुबे–माधौदुबे बिनती करि जो–'महाराज! निरोधको स्वरूप कहा है?'...

या प्रकार दोऊ भाईनकी दीनता सरल स्वभाव देखिके दशमस्कन्ध जाको 'निरोध-स्कन्ध' कहे हैं ताको अर्थ 'निरोधलक्षण' ग्रन्थ करि दोऊ भाईनको पाठ करायके कहें–'तुम दोऊ भाईनको निरोध सिद्ध होईगो' सो तत्काल दोऊ भाईनको मन अलौकिक है गयो लीलारसको अनुभव होन लग्यो तब श्रीआचार्यजी कहे–'अब अपने घर जाय सेवा करो... दैवी जीव आवें तिनको नाम दीजो. तुमको निरोध सिद्ध भयो ओर जो तुम्हारो सग मन लगायके करेगो ताहूको निरोध सिद्ध होयगो'

---

१ वैष्णववाणी (अंक ४ वर्ष ७९) श्रीनागरदास शास्त्री लिखित लेख

सो अपने गाम मणुदमे आये. घरमे दोऊ माई भगवत्सेवा करना लागे. कछुक द्रव्य घरमे हतो तामें निर्वाह करें. काहूसो वहोत बोले नाही. जो आवे तापर दया करिके खानपानको समाधान करे. भगवद्वार्ता करि दोऊ माई श्रीठाकुरजीको लीलाके रसमे मगन रहते !"

भगवान्‌के भक्तोमे तथा भक्तोंके भगवान्‌मे तल्लीन हो जानेकी कथा भागवतके दशमस्कन्धमे निरोधलीलाके रूपमे वर्णित हुई है. भगवान्‌की इस निरोधलीलाके फलस्वरूप, यह वहा कहा गया है कि उन भक्तोंकी ऐसी स्थिति हो गई कि वे सोते-जागते, चलते वार्तालाप करते, क्रीडा या स्नान करते और भोजन करते हुए भी अपनी सारी सुध-बुध खोकर केवल श्रीकृष्णमे ही तल्लीन रहते थे– "शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानाशनादिषु न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णय कृष्णचेतसः" (भाग १०-९०-४६) यह निरोधका परिनिष्पन्न स्वरूप है.

योगका लक्षण हमारी केवल चित्तवृत्तियोका निरोध माना गया हैं–"योगश्चित्तवृत्तिनिरोध". केवल चित्तवृत्तिका निरोध किन्तु भक्तिमार्गमे अपर्याप्त माना गया है. पुष्टिभक्तिरूप निरोध श्रीकृष्णके संयोग एवम् वियोग को गहराईसे अनुभूत करना है. केवल चित्तवृत्ति ही नही अपितु देह–इन्द्रिय–प्राण–मन–बुद्धि–अहंकार–चित्त–आत्मा, तथा अन्य भी आत्मीय वस्तु और परिजनो का कृष्णभजनमें विनियोग या तत्पर हो जाना पुष्टिमार्गीय निरोध है

इस भक्तियोगके निरोधकी व्याख्या उसके (१) कारणलक्षण (२) स्वरूपलक्षण (३) कार्यलक्षण एवम्, (४) प्रयोजनलक्षण के आधार पर चार तरहसे दी जा सकती है

कारणलक्षण

भागवतके द्वितीयस्कन्धके दसवे अध्यायकी छठी कारिका–"निरोधोस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभि " में निरोधके कारणलक्षणका निरूपण हुआ है. श्रीमहाप्रभुने भी भागवतार्थ निबन्ध (१०।१४–१७) मे इसका विवेचन किया है. वहा यह समझाया गया है कि अपनी दुर्विभाव्य शक्तियोके साथ श्रीकृष्णका इस धरातलपर क्रीडार्थ प्रकट होना निरोध है. 'निरोध' के इस तरह के लक्षणमे 'निरोध' शब्दका रूढार्थ नही किन्तु यौगिकार्थ विवक्षित होता है नवमस्कन्धका वर्ण्य-विषय भक्ति और दशमस्कन्धका वर्ण्य-विषय निरोध माना गया है. इनके पूर्वापर होनेकी क्रमसंगति यह मानी गयी है कि नवमस्कन्धमे निदिष्ट भक्ति जिनमे प्रकट होती है ऐसे भक्तोका, उन्हें विमुक्त करनेके लिए भगवान्‌के द्वारा, जो रोध किया जाता है, उसे 'निरोध' कहते हैं क्योकि जो श्रीकृष्णके द्वारा निरुद्ध होते हैं वे संसारसे मुक्त हो जाते है. संसारावेश भक्तिको अशुद्ध बनाता है अत भक्तिकी शुद्धताके लिए श्रीकृष्णके द्वारा भक्तोका निरोध आवश्यक है

दशमस्कन्धमे वर्णित भगवान्‌की प्रत्येक लीलाकी चरम परिणति यही दिखलायी गयी है कि कैसे उन-उन लीलाओसे सम्बद्ध भक्त श्रीकृष्णके प्रति प्रबल आकर्षणके कारण प्रपञ्चको भूल कर श्रीकृष्णमे अनन्यतया आसक्त हो गये थे.

वात्सल्यभाववाले नन्द-यशोदाकी यही गति हुई सख्यभाववाले गोपबालकोकी यही गति हुई माधुर्यभाववाली गोपिकाओकी भी यही गति हुई. व्रजके तो पशु-पक्षी-वृक्ष-पर्वत-नदी पर्यन्तकी यही गति वर्णित हुई है. आगे चल कर मथुरालीला या द्वारकालीला से सम्बद्ध भक्तोकी भी प्रपञ्चविस्मृति और कृष्णासक्ति ही पूरे अवशिष्ट दशमस्कन्धका प्रमुख वर्णनीय विषय है

इस जगतमे भगवान्‌की जैसी लीलाके कारण भक्त, प्रपञ्चको भूलकर, भगवान्‌मे अनन्यतया आसक्त हो पाता हो वह भगवान्‌की लीला भक्तके भगवान्‌मे निरुद्ध होनेका कारण मानी जाती है. अत ऐसी भगवल्लीलाके निर्देश द्वारा निरोधकी व्याख्या, निरोधका कारण-लक्षण माना जाता है

भगवान्‌की मनोहारी लीलाओके द्वारा अवतारकालमे तो भक्तोका निरोध भागवतके दशमस्कन्धमे वर्णित हुआ है, किन्तु आधुनिक भक्तोंके निरोधकी सम्भावना कितनी हो सकती है? इस शकाका समाधान श्रीमहाप्रभुने भागवतार्थ-निबन्धके गुणप्रकरणमे किया है. वहा यह कहा गया है कि जैसे धर्मिरूपमे श्रीकृष्णके स्वयमेव प्रकट होनेपर भक्त उनमे निरुद्ध हो गये, इसी तरह भगवान्‌के गुण-धर्मोका निरन्तर श्रवण-स्मरण-कीर्तन करनेसे, आधुनिक भक्त भी भगवान्‌मे निरुद्ध हो सकते है अतएव दशमस्कन्धके अन्तमे छह अध्याय गुणप्रकरणके रूपमे योजित किये गये है

परमात्मा परमार्थत यदि निर्गुण निर्धर्मक निराकार निर्विशेष हो तो कृष्णावतारकी लीलाको मायाका कपटनाटक मानना पडेगा. इसी तरह परमात्माका मूलरूप श्रीकृष्ण न हो तो दशमस्कन्धमे वर्णित लीलाओकी आधिदैविक महत्ता खण्डित हो जायेगी अत परब्रह्म परमात्मा भगवान् स्वयम् सगुण-साकार श्रीकृष्ण हैं, यह दिखलानेके लिए अन्तिम गुणप्रकरणमे श्रीकृष्णके दिव्य अकुण्ठित एवम् पारमार्थिक, ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य रूप, छह गुणोका द्योतन छह अध्यायो द्वारा किया गया है (भा नि १०।४१८।-४२०)

अवतारकालमे अपने स्वरूपगत आकर्षणसे भगवान् भक्तोको अपनेमे निरुद्ध करते है. अनवतारकालमे स्वयम् भगवान्‌के प्रकट न होनेपर भी भगवद्गुणोका ऐसा माहात्म्य है कि गुणगानकर्ता भक्त भगवान्‌मे निरुद्ध हो ही जाते है अर्थात् भगवद्गुणोके सकीर्तन करनेसे भी प्रपञ्चकी विस्मृति और भगवदासक्ति सुलभ हो जाती है– "स्कन्धार्थस्तु" निरोधो हि तत्सत्नेनोपसहृति: अग्रेपि ये भविष्यन्ति कीर्तनात्तेपि तादृशा " (भा नि १०।८६६)

इससे सिद्ध होता है कि भगवल्लीलासे प्रत्यक्ष सम्बन्धकी तरह परोक्षमे उसका श्रवण-स्मरण-कीर्तन भी प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति रूप निरोधका कारण बनता है

भक्तिवर्धिनीमे अतएव दोनो कल्प दिखलाये गये है : सेवा और कथा, तथा केवल कथा. भागवतार्थ-निबन्धके तामसफल-प्रकरणके उपसहार (१०।११०—१११) मे यह कहा गया है कि "गुणगान-कथा परोक्षमे करनी चाहिये प्रत्यक्षमे भजन-सेवा श्रेष्ठ होती है इस

तरह वियोग एवम् सयोग की अनुभूतियोका चक्रकी तरह आवर्तन निरन्तर चलने लग जाये तो निरोधदशाकी सिद्धि मान लेनी चाहिये." अनवतारकालमे भगवत्सेवा पुष्टिमार्गमें भगवल्लीलाकी प्रत्यक्ष अनुभूतिकी तरह मान्य है. अतएव सेवाके अनवसरमें कथाका समाश्रयण आवश्यक हैं.

स्वरूपलक्षण

निरोधके कारण-लक्षणकी पहचानके बाद स्वरूपलक्षण सुबोध हो जाता है. प्रपञ्चको सर्वथा भूलकर भगवानमे ही अनन्यतया आसक्त हो जाना निरोधका स्वरूपलक्षण है "प्रपञ्च-विस्मृतिः तस्मात् कृष्णासक्तिश्च वर्ण्यते"

भागवतके नवम स्कधमे भक्तिका वर्णन अभिप्रेत है. ऐसी भक्तिवाले जीव प्रपञ्चको भूलकर अनन्यतया भगवान्में आसक्त किस तरह हो पाये, यह दिखलाना दशम स्कन्धमे अभिलषित है. तदनुसार षोडशग्रन्थमे भी, भक्तिवर्धिनीमें पहले भक्तिके विविध प्रकारोका वर्णन किया गया है, और बादमे निरोधलक्षण ग्रन्थमे ऐसी भक्तिवाले जीवोके लिए अनन्यतया भगवान्में निरुद्ध होनेके उपाय समझाये गये हैं एतदर्थं भक्तिवर्धिनीमे वर्णित भक्तोके पाचो प्रकारपर थोडासा दृष्टिपात उपयोगी होगा :

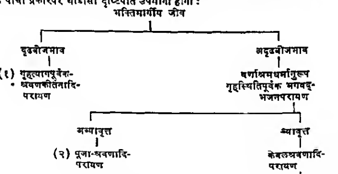

इस तालिकापर दृष्टिपात करनेके बाद यह समझ लेना भी आवश्यक है कि षोडश-ग्रन्थोंमें कौनसा ग्रन्थ किस अधिकारीके लिए मुख्यतया उपदेशार्ह है. इसके अन्तर्गत निरोध-लक्षण ग्रन्थके उपदेशार्थ अपेक्षित अधिकारीके ज्ञानसे इस ग्रन्थकी, अन्य भक्तिवर्धिनी आदि ग्रन्थोंसे, सगति तथा तात्पर्य का निर्धारण सरल हो जाता है :

ग्रन्थ	किस अधिकारीके लिए
१) यमुनाष्टक	भक्तिवर्धिन्युक्त पाचो के लिए
२) बालबोध	,, ,, ,,
३) सिद्धान्तमुक्तावली	,, ,, ,,
४) पुष्टिप्रवाहमर्यादा	,, ,, ,,
५) सिद्धान्तरहस्य	२ तथा ४ के लिए
६) नवरत्न	भक्तिवर्धिन्युक्त पांचोके लिए
७) अन्तःकरणप्रबोध	,, ,, ,, ,,
८) विवेकधैर्याश्रय	विशेषत ४ और ५, सामान्यतया सभीके लिए
९) कृष्णाश्रय	सभीके लिए
१०) चतुःश्लोकी	२ तथा ४ के लिए
११) भक्तिवर्धिनी	सभी के लिए
१२) जलभेद	,, ,, ,,
१३) पंचपद्यानि	,, ,, ,,
१४) सन्यासनिर्णय	१, ३ तथा ५ के लिए
१५) निरोधलक्षण	सभी के लिए
१६) सेवाफल	२ तथा ४ के लिए

इस तालिकापर भी दृष्टिपात कर लेनेसे अब निरोधलक्षण ग्रन्थकी सर्वविध अधिकारि-योंके लिए उपयोगिता मान्य करनेपर इसके तात्पर्यनिर्धारणमें क्लेश नहीं रह जाता है

जो भक्त अपने गार्हस्थ्यके साथ, राजाद्वुबे-माधोद्वुबेकी तरह, घरमें भगवान्‌की सेवा और कथा दोनोंको निभा पाते हों, उनके लिए गृहत्याग निरर्थक हो जाता है, क्योंकि पूर्वोक्त रीतिसे सेवा-कथाके सतत आवर्तनसे ही उन्हें प्रपञ्चकी विस्मृति और भगवान्‌में आसक्ति दृढ हो जाती है. यह मुख्य कल्प है.

स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभनेपर, परगृहमें उस गृहस्वामी भगवदीयके परिचारक बनकर उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें सहयोग देना अर्थात् परिचर्या करना, और जब वह भगवत्कथा करता हो तब श्रोताके रूपमें उसमें सम्मिलित होना, यह भगवदीय पड़ोसीके निकट रहनेवाले अजातव्यसन भक्तिमार्गीय जीवके लिए आवश्यक माना गया है निरोधकी सिद्धिके लिए यह भी एक गौणकल्प स्वीकारा गया है, गृहत्यागके विकल्परूपमें.

भक्तिवर्धिनीमें इन दोनो कल्पोको (अर्थात् स्वगृहमे भगवत्सेवा-कथा-मय जीवनयापन, अन्यथा ऐसे किसी भगवदीयके समीप पर बनाकर रहना और परिचर्यार्थ एवम् कथा-श्रवणार्थ उस भगवदीयका सग करना, यो दोनो कल्पोको) लक्ष्यमे रखकर-"सेवाया वा कथाया वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् यावज्जीव तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम" आश्वासनद्वारा श्रीमहाप्रभु निरोधसिद्धिकी बात ही समझा रहे हैं क्योकि निरोधके अभावमें-"हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्" इस निरोधलक्षण ग्रन्थके वचनके अनुसार भवसागरमे मग्न होना निश्चित माना गया है अत. परगृहमें भी भगवत्परिचर्या तथा भगवत्कथाश्रवण की प्रणालीसे निरोधकी सिद्धि स्वीकारनी ही पडती है

कार्यलक्षण

कारण और स्वरूपके विमर्शके बाद अब निरोधके कार्य अर्थात् इसके कारण पैदा होनेवाले प्रभावोका विचार आवश्यक हो जाता है

जो भक्त प्रपञ्चको विस्मृतिके साथ भगवान्में आसक्ति जोड पाता है, उसे भगवान्के सयोग एवम् वियोग की अनुभूति तीव्रतासे होने लगती है जैसा कि व्रजभक्तोके बारेमे वर्णन मिलता है- "गोपीना परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने क्षण युगशतमिव यासा येन विनाभवत्" (भा १०।१९।१६) भक्तिवर्धिनीमे इस अवस्थाको 'व्यसनदशा' कहा गया है निरोधका स्वरूप निष्पन्न होते ही निरोधका प्रभाव अर्थात् व्यसनदशा व्यक्त होने लग जाती है भगवत्सयोगमे परमानन्दकी अनुभूति और एक क्षण भी भगवद्-वियोग सह न पाना यह निरोधका कार्य माना गया है— 'भगवद्विरहसामयिक—परमदुःखकारणत्वे सति भगवत्सयोगसामयिकपरमानन्दसाधकत्व निरोधत्वम्" (निर्णयार्णव).

भगवदवतार-कालमे भगवत्सेवाका अवसर भगवत्सयोगानुभूति है तथा अनवसर वियोगानुभूति है अत कार्यलक्षण भी अवतारकाल और अनवतारकाल दोनो परिस्थितियोंमे उपपन्न हो जाता है

प्रयोजनलक्षण

भागवतम तथा भागवतार्थ-निबन्धमे भी निरोधका प्रयोजन मुक्ति एवम् आश्रयभावापत्ति स्वीकारा गया है- निरोधोस्यानुशयनमात्मन सह शक्तिभि मुक्तिर्हित्वान्यथारूप स्वरूपेण व्यवस्थिति, आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते स आश्रय पर ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते' (भा २।१०।६—७) इसी तरह भागवतार्थ निबन्धमे भी कहा गया है-"भक्ता पूर्वत्र निर्दिष्टा ते रोद्धव्या विमुक्तये, कृष्णे निरुद्धकरणात् भक्ता मुक्ता भवन्ति हि" (भा नि १०।१५—१६) और "हरिराश्रय इत्युक्तो मुक्तानामिति वर्णितम्' (भा. नि १२।१७)

षोडशग्रन्थकी निरूपणशैलीसे इसमे थोडासा यह अन्तर है कि यहा निरोधोत्तर दो अवस्था (१) मुक्ति और (२) आश्रयभावापत्ति स्वीकारी गई हैं षोडशग्रन्थमे जबकि निरोध-

लक्षण ग्रन्थके बाद आते सेवाफल ग्रन्थमें सेवाके तीन फल (१) अलौकिक सामर्थ्य (२) सायुज्य; और (३) वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेहो स्वीकारे गये हैं स्पष्ट है कि इनमें 'सायुज्य' और 'मुक्ति' समानार्थी पद हैं, इसी तरह 'वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेह' और 'आश्रयभावापत्ति' भी अन्तत एक ही अवस्थाके द्योतक है

जहां तक 'अलौकिक सामर्थ्य' के अलग होनेका प्रश्न है तो उसमें यह ज्ञातव्य है कि भागवतके दशमस्कन्धमें तामस राजस एवम् सात्त्विक प्रकारके भक्तोंके भक्तिकी प्रेम आसक्ति एवम् व्यसनदशा का वर्णन क्रमश. प्रमाण प्रमेय और साधन के रूपमें हुआ है साधनके बाद तीनों ही प्रकारके भक्तोंको फलावस्थाका भी वर्णन किया गया है. निरोधकी यही फलावस्था सेवाफलमें अलौकिकसामर्थ्यके रूपमें वर्णित है. इसे 'व्यसनोत्तर-कृतार्थता' 'सर्वात्मभाव', 'मानसी सेवा' अथवा 'फलनिरोध' कहो बात एक ही बनती है

षोडशग्रन्थ पुष्टिमार्गीयोंके लिए श्रीमहाप्रभुने प्रकट किया है. पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थकी –"भगवानेव हि फल स यथाविर्भवेद् भुवि गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषा फल भवेत्" (का १७) कारिकामें यह समझाया ही गया है कि पुष्टिमार्गमें फल स्वयम् भगवान् है, वे गुण या स्वरूप के भेदसे जैसे भी इस भूतलपर प्रकट हों, तदनुसार, उन्हें फल माना जाता है. स्वयम् स्वरूपात्मना इस भूतलपर भगवान्का भक्तोंके बीच प्रकट होना पुष्टिमार्गीय फल है इसी तरह गुणगानकी प्रक्रिया द्वारा भी भक्तके हृदयमें भगवान्का प्रकट होना फल ही है दोनों ही तरहके भगवत्प्राकट्यके कारण भक्त प्रपञ्चको भूलकर भगवदासक्त हो पाता है हर सूरतमें इस भूतलपर यदि भगवदनुभव नहीं होता तो इस देहके छूटनेके बाद भगवान्में सायुज्यरूप मोक्ष मिलेगा अथवा वैकुण्ठ आदि लोकमें सेवोपयोगी देह मिलेगा ये दोनों ही फल इस भूतलपर घटित होनेवाली अनुभूति नहीं हैं, अत पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें परिभाषित पुष्टिमार्गीय फलानुभूतिकी तुलनामें ये कुछ गौण अनुभूतिया हैं अतएव इन अनुभवोंके सामर्थ्यको 'अलौकिक' नहीं कहा गया है, क्योंकि इनके लौकिक अनुभव होनेकी शंका ही नहीं उठ सकती है. फलनिरोध इस भूतलपर होनेवाली अनुभूति है, मानसीसेवाकी तरह, अत इसके अनुभवको 'अलौकिक सामर्थ्य' कहा गया है अन्यथा भूतलपर घटित होती अनुभूतिको कोई लौकिक समझ सकता है वास्तविकता जबकि यह है कि वह इस लोकमें घटित होनेपर भी अलौकिक घटना ही है

निरोध अपने दोनों रूप, अर्थात् साधननिरोध एवम् फलनिरोध, में इस लोकमें घटित होनेवाली अलौकिक घटना है "प्रपञ्चे क्रीडन हरे" वचनमें श्रीमहाप्रभु अतएव भारपूर्वक प्रपञ्च अर्थात् इस लोकका उल्लेख करते है इस भूतलपर भक्तोंके बीच भगवत्क्रीडा साधन-निरोध है और ऐसी लीलाके कारण जब भक्त जगत्को भूलकर जगदीशमें अनन्यतया आसक्त हो जाता है तो वह फलनिरोध है इस स्पष्टीकरणके बाद निरोधका प्रयोजन-लक्षण सुगम हो जाता है

भगवदवतारकालमें भूतलपर प्रकट होनेवाले भगवद्रूपकी वह लीला कि जिसका प्रयोजन जीवात्माको सर्वात्मभावका दान करना हो वह 'निरोध' कहलाती है. अवतारकालमें सायुज्य-मुक्ति या आश्रयभावापत्ति प्रदान करनेके लिए, जो वियोगानुभव भगवान् कराते हैं; और इस तरहके तीव्र वियोगमें, भक्तका निरन्तर भगवान्के गुणगानमें तल्लीन हो जाना भी निरोध ही है. ये दोनों तरहके लक्षण भगवदवतारकालके हैं.

अनवतारकालमें लीलाका स्थान तनु-वित्तजा सेवा ले लेती है और गुणगानका स्थान भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कितन ले लेते हैं. तदनुसार निरोधका प्रयोजन सेवाफलमें वर्णित अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य एवम् वैकुण्ठादिलोकमे सेवोपयोगी देह का लाभ माना जाता है.

अवतारकाल हो या अनवतारकाल सच्चे पुष्टिभक्तकी भक्ति निरुपाधिक–निष्कारण–निष्प्रयोजन ही होती है. भक्त केवल भगवान्को ही चाहता है; मुक्तिको नहीं, पर भक्ति अवांछित फलप्रदान करती ही है. यह तृतीयस्कन्धमे कहा गया है. अतः प्रयोजनलक्षण भक्तके भाव-अभिप्रायको दृष्टिगत रखकर नही दिया गया है किन्तु भक्तिके स्वभावको दृष्टिगत कर दिया गया है.

इसका अलावा एक और दृष्टिमे भी निरोधका लक्षण-व्याख्यान किया जा सकता है वह है :

१) करण-निरोध
२) व्यापार-निरोध
३) फल-निरोध

१) करण-निरोध

सुबोधिनी तथा भागवतार्थ-निबन्ध के तामसप्रकरणके प्रारम्भमे इस विषयकी विवेचना हुई है कि जीवके स्वभावका बदलना स्वयम् जीवके लिए सर्वथा अशक्य बात है. अत. जीवके सात्त्विक राजस या तामस स्वभावोंके अनुरूप स्वरूप धारण कर भगवान्, जब भूतलपर प्रकट होते हैं और भक्तोके बीच लीला करते हैं, तब अपने-अपने स्वभावोंके अनुरूप जीव भगवान्के स्वरूप एवम् लीलाओ मे आसक्त हो ही जाते हैं. इस लीलाविहारी श्रीकृष्णमें आसक्तिके कारण प्रापञ्चिक विषयोमें आसक्ति अनायास स्वतएव टूट जाती है. अथवा स्वार्थबुद्धिरहित केवल भगवदुपयोगिताकी भावनामें रूपान्तरित हो जाती है. यह विलक्षण परिवर्तन जिस लीलाके कारण सम्भव होता है, उस भगवल्लीलाको करणात्मक निरोध माना जाता है.

'करण' यानि असाधारण कारण. दशमस्कन्धमे वर्णित भक्तो– विशेषत. व्रजभक्तो—को जो प्रपञ्चविस्मृति और कृष्णासक्ति की सिद्धि मिली, उसका असाधारण कारण भक्त-स्वभावानुरूप भगवद्रूप एवम् भगवल्लीला ही थे. अतएव कहा गया है—" ते नाधीतश्रुतिगणाः नोपासीतमहत्तमा. अव्रतातप्ततपस. सत्सगान्मामुपागता केवलेन हि भावेन गोप्यः गाव. नगा

मृगाः येन्ये मूढघियो नागा. सिद्धाः मामीयुरञ्जसा, यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः
व्याख्यास्वाध्यायसन्यासं प्राप्नुयाद् यत्नवानपि" (भा. ११।१२।७-९). यहा जिस सत्संग
और जिस भाव को स्वप्राप्तिमे भगवान्ने साधन माना है, वह स्वयम्का लीलात्मक संग तथा
लीलासक्तिरूप भाव ही है. अन्य सभी योग सांख्य दान व्रत तप यज्ञ व्याख्यान स्वाध्याय
एवम् संन्यास रूप साधनोकी अकिञ्चित्करता स्वयम् भगवान्ने ही वर्णित कर दी है
इसे 'साधननिरोध' अथवा 'भगवान्का भक्तोमे निरोध' माना जाता कहा जाता है.

इससे सिद्ध होता है कि भक्तोंके स्वभावानुरूप भगवान्की लीला, भक्तोंके निरोध
अर्थात प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति का असाधारण कारण है

२) व्यापार-निरोध

कारण दो तरहके होते हैं : (१) उपादान (२) निमित्त मिट्टी घडेका उपादान कारण
होती है चक्का दण्डा आदि उपकरण निमित्त कारण माने जाते हैं निमित्त कारणके निष्क्रिय
होनेपर कार्य उत्पन्न नही होता. अतः सक्रिय-क्रियाव्यापार करनेवाले कारणको 'करण'
या 'उपकरण' कहा जाता है.

भगवल्लीलाको निरोधकी उत्पत्तिमे करण माना गया है. तदनुसार ही कुछ व्यापार भी
होना चाहिये अत. प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति यह भगवल्लीलाका व्यापार है. जैसे
चक्केका फिरना या दण्डेसे फिरना, इन व्यापारोंके कारण चक्का-दण्डा आदि उपकरणोको
'करण' कहा जाता है.

३) फल-निरोध

भक्तके स्वभावानुरूप करण-भगवल्लीला, और उसके व्यापार-प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक
भगवदासक्तिके फलस्वरूप भक्तके प्रापञ्चिक विषयोंके सारे बन्धन टूट जाते हैं इनका
अभाव हो जाता है यह दो प्रकारसे होता है या तो भक्तसे सम्बन्धित सारे लौकिक पदार्थ
और भावो मे भगवदावेश अलौकिकता अर्थात् सच्चिदानन्दात्मकता प्रकट हो जाती है, या
फिर लौकिक पदार्थ और भावो से मुक्त होकर जीव सायुज्य या वैकुण्ठ आदि लोकोंमे
सेवोपयोगी देह प्राप्त कर लेता है अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं— "लौकिकेषु तु भावेषु
यत्रैव हरिवेशन निवर्तते तदेवात्र वन्हेर्दारुमय यथा" (सुबो. १०।५।१). जिन-जिन लौकिक
भावोंमे या पदार्थोमे भगवदासक्तिके कारण भगवदावेश हो जाता है उन सभी पदार्थों और
भावो मे तिरोहित चिदंश और आनन्दांश पुन प्रकट हो जाता है यो सच्चिदानन्दांशके पूर्ण
प्राकट्यके कारण वे ब्रह्मात्मक हो जाते हैं काष्ठमे तिरोहित अग्नि जैसे एक बार प्रकट हो
जाती है तो काष्ठ स्वयम् अग्निरूप हो जाता है ऐसे ही जिस भक्तमे प्रपञ्चविस्मृतिके
साथ भगवदासक्ति प्रकट हो जाती है, उसके सभी पदार्थ और भाव अन्तत. सच्चिदानन्द
ब्रह्मका रूप धारण कर लेते हैं. वैसे भी जगतकी प्रत्येक वस्तुका वास्तविक या आन्तरिक
स्वरूप तो ब्रह्मात्मक ही होता है, पर अज्ञानवश हमे विपरीत भान होता है, और वह भान
निवृत्त हो जाता है.

अद्वैतियोंके मिथ्या-मायिक प्रपञ्चकी तरह यह प्रपञ्चका बाधज्ञान नहीं है, न नैयायिकोंके अनित्य प्रपञ्चकी तरह यह प्रपञ्चका नाश ही है, सांख्यके प्राकृत प्रपञ्चकी तरह इसे विकृतिका प्रकृतिमें पुनः लीन हो जाना भी माना नहीं जा सकता है. प्रपञ्चके ब्रह्मात्मक हो जानेका तात्पर्य केवल इतना ही है कि दृष्टा-जीवको यह ब्रह्मात्मक होनेपर भी वैसा दिखलाई नहीं देता है, पर निरुद्ध भक्तकी दृष्टिमें अपने प्रियतम परमात्माके अलावा अन्य कुछ आता ही नहीं, फलतः जड़जगतके विभिन्न पदार्थ भी उसे सच्चिदानन्दात्मक दिखलायी पड़ने लगते हैं इसी तरह जीवजगत्‌के भी सभी रूपोंमें ब्रह्मात्मकताका भान होने लगता है. जड़ जीवात्मक जगतकी जड़रूपता एवम् दुःखरूपता तिरोहित हो जाती है. इस अर्थमें इस अवस्थाको कभी 'प्रपञ्चप्रलय' या 'प्रपञ्चनाश' कहा जाता है यह फलनिरोध है अर्थात् भक्तका भगवान्‌में निरोध है इसका प्रयोजनलक्षणके अन्तर्गत विचार हुआ है
दशम स्कन्धमें भगवान्‌की लीलाका वर्णन चतुर्धा हुआ है :

(१) प्रमाण-निरोध
(२) प्रमेय-निरोध
(३) साधन निरोध
(४) फल-निरोध

(१) भगवान्‌की प्रमाणरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त अपने स्वभावके अनुरूप धारण किये गये भगवद्रूपको जान पाता हैं अतः ऐसी लीलाको 'प्रमाणनिरोध' कहा जाता है. प्रमाणलीलाके करण बननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें प्रेमके रूपमें प्रकट होता है. इसका फल भक्तके हृदयमें प्रमेयकी स्थिरता होती है

(२) भगवान्‌की प्रमेयरूपा निरोधलीलाके कारण भक्त-स्वभावानुरूप धारण किया गया भगवान्‌का रूप—प्रमेय भक्तके हृदयमें सर्वथा आरूढ हो जाता है अतः ऐसी लीलाको 'प्रमेयनिरोध' कहा जाता है प्रमेयलीलाके करण बननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें भगवदासक्ति—भगवानसे अलावा अन्य सभी विषयोंमें अरुचि—के रूपमें प्रकट होता है इसके फलस्वरूप भक्त अपने मनोरथोंके अनुरूप भगवान्‌के रूपकी प्राप्तिके साधनोंमें जुट जाता है

(३) भगवान्‌की साधनरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त-स्वभावानुरूप धारित भगवान्‌के रूपकी प्राप्तिके साधनोंमें भक्त तत्पर हो पाता है अतः ऐसी लीलाको 'साधननिरोध' कहते हैं साधनलीलाके करण बननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें भगवद्व्यसनके रूपमें प्रकट हो जाता है अब भगवान्‌के बिना भक्त रह नहीं पाता फलस्वरूप अपने मनोरथके अनुरूप भगवद्रूप एवम् भगवल्लीलाकी अनुभूति उसे होने लगती है

(४) भगवान्‌की फलरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त-स्वभावानुरूप धारित भगवद्रूपकी लीलामें भक्त सम्मिलित हो पाता है अतः एसी लीलाको 'फलनिरोध' कहा जाता है फलात्मिका लीलाके करण बननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें मानसी सेवा, सर्वात्मभाव

आदिके रूपमें प्रकट होता है. फलस्वरूप भगवान्के बाह्य-आभ्यंतर अनुभवोंका चक्र भक्तके हृदयमें निरन्तर चलने लग जाता है. भक्त भगवान्में तन्मनस्क तदालाप तद्विचेष्ट तदात्मक तद्गुणगानपरायण होकर अपने देह-गेहकी सुध-बुध खो देता है ! भजनानन्दकी इस पराकाष्ठाकी तुलनामें भक्तको ब्रह्मानन्द कभी सुहाता नही है !! ब्रह्मानन्दमें एकरसता होती है शुद्ध-अद्वैतरूप, जबकि भजनानन्दमें अनेकविध मधुरता रहती हैं : द्वैतरूप भी और अद्वैतरूप भी !!!

सायुज्यरूप मोक्ष अथवा ब्रह्मभावापत्तिरूप वैकुण्ठादि लोकमें सेवोपयोगीदेह भी इस पूर्वोक्त अलौकिक-सामर्थ्यकी तुलनामें भक्तके मनको लुभावने नही लगते है. भगवत्संयोग—सेवा और भगवद्वियोग—कथा के अहर्निश चलते चक्रसे बढ़कर केवल विप्रयोगको माना नही जा सकता है यही कारण है कि मुक्ति या आश्रयभावापत्ति की ओर ले जानेवाले भ्रमरगीतमें वर्णित वियोगका स्थान फलप्रकरणमें न हो कर प्रमेयप्रकरणमे है.

"मय्यावेश्य मन कृत्स्न विमुक्ताशेषवृत्ति यत्, अनुस्मरन्त्यो मा नित्यमचिरान्मामवाप्स्यथ" (भा १०।४७।३७) की सुबोधिनीमें इस अवस्थाकी व्याख्या करते हुए श्रीमहाप्रभु कहते है- "अहं हि कृत्स्नः प्रसादेनापि प्राप्त कृत्स्नेनैव साधनेन प्राप्तु योग्यः साच कृत्स्नता अस्यामेवावस्थाया भवति नान्यथा" अर्थात् तामसफल-प्रकरणमें भगवान्के रसात्मक रूपका अनुभव यद्यपि पूर्णतया हो ही गया था, किन्तु वह साधनावस्थाके बाद फलावस्थाके क्रमानुसार न होकर भगवदनुग्रहवश साधनाचरणकी पूर्णतासे पूर्व ही फलानुभूतिके सम्पन्न हो जानेकी लीला थी अब राजसप्रमेय-प्रकरणमें, अर्थात् जो राजस भक्तोंके लिए प्रमेयरूपा निरोधलीलाका प्रकरण है, वहा तामसभक्तोंकी तो फलानुभूतिका नही किन्तु साधनानुभूतिका ही स्तर है

"आन्तर तु पर फलम्" (सुबो. १०।२६।१) अथवा युगलगीतमें वर्णित "व्रजेशितेऽन्तर्गोपिकाना स्वानन्द भगवान् हृदि पूरयामास तेनैव पूर्णानन्द इतीर्यते" वाला परमफलात्मक वियोग भ्रमरगीतमें वर्णित वियोग, नही है. अतएव श्रीप्रभुचरणने इस वियोगानुभूतिका वास्तविक स्वरूप इन शब्दोमें समझाया है- "एतासा तु अधुनैव बहिस्संगमो अभिलषितः तदभावादस्मदनभिप्रेतामपि अस्मदधिकारविरुद्धामपि ज्ञात्वा ईश्वरभावेनाज्ञापितवान्, अनभिप्रेतमपि बलाद् ग्राहयितुम् इति अनाकर्णनीम् इद भवति यद्यपि, तथापि प्रियतमसम्बन्धित्वेनैव श्रुतत्वात् तथैव फलिष्यति. ननु उपदेशत्वेनेति ज्ञापनायाप्रे सन्देशपदम्" (टिप्प. १०।४४।२९). प्रमेयस्वभावके विवश व्रजभक्तोने वियोग स्वीकारा है—निज भाव या अभिलाषा के वश नही. भगवत्कथाके श्रवण या कीर्तन का फल, भगवत्स्वरूप एवम् भगवल्लीला का पहले आन्तर और बादमें बाह्य अनुभव स्वीकारा गया है. बाह्यानुभवके अभावमें केवल आन्तर व्यर्थ होता है- "बाह्याभावे तु आन्तरस्य व्यर्थता" (सुबो १।६।१).

इस आन्तर अनुभव और बाह्य अनुभव के सूक्ष्म रहस्यको समझनेके लिए निरोधके दो और भी रूपोंको समझना आवश्यक हो जाता है.

(क) स्वरूप-गुण-उभयकृत निरोध
(ख) केवल-गुणकृत निरोध

(क) तामसफल-प्रकरणके विवेचनमें श्रीमहाप्रभुने यह समझाया है कि यहां सात अध्यायोंमें, अर्थात् २६ वें अध्यायसे लेकर ३२ वें अध्याय तक, क्रमशः (१) ऐश्वर्य (२) वीर्य (३) यश (४) श्री (५) धर्मी (६) वैराग्य (७) ज्ञान यो छह भगवद्गुण और सातवें स्वयम् धर्मी भगवान्के स्वरूपका वर्णन अभिप्रेत है.

इस फलरूपा निरोधलीलाके स्वरूपका भलीभांति विमर्श करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि सातों अध्यायोंमें फलरूपलीलाका ही वर्णन अभिप्रेत होनेपर भी धर्मिनिरूपक पांचवें अध्याय तथा ज्ञाननिरूपक सातवें अध्याय का कुछ विशिष्ट महत्त्व है ही. अतएव प्रारम्भमें रूपलीलाके —"बाह्याभ्यन्तरभेदेन" —जो दो प्रकार दिखलाये गये है, वे इन दो अध्यायोंमें चरमोत्कर्षके रूपमें वर्णित हुए है. धर्मिप्रकरणमें बाह्य संयोगसुखका तथा ज्ञानप्रकरणमें आन्तर संयोगका वर्णन हुआ है.

"ज्ञान भक्तिश्च सतत चक्रवत् परिवर्तते" की उक्तिके अनुसार यहा परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों में सयोगसुखका ही वर्णन अभिप्रेत है. अतएव इसे फलप्रकरण माना गया है.

(ख) इसके विपरीत राजसप्रमेय-प्रकरणमें व्रजभक्तोंकी अनुभूतिका स्वरूप श्रीमहाप्रभुने इन शब्दोंमें दिया है— "अन्तर्निष्ठा वा विरहो वा, द्वयमेव, नतु तासामन्या लौकिकी अवस्था" (सुबो. १०।४४।४८). यहाँ पूर्वोद्धृत "आन्तर तु परं फलम्" वचनके आधारपर अन्तर्निष्ठाको तो परमफलरूप मानना ही पडेगा. परन्तु द्वितीयांश विरहको फलरूप माननेका कोई भी आधार मिलता नही है यह विरह अत फलरूप न होकर पूर्ववर्णित 'साधनफलरूपता' ही है इसीलिए श्रीमहाप्रभु इसे 'फलरूप' न कहकर 'फलसाधक' कहते हैं. — "... फलसाधकत्वाद् भक्तिमार्गे विरह एव पुरुषार्थः." विरहावस्थामे किये जाते गुणगानके सुख और भगवत्स्वरूपानुभवके सुख का परस्पर तारतम्य समझाते हुए श्रीमहाप्रभु कहते हैं— "पर विरलममृतम्. केवल मरणोपस्थितौ तन्निवर्तकमेवेति, नतु सम्भूयैकत्र रसजनकम्. रसपिण्डयोरिव तव कथायाश्च विशेष अन्यथा कथार्थमेव यत्न कृत स्यात्. पर विरहे मरणनिवर्तकत्वेन तदुपयोग इति भगवत्वेन स्तूयते". भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनके कारण भक्तके प्राण तीव्र विरह-वेदनामें भी निकल नही जाते— टिके रहते हैं. एतावता भगवान्की तरह भगवद्गुणगानकी भी प्रशसा की जाती है वास्तविकता परन्तु यह है कि भगवत्स्वरूपकी रसानुभूतिमे सुख घनीभूत होता है और भगवत्कथामे वह तरल हो जाता है.

इससे सिद्ध होता है कि केवल गुणकृत निरोधमे बाह्य एवम् आन्तर सयोग सुखकी फलानुभूतिका चक्र सतत नही चलता. वहा विरहदु ख और अन्तर्निष्ठाके सयोगसुख का चक्रवत् आवर्तन चलता है अत इसके अर्धांशमे साधनरूपता और अर्धांशमे फलरूपता है. जबकि रसात्मक होनेके कारण द्विदलात्मक, और द्विदलात्मक होनेके कारण सयोग-वियोगात्मक या 'नटवर' वपु रूप भगवान्का फलरूप होना, वियोगमे अन्तर्निष्ठाके कारण मिलते

आन्तर संयोगसुख और संयोगमें स्वरूपानुभूतिके कारण मिलते बाह्य संयोगसुखको लक्ष्यमे रखकर स्वीकारा गया है. आन्तरसुख-दान रसनाटन है तथा बाह्यसुख-दान रसरूप प्रत्यग्र-भोग है. यह 'वर्हापीड' श्लोककी सुबोधिनीसे सिद्ध होता है. अत. उत्तरदलमे अन्तर्निष्ठाके अंशमे फलरूपता तथा विरहांश या धर्मिविप्रयोग के अंशमे साधनरूपता है. केवल विरहके फलरूप होनेका उल्लेख श्रीमहाप्रभु अथवा श्रीप्रभुचरण के किसी भी वचनमे मिलता नही है. आन्तर-संयोग-सुख प्रदान करनेवाला विप्रयोग स्वतन्त्र अंगीरूप निरोध है. जबकि केवल विरह आन्तरसंयोग-सुखके अभावके कारण, मुक्ति या आश्रयभावापत्ति का अंगरूप निरोध माना जाता है.इसे 'केवलगुण-कृत निरोध,' 'धर्मिविप्रयोग' 'केवल विरह', 'मुक्त्यग निरोध' या 'आश्रयभावापत्त्यंग निरोध' कुछ भी कहो अर्थ एक ही होता है.

इस तरह निरोधके कारण-स्वरूप-कार्य-प्रयोजन-रूप चतुर्विध लक्षण, त्रिविध स्वरूप करण-व्यापार-फल-रूप; तथा स्वरूप-गुण-उभयकृत और केवलगुणकृत निरोध के रूपमे अनेकधा भेद-उपभेदोंके विस्तृत विमर्श करनेपर निरोधलक्षण ग्रन्थको समझना एकदम सरल हो जाता है. फिरभी ग्रन्थके अनुवादसे पूर्व एक और स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है. उसे देखनेके बाद ही ग्रन्थानुवाद देखेंगे.

वैसे तो हमने देख ही लिया कि निरोधलक्षण, भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमे वर्णित पाचो प्रकारके अधिकारियोको लक्ष्यमे रखकर उपदिष्ट हुआ है फिरभी इसे सोपपत्तिक समझ लेना अत्यावश्यक है. सन्यासनिर्णय ग्रन्थके– "कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ताः गुरवः साधन च तद्भावो भावनया सिद्ध" वचनमे व्रजभक्तोंके भावोंका भावनात्मक अनुसरण विरहानुभवार्थ गृहत्याग करनेवालोके लिए आवश्यक माना गया था व्रजभक्तोंके भावोकी भावना केवल गृहत्यागियोके लिए ही है ऐसा नही समझना चाहिये. क्योंकि "भजनीयो व्रजाधिप." कहकर व्रजभावनाकी उपयोगिता सभी पुष्टिभक्तोके लिए सर्वदा ही चतुश्लोकीमे आवश्यक मानी गयी है इसी तरह पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमे पुष्टिजीवोके फलानुभवके प्रकारमे गुण-स्वरूपका प्रभेद मान्य हुआ ही है. "स्मरण भजन चापि न त्याज्यम्" वचनद्वारा भगवत्सेवा-कथाकी आवश्यकता चतुश्लोकीमे प्रतिपादित हुई है. अत सेवा और कथा दोनोमे ही व्रजभावना आवश्यक है अत इस निरोधलक्षण ग्रन्थमे सभीके लिए सर्वप्रथम व्रज-भावनाका स्वरूप समझाया जा रहा है

निरोधकार्य संयोगसुख–वियोगदु:खकी भावना

जिन भक्तोंसे सेवा और कथा दोनो निभ पाती हो उन्हे अपने भावके अनुरूप सेवा करते समय गोकुलकी भावना और कथाके समय वृन्दावनकी भावना करनी चाहिये.

गोचारणके लिए प्रतिदिन भगवान् वृन्दावन पधारते हैं. तब गोकुलमे वात्सल्यभाववाले नन्द-यशोदा आदि भक्तोको तथा श्रृंगारभाववाली गोपिकाओंको जैसे विप्रयोगदु:खकी अनुभूति होती है, वैसी दु:खानुभूति–विरहवेदना हमे कथाकालमे कब होगी !

सायंकाल गोचारण कर भगवान् गोकुल लौटते हैं. तब गोकुलमें गोपिकाओंको तथा अन्य भी सभी व्रजवासियोंको अनेक रीतिसे भगवत्सेवाद्वारा जैसा संयोगसुख मिलता है, वैसा सुख सेवाके समय भगवान् मुझे कब प्रदान करेंगे !

इस तरह तामसफल-प्रकरणके "ज्ञान भक्तिश्च: सततं चक्रवत्परिवर्तते" वचनमें वर्णित संयोग-वियोग-रूप अवस्थामें निरोधके कार्य सुख-दुःखकी भावना करनी चाहिये.

जिन भक्तोंसे सेवा-कथा एक साथ नहीं निभ पाती, ऐसे मध्यमाधिकारियोंको पहले, राजसप्रमेयप्रकरणमें वर्णित तीव्र विप्रयोग-वेदनाकी भावना करनी चाहिये; और बादमें कथाश्रवणकालमें अन्तर्निष्ठाके साथ आन्तरसंयोग-सुखकी भावना करनी चाहिये.

उद्धवके व्रज आनेपर उनके साथ भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें जैसा एक सुमहान् उत्सव प्रकट हुआ, वैसे उत्सवकी अनुभूति कथा-श्रवण करते समय हमारे मनमें कब होगी ! गोकुलमें सख्य-वात्सल्य-भाववाले व्रजभक्तोंको और वृन्दावनमें सख्य-माधुर्य-भाववाले व्रज-भक्तोंको उद्धवके साथ भगवद्गुणगान करते समय जैसा आल्हाद अनुभूत हुआ वह मेरे हृदयमें कब प्रकट होगा !

केवल कथाका समाश्रयण करनेवाले भक्तको ऐसी भावना करनी चाहिये. इस तरह यहां निरोधका कार्यलक्षण श्रीमहाप्रभुने सूचित किया है

निरोधके कारणभूत गुणगानकी आवश्यकता

कार्यलक्षणको सूचित करनेके बाद श्रीमहाप्रभु निरोधके कारणलक्षणको सूचित करना चाहते हैं.

पूर्वोक्त भावनाओंको करते रहनेपर भी हृदयमें भावोंका उदय सहसा नहीं हो पाता है महान् भक्तोंकी कृपा होनेपर ही भगवान् ऐसी दया हमपर करते हैं कि हमारे हृदयमें भाव अंकुरित हो पाते हैं. इस बीच आनन्दसन्दोह—सुखसिन्धु भगवान् श्रीव्रजाधिपके रूप गुण लीला एवम् नामों का संकीर्तन हमें करना चाहिये. इससे भक्तिमार्गपर हमारी यात्रामें हम सुखपूर्वक आगे बढ पायेंगे.

श्रीप्रभुचरण आज्ञा करते है कि "तादृशी भावना कार्या यया भावांकुरोदय, श्रीमदाचार्यकृपया भवेद् भावो न चान्यथा....भावो भावनया सिद्ध इति वाक्यात्प्रतीयते, तद्वाक्यपरिनिष्ठाना हृदि भावाकुरो भवेत्" अत श्रीमदाचार्यचरण, श्रीयमुना तथा पुष्टिपथके आद्यपथिक—गुरु श्रीव्रजभक्तो की कृपा होनेपर भगवत्कृपाभाजन बननेका अधिकार प्राप्त होता है.

घी चुपडी हुई गरम रोटी और रूखीसूखी बासी रोटीके स्वादमें बहुत अन्तर पड जाता है. इसी तरह स्नेहभावकी ऊष्मावाले पूर्ण भगवदीयोंके मुखसे, उनकी कृपादृष्टिकी स्निग्धताके साथ, भगवत्कीर्तनका श्रवण जितना सुखद होता हं, उतना लौकिक प्रयोजनकी पूर्तिके लिए ठंडे दीमागसे जोड़तोड़ बैठाकर, भगवत्कथामें प्रवृत्त होनेवाले व्यक्तिके मुखसे भगवत्कथा सुनना सुखद नही होता वह तो रूक्ष कीर्तन लगता है. भगवान् गोविंदके गुण-

गानमे जैसा सुख श्रीशुकमुनि जैसे निर्ग्रन्थ आत्माराम मुनियोको मिलता है, वैसा उन्हे अपनी ब्रह्मात्मैक्यकी अनुभूतिमे भी नही मिलता है. अतएव श्रीशुकके-" परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया गृहीतचेता राजर्षे आख्यान यदधीतवान्" (भा. २।१।९) वचनकी व्याख्यामे श्रीमहाप्रभुने विवेचन किया है "आत्मलाभसे उत्कृष्ट कुछ भी नही है ऐसे शास्त्रीय वचनोके अनुसार आत्मपर्यवसायी गुणातीत समाधिमे नित्य स्थित होनेपर भी भागवतके रसकी अनुभूति होनेपर, उसकी अप्राकृतता-दिव्यता समझमे आनेपर, श्रीशुकको यह समझमे आया कि ब्रह्ममे लीन होनेवालेको जब समाधि-अवस्थाकी गरज नही रह जाती, तब ब्रह्मानन्दसे भी अधिक रसप्रद भागवतके कथारसको छोडकर कौन समाधिके चक्करमे पडे !"

इस भगवद्गुणगानके कारण भक्तके हृदयमे भगवदासक्तिरूप स्थायी भाव, जब भगवद्विरहक्लेशके कारण तापयुक्त हो जाता है, तब हृदयमे छिपे हुए भावात्मा भगवान् सदानन्द श्रीकृष्ण कृपायुक्त होकर बाहर प्रकट हो जाते है, आलम्बन-विभावके रूपमे

भावात्मना हृदयमे विराजे अथवा भावके आलम्बनात्मना बाहर प्रकट हो, भगवान् सर्वत सर्वथा आनन्दमय ही होते है इस आनन्दमय परमात्माका मर्वात्मभावके रूपमे प्राकट्य उस परमात्माकी परमकृपामयी आनन्दानुभूति है यह कृपा सुदुर्लभ है भक्तके हृदयमे भावके रूपमे भरा हुआ रोतु, भगवद्गुणगानके श्रवण-कीर्तनके सरित्प्रवाहसे अहर्निश भरे जानेपर एक दिन छलक जाता है ! इस तरह कि भक्तके देह इन्द्रिय प्राण अन्त करण आत्मा तथा अन्य भी आत्मीय वस्तुओ को यह अपनी अलौकिक रसानुभूतिसे प्लावित कर देता है ! !

अत सदानन्द श्रीकृष्णके द्वारा निरुद्ध अर्थात् पुष्टिमार्गमे अगीकृत जीवाको चाहिये कि सारी लौकिक आसक्तियोको छोडकर केवल भगवान्के गुणगानमे वे तत्पर हो जाय गुणगानके कारण अन्तत सर्वत्र ब्रह्मरूपताकी अनुभूति भक्तको अपने देह इन्द्रिय-अन्त करण तथा आत्मा से भी होने लगेगी प्रपञ्चकी अनुभूति रह ही नहीं जाती तो स्मृति कहासे होगी ? फलस्वरूप प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति रूप निरोध सिद्ध हो जाता है

निरोधके वास्तविक स्वरूपके उपदेशक श्रीमहाप्रभु

छान्दोग्योपनिषद्मे आता है कि देवता देवविद्या और आत्मविद्या का उपदेश दा कर सकते है, पर गति तो आचार्य ही दिखला सकते है, आचार्यसे जब विद्या मिलती है तो वह निद्धतम होती है-"ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्या आत्मविद्या च, आचार्यस्तु ते गति वक्ता" (४।१४।१) 'आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठ प्रापतीति" (४।९।३)

भागवत (५।१२।१२) म भी गुरुकृपाकी महत्ता महत्पादरजोभिषकके रूपमे प्रशसित हुई है- "रहूगणैतत् तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैविना महत्पादरजोभिषकम यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवाद प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघात निषेव्यमाणोनुदिन मुमुक्षोर्मतो सती यच्छति वासुदेवे'

इससे सिद्ध होता है कि भगवन्मार्गमे आचार्यकी महत्ता असाधारण है अतः स्वयम् भगवान्‌ने भी आज्ञा दी है कि "आचार्यं मा विजानीयात् नावमन्येत कर्हिचित् न मर्त्यबुद्धयासूयेत सर्वदेवमयो गुरु" (भा. ११।१७।२७). अर्थात् आचार्यको साक्षाद् भगवद्रूप ही समझना चाहिये – मर्त्यबुद्धिसे आचार्यको देखना आचार्यके साथ असूयाका व्यवहार है. आचार्यके माध्यमसे ही भगवान् अपनी गति व्यक्त करते हैं–"आचार्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति" (भा. ११।२९।६).

निरोधके कारणलक्षणमे यह समझाया गया था कि इस भूतलपर भक्तोके बीच भगवान्‌का प्रकट होना करणनिरोध है, अर्थात् भगवान्‌का भक्तोमें निरुद्ध होजाना है. अतएव श्रीमदाचार्यचरणका भूतलपर प्रकट होना उनका भक्तोमे निरुद्ध होना ही है. इसे सर्वोत्तमस्तोत्रके चार नामो–"श्रीभागवतगूढार्थ-प्रकाशन-परायण.", "जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्" तथा "सर्वासक्तो भक्तमात्रासक्त." के अवलोकन करनेपर अच्छी तरह समझा जा सकता है.

श्रीप्रभुचरणने अतएव वल्लभाष्टकमे–"घोषाघोष तदेमे कथमपि मनुजा प्राप्नुयु नैव दैवीसृष्टिर्व्यर्था च भूयान्निजफलरहिता देव वैश्वानरैषा" कह कर श्रीमदाचार्यचरणके प्राकट्यके करणनिरोध होनेकी पुष्टि की है. स्वयम् श्रीमदाचार्यचरणने भी–"अयं तस्य विवेचितु नहि विभु वैश्वानराद्वाक्पते अन्यस्तत्र विधाय मानुषतनु मा व्यासवत् श्रीपति. दयाशा च कृपावलोकनपटु· यस्माद्ततोह मुदा गूढार्थं प्रकटीकरोमि" (सुबो. १।१।१) कह कर अपने प्राकट्यकी निरोधरूपता ही ध्वनित की है वही करणनिरोधरूपता अपने प्राकट्यकी श्रीमहाप्रभु "अह निरुद्धो" वचनद्वारा यहा सूचित कर रहे हैं

पुष्टिमार्गीय जीवोकी भगवदासक्ति और प्रपञ्चविस्मृति मे कही कोई बाधा न आ जाये एतदर्थं आपने पृथ्वीपरिक्रमा करके उनके समक्ष स्वयम् भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा के अलावा अन्य सभी वस्तुओकी विस्मृतिका उदाहरण स्थापित किया. इस व्यापारनिरोधको ही यहा 'रोधेन' पद द्वारा सूचित करते हैं

इस व्यापारनिरोधके कारण ही फलनिरोध भी आपके अनुयायीओंमे प्रकट हुआ है. इसका सूचन सर्वोत्तमस्तोत्रमे–"सान्निध्यमात्र–दत्त–श्रीकृष्णप्रेमा" द्वारा श्रीप्रभुचरणने भी किया हैं यही 'निरोधपदवी' है, जिसे श्रीमहाप्रभुने पुष्टिमार्गमें भगवान्‌के द्वारा निरुद्ध या अगीकृत दैवी जीवोके निरोधके लिए धारण की है–"रोधेन निरुद्ध निरुद्धाना तु रोधाय निरोधपदवी गतो अह ते निरोध वर्णयामि".

अथवा वार्तामें हम देख गये हैं कि राजा-माधो दवेको आपने आज्ञा दी थी–"अब अपने घर जाय सेवा करो, दैवी जीव आवे तीनको नाम दीजो तुमको निरोध सिद्ध भयो और जो तिहारो सग करेगो ताहूको निरोध सिद्ध होयगो!" यदि यही भाव यहा भी स्वीकारें तो अन्वय यों होगा– "रोधेन निरुद्धो निरोधपदवी गतो अह निरुद्धाना तु रोधाय ते निरोध वर्णयामि" जैसे श्रीमहाप्रभुकी सेवा-कथामय दिनचर्या — करणनिरोध तथा व्यापारनिरोध-से राजा-

माधो दवेको फलनिरोध–प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति सिद्ध हुई थी, वैसे ही राजा-माधो दवेके सेवा-कथामय जीवनसे पुष्टिमार्गमें निरुद्ध अनेक जीवोंको प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति का लाभ होगा. यह वरदान श्रीमहाप्रभु इस श्लोकमें दे रहे है.

निरोधका स्वरूप

मुक्ति और आश्रयभावापत्ति, (अर्थात् सायुज्य और वैकुण्ठादि लोकमें सेवोपयोगीदेह) की प्राप्तिको तुलना में, निरोधकी महत्ता यही है कि वह इस भूतलपर होनेवाली भगवदनुभूति है, जीवन्मुक्तिकी तरह.

सायुज्यमुक्तिमें जीवात्मा परमात्मामें लीन हो जाती है. भक्तके हृदयमें किन्तु ऐसे मनोरथ नही चल सकते. भगवान् स्वयम् कहते है कि "अनिच्छतो गतिमण्वी प्रयुङ्क्ते" (भाग ३।२५।३६). अतएव वेणुगीतकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने निरोध और मुक्ति की तुलना : नेत्रवान् व्यक्तिको किसी सुरम्य दर्शनीय स्थल दिखाने और उसे निबिड अन्धकारवाले कूपमें बन्द कर देने से की है– "इदमेव इन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा यथान्धकारे नियता स्थितिः नाक्ष्णोः फलं भवेत् एवं मोक्षोपि इन्द्रियादियुक्ताना सर्वथा नहि"

इसी तरह आश्रयभावापत्तिके भी अनेक प्रकार वर्णित हुए है. उनमें, वैकुण्ठादि लोकोमें नूतन सच्चिदानन्दात्मक दिव्य देह, यदि सेवोपयोगी मिलता हो तो, ऐसे दिव्य देहेन्द्रियोंसे भगवदासक्ति तो सम्भव है ही,अतः उसे भक्त भी स्वीकार सकता है तात्कालिक आवश्यकता परन्तु भक्तको इस भूतलपर इन देहेन्द्रियोंसे अपने प्रियतम परमात्माके अनुभूतिकी है.

प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिसे जीवके सम्पन्न होनेपर यह अनुभूति सम्भव है अन्यथा श्रीहरि जिन्हें विनिर्मुक्त करते है, अर्थात् जिन्हें निरुद्ध नही करते, वे भवसागरमें मग्न हो जाते है–डूब जाते है. यहा इस भूतलपर भगवान्की आन्तर एवम् बाह्य संयोगानुभूतिके कारण; अथवा सेवा और कथा के कारण अहर्निश मोदप्रमोदका अनुभव तो भगवान्के द्वारा निरुद्ध जीव ही कर पाते है.

लौकिक रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दोमे आसक्त अर्थात् ससारासक्तिसे दूषित हमारी इन्द्रियो की दर्शनरति आस्वादनरति आघ्राणरति स्पर्शनरति श्रवणरति, या अन्य भी कर्मेन्द्रियोके एवम् अन्त.करणके व्यापारोमे रतिओ का अहित दो तरहसे हो सकता है या तो उन्हे किसी भी प्रकारके निग्रहके बिना लौकिक क्षुद्र सुखोकी खोजमें निरन्तर भटकते रहने दिया जाये,या फिर उनका पूर्णतया निग्रह करके उन्हे सर्वथा खतम ही कर दिया जाये. विषयव्यामुख करनेके बजाय. विषयोंसे व्यामुख करनेकी बात तो समझमें आ सकती है पर नेत्रोंको दर्शनरतिसे वंचित करनेमें नेत्रवान्को क्या लाभ हो सकता है ? इन्द्रियवृत्तियोका ऐसा दमन या निरोध 'कुयोग' कहलाता है. श्रीमहाप्रभु कहते हैं–"सर्वेषामेव निरोधने तत्तदधिष्ठातृदेवद्रोहो भवत्येव भगवत्समर्पणे तु तद्वचनेन तदुक्तमेव कृतमिति न कोपि दोषः सम्भवति" (सुबो २।४।१७) इन्द्रियोंकी रत्यात्मक वृत्तियोका दमन उचित नही है. इसी

तरह लौकिक विषयोंमे इन्द्रियवृत्तियोंका दुरुपयोग भी उचित नही है. अत इनके दुरुपयोग या अनुपयोग के बजाय कुछ भगवदुपयोग खोज लेनेपर इनका सदुपयोग हो जाता है

सुबोधिनी (३।१४।४६) मे श्रीमहाप्रभुने इसका विस्तृत निरूपण किया है–"प्राणियोंमें सतरह तरहकी वृत्तियां होती है दस कर्मज्ञानेन्द्रियोंकी वृत्तियां, चार अन्त करणकी वृत्तियां, एक देह सम्बन्धी वृत्ति, एक प्राणसम्बन्धी वृत्ति और एक आत्मसम्बन्धी वृत्ति. इन सभी वृत्तियोंको भगवत्सम्बन्धी–भगवद्विषयक बनानेसे सर्वभवनसमर्थ–सर्वभावापन्न भगवान् प्रसन्न होते हैं"

यही 'भूमासुख' अथवा 'सर्वात्मभाव' कहलाता हैं. "भूमासम्प्रसादादध्युपदेशात्" (१।३।८) ब्रह्मसूत्रमें यह निरूपण किया गया है कि सभी वृत्तियोंसे भगवदनुभूति भूमासुख है–"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति", "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" (छान्दोग्य ७।२३।१ और ७।२४।१).

अत इन्द्रियादिकी वृत्तियोंके सर्वथा अनुपयोग अथवा लौकिक विषयोंमें दुरुपयोग में उनका अहित–अल्पसुख होता है. भूमा–पुरुषोत्तम श्रीकृष्णमें उन्हें योजित करना उनका वास्तविक सदुपयोग एवम् हित है इसे ही 'प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति' भी कहते हैं यह भक्तका भगवान्में निरोध है. भगवत्स्वरूपमें यह मुख्य निरोध जिनके लिए शक्य न हो उन्हे भगवान्के गुणोके श्रवण-स्मरण-कीर्तनम अथवा चित्त लगाना चाहिये. मुरवैरी भगवान्के गुणोंमें आसक्ति और प्रपञ्चविस्मृति सिद्ध हो जानेपर, न तो सासारिक क्लेशोंकी अनुभूति होगी और न भगवद्विरहक्लेशकी ही भगवान्के गुणानुवादमें भी साक्षात् भगवान्की तरह सुखदानका सामर्थ्य है

केवल गुणकृत निरोध

इस केवलगुणकृत निरोध द्वारा यदि भगवान् सुखदान न करते होते तो उन्हें दयालुके बजाय क्रूर ही मानना पडेगा. क्योकि प्रपञ्चविस्मरणके कारण लौकिक सुखोंके छूट जानेपर, भगवान् यदि भक्तको भगवत्स्मरणकी प्रक्रियामें सुखदान न करते हो तो, भक्ति दु खनिवर्तक ही मानी जायेगी, सुखप्रद नही परन्तु गुणकृत निरोधमें भी इतनी सामर्थ्य है कि भक्त सासारिक क्लेश और भगवद्विरहजन्य क्लेश, दोनोंसे ही उभर सकता है

भागवत (१०।८७।२०) मे कहा गया है "अपने दुर्ज्ञेय आत्मस्वरूपका भक्तोंको सुखानुभव करानेके लिए भगवान् अनेक रूप धारण करते है इन रूपोमे भगवान् अनेकविध लीला भूतलपर प्रकट करते हैं ऐसे भगवच्चरित्रके सुखसागरमे तैरनेवाले भक्त भगवान्के चरण-सरोजोके बीच निवास करनेवाले हस परमहंसोके कुलमे प्रविष्ट होनेकी कामनासे निजकुल परिवारोंको छोड देनेपर भी, अपवर्ग या सायुज्यमुक्ति की कामना नहीं करते हैं" यहांकी सुबोधिनीमे कहा गया है–"यतोवतीर्णस्य कृष्णस्य चरित्रमात्रश्रवणेपि तादृश आनन्दो

जायते येन विचारका: अपवर्गमपि परमानन्दप्रापकं न परिलर्पान्त कदाचिदपि न वाञ्छन्ति ...
गृहे हि महत्सुखं भवति. तत्सिद्धं विद्यमानं तदपि परित्यजन्ति. यदि भगवति सहस्रांशेनापि
आनन्दसन्देहो भवेत् तर्हि विद्यमानं को वा त्यजेत् ... चरणसरोजैकाश्रया ये हंसास्तेपां कुलं
समूह: तेपां संगार्थं विसृष्ट स्वगृहं यैस्तै: सह परमानन्दो बहुधा भोक्तव्य इति मोक्षापेक्षयापि
भगवत्कथाश्रवणरसोधिको निरूपित:." अत: केवलगुण-कृत निरोधकी अवस्थामें भी, प्रपञ्च-
विस्मृतिके कारण न तो सासारिक क्लेशकी अनुभुति होती है; और न भगवद्-विरह-जन्य
क्लेशकी अनुभूति ही होती है, भगवदासक्तिवश होती आन्तर सयोगानुभूतिके कारण.

इस गुणकृत निरोधकी प्रारम्भिक अवस्थामे केवल मन वाणी और श्रवण इन्द्रियोका
ही भगवान् मे विनियोग होता है. सकल इन्द्रियोंका नही. ऐसी स्थितिमे अवशिष्ट इन्द्रिया
कभी अपने-अपने लौकिक विषयोमे रही आसक्तिके कारण प्रपञ्चविस्मृति अथवा भगवदा-
सक्ति में बाधा पहुंचा सकती हैं ! ऐसी शका गुणकृत निरोधके बारेमें नही करनी चाहिये.
क्योकि गुणकृत निरोधमे भी प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके एक बार सिद्ध होनेपर, सभी
इन्द्रियोंसे 'आसक्तिभ्रमन्याय' (प्रेमी या प्रेमिका को गाढ़ आसक्तिके कारण एकदूसरेके आगमनकी
या उपस्थितिकी भ्रान्ति जैसे होती रहती है) से भगवान्का अध्यास, या भगवान्के गुणोका अध्यास,
लौकिक विषय-व्यक्तियोमें तथा लौकिक रूप-रस-गन्ध- स्पर्श-शब्द आदि गुणोमे भी बना ही
रहता है. अत: लौकिक विषय इस अध्यासके कारण निरोधमे बाधा उपस्थित नहीं कर सकते.

अतएव छान्दोग्योपनिषद्मे इस सर्वात्मभावकी अनुभूतिमे आसक्तिभ्रमन्यायसे होने विभिन्न
सञ्चारिभावोका वर्णन तदादेश अहंकारादेश और आत्मादेश के रूपमे किया है— "स एवाध-
स्तात् स एवोपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् . स एवेदं सर्वमिति अथातो अहंकारादेश
एवाहमधस्तादहमुपरिष्टादहम् ..अहमेवेदं सर्वमिति. अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मैवो-
परिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्ताद् ... आत्मैवेदं सर्वमिति. स एप एवं पश्यन् एवं मन्वान
एवं विजानन् आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु
कामचारो भवति." (७।२५।१-२). निरुद्ध भक्तको कभी अपनेमे भिन्न परमात्माकी अनुभूति
सर्वत्र होती है— कभी स्वयम्की ही अनुभूति सर्वत्र होने लग जाती है— कभी अपनेसे अभिन्न
परमात्माकी अनुभूति सर्वत्र होने लग जाती है। रासपञ्चाध्यायीमे भगवान्के तिरोहित होने-
पर "कृष्णोहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मना" (१०।३०।१९) वचनोंमे गोपिकाओके इसी
तरहके अध्यासका उदाहरण मिलता है

सर्वविषयोमे भगवान्के अध्यासके कारण पुन लौकिक विषयासक्तिमे मनके भटक जाने-
की आशका भी नही करनी चाहिये क्योकि उन लौकिक विषयोमे लौकिक-विषयत्वेन तो
विराग ही रहता है. ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य जैसे भगवद्धर्मोंके भक्तमे भी आवेशके
कारण, इन धर्मोके आवेशसे पूर्व भी परमानन्दरूप भगवान्के धर्मरूप स्थायिभाव-भगवद्रतिके
कारण भी लौकिक विषयोंमे विराग स्थिर रह सकता है. सर्वात्मभावको भी भगवद्धर्मरूप

माना गया है. अत सर्वात्मभावरूप भगवद्धर्मके कारण भी लौकिक विषमोमें विराग स्थिर रह सकता है.

इस विषयवैराग्यके साथ भगवान्के गुणोंके अहर्निश श्रवण-स्मरण-कितंनके कारण गुणोके माध्यमसे सर्वदुःखहारी श्रीहरिका आन्तर सुखस्पर्श वना ही रहता है. अत. दुःखी होनेका तो कोई सवाल ही नहीं उठता.

सर्वात्मभावकी अनुभूति ज्ञानमार्गमें भी होती है और भक्तिमार्गमें में भी. ज्ञानमार्गीय सर्वात्मभाव शान्तरसात्मक होता है. तथा भक्तिमार्गीय सर्वात्मभाव यथायथ शृंगार सख्य वात्सल्य या दास्य भावात्मक होता है. ज्ञानमार्गीय सर्वात्मभावमें केवल आत्मना ब्रह्मानन्दकी अनुभूति होती है पर भक्तिमार्गीय सर्वात्मभावमें सर्वेन्द्रिय अन्त करण तथा आत्मा से भी भजनानन्दकी अनुभूति होती है. अतएव भ्रमरगीतकी सुबोधिनीमें यह कहा गया है कि सकल इन्द्रियोंसे अतीत अधोक्षज भगवान्को सकल इन्द्रियोका विषय बनाना मुनियोके लिए भी दुर्लभ अनुभव है, जो गोपिकाओको सर्वात्मभावके कारण सुलभ हुआ (सुबो १०।४८।२५-२७). हरिकथा-वर्णनके श्रवण-स्मरण-कीर्तनके कारण पनपे इस सरस निरोधका यह उत्कर्ष, ज्ञानमार्गीय रूक्ष नीरस चित्तवृत्तिके निरोधकी तुलनामें, स्वीकारना ही पडता है

हरिकथाके श्रवण-कीर्तनमें दो सावधानियोकी अतिशय आवश्यकता है. प्रथम तो यह कि इस हरिकथाको, स्पर्धा-ईर्ष्या-द्वेषकी हमारी तुच्छ मनोवृत्तियोको सन्तुष्ट करनेका माध्यम न बनाया जाये दूसरे हरिकथाको उदरपूर्ति यश कीर्ति अथवा चन्दा एकत्रित करनेके लोभवश न किया जाये अन्यथा यह हरिकथा भक्तिमार्गीय उत्कृष्ट निरोध सिद्ध करनेमे विफल हो जाती है–"अमत्सरै अलुब्धैश्च वर्णनीया सदा गुणा".

गुण-स्वरूप-उभयकृत निरोध

अवतारकालमे तो स्वेच्छया स्वरूपका प्राकट्य होता है. अनवतारकालमे स्वरूपके प्रकट न होने के कारण स्वरूपकृत निरोध सम्भव है कि नहीं ? यह प्रश्न विचारणीय है

तामसफल-प्रकरण (१०।२६।१३) मे इस प्रश्नका खुलासा इस शब्दोमे दिया गया है-"ज्ञानभक्त्योस्तु आविर्भावार्थमुपयोग आविर्भावश्चेदन्यथासिद्ध तदा न ज्ञानभक्त्योरुपयोग. अत्रतु भगवान् स्वतएव आविर्भूतः, मुक्तिदानार्थं सर्वसाधारण्येन. ईश्वरेच्छाया अनियम्यत्वात् अत आविर्भाव स्वेच्छया भक्त्या ज्ञानेन वा भगवदवताराातिरिक्तकाले द्वयमेव हेतुः अवतारदशाया तु न तयो प्रयोजकत्वम् वर्षाकाले जल सर्वत्र सुलभमिति न कूपनदीनामनुपयोग शकनीयः" अर्थात् भगवदाविर्भावके लिए ज्ञान या भक्ति की आवश्यकता है अवतारकालमे तो भगवान स्वेच्छया स्वतएव सभीके समक्ष प्रकट हो जाते है अत उस समय ज्ञान-भक्ति अनावश्यक हो जाते हैं. एतावता अनवतारकाल मे उन्हें अनुपयोगी नहीं मान लेना चाहिये

सर्वनिर्णय-निबन्ध (का. २२८-२२९) मे भगवान्के भक्तिमार्गीय आविर्भावकी प्रक्रिया दिखलायी गयी है : (१) साकारब्रह्मवादके सिद्धान्तके अनुसार वस्तुमात्रके ब्रह्मात्मक होनेसे

भगवन्मूर्तिके भगवदात्मक होनेमे किसी प्रकारके सन्देहकी आवश्यकता नही है. (२) भक्तिका
बीज भगवदनुग्रह ही होता है. अत भक्तके हृदयमे किसी विशेष भगवन्मूर्तिके प्रति लगाव
पैदा होता हो तो उसका बीज, उस मूर्तिरूपद्वारा भक्तोद्धारके, भगवान्के सकल्पमे निहित
होता है (३) भक्तके भक्तिमार्गीय भावनामय सकल्पके कारण भी भक्तके सेव्य-स्वरूपको
"भगवान्के एक विशेष-व्यक्तिगत अवतार" के रूपमे मान्य करना चाहिये

ब्रह्म व्यापक भी है और साकार भी. अतएव भगवन्मूर्तिको मायिक अथवा चित्तको
एकाग्र बननेका एक उपकरण माननेकी रीति वाल्लभ सिद्धान्तसे विपरीत है 'ये यथा मा
प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजाम्यहम्' (गीता) वचनके अनुसार मूर्तिमे साक्षाद् प्रजाधिपकी
सच्चे हृदयसे भावना करनेपर सचमुच ही प्रजाधिपका उस रूपमे प्राकट्य होता है.

भगवान्के इस कृपामय सकल्प और भक्तके भावनामय सकल्प के बलसे प्रकट हरिमूर्ति-
का ध्यान अपने हृदयमे, भक्तको अन्य सभी रूपोको भूलाकर, सदा-निरन्तर बनाये रखना
चाहिये. यह भगवान्के स्वरूपमे अन्त करणका निरोध है इसी तरह इसी स्वरूपके नेत्रोंसे
दर्शन तथा स्पर्शेन्द्रियसे स्पर्श के लिए आतुरता होनी चाहिये. हाथोको इस स्वरूपकी सेवा
के लिए उद्यत रखना चाहिये पैरोको इस स्वरूपके दर्शनार्थ या भजनार्थ दौडनेको उद्यत
रखना चाहिये कानोसे भगवद्गुणगान सुनते समय, वे गुण, इसी भगवत्स्वरूपके गुण हैं,
ऐसी भावना करनी चाहिये. वाणीमे कीर्तन, इस स्वरूपके रूपसौंदर्यका गुणमाधुर्यका और
लीलालावण्य का करना चाहिये.

असमर्पित अन्न वस्त्र पुष्प गन्ध आदिका त्याग पहले ही सिद्धान्तरहस्यमे—"असमर्पित-
वस्तूना तस्माद् वर्जनमाचरेत्" द्वारा समझा दिया गया है. अत पुनरुक्ति अनावश्यक है

यहा यह अवधेय है कि इन्द्रिया तीन तरह की होती हैं (१) जिनका साक्षात् भगव-
द्विनियोग शक्य हो यथा नेत्र त्वचा कर्ण वाणी हस्त चरण और अन्त करण (२) कुछ इन्द्रि-
योका विषय भगवत्स्वरूपको साक्षात् नही बनाया जा सकता है जैसे रसना और नासिका
अत इन्हें भगवत्प्रसादरूप अन्न तथा गन्ध के ग्रहणके व्रतमे दीक्षित करना चाहिये (३) पूर्वोक्त
दोनो प्रकारकी इन्द्रियोके व्यापार ग्रहणात्मक होते है विसर्जनात्मक नही अत उनका
विषय साक्षात् भगवत्स्वरूप अथवा या स्वरूपसम्बन्धी प्रसादी अन्न-गन्धको बनाया जा
सकता है, पर पायु और उपस्थ इन्द्रियोका व्यापार ग्रहणात्मक न होकर विसर्जनात्मक होता
है अत इनका विनियोग कथमपि साक्षात् भगवत्स्वरूप या तत्सम्बन्धी पदार्थोके ग्रहण मे
शक्य नही है फिरभी पायुसे मलाशत्यागके द्वारा शुद्ध देहको भगवत्सेवोपयोगी बनाया जा
सकता है इसी तरह कृष्णसेवामे सहयोगी सन्ततीके जन्मके लिए उपस्थका भी उपयोग सम्भव
है—"पुत्रे कृष्णप्रिये रति"

इस तरह जिस इन्द्रियका, साक्षात् अथवा परम्परया भी भगवत्स्वरूपमे विनियोग अथवा
भगवत्कार्यार्थ उपयोग दिखलायी न देता हो, उसका निश्चयेन अच्छी तरह निग्रह करना

चाहिये. इस नियमके पालनसे अनवतारकालमे भी गुण-स्वरूप-उभयकृत निरोध शक्य बन जाता है

भक्तको भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा के द्वारा प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति सिद्ध हो जाती हैं

निरोधकी सिद्धि साधनावस्थाकी अन्तिम अवधि है कोई भी साधन षोडशग्रन्थमे वर्णित अष्टाक्षरपञ्चाक्षर-मन्त्र (या अन्यत्र वर्णित मन्त्र–"हा हा कृष्ण मुखारविन्दविरहाग्ने' भी) उभयकृत निरोधसे अर्थात् कृष्ण-सेवाकथा-मय जीवनसे परतर–उत्कृष्ट साधन नही हैं न इस षोडशग्रन्थमे वर्णित यमुनाष्टक या कृष्णाश्रय जैसे स्तव (या अन्यत्र भी वर्णित सर्वोत्तम आदि स्तोत्र भी) इस निरोधसे परतर-उत्कृष्ट साधन हैं. भाष्य निबन्ध आदि ग्रन्थोंमे वर्णित अनेकविध ब्रह्मविद्यायें या सर्वनिर्णय आदि ग्रन्थोंमे प्रशसित तीर्थाटन भी इस गुण-स्वरूप-उभयकृत निरोधसे परतर साधन नही हैं

इस निरोधसे परतर यदि कुछ है तो वह है आगे सेवाफलमे वर्णित होनेवाला अलौकिक सामर्थ्य रूप फल, जो इस निरोधका प्रयोजन है परन्तु उसे तो 'फलनिरोध' ही पुन कहा जाता है

निरोधलक्षण ग्रन्थका प्रस्तुत सस्करण, वि स १९७३ मे प्रकाशित सस्करणका ऑफसेट् प्रोसेसद्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. इसमे दिये परिशिष्टोको हमने यथोचित क्रममे पुनर्योजित किया है पूर्वसस्करणके प्रकाशक थे गोस्वामीश्री १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज (पोरबन्दर) सम्पादक थे श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल व्रजदास साकलिया इन सभी महानुभावोका हम हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं

ग्रन्थसङ्ग्रहपरिचयः ।

१ सर्वां मुद्रितटीका अन्यपुस्तकद्वय च दृष्ट्वा श्रीमदाचार्यप्रकटित निरोधलक्षण मुद्रितमस्माभि । तत्र विद्यमाना पाठभेदा श्लोकक्रमभेदाश्च जिज्ञासुभिर्विवरणेषु मुद्रितेषु द्रष्टव्या । मूलमात्रस्य पुस्तकद्वय डक्कनकॉलिजहस्तलिखितसंग्रहस्थ, प्राय शुद्ध प्राचीनं च ।

२ चाचाश्रीगोपेशकृतविवरणस्य पुस्तकपञ्चकमुपलब्धम् । तत्र पुस्तकद्वय प० गट्टूलालहस्त लिखितसंग्रहस्थम्, एक प्राचीन किन्तु अशुद्ध, अन्यत् नूतन, प्राय शुद्धम् । तृतीय शुद्ध नूतन च श्रीवल्लभलालानाम् । चतुर्थं प्राय शुद्ध, प्राचीन च रा० तनसुखरामसकाशादुपलब्धम् । पञ्चम श्रीजीवनलालानाम्, शुद्ध टिप्पणयुत च ।

३ श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतटीकाया पुस्तकद्वयमुपलब्धम् । एक प० गट्टूलालसंग्रहस्थम्, अन्यत् श्रीव्रजरत्नानाम् । प्रथम प्राचीन प्राय शुद्ध, द्वितीय नूतन, परन्तु क्वचित् शोधितम् ।

४ श्रीहरिधनचरणकृतविवृते द्वादशपुस्तकानि प्राप्तानि । तत्र पुस्तकत्रय प० गट्टूलालसंग्रहस्थ, अन्यत् पुस्तकत्रय डक्कनकॉलेजसंग्रहस्थ, द्वय श्रीजीवनलालानां, एक श्रीनृसिंहलालतनयश्रीगोवर्धनलालानां, एक गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाणां, एक रा० तनसुखरामसकाशादुपलब्धम् । एक भाई नारायणशास्त्रिण । सर्वाण्येतानि प्राचीनानि प्राय शुद्धानि । एक तु श्रीहरिरायहस्ताक्षरयुतमिति प्रतिभाति । श्रीहरिरायैर्निरोधलक्षणविवरण वारद्वय लिखितमिति प्रतिभाति । पश्चाच्छोधित्वा विस्तृत्य लिखित विवरणमत्र मुद्रितम् । पूर्वं लिखित तु जिज्ञासुहितार्थं परिशिष्टे निवेशितम् । पूर्वलिखितविवरणस्य पुस्तकद्वय मिलितम् । एक श्रीवल्लभलालानाम् अन्यत् रा० तनसुखरामसकाशादुपलब्धम् । उभय अपि प्राचीन प्राय शुद्ध परन्तु त्रुटितम् । यथादृष्टमेव परिशिष्टे मुद्रितमस्माभि । रा० तनसुखरामत उपलब्धे पुस्तके एवमपि भाषाया लिखित 'निरोधलक्षणकी टीका प्रथम श्रीहरिरायजुने कीनीथी पत्र २२' इति । एतेनास्मदुक्त समर्थ्यते ।

५ चतुर्थं मुद्रित व्याख्यान श्रीवल्लभानाम्, श्रीगोकुलनाथानाम् । एतद्विवरणस्य पञ्च पुस्तकान्युपलब्धानि । एक प० गट्टूलालसंग्रहस्थम् । द्वितीय डक्कनकॉलेजसंग्रहस्थम् । तृतीय श्रीजीवनलालानाम् । चतुर्थं सुरतिस्थगोस्वामिश्रीगिरिधराणां गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाभि कृपया प्रदत्तम् । पञ्चम सुन्दर लाल माणिक्यचन्द्र बी ए इत्येतेन प्रापितम् । इद नूतनमशुद्ध च । श्रीजीवनलालाना त सदृश नूतन, प्राय शुद्धम् । डक्कनकॉलेजसंग्रहस्थ प्राचीन प्राय शुद्धम् । अन्यद्द्वय प्राय शुद्धम् ।

६ पञ्चम श्रीपुरुषोत्तमानाम् । अस्यापि षट् पुस्तकानि मिलितानि । एक योगिश्रीगोपेश्वराणां हस्ताक्षरैर्लिखितटिप्पणयुत शुद्ध प्राचीन च, प० गट्टूलालसंग्रहस्थम् । द्वितीय गोस्वामिश्रीनृसिंह लालतनयश्रीगोवर्धनलालानाम् । इदमपि प्राचीन प्राय शुद्धम् । तृतीय गोस्वामिश्रीजीवनलालानाम्, नूतन, प्राय शुद्धम् । चतुर्थं गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाभि प्रदत्तम्, प्राय शुद्धम् । पञ्चम काशीस्थ श्रीगिरिधरजीमहाराजाश्रितरामकृष्णभट्टस्य, गुजराती अधिपतिनटवरलालेन सहर्षं प्रदत्तम् । षष्ठ स्तम्भतीर्थस्थशास्त्रिभाईनारायणस्य ।

७ षष्ठ श्रीव्रजराजानाम् । एतद्विवरणस्यैकमेव पुस्तकमस्माभिरुपलब्धम् । कुत्रापि एतन्न मिलति । अस्य एक पुस्तक यदृच्छया सुरतिस्थश्रीगिरिधराणा मन्दिरस्थसंग्रहे उपलब्धम् । तत् तत्रत्यगोस्वामिनी श्रीकृष्णप्रियाभिरतिकृपया बल्देवदासकीर्तनकृद्द्वारा अस्मत्सकाश प्रेषितम् । एतद्दुर्लभपुस्तकप्रदानेन वयमत्यन्तमनुगृहीतास्स्मामि । प्रार्थयामहे नान्या अपि गोस्वामिन्य एवं अनुकुर्युरिति । अस्मिन् पुस्तक सञ्चये प० गट्टूलालसभाया 'कार्याध्यक्ष काशीदास नारायणदास दलाल, बी ए एल एल, बी

कुश्चपट्टी येही त्रिभुवनदास' इत्येतेषां महदुपकृति । डॉ एस् के बेल्वलकर एम् ए पी एच् डी इत्यस्य, गोस्वामि श्रीगोवर्धनलालानां, कल्याणदाक्षिणश्च, गोस्वामिश्रीवल्लभलालानां माधवदाक्षिणश्च, गोस्वामिश्रीजीवनलालानां, गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाणां, मकदेवदासस्यापि, गोस्वामिश्रीव्रजरत्नानां शाश्विभाईनारायणस्य च महदुपकृति । तनसुखराम मन सुखराम त्रिपाठी बी ए, सुन्दरदास माणिक्यचन्द्र बी ए, नटवरलाल सूर्यराम देसाई बी ए इत्येते सहर्षं प्राचीनहस्तलिखितपुस्तकप्रदानेना त्यन्तमनुगृहीता वयम् । 'भक्तग्निपुत्रोत्सवलाल रामकृष्ण पट्या' इत्यस्य प्रतिलिखने कश्चिदुपकार । अस्य पावत्प्राप्यविवरणसमेतस्य निरोधलक्षणस्य मुद्रणव्यय गोस्वामिवर्यश्रीजीवनलालै सहर्षं कृत इति तेषा मुपकृतिं वय सविनय स्मराम । प्रार्थयामहे चान्येपि गोस्वामिन श्रीमन्तो वैष्णवाश्चैनाननुकुर्युरिति । एतेषां गोस्वामिवर्याणां कृपयैव निरोधलक्षण षड्विवरणयुत मुद्रित साम्प्रदायिकाना सुगम भविष्यतीति ।

विवरणकृता परिचय ।

१ तत्रादौ श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटित निरोधलक्षण षड्विवरणयुत समुद्यते । स्वीयानुग्रहाय माचार्यैस्तत्प्रकटीकृतमिति । आचार्याणां प्रादुर्भावस्तु १५३५ वर्षे चैत्रकृष्ण एकादश्या रविवासरे । तेषां चरित्रादिक तु साम्प्रदायिकवार्तादिषु प्रसिद्धमिति नेह विस्तर । षोडशग्रन्थेष्वय निरोधलक्षण ग्रन्थ पञ्चदशसंख्यो भजते ।

२ प्रथम मुद्रित विवरण चाचाश्रीगोपेशानाम् । इमे श्रीगोपेशा श्रीमत्प्रभुचरणाना सप्तम पुत्रश्रीघनश्यामाना सूनव । षोडशग्रन्थोपरि यद्दृग्लेषा टीका दृश्यन्ते । तत्कृतसेवाफलटिप्पणी स्वधु नैवास्माभि प्रकाशिता । भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६५२ वर्षे प्रादुर्भूता ।

३ द्वितीय विवरण श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभानाम् । इमे श्रीवल्लभा श्रीमत्प्रभुचरणपञ्चमपुत्र श्रीरघुनाथलालचतुर्थी सुतया विभूषयन्त १७२९ वर्षे कार्तिककृष्णद्वादश्यां प्रादुर्भूता । नवरत्नवि वरणानन्यासनिरूपणटीकासेवाफलटीकादीना प्रणेतार एत एव । नवरत्नटिप्पण्या एक प्राचीन पुस्तकम स्माभिरुपलब्धम् । तत्र श्रीविठ्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृता नवरत्नटिप्पणी लिख्यते इति वर्तते । एतत्पुस्तक श्रीमद्गोस्वामिश्रीद्वारकेश्वरात्मजश्रीगिरिधराणां सवत् १८३२ पौषशुक्ले लिखितम् । तत्पुस्तकोपरि अस्मत्प्रभुचरणानां लेख इति लिखितम् । सम्प्रदायकल्पद्रुमे तेषा सम्बन्ध एव दर्शित ।

श्रीविठ्ठलराय —श्रीविठ्ठलेश
|
श्रीगिरिधरजी — श्रीवल्लभजी १७२९
|
श्रीद्वारकेशजी
|
श्रीगिरिधरजी १७७९

एतेन सेवाफलव्याख्यानस्य प्रणेतारोपि श्रीरघुनाथलालात्मजा इत्यनुमीयते । दशमस्कन्धश्रीसु बोधिनीलेखस्यापि प्रणेतारस्त एवेति प्रतिभाति । विशेष तु पुष्टिभक्तिसुधाया सप्तमवर्षस्य नवमाङ्के प्रपञ्चितम्, जिज्ञासुभिस्तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

४ तृतीय व्याख्यान श्रीमद्गिरिधरचरणानाम् । श्रीहरिराया इति प्रसिद्धा हि ते । श्रीमत्प्रभु चरणद्वितीयकुमारश्रीगोविन्दरायज्येष्ठपुत्रश्रीकल्याणरायाणां ज्येष्ठसूनव भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६४७

वर्षे प्रादुर्भूता । एषां ब्रह्मसम्बन्धसंस्कारस्तु श्रीविट्ठलेश्वराणां चतुर्थबालके श्रीवल्लभे श्रीगोकुलनाथेति प्रसिद्धैस्तैः कृत । श्रीहरिरायाणामसंख्याता सूक्ष्मग्रन्था दृश्यन्ते । सम्प्रदाये प्रसिद्धानि शिक्षापत्राण्यपि तैः प्रादुर्भावितानि । श्रीमदाचार्यचरणस्वरूपे तु शुद्धपुष्टिमार्गीय फलात्मक रसात्मक विप्रयोगात्मक साक्षाद्दैन्य मूर्तिमत् प्रादुर्भूतमनुभूयते । तेषां व्याख्यानानि सर्वाण्यपि भक्त्यनुगुणानि । नि साधनजीवानुग्रहार्थमेव तेषां प्राकट्यमिति प्रतिभाति । अत एवात्र मुद्रित तेषां निरोधलक्षणव्याख्यान निगूढ भक्त्यनुगुण सरस भक्तिनिष्ठजनानुग्रहार्थं विराजते ।

५ चतुर्थ व्याख्यान श्रीवल्लभानाम् । इद व्याख्यान श्रीमद्गोकुलनाथानामिति के चिद्वदन्ति । आदर्शौ तु पुस्तकद्वये श्रीवल्लभकृतमिति लिखितम् । अन्यस्मिन्नादर्शत्रये किमपि नाम नास्ति । श्रीगोकुलनाथा प्रसिद्धासु स्वकृतटीकासु श्रीमद्विट्ठलेश्वरप्रभुचरणान् स्वपितृचरणत्वेन आरम्भे नमस्कुर्वन्ति, अथवान्ते तथैव स्मरन्ति । अस्मिन् निरोधलक्षणविवरणे यद्यपि श्रीमत्प्रभुचरणा नमस्कृता , तथापि सामान्यत , न तु स्वपितृचरणत्वेन । अत एव कश्चित्सन्देह । श्रीमद्गोकुलनाथास्तु श्रीमद्विट्ठलेश्वरप्रभुचरणानां चतुर्थसूनव मार्गशीर्षशुक्लसप्तम्या १६०८ वर्षे प्रादुर्भूता । पौषकृष्णनवम्यां १६९७ वर्षे सिद्धिं गता । श्रीमत्प्रभुचरणलालेषु इमे अतिप्रसिद्धा । चिद्रूपादीनां सन्यासपापपिण्डिना मुखमर्दन कृत्वा मोगलराजजहागिर च वशीकृत्य स्वमार्गरक्षा एतैरेव कृता । सतां कण्ठे माला च तैरेव सुरक्षिता स्वस्वरूपबलेनैव । श्रीमदाचार्यप्रकटितश्रीमद्भागवतसुबोधिन्या विशेषप्रचारस्तैरेव कृत , अतस्तेषां श्रीसुबोधिनीप्रवर्तका इति नामापि प्रसिद्धम् । साम्प्रदायिकवार्तादीनां प्रकटीकर्तारोपि ते एव । स्व सम्प्रदायस्य प्रचारार्थं प्रवृद्ध्यर्थं च गुर्जरभूमिरनेकवार स्वचरणनलिनरजोभिस्तै पवित्रीकृता । दक्षिणे पुण्यपत्तनपर्यन्तमेकवार तदर्थमेव गता । परन्तु तत्रत्यान् कृष्णभक्तिरसानधिकारिण दृष्ट्वा तत्रत्य वर्तन्त । दाक्षिणात्या 'भैंसा' इत्युपहास तैरेव कृत । सङ्कीर्तनादिषु च प्रसिद्ध । श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रप्रसिद्धान्तमुक्तावलिपुष्टिप्रवाहमर्यादासिद्धान्तरहस्यान्त करणप्रबोधचतु श्लोकीभक्तिवर्धिनीत्यादीना ग्रन्थाना विवृतय तेषां नयनगोचरीभवन्ति । श्रीकल्याणभट्टकृतकल्लोले श्रीगोपालदासकृतमालाप्रसंगे च तेषां चरित्रादिक सुविस्तृत, विशेषजिज्ञासुभिस्तत्रैवावलोकनीयम् ।

६ पञ्चम व्याख्यान श्रीपुरुषोत्तमानाम् । श्रीमदाचार्येत पुरुषगणनया सप्तमीं सख्यां विभूषयन्तो भाद्रपदशुक्लदशम्यामेकादश्यां वा १७२४ वा १७१४ वा वर्षे प्रोद्भूता । तेषां विवरण वा खर्परीला तु सुबोधकमिति प्रतिभाति । विशेषत तेषां चरित्रजिज्ञासुभि पुष्टिभक्तिसुधेति मासिक पत्रिकाया पञ्चमवर्षस्य तृतीयाङ्को द्रष्टव्य । यावत्प्राप्य ग्रन्थमान्तर वा तेषां चरित्रादिकमस्माभिस्तत्रैव निवेदितमिति नात्र पुनरनूद्यते । अत्र मुद्रित तेषां निरोधलक्षणविवरण खर्परीला तु सुबोध कमाचार्यीय सप्रमाण प्रकटीकुर्वत् विराजते ।

७ षष्ठ व्याख्यान श्रीश्यामलसुतश्रीव्रजराजानाम् । इमे श्रीव्रजराजा माघकृष्णद्वितीयायां १६८२ वर्षे प्रादुर्भूता । श्रीमत्प्रभुचरणश्रीविट्ठलेश्वरतृतीयकुमारश्रीमद्बालकृष्णाना प्रपौत्रा दशदिगन्तविजयिगोस्वामिश्रीमत्पुरुषोत्तमानां पितृव्यचरणा । अधुना सुरतिपुरमलकुर्वन् श्रीबालकृष्णप्रभु गोकुले श्रीमद्द्वारकाधीशप्रभोरुत्सङ्गे विराजितवान् । स्वाग्रहेण तत्स्वरूप स्वशिरसि श्रीव्रजराजैः सुरतिपुरे सेवितम् । अत्र निरोधलक्षणव्याख्याने मङ्गलाचरणे श्रीव्रजराजैस्तत्स्वरूपमेव निरोधाधारत्वेन सूचितम् । तेषां रोचिषा श्रीमद्बालकृष्णप्रभु सुरतिपुरे श्रीपुरुषोत्तमाना मूर्ध्नि विराजितवान् । स एव श्रीमद्बालकृष्णप्रभुरद्यावधि तद्वंशीयानां श्रीव्रजरत्नानां शिरसि अधुना विराजते । श्रीपुरुषोत्तमा स्वपितृव्यचरण श्रीव्रजराज स्ववंशमणिं गणयन्ति । श्रीव्रजराजाना ग्रन्था भावपूर्णा बहव दृश्यन्ते । गीतामृततरङ्गिणी रत्नगोपालभट्टेन काश्या श्रीपुरुषोत्तमनाम्ना प्रकटीकृता । सप्तश्लोकीचतु श्लोकीकृष्णाश्रयादिषोडशग्रन्थेषु बहूना व्याख्यानानि भावात्मकानि तै प्रादुर्भावितानि दृग्गोचरीभवन्तीति ।

अत्र अस्माभिरुपलब्धानि षड्विवरणानि प्रकटीक्रियन्ते एतान्येव प्रसिद्धानि, तथापि एतावन्त्येव विवरणानि नैवाधिकानीति नैव शक्यते वक्तुमस्माभि । अतो यदि अत्रामुद्रित निरोधलक्षणव्याख्यान

केषाञ्चिद् महानुभावानां पुस्तकसंग्रहे विद्येत चेत्तदा ते कृपया यदि तद्पुस्तकानि प्रेषयिष्यन्ति, तदा तदपि सोपकारं स्वीकृत्य मुद्रयिष्यामः। प्रार्थयामहे च विद्वांसः भवन्त एतां प्रार्थनां कृपया स्वीकृत्य सम्प्रदायोन्नतिं कर्तुमुद्यता भविष्यन्तीति। कोटाग्रामस्थबालकृष्णशास्त्रिभिः श्रुतमेवास्माभिर्यत् श्रीमथुराधी-शमन्दिरसंग्रहे निरोधलक्षणस्य अन्यत् टीकाद्वयं वर्तते, एका श्रीकल्याणरायाणाम्, द्वितीया श्रीदेवकी-नन्दनानाम्। प्रयत्ने कृतेऽपि नास्माभिस्तद्विवरणद्वयमुपलब्धम्। अतस्तत्संग्रहमत्र कर्तुं वयमशक्ता इति।

वामनजयन्ती १९७३.
मुम्बई.

मूलचन्द्र तेलीवाला.
धैर्यलाल सांकलीया.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥
गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥
महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥
महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा ।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥
गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥
क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥
सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् ॥ ८ ॥
तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः ॥ ९ ॥

---

१ यहि पाठः । २ वति पाठः । ३ सदानन्दमयस्यापीति पाठः । ४ स्वत इति पाठः ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते[1] ॥ १० ॥
हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥
संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥
गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १३ ॥
तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥
भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥
एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो हरिवर्णने ।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥
हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभावं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥
नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितं निरोधलक्षणम्
समाप्तम् ।

---

१ तमिति पाठ । २ भूम्नि द्वादश योजयेदिति पाठ । ३ हरेः सुखस्पर्शादिति पाठ । ४ उत्कर्षमिति पाठ । ५ गुणवर्णने इति पाठ । ६. स्वेष्टमिति पाठ । ७ वायोरिति पाठ । ८ शेषभागमिति पाठ ।

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

निरोधलक्षणम्।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवृतिसमेतम्।

श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यामन्येषु च स्वग्रन्थेषु निरोधस्य निगद्यमानत्वात् तमाचक्षाणाः तदवश्यंभावसूचकं मनोरथस्वरूपमाहुः।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्॥ १॥

गोपिकानां त्विलन्तेन सर्वोत्कृष्टता स्नेहतमता च सूचितेति ज्ञेयम्। स्यादिति प्रार्थनायां लिङ्। क्वचिदिति दुर्लभत्वम्। तथा च बहिराविर्भूतो भगवान् मातृचरणादीनां विरहानुभवजननार्थं यदा मथुरां गतस्तदा यद्विरहात्मकं दुःखं समजनि तद्भवेदित्यर्थः॥१॥

विप्रयोगदशायां तादृशरसिकानुभवसाक्षिकान्तरसुखविषयकं मनोरथमाहुः।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति॥ २॥

त्विति पूर्ववदेव। यद्यपि नास्त्यत्र संशयस्तथापीष्टतमस्यार्थस्य सिद्धौ सन्देहास्पदताया लोकेऽपि दुर्निवारत्वात् किमुत सर्वसाधनाप्राप्यस्याखिलप्रमाणागोचरस्येति विभावनीयम्। ननु विहाय सर्वप्रसिद्धं संयोगसुखं कथमान्तराभिलाष इति चेत्। न। आन्तरस्य महाफलत्वादस्यामवस्थायामस्यैवोचितत्वादुत्कृष्टसंयोगसुखस्य च विजातीयवपुःसाध्यत्वादितिदिक्॥ २॥

अथ 'सर्वेन्द्रियसुखास्वादो यत्रास्तीत्यभिमन्यते। तत्प्रातीच्छां ससङ्कल्पामुत्कण्ठां कवयो विदु'रितिलक्षणलक्षितोत्कलिकाजनकोत्सवविषयकमाहुः।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्॥ ३॥

यदा भगवदुक्तं वाचिकमादायोद्धवः समागतस्तदा जातो यश्च वृन्दावने रासक्रीडायां भगवदन्तर्धानानन्तरमाविर्भूते सति जातो यो वा **गोकुले** जात इत्यर्थः। सर्वेषामपि प्रत्येकं विजातीयोत्कलिकाजनकत्वेन स्पृहणीयत्वात् सर्वविषयक स इति ध्येयम्॥ ३॥

अवान्तरभेदविशिष्टान्तरविषयकमाहुः ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

'अस्मिन्मार्गे स्वामिन्य एव गुरव' इतिश्रीप्रभुचरणोक्तिरनुसन्धेया । तथा च महत्पदवाच्यास्ता एवेति तादृशगुरूणामनुकम्पयेत्याशयः । सुखायेति । सुखजनकः स्यादित्यर्थः । सुखसमूहरूपो भगवान् यद्यल्लीलाविशिष्टः कीर्त्यते तत्तल्लीलासहितो हृद्याविर्भूतः सन्नन्तरानन्दमनुभावयतीत्याशयः ॥ ४ ॥

इदानीं विजातीयकीर्तनविषयकं तमाहुः ।

महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा ।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

स्वामिनीनां कृपया हृदि स्फुरितस्य भगवतो यत्कीर्तनं तदेव सर्वदा मनसि सुखं स्यात्, न तु लौकिकानां विहितकीर्तनोपदेष्टॄणां कृपयेत्यर्थः । एषां मर्यादास्थत्वेनोत्कृष्टपुष्टावप्रवेशात् । तत्कृपास्फुरितकीर्तनस्य विहितकीर्तनस्य च तारतम्येन सुखजनकत्वे दृष्टान्तमाहुः स्निग्धेति । रूक्षपदेन रूक्षभोजनम् । तथा च स्निग्धभोजनरूक्षभोजनयोस्तारतम्येन सुखजनकत्वं यथा तथा तत्कीर्तनयोरपीतिभावः । एवञ्च महत्कृपया स्फुरितस्यैव कीर्तनं मे हृदि सुखजनकं भवत्विति मनोरथ इति ध्येयम् ॥ ५ ॥

ननु मर्यादामार्गीयविहितकीर्तनेपि अश्रुपुलकादीनां सत्त्वात् कथमयमेवाग्रह इत्याशंकाभासस्य समाधानमाहुः ।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गोगोकुलपतेरनन्यगोकुलस्वामिन इति यावत् । गुणगाने क्रियमाणे यथा आनन्दो भवति तथा विरक्तानां ब्रह्मभावापन्नानां शुकादीनामपि आत्मनि न भवति, किमुतान्यत्रेत्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं निरोधसाधनीभूतभावविषयकं निरोधावस्थाभावसूचकं मनोरथमुक्त्वेदानीं तादृशमनोरथविपर्ययभूते दुःखे जायमाने कदाचित् कृपया आन्तरं सुखमपि प्रयच्छति तदाहुः ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

भवेदिति देहलीदीपन्यायेनोभयत्राप्यन्वेति । यदा कृपालुर्भवेत् तदा विरहदुःखानुभवितृहृदयस्थितं सदानन्दं भगवत्स्वरूपं सर्वं सर्वाङ्गेन मायोद्घाटनेन अयोगोलके वह्निवत् कियत्कालं हृदय एव बहिरपि भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु 'शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ती'त्यादिमर्यादामार्गीय-श्रवणादिभिरप्यानन्दो भगवदाविर्भावश्च भवेतामेव तत्कोयमाग्रहो दुःखानुभव इत्याशंक्याहुः।

सदानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् ॥ ८ ॥

क्लेशं विना कृपानन्दो नेत्याशयः । तर्हि गुणगानस्य किं फलमत आहुः हृद्गत इति । स्वगुणश्रवणेन कृपया पूर्णः सन् स्वरूपानन्देनाप्लुतान् करोतीत्यर्थः । यथा बाह्य-रमणे रासक्रीडायां विरहानुभवानन्तरं 'जयति तेधिकं जन्मने'त्यादिना कृते गुणगाने कृपया पूर्णः सन् स्वरूपानन्दं प्रायच्छत्, तथान्याप्यान्तररमणे संकल्पप्रतिमातो भगवान् भजनानन्दस्य कश्चन लेशं ददातीत्याशयः । 'यद्यपि गतिस्मितप्रेक्षणे'त्यत्र गुणगानं नोक्त-मान्तररमणे, तथापि बाह्यरमणानन्तरगन्तर्धाने विनापि गुणगानं आन्तरमास्ताम्, परन्तु साधनदशायामेतच्छरीरावच्छिन्नात्मनीयमेव सरणिरिति ध्येयम् । ननु विकलत्वास्वास्थ्य-नाशकान्तररमणसम्पादनं भगवतो नोचितमिति चेत्, न । विप्रयोगस्यैवोद्बोधकमिदमा-न्तरमित्यधिकतरास्वास्थ्यविकलत्वयोर्जनकमेव । तथा चोक्तं श्रीमद्व्रजरत्नपृष्ठेन श्रीगोपी-जनवल्लभेन 'यथाधनो लब्धधने प्रणष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेदे'ति । तथा च किञ्चित्कालिकोऽयमाविर्भावो निर्धनस्याल्पकालिकधनलाभ इव भक्तस्य सङ्कल्पप्रतिभाते भगवत्स्वरूपे संयोगरसस्याप्लुलाभः । ततस्तदनवाप्तेरधिकतममस्वास्थ्यं विकलत्वं च भवतीति ध्येयम् ॥ ८ ॥

एवं कृपोद्रेकजनकगुणगानमावश्यकमित्याहुः ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता स्वतः ॥ ९ ॥

निरुद्धैः पुष्टिमार्गीयैः **सदानन्दपरैः** श्रीकृष्णमात्रनिष्ठान्तःकरणैः एवंकृतौ स्वतोऽनभिलषितापि **सच्चिदानन्दता** स्फुरतीत्यर्थः । तथा च गुणगाने तु कृपोद्रेक-जननार्थमेवेयं तु स्वत एव भवतीति भावः ॥ ९ ॥

नन्वीदृशालौकिकप्रकारे किं प्रमाणमित्याशङ्क्य स्वानुभवमेव प्रमाणमाहुः ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम् ॥ १० ॥

निरुद्धः पुष्टिमार्गीयोऽहं **रोधेन** भजनानन्दातिरिक्तयावत्फलेभ्यो निवृत्त्या **निरोध-पदवीं** निरोधाधिकरणतां प्राप्तः सन् **निरुद्धानां** पुष्टिमार्गीयाणां **रोधाय** रोधसिद्ध्यै यदधिकरणतामहं प्राप्तस्तं **निरोधं** कथयामीत्यर्थः । ते इति पाठे कमपि वक्ष्यमाणशङ्का-वन्तमभिमुखीकृत्य ते तुभ्यं कथयामीत्यन्वयः ।

ननु निरोधस्य भगवताग्रे सम्पादयिष्यमाणत्वान्निरुद्धानामिति वचः कथं सङ्गच्छत इति चेत्, न । भगवतो विषयाव्यभिचारिण्यामेवविधस्वरूपानन्ददित्सायां सम्प्रदानत्वेन विषयीभूते पुष्टिजीवे सिद्धवत्कारेण निरुद्धपदप्रयोगे न काचिदप्यनुपपत्तिरिति ध्येयम् । ननु कोयं रोध, को वा निरोध इति चेत्, उच्यते । लोकवेदसमाधिभापाप्रसिद्धपशुपुत्रादिपुरुषोत्तमसायुज्यान्तयावत्फलेभ्यो निवृत्ती रोध., रोधपूर्विकात्मोपाधिकप्रियत्वानिबन्धना भगवन्मात्रोपाधिकप्रियत्वनिबन्धना भगवत्परता निरोधः । रोधे भजनानन्दातिरिक्तयावत्फलनिरपेक्षता, निरोधे तु स्वात्मनोपि निरपेक्षता, यतो भगवान् स्वार्थं न प्रियः, किन्तु स्वात्मापि भगवदर्थमेव प्रियो, भगवानपि भगवत्त्वेनैवेत्ययमेव नितरां रोधो ऽ स्वात्मनोपि निवृत्ति । तथा च रोधनिरोधयोरय भेदः । इत्थ च 'न वा रे पुत्रस्य कामाय पुत्र प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पुत्र प्रियो भवती'ति श्रुतेः सर्वत्रात्मोपाधिकमेव प्रियत्वम्, तन्निबन्धनैव च प्रवृत्तिः, अत्र तु स्वात्मनो भगवतश्च प्रियत्वे भगवानेवोपाधिरिति भगवन्मात्रोपाधिनिबन्धनैव भगवद्विषयिणी प्रवृत्तिर्भजनानन्ददित्सानिषयीभूते जीवे पूर्व रोध सम्पाद्य भगवता निरोध· सम्पाद्यत इति भाव । ननु निरोधो भगवतः क्रीडा, तत्कथमिदं लक्षणमिति चेत्, न । रोधनिरोधयो· सम्पादनमपि भगवतो विशिष्टक्रीडायामेव निविशते, न तदतिरिच्यत इति दिक् । तर्हि रोधस्य भगवदेकसम्पाद्यत्वे रोधसिद्ध्यर्थं श्रीमदाचार्यकर्तृक निरोधवर्णन कुतोपयुज्यत इति चेत्, न । 'नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिन'मित्युक्ते'निरोधपदवीं गत' इत्युक्तेश्चात्मवरतमन्तःकरणे श्रीमद्गोपीजनवल्लभो भगवान् रममाणस्तिष्ठति । तथा चान्त·करणस्थो भगवानेवाचार्याणामाननसरोजेन पुष्टिजीवानामुक्तलक्षणरोधसिद्ध्यर्थं निरोध वर्णयामीति वदतीति ध्येयम् । उक्तश्चैवमुतोर्थे श्रीमदाचार्यचरणैर्दशमस्कन्धस्य प्रथमाध्याय'स्तैतन्निशम्य भृगुनन्दन साधुवादम् । वैयासकि· सभगवानथ विष्णुरात'मित्यस्य श्लोकस्य विवरणे 'भगवता सहित· तदन्त·स्थितो भगवानेवोत्तर प्रयच्छती'त्यनेन सभगवानितिपदव्याख्यानेन 'वाण्या यदा तदा स्वास्ये प्रादुर्भूत चकार ह'ति सर्वोत्तमे श्रीमत्प्रभुचरणोक्तेर्भगवन्मुखारविन्दमेव श्रीमदाचार्या इति तदीयैरनिरतमाकलनीयमिति दिक् । इत्थ च भगवानेव निरोधवर्णनेन निरोधस्य सर्वोत्कृष्टत्वेन ज्ञानमुत्पाद्योक्तफलेभ्यो निवर्तयतीति भगवत्सम्पाद्यत्व रोधस्येति सर्व सुस्थम् । वस्तुतस्तु यदत्र साधन यच्च फल तत्सर्वं चरणैकलभ्यत्वाद्भगवदेकसाध्यमेवेति किमिभिरसत्तर्कैरिति भाग्यवद्भिर्विभावनीयम् । निरुद्धानां त्विति तुशब्दादन्यार्थं न वर्णयामीति भाव ॥ १० ॥

ननु पुनः सर्वार्थं न निरूप्यत इत्याकाङ्क्षायामाहु· ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

सर्वेदु खहर्तापि येऽन्यविषयेभ्यो निर्मोच्य स्वस्वरूपलिप्सवो न कृतास्तेषा मन्दभाग्यानामर्थे कथ निरूपणीयमिति भाव । यद्यपि तेषा मार्गान्तरेण यत्किञ्चिदपि फल जायताम्, तथाप्येतदतिरिक्तफलेषु सामान्यबुद्धिरेव श्रीमदाचार्यचरणानागत एव भवसागरे मग्ना इत्यूचिरेतराम् । श्रीमद्भागवतेपि 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इति ॥ ११ ॥

भावनासाधनीभूता साधनतापन्नरोधपदवाच्या भावनामाहु ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥

रूपरसादितन्मात्रासु पर्यवसन्नत्वाद् दुष्टाना चक्षूरसनादिज्ञानेन्द्रियाणा निपिद्धनानानियाजनकाना कर्मेन्द्रियाणा तत्तद्दोपनिरसनपूर्वक तत्तत्फलसिद्धौ सदानन्दस्य सर्वान् रूपादीन् पदार्थान् तत्तदिन्द्रिययोग्यान् योजयेदित्यर्थ । नन्वनवरतमन्तरङ्गभक्तैर्भज्यमानस्य भगवतस्तत्र तत्तोपयुक्ता सर्वे पदार्था कथ योजयितु शक्या इत्याशङ्कायामाहु भूम्न इति । ईशस्य सर्वसमर्थस्य भूम्न बहुत्वात् । तथा च युगपदनेकेषु स्थलेषु मायोद्घाटनेनाविर्भवति भगवति सर्वमुपपद्यत इति भाव । योजनप्रकारस्त्वग्रे वक्ष्यते ॥ १२ ॥

नतु मनोमात्रयोजनेन निःप्रत्यूहं ब्रह्मरूपं रूपरसादिविषयवैराग्यजनकमविदितदु खं विहाय कथमेवविधप्रकारे प्रवृत्तिर्जीवेतेतिशङ्कानिरासाय ज्ञानमार्गे यत्परमफल तदत्र गुणवर्णकस्य निविडाच्छन्ननौकया गच्छतोऽनायासमानशीतसदागतिस्पर्श इव मध्येमार्गमिदमवान्तर फलमित्याहु ।

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १३ ॥

संसारस्य विरहो लौकिकविषयवियोगजन्य दु ख **क्लेशो** रोगादिजन्यो द्वावपि न भवेतामित्यर्थ । न हि क्षार कूपपानीय पिवत पामरस्यापि पानकपानसम्पत्तौ तादृशकूपपानीयविरहो दृष्ट श्रुतो वा । एव प्रकृतेष्वपरसानविरसान् नश्वररूपादीन् गुणानस्य स्वरूपानन्दानुभवसम्पत्तौ न संसारविरह इति भाव । हरिवदिति । स्वरूपानन्दो यो भगवतानुभूयते स एवानेनेति भाव ॥ १३ ॥

नतु गुणमात्रनिष्ठया कुत एव करोतीत्याशङ्कायामाहु ।

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥

यदि गुणमात्रनिष्ठयैव न कुर्यात्तदा क्रूरता मता । दयालुत्व न स्यात् । तथा च

निसर्गदयालु भगवत्स्वरूपं कथमन्यथा भवेदित्यन्यथा क्रूरतेत्यस्यार्थः । इत्थं च सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिरितियुक्तिरुक्तेति भावः । एवं ज्ञानमार्गोपास्येऽव्यक्ते मनोयोजनेन यत्फलं जायते तदत्र गुणमात्रे मनोयोजनेनेति ध्येयम् । निःप्रत्यूहमित्यत्राहुः बाधेति । देशकालादिसापेक्षसाधनसाध्यफले हि कालादिकृतप्रतिबन्धशङ्का स्यादयं तु भगवदनुग्रहातिरिक्तसर्वसाधनरहित इति न तच्छङ्केति भावः । ब्रह्मेत्यत्राहुः तदिति । तदध्यासोऽक्षरात्मता । यद्यपि नेयमिष्टा तथापि गुणगानेन संसारावेशनाशे सति स्वस्वरूपस्फूर्तिरनाशास्यमानापि निसर्गादेव जायते, यतो जीवस्य मूलमक्षरं ब्रह्मेति ध्येयम् । तथा चोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्या विवृतौ ब्रह्मबोधनमित्यस्य व्याख्यायां तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत इति ॥ १४ ॥

रूपेत्यत्राहुः ।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

ज्ञानमार्गे 'मात्रास्पर्शास्त्वि'तिवाक्येन यत्नपूर्वकमनित्यत्वादिभावनेन पलाग्निर्वेदः, अतोऽस्थिरश्च भवति, प्रकृते तु तन्मनस्कत्वादिसिद्ध्यानवरतमानन्दमात्रकरपादमुखोदरत्वादिभगवद्धर्मस्फूर्त्या सर्वत्र मनश्चक्षुरादीनां रागात् प्रवृत्तेः कदर्थ्येषु विषयेषु जायमानो विरागः स्थिर एव भवतीत्यर्थः । अविदितेत्यत्राहुः गुणैरिति । सर्वदुःखहर्तुर्यत्सुखं तस्य स्पर्शादीषत्सम्बन्धमात्रादित्यर्थः । तथा च सर्वांशेन तदनुभवस्य भगवतो विजातीयवपुःसम्पादनेन करिष्यमाणत्वादत्र स्पर्शमात्रमेवोक्तमिति ध्येयम् ॥ १५ ॥

उपसंहरन्ति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो हरिवर्णने ।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

उत्कर्षो गुणेति पाठे ज्ञानमार्गाद्गुणवर्णने उत्कर्षोऽस्ति एवं ज्ञात्वेत्यन्वयः । अमत्सरैरिति । एतन्मार्गीयभगवद्भक्तेषु द्वेषरहितैस्तेषामनवरतमेतद्भावावेशेन भावात्मकभगवदात्मकत्वात् स द्वेषो भगवत्पर्यवसायी भवतीत्याशयः । अलुब्धैरिति । स्वस्यैवंविधभगवदीयत्वख्यापनेनोदरदरीमपूरयद्भिरित्यर्थः ॥ १६ ॥

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतमिन्द्रिययोजनप्रकारमाहुः ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभावं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

१ भगवद्भक्तेष्वद्वेषरहितैरिति पाठः । २ स्पष्टे -ष्टे पाठः । ३ शेषभागमित्यपि पाठः ।

मुख्यं तु विजातीयवपुःसाध्यमिति तदसम्भवात् सङ्कल्पादपि दर्शनादि सर्वं भावयेदित्यर्थः । अन्न'क्षण्वतां फल'मित्येतद्व्याख्यायां 'भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च । आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः ॥ अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा । तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वतः ॥ तदन्तिकगतिर्नित्यमेवं तद्भावनं सदे'त्येतत्सर्वमनुसन्धेयम् । **स्पर्शनं स्पष्टमिति** पाठे अत्रैव लोके प्रकटमाधिदैविकमुत्तमं 'कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णो भुंक्ते न चापर' इत्यनुसन्धेयम् । पुत्र इति । सङ्कल्पाज्जातत्वात् सङ्कल्पस्य पुत्रे कामे इत्यर्थः । अत एव 'भगवानपी'तिश्लोकविवरणे 'कामपितामहं मन उत्पादितवा'नित्यनेन कामपितामहत्वमुक्तं मनस इति ध्येयम् । नन्वत्र काम आपामरप्रसिद्धो ग्राह्योऽन्यो वेत्याशङ्कायामाहुः कृष्ण इति । अलौकिक इत्यर्थः । उक्तं 'चात्मारामोऽप्यरीरम'दित्येतद्व्याख्यायां 'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यत' इति श्रीमदाचार्यचरणैरिति ध्येयम् । **रतिरिति** । अलौकिकं तत्प्रादुर्भाव्य स्पर्शविशेषो भावनीय इत्यर्थः । नन्विन्द्रियेषु पायोरपि सत्त्वात् तस्य का गतिरित्याशङ्कायामाहुः **पायोरिति** । मलांशत्यागमात्रैकप्रयोजनकस्योपरोधजदुःखनिवर्तकस्य सुखाजनकत्वास्य **शेषभावं** गौणत्वं प्रापयेदित्यर्थः । तथा चाकिञ्चित्करत्वाद्व्यर्थमेवेति भावः । **वायुमिति** पाठे अजामरण्यं नयतीतिवत् स्पष्ट एवान्वयः ॥ १७ ॥ १८ ॥

तर्हि स्त्रीपुमवयवविशेषयोः का गतिरित्याशङ्कायामाहुः ।

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

विनिग्रहस्तिरस्कारोऽवगणनेति यावत् । तथा च पयास्य्यादीनि भक्ष्याणि च तथानुपयोगात् पुमवयवविशेष इति तस्य निग्रह इति भावः । **वेति** विकल्पादेकस्यास्तूपयोग इति ध्येयम् ॥ १९ ॥

एवं निरोधमुक्त्वा स्वाज्ञामुपदिशन्ति ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

मन्त्रो मननीयो नितरां गोपनीयश्च । **स्तवो** भगवत्प्रसादहेतुः । **विद्या** काम्यमानयावदर्थसाधनम् । **तीर्थं** प्रतिबन्धकीभूतदुरितनिचयनिरसनपूर्वकं तत्प्राप्तिसम्पादकभागधेयोद्बोधकमित्यर्थः ॥ २० ॥

इतिश्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणात्मजश्रीघनश्यामतनयश्रीगोपेशगोस्वामिविरचिता निरोधलक्षणविवृतिः समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतनिरोधलक्षणविवृतिसमेतम् ।

देयात्सु प्रार्थितं मह्यमनुरूपफलद्वयम् ।
व्यासेन च समासेन फलत्रयसुता स्वयम् ॥ १ ॥

निरोधलक्षणमिति ग्रन्थनाम । निरोधस्य लक्षणं लक्ष्यते अनेन तादृशमिति करणव्युत्पत्तिरत्र । तथा च लक्षणनिरूपणेन निरोधज्ञापकमित्यर्थः । तत्र लक्षणं द्विविधम्, स्वरूपलक्षणं कार्यलक्षणं चेति । तत्र स्वरूपलक्षणं यथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति । कार्यलक्षणं यथा 'जन्माद्यस्य यतः' इति । तत्र स्वरूपलक्षणं दशमस्कन्धे बहुधा निरूपितमिति कार्यलक्षणान्यत्रोच्यन्ते यच्चेत्यादिना ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

नन्दादीनां चेत्यत्रादिपदेन उपनन्दादयः । चकारेण अन्तरङ्गगोपाः । तथा च यशोदाया नन्दस्य उपनन्दादीनामन्तरङ्गगोपानां च यद् दुःखं येन पूर्वोक्तत्रयाणां दिवा वनगमने भगवच्चिन्तनमन्तरङ्गगोपानां च रात्रौ गुणगानं तद् दुःखम् । चकारात् पूर्वोक्तानां चतुर्णां दुःखं लीलानुभवरूपं निरोधलक्षणं भगवदासक्तिकार्यमित्यर्थः । गोपकृतगुणगानस्यासक्तिकार्यत्वमष्टादशाध्यायकारिकासु स्फुटम् । अन्येषु लक्षणेष्वन्यस्यानधिकारात् स्वपरत्वेनैव तानि निरूपयन्ति **गोपिकानां** त्विति । 'निन्युर्दुःखेन वासरा' नित्यत्रोक्तं दुःखं च निरोधकार्यम् । इदं तु क्वचिन्मम स्यात्, अन्यस्य तु सर्वथा दुर्लभमेवेत्यर्थः । अन्यव्यावृत्तये तुशब्दः । चकारपक्षे इदमपि दुःखं निरोधकार्यमिति समुच्चयः ॥ १ ॥

सुखरूपं निरोधलक्षणमाहुः गोकुले इति ।

गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

गोपिकानां चकारेण अन्तर्गृहगतानां यत्सुखं पूर्वदलानुभवरूपम् । सर्वव्रजवासिपदेन अन्तरङ्गदास्य उच्यन्ते । पुल्लिङ्गपदं परोक्षवादाय । तेषां च यत्सुखमत्यन्त

रङ्गलीलादर्शनरूपं सममूत् तदपि निरोधलक्षणम् । अन्यस्यायोग्यमतो भगवान् मे किं
विधास्यतीत्याशंसेत्यर्थः । अत एव अष्टकान्ते विठ्ठलपदाभिधेये मय्येवेत्येवकार उक्तः ॥२॥

आत्यन्तिकविरहानुभवरूपं मुख्यं लक्षणमाहुः **उद्धवागमनेति** ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

सुमहा-
उत्सव आत्यन्तिकविरहानुभवरूपः । एतस्य मुख्यफलत्वसिद्धान्तात्
नित्युक्तम् । अयमुत्सवो गोपिकानां नन्दादीनां च भ्रमरगीतप्रसङ्गे अध्यायद्वयेनोक्त इति
वृन्दावने गोकुले वेत्युक्तम् । अथ अन्यस्यानधिकार इति **मे मनसि** स्यादिति उक्तम् ।
दुर्लभत्वख्यापनाय **क्वचिदिति** । एतेषु स्वाशंसाकथनेन पूर्वं 'यच्च' इत्यर्धेनोक्ते दुःखसुखे
अन्येनापि भक्तेन मयि स्यादिति आशास्य इति सूचितम् । तथा च यशोदाया नन्दस्योप-
नन्दादीनामन्तरङ्गगोपानां च दुःखसुखानि निरोधलक्षणानि भक्तेन स्वपरत्वेनाशास्यानि ।
गोपिकानां दुःखसुखे, अन्तरङ्गगोपीनां अन्तर्गृहगतानामन्तरङ्गदासीनां सुखम्, सर्वेषा-
मात्यन्तिकविरहानुभवश्च । इमानि निरोधलक्षणानि स्वरूपतो ज्ञेयानि, न तु स्वपरत्वे-
नाशास्यानि, तत्रानधिकारादित्युक्तम् । भगवान् कृपया सम्पादयेच्चेदस्तु, स्वयं नाशास्या-
नीत्यर्थः ॥ ३ ॥

स्वपरत्वेन आशास्यस्य पूर्वोक्तस्यापि फलस्य दुर्लभत्वेन चिरकालसाध्यत्वात्
तत्सिद्धिपर्यन्तं क्लेशाभावायावान्तरं निरोधफलमाहुः **महतामिति** ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

महतामत्यगुरूणां स्वामिनीनां **कृपया भगवान् यावद्दययिष्यति**
पूर्वश्लोकार्धोक्तं फलं सम्पादयिष्यति **तावत् कीर्त्यमान आनन्दसन्दोहो** भगवान्
सुखाय भवति । गुणगानजं सुखं निरोधस्यावान्तरफलमित्यर्थः ॥ ४ ॥

मुख्यफलस्य स्वामिनीकृपासाध्यत्वमुक्त्वा अवान्तरफलमप्यत्र तत्कृपासाध्यमेव
ज्ञेयमित्याहुः **महतामिति** ।

महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा ।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

लौकिकानां लोके प्रसिद्धानां नारदशुकादीनां कृपया जातं कीर्तनम्, **तथा**
स्वामिनीकृपया सञ्जातकीर्तनप्रकारकसुखदं नेत्यर्थः । तत्र हेतुं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्ति **स्निग्धे-**
ति । स्निग्धभोजनं रूक्षभोजनं च तद्वदित्यर्थः । स्वामिनीकृपया अन्तर्भगवत्प्राकट्यात्

१ श्रीविठ्ठलेश्वरप्रभुचरणप्रकटितस्वामिन्यष्टकोपन्यासोऽन ।

कीर्तनस्य स्निग्धभोजनतुल्यत्वम् । अन्यत्र तु मानसा मूर्तेः कल्पितत्वेन वस्तुतः प्राकट्याभावात् कीर्तनस्य रूक्षभोजनतुल्यत्वम् । महतामित्यस्य कीर्त्यमानेनाप्यन्वयः । तत्कृतं कीर्तनं न त्वन्येनोपनिबद्धमित्यर्थः । मुख्यफलप्राप्तिपर्यन्तं गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम् ॥५॥

तत्र कर्मणापि तावत्पर्यन्तं क्रममुक्तिप्रकारेण स्वर्गादिसुखावाप्तिसिद्धौ किमर्थं गुणगानाग्रह इत्याशङ्क्याहुः गुणगाने इति ।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गुणगाने यत्प्रकारिका **सुखावाप्तिस्तत्प्रकारिका** सुखावाप्तिः **शुकादीनां** सिद्धज्ञानानां तत्रापि **आत्मनि** आत्मविचारदशायामपि **न** जायते, तर्हि **अन्यतः** कर्मभ्यः **कुतः** स्यादित्यर्थः । अत एव 'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य' इत्यादि वाक्यानि ॥ ६ ॥

तत्कृतकीर्तने विशेषमाहुः **क्लिश्यमानानि**तिद्वयेन ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥
सदानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् ॥ ८ ॥

सदानन्दं सद्रूप आनन्दो यस्मिन् तादृशं स्वरूपं **क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत्** तदा बहिर्निर्गतं भवति, स **कृपानन्दस्तु सुदुर्लभः** । कर्मणा ज्ञानेन वा न भवति, किन्तु क्लेशेनैव भवति, अतस्तथेत्यर्थः । सदानन्दस्य बहिर्निर्गमनं विवृण्वन्ति **हृद्गत** इति । तत्तद्धृदिस्थो भगवान् **स्वगुणान्** अन्योऽन्यं वर्णितान् **श्रुत्वा पूर्णो** भवति । इदं द्वात्रिंशाध्यायकारिकायां स्फुटम् । स्वयं **पूर्णः** सन् **जनान् प्लावयते**, स्वरूपानन्दे निमग्नान् करोति, तेषामन्तर्बहिः स्वरूपानन्दं प्रकटीकरोति । इदं सदानन्दस्य बहिर्निर्गमनमित्यर्थः ॥ ७,८ ॥

स्वरीकर्तुमुपसंहरन्ति **तस्मा**दिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः ॥ ९ ॥

सर्वं कर्मज्ञानादिप्रयासं **परित्यज्य निरुद्धै**र्भक्तैः सह **सदानन्दपरैः** कर्तृभिः **गुणा गेयाः** । एतस्य फलस्य अवान्तरत्वं साधयन्ति **सच्चिदानन्दते**ति । **ततो** गुणगानात् **सच्चिदानन्दता** भवति, अलौकिकशरीरप्राप्त्या परमफले स्वरूपयोग्यता भवतीत्यर्थः । **स्वत** इति पाठे गुणगानस्वभावादेव भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

ननु यैः सह गुणा गेयास्ते निरुद्धाः कथं ज्ञेया इत्याशङ्क्य तदभिज्ञापकं कथयामीत्याहुः अहमिति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥ १० ॥

रोधेन निरोधपूर्वावस्थापन्नेन भावविशेषेण अहं निरुद्धः निरोधस्य पदवीं मार्गं पूर्वोक्तमुख्यफलपर्यन्तं गतः प्राप्तः । अतो गोपिकानां त्वित्यादिनोक्तफले इव अभिज्ञापककथने मम न प्रयोजनम्, किन्तु अन्यार्थं कथयामीत्याशयेन कश्चित्सेवकमभिमुखीकृत्याहुः ते इति । तव निरुद्धानां सम्बन्धि यो रोधस्तदर्थं त्वयि तादृशभावसिद्ध्यर्थमित्यर्थः । निरोधं वर्णयामि अभिज्ञापककथनेन कथयामीत्यर्थः ॥ १० ॥

विविच्य कथनाय व्यावर्त्यानामपि अभिज्ञापकमाहुः ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

सर्वदुःखहर्त्रापि ये विनिर्मुक्तास्ते भवसागरे मग्ना इति व्यावर्त्यानामभिज्ञापकमुक्तम् । निरुद्धानामभिज्ञापकमाहुः ये इति । अत्र गुणगानादौ इत्यर्थः । यथा सर्वज्ञत्वमलौकिकं तेजश्च ज्ञाने निदर्शनम्, तथा गुणगानादौ मोदो निरोधे निदर्शनम् । एवं निदर्शनेन निरुद्धान् ज्ञात्वा तैः सह गुणगानं 'यत्र' इत्यर्धेनोक्तफलसिद्धिपर्यन्तं कर्तव्यम् । फलप्राप्त्यनन्तरं तु तत्स्वभावप्राप्तमेव सर्वं भविष्यतीति न तत्र कथनापेक्षेति भावः ॥११॥

ननु परमदयालुर्भगवान् कथं कांश्चिज्जीवान् मुञ्चति येन ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्याशङ्क्य धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धमेतदिति आहुः गुणेष्विति सार्धेन ।

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १२ ॥
तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।

समाधानं तु निबन्धे 'आत्मसृष्टेर्न वैषम्य'मित्यनेनोक्तमत्र ज्ञेयम् । येन संसारक्लेशो भगवद्विरहक्लेशश्च निवर्तेते, हरेरिव सुखं च भवति, तादृशगुणावेशो यदा भवति तदा भगवतो दयालुत्वं भवेत् । एतावत्फलपर्यन्तं प्राप्ता भक्तिमार्गीया एव भवन्तीति भक्तिमार्गीयेषु दयालुत्वं भवतीत्यर्थः । अन्यथा भक्तिमार्गीयत्वाभावे भगवतः क्रूरता तेषां मोचनम्, येन ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्यर्थः । कर्ममार्गे पुनरावृत्तिकथनात् संसारे मज्जनम् । ज्ञानमार्गेऽपि 'ज्ञानिनामपि चेतांसी'ति वाक्यात् तथा । इदं निबन्धे द्वितीयप्रकरणान्ते व्यवस्थापितम् । इदं सर्वं प्रमाणसिद्धमेवेति मत्वेत्युक्तम् ॥ १२ ॥

ननु ज्ञानमार्गे मायेव अत्रापि कश्चिद्बाधेतेत्याशङ्क्याह— ।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १३ ॥

अत्र बाधसम्भावनापि नास्तीत्यर्थः । तत्र हेतुः तदध्यासोपीति । माया हि संसारे अध्याससम्पादनेन मज्जयति, अत्र तु भगवदीयत्वेनैव अध्यासो भवतीत्यर्थः । गृहं सर्वात्मना त्याज्यमिति त्यागपक्षसमुच्चयाय अपिशब्दः ॥ १३ ॥

गुणावेशेन उभयक्लेशाभावे हेतुमाह ।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १४ ॥

गीयमाना ये भगवद्धर्मास्तत्सामर्थ्यात् विषयवैराग्यं भवति, तेन संसारक्लेशाभावः । गुणैः हरिसुखस्पर्शाद्विरहक्लेशाभाव इत्यर्थः ॥ १४ ॥

मार्गान्तरेभ्य उत्कर्षं स्फुटं कर्तुमुपसंहरन्ति एवमिति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो गुणवर्णने ।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १५ ॥

ननु 'पराञ्चि खानी'तिवाक्यादिन्द्रियाणामन्यपरत्वस्य स्वाहजिकत्वात् तैः सर्वदा विषयभोगे गुणगानं कथं भविष्यतीत्याशङ्क्य तदुपायमाह ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १६ ॥

एतेषां हिताय भगवत्परतासिद्धये कृष्णस्येशस्य वस्तूनि एतैः सह योजयेत् । प्रपञ्चे ब्रह्मभावनां कुर्यादितिसिद्धान्तमुक्तावल्युक्तोऽपीनुसन्धातव्यः । भूम्नेति चतुर्थी । भूमा सर्वात्मभावस्तदर्थमित्यर्थः । भगवदीयैरेव वस्तुभिः सर्वव्यवहारसिद्धौ सर्वोऽप्यात्मनो भावो भगवति सिद्धो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

भगवदीयवस्तूनामिन्द्रियैः सह योजनेन सिद्धं प्रकारं विवृण्वन्ति हरिमूर्तिरिति ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥
नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

आद्यचरणेन मनसो भाव उक्तः । इन्द्रियाणामाहुः सङ्कल्पादपीति । दर्शनस्पर्शनकृतिगतिश्रवणकीर्तनानि चक्षुस्त्वक्पाणिपादश्रोत्रवाक्कार्याणि सङ्कल्पादपि तत्र भगवत्येव सम्पादनीयानि । भगवद्विषयकाण्येव दर्शनादीनि सङ्कल्पनीयानि, न तु विषयविषयकाणीत्यर्थः । मुख्यतस्तु भगवद्विषयकाणि तानि कर्तव्यानि । तदसम्भवे सङ्कल्पमात्रमपि कर्तव्यमिति सङ्कल्पस्य ततो गौणत्वसूचनाय अपिशब्दः । भगवद्धर्मसामर्थ्यसिद्धवैराग्यस्वरूपं तेन साध्यं फलं च वदन्तः पायोर्विनियोगमाहुः पुत्रेति । कृष्णप्रिये पुत्रे रतिः कर्त्री, पायोर्मलत्याजकेन्द्रियाद्धेतोर्मलांशस्य प्राकृतभावस्य त्यागेन शेषभागं अलौकिकत्वं तनौ नयेत् प्रापयेदित्यन्वयः । मलत्यागस्य पायुकार्यत्वात् पायुग्रहणम् । अत एवा 'सिसृक्षोः पुरः पुर्या नाभिद्वारमपानत' इति देहत्यागस्य अपानकार्यत्वमुक्तम् । अपानं इन्द्रियमिति उक्तेरपानं पायुश्चेत्येकमेव । कृष्णप्रिय इति । भगवदीयेषु रागो अन्यत्र निराग इति लक्षण वैराग्यस्वरूपमुक्तम् । कृष्णः प्रियो यस्य तादृशे भगवदीये । तथा च भगवदीयत्वेन राग इत्यर्थः । पुत्रपदमुपलक्षणम् । भार्यादिष्वप्येवम् । 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ती'त्यादिवाक्यैः पुत्रे रागस्य प्रमाणसिद्धत्वेन कर्तव्यत्वशङ्कया पुत्रपदम् । अन्यत्र आत्मन एव निरुपधिस्नेहविषयत्वात् पुत्रस्य च 'आत्मा वै पुत्रनामासी'त्यादिवाक्यैरात्मत्वकथनात् तत्र राग उक्तः । अत्र तु भगवत एव निरुपधिस्नेहविषयत्वाद्भगवदीये एव रागोऽन्यत्र निराग इति भावः । मलं द्विविधम्, प्रतिजन्मनि जायमानं देहरूपमेकम्, प्रत्यहं जायमानमपरम्, उभयविधमलनिवृत्तेः पायुकार्यत्वादेककथने द्वितीयमप्युक्तं जातमिति ज्ञेयम् । घ्राणरसनोपस्थानां विनियोगमाहुः यस्य येति । अन्येषां भगवति विनियोगसङ्कल्पो विषयभोगसङ्कल्पनिग्रहश्चोक्तः । एतेषामधुना भगवति विनियोगसङ्कल्पासम्भवात् निग्रहमात्रं कर्तव्यम् । एतैर्विषयभोगो न सङ्कल्पनीय इत्यर्थः । वाशब्दोऽनादरे । यस्य एव इन्द्रियस्य कार्यं भगवत्सम्बन्धि यदा यस्मिन् काले स्पष्टं न दृश्यते तदा तस्मिन् काले तस्येन्द्रियस्य विनिग्रहः कर्तव्यः । तदिन्द्रियं विषयान्तरे न प्रवर्तनीयम्, पतिव्रतावत्तूष्णीं स्थेयमित्यर्थः ॥ १७,१८,१९,२० ॥

स्वीयेषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभिः ।
वदनानलदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णतामगात् ॥ १ ॥

इतिश्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृता निरोधलक्षणविवृतिः सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीहरिरायकृतनिरोधलक्षणविवृतिसमेतम् ।

नमामि श्रीमदाचार्याननल्पकरुणायुतान् । निरोधफलदानाय प्रभुणा प्रकटीकृतान् ॥ १ ॥
यदीयचरणाम्भोजं वरणं मूर्तिमत्प्रभोः । तत्कृपातः करिष्येह निरोधविवृतिं मुदा ॥ २ ॥
तदाविर्भावितश्रीमत्प्रभुसेवारसात्मकः । अस्मत्प्रभुः कृपयतु प्रियः श्रीविट्ठलेश्वरः ॥ ३ ॥
वन्दे पितृपदाम्भोजं श्रीमदाचार्यसंज्ञिनः । यतोऽहमभवं सर्वसाधनाभाववानपि ॥ ४ ॥

अथोपोद्घाततया इदं विचार्यते, को निरोधः? किञ्च तस्य कारणम्? कथं वा तस्य फलत्वमिति । तत्रोच्यते । प्रपञ्चविस्मृतिसहिता आसक्तिर्निरोध इति । न च आसक्तिमात्र स इति वाच्यम् । विषयासक्तौ व्यभिचारात् । न च तत्र प्रपञ्चविस्मृतिः, किन्तु विशेषतः तदभिनिवेश एव । न चासक्तिविषयातिरिक्तप्रपञ्चविस्मृतेरुभयसाधारण्येन अतिव्याप्तिरिति वाच्यम् । प्रपञ्चशब्दस्य तत्सामान्याभिप्रायत्वात् । न च लौकिकासक्तिविषयो न प्रपञ्चः इति वाच्यम्, तद्रूपस्य तादृशशक्त्यैवोत्पादकत्वात् । न च प्रपञ्चमात्रास्मरणे आसक्तेर्निर्विषयत्वापात इति वाच्यम् । प्रपञ्चातीतस्य तद्विषयत्वात् । न च तद्विषयस्य तदतीतत्वे प्रापञ्चिकजीवासक्तिविषयत्वं न स्यादिति वाच्यम् । योगजधर्मप्रत्यासत्त्या अतीन्द्रियार्थस्य इव भक्त्या प्रपञ्चातीतस्य विषयत्वोपपत्तेः । किञ्च, श्रुतानुरागेऽस्मिँल्लोकेऽपि अतीन्द्रियार्थस्य तद्विषयत्वमस्ति एव । अत एव कल्पतरुकामधेन्वादिमाहात्म्यश्रवणेन दृश्यते अखिलानां लोकानामभिलाषः । वस्तुतस्तु प्रपञ्चातीतस्य अपि ऐन्द्रियकत्वमेव, चक्षुर्वेद्यत्वेऽपि श्रवणवेद्यत्वात् । 'कश्चिद् धीर' इति श्रुते'र्दिव्यं ददामि ते चक्षुः' 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' 'पश्यन्ति ते मे' 'त एव पश्यन्ति' इत्यादिस्मृतिभ्यश्च विशिष्टचक्षुर्वेद्यत्वाच्च । ननु लक्षणे प्रपञ्चत्याग एव कुतो न निरोधविशेषणतयोच्यत इति चेत् । न । तस्य ज्ञानमार्गीयमोक्षसाधनत्वेन अत्र अनुपयोगात् । अत्र तु भजनान्यथानुपपत्त्या ममतापरावर्तनस्यैव त्यागपदार्थत्वेन तस्य तद्विस्मृतिमात्रपर्यवसितत्वात् । अत एव 'त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य' इति वृत्रवचः । उक्तं च प्रभुभिः श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे 'भक्तभावात् तु भक्तानां गृहमेव विशिष्यते' इति । तस्मात् तद्विस्मृतिमात्रमेवात्र गृह्यत इति । अत एव भरताचार्योऽप्याह तल्लक्षणं 'या तु व्यसनसम्प्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्यते' इति । व्यसनं च प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका आसक्तिरेव । अत

१ चित्तात् प्रकृतिश्रियमपांशुपाह्लादन विदुर्बुधाः । २ श्रुतानुरागस्येतिपाठः ।

एव क्षणमपि तत्र तेन विना स्थातुमशक्तिः । अंशतोप्यन्यस्मरणे क्षणं तेन निर्वाहात् ।
अत एव प्रोचुः परमदुर्लभत्वमेव वदन्तः श्रीमदाचार्याः भक्तिवर्धिन्यां 'यदा स्याद्व्यसनं
कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि' इति । विशेषेण असनं क्षेपणं सर्वस्य यस्मादितिव्युत्प-
त्त्यापि तस्य भावस्य प्रपञ्चविस्मृतिरूपत्वमेव सिध्यति ।

स च निरोधो द्विविधः । भागवतोऽन्यश्च । अत एवोक्तमाचार्यैः 'निरोधो
यदि भक्तानां स्वस्मिन् स्वस्य च तेषु हि, तदोभयसुसम्बन्धात् दृढो भवति नान्यथे'ति ।
तत्र आद्यो भगवतः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभक्तविषयकासक्तिरिति । 'निरोधोऽस्यानुशयनमा-
त्मनः सह शक्तिभि'रितिवचनात् । अस्येति षष्ठ्या भेदेन निर्देशात् । 'निरोधोऽस्यानु-
शयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरे'रित्याचार्यचरणैर्विवृतत्वाच्च । लीलारूपेषु सर्गादिषु परिगणि-
तत्वाच्च । 'स च गोपीभिः स्तोभित' इत्यादिना निरूपितः ।

नन्वत्र लक्षणमिदमनुपपन्नम्, भक्तानां प्रापञ्चिकत्वेन भगवतस्तद्विषयकासक्तौ
प्रपञ्चविस्मरणाभावादिति चेत्, उच्यते । अवधारितं च तेषु त्वया प्रापञ्चिकत्वं केन
प्रमाणेन? न तावत् प्रत्यक्षम्, तेषां लीलासृष्ट्यतिरिक्तजनप्रत्यक्षागोचरत्वात् । भक्तविशेष-
प्रत्यक्षस्याप्रापञ्चिकतानुकूलत्वात् । 'सदा पश्यन्ति सूरय' इति श्रुतेः, 'यद्धि पश्यन्ति
मुनयः' 'ते एव पश्यन्ति' 'पश्यन्ति ते मे' इत्यादिवाक्यैः । एतत्प्रपञ्चान्तःपाते भक्तानां
सगुणदृग्विषयताया अनिवार्यत्वात् । अत एवाप्रापञ्चिकत्वं बोधयन् निजैश्वर्यस्य 'दिव्यं
ददामि ते चक्षु'रिति प्रभुरुक्तवान् । नाप्यनुमितिः, अनुकूलतर्काभावात् । न च दृश्यत्वा-
देरनुकूलतर्कत्वमिति वाच्यम्, दृश्यत्वस्य प्रागुक्तप्रकारैर्व्यभिचारस्थापितत्वात् । शब्दस्तु 'जयति
जननिवासः', 'तद्विष्णोः परमं पदम्', 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्', 'तं भजन् निर्गुणो भवेत्',
'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्', 'मुक्ता अपि लीलाविग्रहं कृत्वा भजन्त' इत्यादिवाक्यैरनुकूल एव
इति नानुपपन्नं किञ्चित् । ननु अस्तु भक्तानां तथात्वम्, तथापि भगवतोऽप्रतिहतज्ञानशक्तेः
प्रपञ्चविस्मरणं कथमुपपाद्यत इति चेत्, इत्थम् । भगवान् हि पुष्टिमार्गे अङ्गीकुर्वन्
स्वधर्मानपि त्यजति, विपरीतांश्च विदधाति । 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्', 'आत्मारामोऽप्यख-
ण्डितः', 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्', 'न पारयेह'मित्यादिवाक्यैः ।
एवं सति यत्र निरोधं चिकीर्षुर्भवति प्रभुः, तत्र तदनुकूलस्वस्वरूपमपि सम्पादयतीति
तदर्थमज्ञत्वमपि युक्ततरम् । विविधानन्तशक्तिमत्त्वेन तत्र सर्वोपपत्तेः । न च विरोधादज्ञत्वे
सर्वज्ञत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम् । विरुद्धविविधधर्माधारत्वस्य भगवति 'तदेजति तन्नैजति'
इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वात् । एतच्च यथा तथा अस्मत्स्वामिभिर्निरूपितं विद्वन्मण्डने । न च
अज्ञत्वस्य अविद्याजन्यत्वनियमेन भगवति तदभावात् तथात्वमसम्भवीति वाच्यम् ।
अविद्याया अपि 'श्रिया पुष्ट्ये'तिवाक्यात् तच्छक्तित्वेन तदधीनत्वात् । न च 'बन्धोऽस्या-
विद्यया अनादि'रिति वाक्यादविद्याश्रयत्वे तया बन्धसम्भव इति वाच्यम् । तस्यास्येति-

पदेन जीवविषयत्वस्य वाक्ये एवोक्तत्वात् । अत एव श्रीमदाचार्यैर्निरूपितं निबन्धे, 'विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते, ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशते'ति । तं च धर्मं प्रभुः पुष्टिमार्ग एव आविर्भावयतीति 'मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'तिवचनादवसीयते । अत एव निरूपितं केनचित् भगवत्स्वरूपतत्त्वाभिज्ञेन 'संमुष्णन्' इत्यादि । तदेतत् सर्वमाचार्यै'र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रम' इत्यत्र निरूपितमिति सहृदयैस्तत एव विभावनीयम् ।

अथ किं तस्य कारणमिति चिन्त्यते । न तावन्निरोधो लोक इव वासनया जन्यत इति वक्तुं शक्यम् । तस्या अनुभवजन्यत्वात् । भगवतश्च साक्षात्कारात् प्राक् लौकिकविषयविषयीन्द्रियाविषयत्वेन अननुभवात् । साक्षात्कारे तु दिव्यदृष्टिदानेन तथात्वसम्भवात् । 'दिव्यं ददामि ते चक्षु'रिति वाक्यात्, 'कश्चित् धीर' इतिश्रुतेश्च । नापि भक्तिः, सा हि द्विधा, मर्यादापुष्टिभेदेन, तत्र न तावदाद्या, तस्या 'भक्त्या त्वनन्यया,' 'विशते तदनन्तरम्,' 'ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः, द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षण' इत्यादिवाक्यैः सायुज्यमुक्तिफलकत्वेन निरोधाजनकत्वात् । ननु 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये'त्यादिवाक्यैर्मर्यादाभक्तेः पुष्टिभक्तिफलकत्वेन तस्याश्च निरोधसाधकतया कथं न परम्परयैतस्या अपि तज्जनकत्वमिति चेत्, न, पुष्टिभक्तेरपि तज्जनकत्वस्य विचार्यत्वेन मर्यादायामप्रसक्तेः । न हि सापि साक्षान्निरोधं साधयति, किन्तु भगवतः साक्षात् तत्साधनत्वे निमित्तमात्रं सा । अन्यथा 'कृष्णेन चोद्धृता' इतिवाक्यं विरुध्येत । न हि निरोधः कदाचिदपि स्वकृतसाधनैः सिध्यति । अत एवोक्तमाचार्यैः 'आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापि हरिणा कृत'मिति । अत एव व्रजसीमन्तिनीष्वेव निरोधः सिद्धः, नान्येषु, भगवता तत्रैव तथा सम्पादितत्वात् । अत एव श्रीमदाचार्यैर्भक्तिवर्धिन्यां 'यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव ही'ति दुर्लभत्वमेवोक्तम् । तर्हि किमाकस्मिकत्वैवेति चेत्, न, स्वरूपस्यैवानुग्रहविशेषसहकृतस्य हेतुत्वात् । तद्विशेषश्च सर्वात्मभावसाध्यफलदानेच्छैवेति सङ्क्षेपः । यद्यपि भावनागुणगानादेः साधनता श्रूयते, तथापि फलस्य निःसाधनत्वभङ्गभिया योगक्षेमसाधारणं साध्यत्वमादाय सा वक्तव्येति भावः ।

अथ कथं तस्य फलत्वमिति चिन्त्यते । सुखदुःखाभावान्यतरत्वाभावात् । प्रत्युतासक्तेः स्वविषयाप्राप्त्या दुःखसहकृतत्वाच्चेति । अयमर्थः । निरोधो हि प्रपञ्चविस्मृतिसहिता आसक्तिः, सा च स्वविषयविषयकविविधमनोरथजनको भावः, तस्य च रसरूपत्वेन सुखरूपत्वात् । 'रसं हि एवायं लब्ध्वा आनन्दीभवती'ति श्रुतेः । प्रपञ्चविस्मृतिरूपत्वेन प्रापञ्चिकदुःखाभावरूपत्वाच्च । किञ्च, फलं पुरुषार्थः, तत्त्वं च तेन स्ववृत्तितयेष्यमाणत्वम् । तथा च आसक्तिमध्यपतितदुःखस्यापि आकाङ्क्षणीयत्वेन तथा-

१ पुरुषोत्तमतानुग्रहेति पाठः ।

लम् । 'विपदः सन्तु ताः शश्वत्' इतिवाक्यात् । अन्यथा श्येनादावपि तज्जन्यनरकस्य तदुभयरूपत्वाभावेन फलत्वं न स्यात् । ननु शत्रुविपत्तिरेव तत्र फलम्, न नरक इति चेत्, न । 'भूयान् मे नरकोऽपि शत्रुविपदतामि'तिधिया श्येनकरणात् । सुखसाधनं तदिति चेत्, तदा प्रकृतेऽपि दीयतां दृष्टिः । न च सुखभ्रमात् प्रवृत्तिरिति वाच्यम् । नरके सुखभ्रमायोगात् । तस्मात् पुरुषार्थस्यैव फलत्वेन दुःखसम्भिन्नस्यापि निरोधस्य फलत्वमिति । वस्तुतस्तु दुःखमेव न, किन्तु रसान्तर्गतत्वेन प्रभुप्राकट्यसाक्षाद्धेतुतया परमानन्द एव । अत एव श्रीशुकैर्देवा वियोगदुःखानुभवसमयेपि 'रेमिरेऽहःसु तच्चिता' इत्युक्तम् । श्रीमदाचार्यैरप्यभिहित'मतो निरोधो महाफल' इति । तस्मान्निरोधः सकलफलमूर्धन्यं फलमिति सिद्धम् ।

ननु कथमत्र निरोधस्य दशमार्थस्य परमफलत्वसिद्धिः । तदुत्तरवर्तिस्कन्धद्वयप्रतिपाद्यलीलाद्वयरूपमुक्त्याश्रययोरन्यतरस्याश्रयस्यैव वा तथात्वोक्त्यौचित्यादिति चेत्, न । मुक्त्याश्रययोरेतदुपयोगित्वेन स्कन्धद्वयेन प्रतिपादनात् । तथाहि । निरोधे चास्ति प्रकारद्वयम्, सगुणनिर्गुणभेदेन, निर्गुणे त्वन्यैव व्यवस्था । सगुणे तु निरुद्धभक्तदेहस्य भौतिकतया निवर्तनीयत्वेन भक्तिमार्गप्रकारेण निवर्त्य देहमलौकिकं लीलोपयोगिनं सम्पाद्य स्वान्तःस्थापयित्वा ततो लीलेच्छायां स्वस्थानाद्विमोचयति, पुनः तदुपरतौ स्वाश्रितानेव करोतीति लीलाद्वयं सगुणनिरोधोपयोगित्वेन निरूपितमिति न परमफलत्वसिद्धिविरोध इत्यर्थः ।

अतःपरं निरोधरूपपरमफलं निरूपयन्तः तत्साधनं साक्षात्परम्पराभेदेन गौणमुख्यभेदेन वा निरूपयितुं तन्निमित्तकारणभूतयोर्भावभावनगुणगानयोर्मध्ये प्रथमं श्लोकत्रयेण मुख्यं भावभावनं दुर्लभत्वबोधाय स्वविषयकतयैव प्रार्थनारूपेण निरूपयन्ति यच्च दुःखमिति । निरोधे हि साधनद्वयम्, तद्भावभावनं गुणगानं वा । तत्र भावनीयभावस्य सर्वोत्तमभावेन निरुद्धानां सुखदुःखात्मकौ, 'विकल्पत्वं तथास्वास्थ्य'मिति वाक्यात् । तथा च तद्भावनं साधनं निरूपयितुं प्रपञ्चविस्मृतिसम्पादकतया अभ्यर्हितं प्रथम भावप्रथमांशं दुःखं प्रार्थयन्ते यच्च दुःखमिति ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

यदिति प्रसिद्धं श्रीमागवतादौ परमार्तिरूपं प्रभुप्राकट्यकारणं युगपदनुभूताखिललीलानुभावकं लोकविलक्षणं प्रभुसुखरूपात्मकं वस्तुतः फलरूपं चकारात् तत्संवलितसुखशबलितमपि **दुःखं यशोदाया** जशाभीयभक्तायाः सर्वथा दयाधिकरणभूतायाः यावद्भावबद्धहृदयदेशाधिष्ठितस्वाविभावोत्पत्तिनिमित्तभूतायाः, तया **नन्दादीनां** श्रीनन्दप्रभृतीनामखिलव्रजवासिनां चकारात् तत्सम्बन्धिनामन्येषामपि यद्दुःखं भगवता परमफलदित्सुना दत्तं येनैवं कथनं 'मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः' इत्यादि, तदपि

गोकुले सर्वथा निरोधस्थाने स्वानस्थितानामेव सम्पादितं **दुःखं मम कचिदपि** स्यादित्य-ग्रिमेण सम्बन्धः । एवं श्रीयशोदानन्दादिदुःखं भगवतो दानक्रमेण प्रार्थयित्वा अतिदुरापं गोपिकादुःखं प्रार्थयन्ते **गोपिकानां** **त्विति** । **तु**शब्दः पूर्वस्मादीक्त्यवैलक्षण्यादि-बोधकः । **गोपिकानां** व्रजसीमन्तिनीनामात्मत्वभक्तवश्यत्वादिभिर्धर्मैः सर्वथा निरुद्धानां यत्स्वरूपात्मकं रसात्मकतया प्रसिद्धं श्रीभागवतादौ, वस्तुतो भावांशभूततयानन्दरूपं तद्दुःखं **मम कचिदपि** देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणेषु **स्या**दिति अभिलाप इत्यर्थः । ननु व्रजवासिनो हि सर्वेऽपि सर्वथा सर्वात्मभावेन भगवन्तमानन्दनिधिं प्राप्ताः परमानन्दसमुद्र-निमग्ना दुःखक्लेशसम्भावनारहिताः स्वाश्रितशोकनिरसनसमर्थाः आनन्दसृष्टिसमुत्पन्नाः, तद्दुःखप्रार्थनमसम्भावितमिव भातीति चेदुच्यते । 'रसो वै स' इतिश्रुत्या भगवान् रसात्मक इत्यविवादम् । स च स्वशास्त्रसिद्धप्रकारक एव तथा भवतीति प्रभोरपि तथा मन्तव्यं रूपमकामेनापि त्वया । तथा च पूर्वरसरीत्या स्वरूपानन्ददानं 'आत्मना प्रथमा लीले' त्याद्युक्तप्रकारेण पञ्चधा देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिषु जायत इति तेषामतिव्यक्ततया तन्निष्ठस्वरूपानन्दस्यापि व्यक्तत्वेन पश्यतां तत्र सुखत्वव्यवहारः, यशोत्तररीत्या रसदानं तन्मनस्येवेति तस्याव्यक्ततया तन्निष्ठस्वरूपानन्दस्यापि तथात्वेन बहिःप्राकट्याभावात् तत्र दुःखत्वव्यवहार इति तमादाय दुःखमित्युक्तम् । वस्तुतस्तु स महानानन्द इति दशम-स्कन्धविवृतावसकृदभिहितमिति सहृदयैः तत एव विभावनीयमिति दिक् ॥ १ ॥

एवं भावनार्थं भावप्रथमांशं दुःखं प्रार्थयित्वा श्रीयशोदानन्दादिसुखप्रार्थनस्य रास-स्त्रीभावपूरितविग्रहत्वेन स्वस्यायोग्यतया तदप्रार्थ्य गोपिकानामेव सुखं भावोत्तरांशभूतं प्रार्थयन्ते **गोकुले गोपिकानामि**ति ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

भगवतो हि स्थानद्वये गोपिकासम्बन्धिनी लीला, सैव ताभिर्विरहे सर्वदा अनु-भूयते सङ्गेनेव च तत्र सुखमिति । तत्र प्रथमं **गोकुले** भगवतो लीलाभिर्वत्सपुच्छाव-लम्बनहैयङ्गवस्तेयनृत्यगीतपीठकानयनादिभिर्गोपिकानां सर्वथा परिगृहीतानां चकारात् तद्द्वारकमन्येषां गोपादीनां शय्यास्तरणस्थलसमीकरणादिभिरसङ्कोचेन सर्वेषां व्रजवासिनां तत्सम्बन्धिसम्बन्धिनां पक्ष्यादीनां च **यत्सुखमनुभूयमानलीलालयसम्पादकमभूत् तत् किं मे** मम मत्सम्बन्धी वा हृदयस्थो **भगवान् किं विधास्यति** विशेषेण करिष्यति पोषयिष्यतीति वार्थः । किमिति प्रश्नार्थकाव्ययप्रयोगेण एतत्सुखप्राप्तेर्लीलारूपप्रभुप्राकट्या-धीनतया पूर्वोक्तदुःखाश्रितो दुर्लभत्वं सूचितम् । अन्यत्र तथा करणे सामर्थ्याभाव-माशङ्क्याहुः **भगवानि**ति । स हि सर्वत्र सर्वं कर्तुं समर्थः, अतः कृपायामन्यत्रापि तथा करिष्यतीत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं भावनार्थं भावांशद्वयं प्रार्थयित्वा कदाचिदतितीव्रविरहभावोत्पत्तौ नाशसम्भावनात्तामुद्धवागमनजनितोत्सवोऽपि तथाभावनिवर्तकतया स्फूर्तिविषयो जात इतिभावान्तःपातेपि लीलाजनितसुखविलक्षणत्वादेकदेशभूतं तमप्यंशं प्रार्थयन्ते उद्धवागमन इति ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

उद्धवस्य उत्सवात्मकस्य **आगमने जातः** प्रकटीभूतो यः सर्वविलक्षणो भगवत्स्वरूपावयवदर्शनेन तदीयत्वनिर्धारणात् उत्पन्नः यः स्वार्थदूतप्रेषणाभिमत्यात्मको य **उत्सवो** व्रजसीमन्तिनीनां **यथा** येन प्रकारेण **तथा** तेनैव प्रकारेण तद्भावभावनायां मे मम **मनसि क्वचित्** कदाचिदपि स्यादित्यभिलाष इत्यर्थः । अयमुत्सवो नन्दादीनां गोपिकानां च जात इति व्यवस्थया स्थानद्वयं निर्दिशन्ति **वृन्दावने गोकुले** वेति । **वृन्दावने** पुष्टिस्थाने रहसि व्रजस्त्रीणाम्, **गोकुले** गोष्ठे नन्दादीनामिति व्यवस्था । नन्वागमनोत्सवप्रार्थने 'गच्छोद्धव व्रजम्,' 'प्राप्तो नन्दव्रज'मिति सामान्योक्त्यावसीयते । नन्वागमनसमयोत्पन्न'स्तं विलोक्यागत'मित्यादिनोक्तः स कथं न प्रार्थित इति चेत्, तत्राहुः **सुमहानिति** । प्रियागमनोत्सवापेक्षया विरहे तद्दूतागमनोत्सवस्य वैशिष्ट्यस्यानुभवसिद्धतया विरहरसपोषकत्वेन चायमुत्सवः ततोपि सुतरां महानित्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं अलौकिकसामर्थ्यरूपो मुख्यो निरोधः स्वस्यैवेति तत्साधननिर्देशः प्रार्थनाव्याजेन स्वविषयतयैव कृतः, अन्येषां तु भगवान् महापुरुषकृपया तदधिकारानुसारेण सायुज्यं सेवोपयोगिदेहं वा दास्यतीत्यभिप्रायेण तावत्पर्यन्तं स्थितिप्रकारमाहुः **महतामिति** ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दयिष्यति ।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

यावत् भगवान् दयिष्यति फलोन्मुखां दयां करिष्यति **तावत् कीर्त्यमानः** कीर्तनविषयीक्रियमाणः एव स **सुखाये**त्यर्थः । 'महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे,' 'त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन' 'विना महत्पादरजोभिषेकम्', 'किरातहूणान्ध्र,' 'देवर्षिर्मे प्रियतमः' 'सदनुग्रहो भवा'नित्यादिवाक्यैर्भगवतो दयायां च नान्यत्कारणमिति वक्तुमाहुः **महतां कृपयेति** । **महतां** भगवद्धर्मैः महत्त्वमापन्नानां **कृपया** करुणयेत्यर्थः । अनवतारदशायां विशेषतो महापुरुषद्वारैवोद्धारात् । एतेन इदानीं भक्तिमार्गस्य ते एव निर्वाहका इत्युक्तं भवति । ननु कीर्त्यमानेपि भगवति फलपर्यन्तं श्रमेण कर्मादिष्विव दुःखमेवेत्याशङ्क्याहुः **आनन्दसन्दोह** इति । भगवत आनन्दसमुदायरूपत्वेन तद्गुणानामपि तदभिन्नतया स्वरूपसमानयोगक्षेमत्वात् साधनदशायामपि तत्कीर्तनेन आनन्द एव भवति, न कर्मादिभिरिव दुःखमित्यर्थः । अत एव अवगतभगवत्कथारसः परीक्षित् एतदर्थकमेव

'श्रोत्रमनोभिरामा'दितिगुणानुवादविशेषणमुक्तवान् । इतीति युक्तोयमर्थः । कीर्तन विषयस्यानन्दसन्दोहरूपत्वे सुखस्य युक्तत्वात् ॥ ४ ॥

ननु कीर्तनं हि सुखसाधनम्, तत्र महतां कृपयेति को वाग्रहः यथाकथञ्चिदपि कृतं तत्तथेति प्रश्नेनत्याह महतां कृपयेति ।

महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा ।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

यद्वत् यथा महतां महापुरुषाणां कृपया करुणया लोकविलक्षणया भगवत्सम्बन्धिन्या कृपया निरुपधिदुःखप्रहाणेच्छया सदा कालापरिच्छेदेन कीर्तनं सुखदं तापत्रयनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्ददायकं निरोधजनकं वा तथा लौकिकानां लोकसम्बन्धिनां महापुरुषद्वारा अभगवच्छरणागतानाम्, अत एव केवलसमासासक्तानां कीर्तनं न तथेत्यर्थः । तल्लक्षण्यं वस्तु लौकिकं दृष्टान्तमाह स्निग्धभोजनरूक्षवदिति । स्निग्धश्च तद्भोजनञ्च स्निग्धभोजनम्, तच्च रूक्षं च, अर्थात् रूक्षभोजनम्, तयोरिव तद्वदित्यर्थः । तथा च यथा स्निग्धभोजनरूक्षभोजनयोस्तारतम्यं तथा महापुरुषकृपाविशिष्टतदविशिष्ट कीर्तनयोरपीत्यर्थः । एतेन स्निग्धभोजनस्य पुष्टिसाधकत्ववत् महापुरुषकृपाविशिष्टकीर्तनस्य पुष्टिफलसाधकत्वम्, रूक्षस्य तदसाधकत्ववत् लौकिककीर्तनस्य तत्फलासाधकत्वमुक्तमितिभावः । स्निग्धस्य घृतदुग्धस्वादेर्भोजने रूक्षः प्रीतिरहितस्तस्य भोजनमित्यर्थः । यथा कस्यचित् ज्वराद्यभिभूतस्य स्निग्धं वस्तु न रोचते तस्य यथा तद्रसानभिज्ञरसज्ञस्य प्रतिदिनं क्षीयमाणशरीरस्य न तद्भोजनं पुष्टिफलं, तथा महापुरुषकृपाऽभावरूपदोषयुक्तानां तादृशकीर्तने रूक्षाणां लौकिकानां कीर्तनस्य न पुष्टिफलत्वमिति भावः । यद्वा, स्निग्धं भोजनं यस्य स चार्थात् तद्रूक्षश्च तयोरिव तद्वदित्यर्थः । तथा च यथा स्निग्धभोजनरूक्षभोजनयोस्तारतम्यं तथा अलौकिकलौकिककीर्तनकर्तारपीत्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु सुखसिद्ध्यर्थं दशापर्यन्तं कीर्तनं कर्तव्यत्वेन निरूपितम्, तत्र 'तरति शोकमात्मवित्' 'ब्रह्मसम्स्थोऽमृतत्वमेती'त्यादिश्रुतिभिः ज्ञानेनैव दुःखनिवृत्त्या सुखप्राप्तेर्ज्ञानार्जनस्यैव श्रेयम् किं गुणगानेन इति चेत्, तत्राह गुणगान इति ।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोन्यतः ॥ ६ ॥

यथा गोविन्दस्य गोगोकुलपतेर्निःसाधनाधिपस्य गुणानां गाने स्तुतिबुद्ध्या कथने शुकादीनां सिद्धज्ञानफलानामपि सुखम्, तथा तेषामेव आत्मनि स्वात्मविषये जायमानं ब्रह्मात्म्यक्त्वबोधेन सुखं न तथेत्यर्थः । यद्वा यथा भक्तैः क्रियमाणे गुणगाने तच्छ्रवणेन गोविन्दस्य प्रभोः सुखावाप्तिः'मद्भक्ता यत्र गायन्ती'तिवाक्यात् तथा तत्कर्तृणामपि शुकादीनां आत्मनि अन्तःकरणे नेत्यर्थः । तथा च प्रभोरतिशयिततोष-

हेतुतया ज्ञानमार्गेस्थित्यपेक्षया सुखाधिक्याच्च गुणगानेनैव स्थातव्यमिति भावः । अत एव 'लोकांश्च लोकानुगतान् पशूंश्च हित्वाश्रितास्ते चरणातपत्रम्,' 'परस्परं त्वद्गुणवादसीधु-पीयूषनिर्यापितदेहधर्माः,' 'अथ ह वाव तव महिमामृत,' 'यदनुचरित,' 'तव कथामृतम्,' 'श्रवणाद्दर्शनात्,' 'येऽन्योन्यतो भागवता' इत्यादिवाक्यैर्गुणगानपराणां इतरनैरपेक्ष्यो-क्त्यापि स्वतःपुरुषार्थत्वं सर्वाधिकफलत्वं चावगम्यते गुणगानस्य । इतोऽपि तदेव कर्तव्य-मिति भावः । तदेवाहुः कुतोऽन्यत इति । अन्यतः ज्ञानादिभ्यो विषयादिभ्यो वा कुत्र एतत्सुखमित्यर्थः । 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य,' 'निवृत्ततर्षैः,' 'नैषातिदुःसहे'त्यादिवाक्यैः श्रीभागवते तथैव निरूपणात् । ननु 'तरति शोकमात्मवित्,' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेती'-त्यादिश्रुतेः का गतिरिति चेद्, अत्र वदामः । तस्मा'द्भक्तियुक्तस्ये'त्यादिवाक्यैर्भक्तिमतो ज्ञानानपेक्षणात् ज्ञानिनस्तु 'नैष्कर्म्यमपी'त्यादिवाक्यैः सर्वथा भक्त्यपेक्षणात् तन्निरपेक्ष-भक्तिमार्ग एव समीचीनः । तथा च मोक्षरूपाक्षयसुखसाधकत्वं ज्ञानस्यापि भक्तिसहकृतस्यै-वेति केवलज्ञानस्थितिमपहाय केवलभक्तावेव स्थितिः कर्तव्येत्यर्थः । श्रुत्यादिषु ज्ञान-फलोक्तिस्तु दुःखाभावपर्यवसन्नैव । परमानन्दावाप्तिस्तु भक्त्यैव । वस्तुतस्तु दुःखाभावोऽ-प्येतदधीन एव । 'अनर्थोपशम'मितिवाक्यात् । अत एव आचार्यैरानन्दमयाधिकरणे 'एव सती'त्यारभ्य 'स्वीयत्वेन वरणे भक्तिभावात् सहकारियोग्यतासम्पत्त्या पुरुषोत्तमप्राप्ति-र्भवती'ति निर्णीयत इत्यभ्यधायि ॥ ६ ॥

ननु कृते गुणगाने किं भवतीत्याशङ्क्य तत्र प्रवृत्त्यर्थं परिचायक फलमाहुः क्लिश्यमानानिति ।

> क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
> तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

गुणगाने तत्स्वरूपस्मृत्या तत्पाप्त्यर्थं क्लिश्यमानानुपतपतो जनान् दृष्ट्वा अव-लोक्य यदा परीक्षासाधनसम्पत्तौ कृपायुक्तो भवेत् तदा सर्वं सर्वांशपूर्णं सदानन्दं परं ब्रह्म यशोदोत्सङ्गलालित हृदिस्थ परमव्योम्नि प्रादुर्भूत बहिः प्रकट भवतीत्यर्थ. । अत

---

१ कर्मादिभ्य इति पाठ । २ सर्वथा दुःखाभावस्य भक्त्यधीनत्वादेवेत्यर्थ । एव सतीत्यादिग्रंथस्या-यमाशय । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र श्रुतौ अक्षरब्रह्मविद परब्रह्मप्राप्तिरित्युच्यते । 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य' इतिश्रुत्यन्तरे च ज्ञानादीनां साधनत्वनिषेधपूर्वकं वरणस्यैव साधनत्वं प्रतिपाद्यते । एव सति श्रुतिद्वयविरोधपरिहाराय अक्षरब्रह्मज्ञानेन अविद्यानिवृत्त्या शुद्धत्वसंपादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता सम्पाद्यत इति ब्रह्मविदाप्नोतीतिश्रुत्याशय । एवं योग्यतासम्पत्तावपि पुरुषोत्तमप्राप्तिस्तु तादृशज्ञानवतो जीवस्य स्वीयत्वेन वरणे सति भक्तिभावोत्पत्तावेव भवतीति 'नायमात्मे'तिश्रुत्याशय इति भाष्ये एव सतीत्यादिग्रंथेन निर्णीयते । एव च ज्ञानेनाविद्यानिवृत्तावपि पुरुषोत्तमप्राप्त्यभावजनितदुःख तु नापैति । तस्मात् सर्वात्मना दुःखाभावस्तु भक्त्यैवेत्याशयेन भाष्यमप्यनुकूलमेवेति भाव ।

एव व्रजसीमन्तिनीना गुणगानेन हृदि प्रादुर्भूय 'तन्मनस्का'इत्यादिना तथाभावसम्पत्तौ कृपया भगवान् प्रादुर्भूत इत्युच्यते । तदेवोक्तमाचार्य 'नहि साधनसम्पत्त्या हरिस्तुष्यति कस्यचित् । भक्ताना दैन्यमेवैक हरितोषणसाधन'मिति । सदानन्दहृदिस्थमितिपाठे सदानन्दस्य भगवतो हृदिस्थं अभिप्रायादिक बहिर्निर्गत भवतीत्यर्थ । अयमाशय । 'रुरुदु सुस्वर'मित्यादिना गुणगानमय एतादिदैन्यभावे यदा कृपायुक्तो जातस्तदा तत्र स्वामिप्राय प्रभुणैव 'मया परोक्ष भजता,' 'न पारयेह'मित्यादिना आविर्भावित इत्यन्यत्रापि गुणगाने क्लेशेन प्रादुर्भूय स्वरूपा ज्ञापयिष्यतीति तदाशया गुणगानमेव कर्तव्यमित्यर्थ ॥७॥

ननु किमिति कृपापेक्षया गुणगानेन क्लेश सम्पादनीय, ज्ञाननिष्ठया महन्निष्ठतेव सम्पाद्यतामिति चेत्, तत्राहु सर्वानन्दमयस्यापीति ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् ॥ ८ ॥

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'तिश्रुते सर्वत्र स्थितो य आनन्द स भगवति प्राचुर्येण वर्तत इति तदाश्रितस्य मानुषानन्दमारभ्याक्षरानन्द न कस्यापि दुर्लभतरम्, 'सर्वं मद्भक्तियोगेन' इतिवाक्यादपि, तथापि कृपानन्दः कृपारूपो य आनन्द, भगवद्धर्माणा स्वरूपाभिन्नतया आनन्दरूपत्वात् । यद्वा, पुष्टिमार्गप्रवेशाद्यनुकूलानुग्रहरूपया कृपया य आनन्दो भजनानन्दाख्य स सुतरा दुर्लभ । मह्यानन्दस्यापि दुर्लभत्वात् । 'सुदुर्लभ प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुन' इतिवाक्यात् । भजनानन्दस्तु दुर्लभ एव । सम्भवति साधनमिह किञ्चिदिति चेत्? गुणगानमेवेति गृहाण । अत एव दुर्लभत्वैव तस्योक्ता श्रीमदाचार्यै । 'लौकिकस्त्रीषु समिद्धस्तद्वारा पुरुषे भवेत्, स्वानन्दस्थापनार्थाय योग्यतापि निरूपिता, अतो हि भजनानन्द स्त्रीषु सम्यग् विधार्यते' इत्यादि । एतदर्थस्तु तत्र एव विभाव्यताम्, विस्तरभियात्र न लिख्यते । तथा च यत्नेतादृगनुग्रहस्तत्रैतदधिकारित्वात् तदानन्दप्राप्तिरित्येतदभिसन्धायोक्त कृपानन्दः सुदुर्लभ इति । श्रीभागवतेपि 'नेम विरिञ्च,' 'नाय सुखाप,' 'केमा स्त्रिय' 'आसामहो' इत्यादिवाक्यैर्दुर्लभत्वनिरूपणाच्च । कथ दुर्लभ इति आकाङ्क्षाया तन्निरूपक तत्कार्यमाहु, हृद्गत इति । हृद्गत. हृदयप्रविष्ट स कृपानन्द स्वरूपात्मक स्वगुणान् गीयमानान् श्रुत्वा पूर्ण· प्रतिक्षण प्रवर्धमानो रसपूरस्य सन् जनान् जननादिधर्मयुक्तानपि प्लावयते स्वाविर्भावितस्वस्मिन्धौ निमज्जयतीत्यर्थ । अत एव 'बर्हापीडे'तिपद्ये स्वामिनीना हृदि वेणुरन्ध्रसुधाया भावात्मक प्रभुस्त प्रविष्टो'ऽशृण्वता'मित्यादिभिस्तद्वर्णितगुणश्रवणेन देहेन्द्रियप्राणान्त करणादिषु 'पूर्ण' क्रीडामयतामेव सम्पादितवा'नित्यभिहितम । अत एवोक्तमाचार्यसुगस्वामीने 'अन्त प्रविष्टो भगवान् मुखादुत्कृत्य कर्णयो, पुनर्निर्गमयत मत्तर नदा भवति सुस्थिर' इति ॥ ८ ॥

एवं सोपपत्तिकं गुणगानकर्तव्यतामभिधायोपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः ॥ ९ ॥

यस्माद्धेतोः कर्मज्ञानोपासनामार्गेभ्यो भक्तिमार्गो निरतिशयितनिजविषयो 'ये
त्विहासक्तमनसः,' 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति,' 'विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः,' 'पूजा-
दिना ब्रह्मलोक'मित्यादिवाक्यैः तस्माद्धेतोः सर्वं कर्मज्ञानोपासनादिकं परित्यज्य
सवासनं त्यक्त्वा निरुद्धैर्भगवता स्वीयत्वेन वृतैः अत एव किञ्चिद्विस्मृतप्रपञ्चैः, तदर्थं
साधनानि विदधद्भिः, सर्वदा निरन्तरं 'सर्वं मद्भक्तियोगेने'ति वाक्यात् सर्वं ददतीति
सर्वदाः सर्वेष्टदातारो गुणा एव गेया इत्यर्थः । ननु 'वेदमार्गानुसारेणे'तिवाक्यात्
तथा भजने क्रियमाणे तन्मार्गस्य व्याख्यातृभिरन्यथाकृतत्वात् कं पक्षं अवलम्ब्य गुणान्
गायेदित्याशङ्कायामाहुः सदानन्दपरैरिति । सदानन्दः साकारानन्दमयः परः पर-
मात्मा परमकाष्ठापन्नो, न तु पुच्छादिभावापन्नो येषां तादृशैरित्यर्थः । अधिकारिविशे-
षणमेतत् । अनेन मायावादादिमतमनादृत्य ब्रह्मवादे स्थित्वा गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम् ।
ब्रह्मवादे एवानन्दमयस्यानन्दमयाधिकरणे परमकाष्ठापन्नत्वोक्तेः । ततः किं भवती-
त्याकाङ्क्षायामाहुः सच्चिदानन्दता तत इति । ततस्तेभ्य एव गीयमानेभ्यो
गुणेभ्यो जीवस्य सच्चिदानन्दता गुणत्रयातिर्भावेनाक्षररूपतया पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता
भवतीत्यर्थः । स्वत इतिपाठे गुणगाने क्रियमाणे स्वत एव वस्तुस्वभावात्तथात्वम्, न तु
तदर्थं प्रयत्नान्तरापेक्षेत्यर्थः ॥ ९ ॥

एवं निरोधार्थं गीयमाना गुणा निरोधलक्षणलीलासम्बन्धिन एव भवितुं युक्ता
इति तत्स्वरूपज्ञापनाय स्वस्य निरोधविवृतिकर्तृत्वमितिवदन्तः फलाव्यभिचारितासिद्ध्यै
स्वेषामर्थे प्रभुं विज्ञापयन्त इव स्वानुभवनिरूपणेन स्वजनप्रवृत्तिं द्रढयन्ति अहं
निरुद्ध इति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥ १० ॥

अहं रोधेन सर्वं रोधयति प्रतिबध्नाति भगवदतिरिक्तमिति रोधो निरोधलीलानु-
सन्धानजन्यः सर्वत्र बाधकत्वस्फूर्तिरूप आसक्तिधर्मभूतो भावविशेषः, तेन निरुद्धः
प्रपञ्चविस्मृत्या तदासक्तो, निरोधस्य पदवीं श्रुतिविमृग्यां स्वतन्त्रभक्तिरूपां गतः प्राप्त
इत्यर्थः । ननु एतादृशस्य किं निरोधवर्णनप्रयासेनेत्यत आहुः निरुद्धानां त्विति । निरु-
द्धत्वे प्रकारान्तरद्योतनाय तुशब्दः । भगवता शास्त्रानुसारेण महापुरुषद्वारा प्रमेयबलेन
वात्मसात्कृतानां रोधाय निरोधजनकासक्तिधर्मरूपभावविशेषसिद्ध्यर्थं निरोधं लीलारूपं

१ विधेयविशेषणमिति पाठः ।

भक्तेषु भगवत्कृतं **वर्णयामीत्यर्थः** । **वर्तमानक्रियापदात्** स्वस्य सर्वदैतदभिनिवेशः सूचितः । अत एवातिकरुण इति प्रभुभिः श्रीवल्लभाष्टके विशेषणं निरूपितमाचार्याणाम् । स्वेपामर्थे भगवन्तं विज्ञापयन्तः इत्याहुः **त इति** । त्वत्सम्बन्धिना तेषां त्वत्सम्बन्धिनं निरोधं वा । अत उभयथापि तवैवायं भार इति भावः ॥ १० ॥

नन्वेतादृशेषु गुणेषु विद्यमानेषु कथमत्र सर्वे न प्रवर्तन्त इत्याशङ्क्य तदभाग्यमेव हेतुत्वेनाहुः **हरिणेति** ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

ये इति भाग्यरहिता यतस्ते हरिणा सर्वदुःखहर्त्रापि भगवता विशेषेण नितरां मुक्ताः सर्वथा त्यक्ताः । उपसर्गद्वयं कथमपि तेषां शास्यभावाय । 'निबन्धायासुरी मते'ति प्रयोजनाभिधानात् । 'मामप्राप्यैवे'ति शिरश्चालनेनार्थनिरूपणे यथाकथञ्चित् तत्सम्बन्धे सति प्राप्तिस्तु प्रमेयबलेनेतिदिक् । अत एव व्यासोपि श्रीभागवते 'विना पशुघ्ना'दित्युक्तवान् । ननु तेषां किं फलमित्याकाङ्क्षायामाहुः **ते मग्ना इति** । **ते** आसुराः कर्मिणो दैवा अपि **भवः** जन्ममरणप्रवाहः स एव सागरस्तत्र **मग्नाः** सर्वानुसन्धानरहिता इत्यर्थः । तस्य सागरत्वं नक्रादिगिलनसम्भावनया, तत्र तथा पुनरुन्मज्जनासम्भवः, एवमत्रापि कामादिभिर्ग्रासेन पुनर्मोक्षमार्गप्रवेशासम्भव इत्येतद्धर्मसाम्येन निरूपितम् । निरुद्धानां व्यवस्थामाहुः **ये निरुद्धा इति** । भगवता **ये निरुद्धा** महापुरुषद्वारा स्वतो वा आत्मसात्कृतास्त **एवात्र** गुणगाने **मोदमानन्दमा**समन्तात् **यान्ति** प्राप्नुवन्ति । एवकारेणान्येषामनिरुद्धानां कथञ्चिदपि मोदासम्भव इति निरूपितम् । तेषां गुणेष्वरुचेः । तद्रुचिस्तु भगवदनुग्रहेणैव । अत एव नलकूवरमणिग्रीवाभ्यामनुग्रहानन्तरमेव 'वाणी गुणानुकथन' इत्यादि निरूपितम् । उक्तं च तथैवास्मत्प्रभुचरणैर्भक्तिहंसे 'तदर्थितस्यैवरणकार्यत्वा'दिति । **अहर्निशमिति** । न तेषां क्षणमपि सांसारिकदुःखसम्भव इत्युक्तम् । 'गद्वार्तायातयामाना'मितिवाक्यात् । याममात्रमप्येतद्वार्तापरत्वे गृहादेरबन्धकत्वमित्यहर्निशं तथात्वे किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ११ ॥

ननु गुणगानं निरोधसाधनतया कर्तव्यमित्युक्तम्, तदिन्द्रियाणां वैमुख्ये न सम्भवतीति तन्निवर्तकमुपायमाहुः **संसारावेशदुष्टानामिति** ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥

संसारस्य अहन्ताममतात्मकस्य प्रपञ्चासक्तिसम्पादकस्य य आवेश आममन्तादिन्द्रियेषु प्रवेशस्तेन दुष्टानां भगवद्वैमुख्यरूपदोषयुक्तानामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनां **हिताय** भगवत्परतया हितं कर्तुं **सर्ववस्तूनि** दारागारपुत्रादीनि **कृष्णस्य**

सदानन्दस्य योजयेद् युक्तं कुर्यादित्यर्थः । कर्मादीनां सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येवेति
सप्तम्यर्थे षष्ठी । ननु कृष्णे सर्ववस्तुसमर्पणेन कथं इन्द्रियाणां दोषनिवृत्तिरित्याशङ्क्य आहुः
ईशस्येति । स हि समर्थ आधिदैविकतामपि सम्पादयितुं तस्येन्द्रियमात्रदोषनिवर्तकत्वे
किमाश्चर्यमिति भावः । यद्वा, इन्द्रियाणि स्वतो बहिर्मुखान्येव, 'पराञ्चि खानि व्यतृण-
त्स्वयम्भूरि'ति श्रुतेः, तेषां हिताय कृष्णस्य भगवतः सम्बन्धीनि सर्ववस्तूनि
लीलासृष्टिस्थानि भावनयेन्द्रियैः सह योजयेदित्यर्थः । एतदेव 'वाक्षण्नता'मित्यस्य विवरणे
'भगवता सह संलाप' इत्यादिना निरूपितमिति तत एव विभावनीयम् । नन्वीशत्वेपि
सर्वेनेन्द्रियादिषु सम्बन्धाभावे कथं दोषनिवर्तकत्वमित्याशङ्क्याहुः भूम्न इति । भूमा सर्व-
व्यापकोऽतो ये यथा भावयिष्यन्ति तत्र तथा प्रकटीभूय सम्बद्धो भविष्यतीत्यर्थः । यद्वा,
भूम्न इति तादर्थ्ये चतुर्थी । तथा च 'भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयती'ति
तार्तीयीकाधिकरणनिरूपितभूमशब्दवाच्यसर्वात्मभावरूपफलसिद्धये सर्ववस्तुसमर्पणं कर्त-
व्यमित्यर्थः । तत्राधिकरणे 'यो वै भूमा तत्सुख'मित्युक्त्वा भूमस्वरूपजिज्ञासायां 'यत्र
नान्यत्पश्यती'त्यादिना सर्वात्मभावस्वरूपमेव निरूपितम् ॥ १२ ॥

ननु भगवतो दयावधि महतां कृपया गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम्, सा च पुनर्गुण-
गाने क्रियमाणे कदा भवतीत्याकाङ्क्षायामाहुः गुणेष्वाविष्टचित्तानामिति ।

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १३ ॥
तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ॥ १३॥ ॥

यदा भगवतो गुणेषु ऐश्वर्यादिषु सौन्दर्यादिषु वा सर्वदा अव्यवधानेनाविष्ट-
चित्तानामन्यानुसन्धानरहितान्तःकरणानां 'तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति
ही'त्याचार्यवचनादासक्त्या वर्धमानया संसारो लौकिकेष्वहन्ताममतारूपः विरहक्लेशो
भगवद्विरहेण क्लेशश्च तावुभौ न स्यातामित्यर्थः । 'शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते । क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय
कल्पते,' 'परस्परं त्वद्गुणवादः,' 'ये योन्यतो भागवताः,' 'तव कथामृत'मित्यादि-
वाक्यैर्गुणाविष्टचित्तानां संसारविरहक्लेशाभावोक्तेः । अन्यथा सर्वपरित्यागो वियोगे जीवनं
च न सम्भवेत् । यद्वा, संसारस्तेन च यो विरहक्लेशो अभिलषितविनाशे तौ न स्याता-
मित्यर्थः । अत एवोक्तं श्रीभागवते 'तस्मिन्महन्मुखरिता' इत्यारभ्य 'तान्न स्पृशन्त्यशन-
तृड्भयशोकमोहा' इत्यन्तम् । अथवा संसारो भगवत्यहन्ताममतारूपस्तस्य विरहेणाभावेन
यौ क्लेशौ अन्यसम्बन्धप्रभवसम्बन्धजन्यौ तौ न स्यातामित्यर्थः । गुणाविष्टचित्तत्वे सर्वथा
भगवद्विषयकसंसारोत्पत्तेरन्यसम्बन्धाभावाच्च । ननु संसारः सर्वथा हेयः, कथं भगव-
द्विषयकः फलसाधक इति चेत्, न । भगवद्विषयककामादेरिव तस्यापि फलसाधकत्वेन

सतामपेक्षणीयत्वात् । अत एव 'कुर्वन्ति गोवत्सपद'मित्यत्र वत्सपदमानकरणोक्त्या 'अहमेतद्दासो अयं मम स्वामी'त्येतावान् संसारः स्थापितो भवतीति निरूपितमाचार्यैः । गुणाविष्टचित्तत्वेऽनिष्टनिवृत्तिरेव न, किन्तु इष्टप्राप्तिरपीत्याहुः हरिवत्सुखमिति । यथा हरेः सर्वदुःखहर्तुः भगवतः सर्वदैवान्तर्धानदशायामपि भक्तसाहित्येन सुखं पूर्णानन्दत्वाच्च, तथा गुणाविष्टचित्तानामपि अन्तस्तदाविर्भावात् सर्वदा प्रभुसाहित्येनान्तररमणेनानन्दपूर्णत्वाच्च, तेषामपि सुखमित्यर्थः । 'सदा सत्सङ्गयुक्तानामवश्यं यदा भवेत्, तदा दयालुता दैन्यदर्शनात् तु हरेर्भवे'दित्याशयेनाहुः तदा भवेद् दयालुत्वमिति । यदा पूर्वोक्तरीत्या गुणगानं सिध्यति तदा भगवतो दयालुत्वं प्रादुर्भावहेतुभूतं भवेदित्यर्थः । अन्यथेति । भक्तानामेवंभूतत्वाभावे भगवतोपि क्रूरता अनवेक्षकत्वेन मता सर्वशास्त्रसम्मता इत्यर्थः । अत एव 'नैवात्मन' इति श्लोके भगवत आत्मनः प्रभोर्निजलाभपूर्णस्य विद्वज्जनोपहृतमानग्रहीतुः करुणया किङ्करनिवेदितानुग्राहकत्वमुच्यते श्रीभागवते । सा च पूर्वोक्तभावेनैव भवतीति सर्वमनवद्यम् ॥ १३,१३॥ ॥

ननु कालकर्मस्वभावादिभिर्बुद्धिनाशोद्वेगादिदोषैः प्रतिबन्धसम्भवे कथं गुणगाननिर्वाह इति चेत्, तत्राहुः बाधशङ्कापि नास्त्यत्रेति ।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥
भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

अत्र गुणगाने कालादिबाधशङ्कैव न, यतो भगवतैवोक्तं श्रीभागवते, 'न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मे निमिषो लेढि हेति'रिति । अन्यत्रापि 'आयुर्हरति वै पुंसां उद्यन्नस्तमयन्नसौ । तस्यर्ते यः क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तये'ति । एवं गुणगाने बाधाभावमुक्त्वा सर्वत्र तदवभासरूपं प्रत्युत साधकं धर्ममाहुः तदध्यासोपि सिध्यतीति । गुणगाने तस्य भगवतः अध्यासः सर्वत्रावभासः सोप्यवान्तरफलतया सम्यक् सिद्धिविषयो भविष्यतीत्यर्थः । अध्यासपदं घटादिसर्वपदार्थेषु भगवदवभासस्य भावप्रयुक्तत्वेन वस्तुत आसक्तिभ्रमबोधनाय । अन्यथा घटादेः पुरुषोत्तमाभिन्नत्वं स्यात् । न हि घटादि साक्षात् तदभिन्नं, किन्तु परम्परया । तस्याक्षरात्मतया तद्वारा तथात्वात् । अन्यथा तावद्धर्मविशिष्टत्वं तेष्वप्यभिव्यक्तं स्यात् । ननून्यन्त एव ब्रह्मधर्माः सच्चिदानन्दादयस्तेष्विति चेत्, अक्षरगतानामेव तेषां तद्वृत्तितया व्यपदिश्यमानत्वात् । अन्यथा बर्हापीडत्वादयोपि व्यपदिश्येरन् । न चेष्टापत्तिः, तदसाधारणधर्माणामन्यत्र कथनस्यानुचितत्वात् । किञ्च, सर्वेषां धर्माणां साधारणत्वे तद्गतासाधारणधर्माभावे लक्षणाभावादनिरूप्यत्वं सर्वसमत्वं सर्ववैशिष्ट्येनाभजनीयत्वं च स्यात् । तस्मादभेदस्याक्षरसमानाधिकरणत्वेन तद्धर्मव्यपदेश एव, न पुरुषोत्तमधर्मगन्धोपीति बुध्यस्व । नन्वैश्वर्यादयो व्यपदिष्टा

एव, किं न ते पुरुषोत्तमधर्मा इति चेत्, सत्यम्, तद्धर्मा एव, परन्तु अक्षरस्य चरणरूपत्वेन तदभिन्नतया तेषां तत्र सद्भावात् । यतो व्यासादिष्वपि तदिच्छयैव तत्सद्भावः । 'युक्तं भगैः स्वै'रिति वाक्यात् । एवं सति 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः,' 'पुरुषः स परः पार्थ,' 'भेदव्यपदेशाचे'त्यादिश्रुतिसूत्रमीमांसया अक्षराभेदः पुरुषोत्तमभेद इति भेदाभेदवादोऽस्माकमिति दिक् । ननु 'निवृत्ततर्षैरुपगीयमाना'दिति वाक्यात् वैराग्यस्य गुणगानाङ्गत्वेन अतिदुर्लभसाधनसाधकत्वरूपभावेऽङ्गहीनत्वेन कथं फलसिद्धिरित्याशङ्क्य तदप्यनेनैव भविष्यतीति साधनसाधकत्वरूपमुत्कर्षमाहुः भगवद्धर्मसामर्थ्यादिति । भगवद्धर्मोऽत्र गुणगानं, गीयमाना ये भगवतो धर्मा ऐश्वर्यवीर्यादयः, तस्य तेषां वा सामर्थ्याद्वस्तुशक्तेरेव, विषये भगवदतिरिक्तविषये, विरागो रागाभावः, स्थिरः अन्यापरिभाव्यो भवतीत्यर्थः । 'सा श्रद्दधानस्य विवृद्धमाना विरक्तिमन्यत्र करोति पुंस' इति वाक्यात् । यद्वा, भगवद्धर्मा लीलादयः, तत्सामर्थ्यादासक्तिजननरूपादेव विषयविषयकविरागो भवतीत्यर्थः । अत एवोक्तं श्रीभागवते, 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया गृहीतचेताः,' 'इत्थंभूतगुणो हरि'रित्यादि । ननु भगवद्धर्मसामर्थ्येन सुखसाधनेषु विषयेषु विरागे गुणगायकानां दुःखं स्यादित्याशङ्क्याहुः गुणैर्हरिसुखस्पर्शादिति । गुणानां स्वरूपाभिन्नत्वात् तैरेव हरिसुखस्य प्रभुसम्बन्धिसुखस्य हृदयदेशे स्पर्शात् सम्बन्धाद्विषयविरागेण शीतोष्णक्षुधादिसहनेपि कर्हिचिदपि दुःखं न भाति, भगवदानन्देन पूर्णत्वादित्यर्थः ॥ १५ ॥

एवं सोपपत्तिकं गुणगानकर्तव्यतामभिधायोपसंहरन्ति एवं ज्ञात्वेति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षं गुणवर्णने ।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण ज्ञानमार्गाद्गुणवर्णने उत्कर्षं ज्ञात्वा सर्वापेक्षां परित्यज्य सदा कालाव्यवधानेन गुणा एव वर्णनीयाः । अत्र बाधकद्वयं त्यागार्थमाहुः अमत्सरैरलुब्धैरिति । मात्सर्यलोभयोरत्यन्तबाधकत्वात् त्याज्यत्वम् । 'निर्मत्सराणां सता'मिति वाक्यात् । लोभश्च लौकिकक्षेत्रादितुल्यतापादकतया बाधकः । अत एवोक्तं भक्तिहंसे 'वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवल्लौकिक एवे'त्यादि ॥ १६ ॥

ननु गुणगानं रागतानादिवशीकृतचित्ततया न कार्यं निरोधार्थत्वादिति तत्सिद्ध्यर्थं गीयमानलीलाविशिष्टस्वरूपध्यानं साधनमाहुः हरिमूर्तिः सदा ध्येयेति ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

हरेः प्रभोः मूर्तिः स्वरूप सदा ध्येया स्मरणीयेत्यर्थः । नन्वदृष्टरूपस्य कथ ध्यानमित्याशङ्क्य तस्यान्याशक्यमनोरथपूर्तेः सर्वथा नि.साधनस्य गजेन्द्रस्येव रक्षार्थं भगवानाविर्भवतीति न दर्शने दौर्लभ्यमिति ज्ञापयितु हरीति । ननु योग इव कल्पितमूर्तेरुपासनायामिव सम्पादिताध्यस्तक्रियानिशेषप्रयुक्तमूर्तीना ज्ञान इव सोपधानमूर्तेर्ध्यानमिहापि भविष्यतीत्याशङ्क्याहु मूर्तिरिति । भक्त्यानिर्भूतरूपस्यैव ध्यानम्, न त्वन्यथाभूतस्येत्यर्थः । अन्यथा कल्पिताकारत्ने यथाकथञ्चिद्विर्ध्येय इत्येव वदेयुः । ध्येयेति कृत्यप्रत्ययेनावश्यकत्व द्योतितम् । ननु ध्यानसहितगुणगाने किं भवतीत्याशङ्क्य तदवान्तरफलमाहुः सङ्कल्पादपीति । ध्यानस्य का कथा, यत सङ्कल्पाद्विचारमात्रादपि तत्र ध्यानविषय प्रभुस्वरूपे प्रादुर्भावाद्भगवतो दर्शनं सर्वावयवावलोकनरूपम्, स्पर्शनं चरणादितद्रूपम्, तथा कृतिः शिरसि कराम्बुजधारणादिरूपा, गतिर्लीलासरूपा, एतत्सर्वं ध्यानपूर्वकगुणगानेन सङ्कल्पमात्रात् प्रादुर्भूतभगवत्स्वरूपे स्पष्टमबाधितम्, न तु भ्रमप्रतीत्या, प्रतिक्षणमनुभूत भवतीत्यर्थ । ननु श्रुताना पुन कीर्तनेन स्थिरीकृताना गुणानां गान सम्भवतीति तदर्थं श्रवणकीर्तने आहु श्रवणं कीर्तनमिति । श्रवणं हि भगवद्वाचकाना पदवाक्याना शक्तितात्पर्यनिर्धार, तदनु कीर्तनं श्रुतस्य स्थैर्यसिद्धये पुन पुन स्वत सर्वत्र कथनम्, एतद्द्वयमपि सङ्कोचादिकमकृत्वा कर्तव्यम् । अन्यथा श्रवणकीर्तनयोरसम्भावनाविपरीतभावने स्याताम् । अत एवोक्त श्रीमदाचार्यैः श्रीभागवततत्त्वदीपे 'सर्वथा तद्गुणालाप नामोच्चारणमेव वा, सभायामपि कुर्वीत निर्भयो नि स्पृहस्तत' इति । श्रोतृसापेक्ष कीर्तनम्, तन्निरपेक्ष गानमिति तयोर्विवेक । ननु 'काममयोऽयं पुरुष' इति श्रुते सर्वथा ध्याने सङ्कल्पानन्तर यत्किञ्चित् कामसम्भवात् गुणगाने कीदृश काम कर्तव्य इति तमाहु पुत्रे कृष्णप्रिय इति । पुत्रे सङ्कल्पने सङ्कल्पोत्पन्ने कृष्णस्य सदानन्दपुरुषोत्तमस्य अलौकिके सर्वपरित्यागपूर्वकधर्मिस्वरूपमात्राभिलापरूपे कामे रतिः प्रीति कार्येत्यर्थः । एतेन सर्वात्मभावभावन सर्वदा कर्तव्यमित्युक्तं भवति । तस्य भाव्यमानस्य कामस्य शरीरपरिवर्तनलक्षण फलमाहु पायोरिति । पायोः सर्वशरीरगतमलाधिष्ठानस्य समलाशमात्रेणैवाखिलशरीरलौकिकतापादकस्य सम्बन्धी यो मलांशो लौकिकविषयभोगजन्यस्तस्य सर्वात्मभावभावने 'सन्त्यज्य सर्वविषया'नित्यादिवाक्यैः सकारणस्य त्यागेन तनौ शरीरे सा अलौकिककामरतिः शेषभागं मलरहितांशरूप भगवत्सम्बन्धयोग्यतापादक नयेत् आपयेदित्यर्थ । पुत्र इतिसामान्यपदमस्यार्थस्यातिगोप्यत्वेन परोक्षवादसूचनाय । नन्वेतादृशस्यापि 'तादृशस्यापि सतत'मितिवाक्याद् दुःसङ्गादिना भावनाशसम्भवादुपायमाहु यस्येति । यस्य पुनादेरिन्द्रियादेर्वा भगवत्कार्यं सेवागुणगानादि स्पष्टं प्रातिकूल्येन न दृश्यते शिक्षायामपि, तदा सति सामर्थ्ये तस्य विशेषेण मरणादिकमकृत्वापि निग्रहः कर्तव्य इत्यर्थ । अन्यथा सत्या शक्तौ तदनिग्रहे 'अप्रतिषिद्धमनुमत भवती'ति न्यायेन

तद्वतौ पुत्रे कृष्णप्रिय इत्यनेन विरोधापत्तिरित्यत आहुः इति निश्चय इति । इदमुक्तं भवति । भगवत्कार्यानुकूल्ये रतिः, प्रातिकूल्ये निग्रहः, सर्वथा असम्भवे त्यागः, शरणभावनं वा कर्तव्यम्, 'प्रतिकूले गृहं त्यजेत्', 'अशक्ये हरिरेवास्ती'तिवाक्यादिति भावः ॥ १७,१८,१९ ॥

एवं निरोधे साधनद्वयं निरूप्य सर्वेभ्यः साधनेभ्यः तयोरुत्कर्षं वदन्त उपसंहरन्ति **नातःपरतरो मन्त्र इति ।**

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

मन्त्रे हि कामितफलदत्वं देवतावशीकरणं च प्रसिद्धम्, तदत्र कामनाप्रसरमनोरथान्तफलसिद्धया अनिर्वन्धेन प्रभुवशीकरणादतः साधनयुग्माद् मन्त्रः परतरः । अविलम्बेन साधकत्वात् कर्मादिभ्य उत्कृष्टत्वेपि एतस्मादतिशयेन नोत्कृष्ट इत्यर्थः । ननु प्रभुप्रसादहेतुतया अनिर्बन्धेन स्वामिवशीकरणाच्च स्तवस्योत्कृष्टत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः **नातः परतरः स्तव इति ।** स्तवस्य मन्त्रादिभ्यः प्रसादसाधकतयोत्कृष्टत्वेपि प्रभुवशीकरणाभावादेतस्मादतिशयेन नोत्कर्ष इत्यर्थः। ननु ब्रह्मविद्यायाः 'प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः' 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मत' इत्यादिवाक्यैः प्रभुप्रीतिसाधकतया साक्षात्कारहेतुत्वात् सकलपातकभस्मीकाराच्च उत्कृष्टत्वमित्याशङ्क्याहुः **नातः परतरा विद्येति ।** विद्या हि पञ्चपर्वा, स्वसिद्धौ साक्षात्कारमात्रं सम्पाद्य तत्र लयं विधाय केवलमनसा ब्रह्मानन्दमनुभावयति । तदुक्तं अस्मदाचार्यैः श्रीभागवततत्त्वदीपे 'ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमे'ति, भावभावनगुणमाने स्वस्मिन् प्रभुः प्रादुर्भावं सम्पाद्य देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिषु स्वरूपात्मकमानन्दं पूरयित्वा सर्वैरिन्द्रियैरन्तःकरणैरात्मनापि तदानन्दमनुभावयत इत्यन्येभ्य उत्कृष्टापि विद्या नैतस्मात् साधनयुग्मादुत्कृष्टेत्यर्थः । अखिलपापभस्मीकारस्तु 'दुःसहप्रेष्ठविरहे'तिवाक्यादवाप्यवगन्तव्यः । नन्वेतत्सर्वं चित्तशुद्धौ सम्भवति, अशुद्धचित्तस्य सर्वसाधनवैफल्यात् तच्छोधकतीर्थाश्रयस्यावश्यकत्वात् तीर्थस्योत्कृष्टतामाशङ्क्य आहुः **तीर्थं नातः परात्परमिति ।** तीर्थस्य सकलसाधनमूलभूतमनोमार्जकतयोत्कृष्टत्वेपि गुणगानादेः 'सत्त्वं च शुध्यत्यचिरेण पुंस' इतिवाक्यादविलम्बेन चित्तशोधकत्वात् सर्वतीर्थरूपत्वाच्च साम्प्रतं तेषां दुष्टावृतत्वेन तिरोहिताधिदेवत्वेन चासाधकत्वादेतस्मात् **परात्** सर्वोत्कृष्टात् साधनयुग्मात् तीर्थं न परं उत्कृष्टमिति स्वसिद्धान्तनिष्कर्षो निरूपित इति दिक् ॥ २० ॥

स्वाचार्यचरणद्वन्द्ववन्दनादरसाधनात् । निरोधलक्षणग्रन्थं विवव्रे हरिदासकः ॥ १ ॥

इतिश्रीमन्निजाचार्यचरणाभिषेकलब्धमहाराज्यसुखानुभूतिश्रीहरिदासविरचिता निरोधलक्षणविवृतिः समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीवल्लभकृतनिरोधलक्षणविवरणसमेतम् ।

भक्तभावात्म[1]रूपाय तन्मार्गव्यञ्जकाय च । तद्दानायात्तदीक्षाय स्वाचार्यप्रभवे नमः ॥ १ ॥
विरागादिन्द्रियाणां वै निग्र[2]हे सति साधनैः । यमादिभिश्च विज्ञाने ज्ञाने भवति सत्फलम् ॥२॥
तदभावेन सर्वेषु प्राकृतांशानिवृत्तितः । भक्तिमार्गे कथं साक्षात् फलं भवति तत्ततः ॥३॥
निःसाधनाङ्गीकृतस्य स्यात् फलं रोधतो यथा । तदर्थं साधनं रूपं तस्य स्वाध्वनि वर्ण्यते ॥४॥

प्रथमं दशमार्थनिरूपणे निरोधशब्देन 'निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः प्रपञ्चे क्रीडनं हरे' रिति वाक्यात् साक्षाद्भगवत्क्रीडनमुक्तम् । तत्क्रीडनं लीलाप्रपञ्चान्तर्गतभक्तानां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं सकलेन्द्रियनिरोधे सति भवेदिति दशमस्कन्धे भक्तानां चित्तवृत्तिनिरोध उक्तो भक्तिमार्गे । तत्र पुनः प्राकट्यदशायां तु साक्षादङ्गीकृतानां पुष्टिमार्गीयप्रोद्गतभावाङ्कुराणां परमभाग्यवतां व्रजसम्बन्धिनां निरोधः स्वरूपेणैव कृतः, साम्प्रतं तत्प्राकट्याभावादाधुनिकानां स्वाङ्गीकृतानां स्वमार्गीयतत्साधनाज्ञानात् कदाचिद् ज्ञानरीतिनिरोधसाधनेषु प्रवृत्तिर्भवेदिति तदभावार्थं श्रीमदाचार्यचरणाः कृपया ज्ञानमार्गीयसाधननिषेधपूर्वकं स्वमार्गीयनिरोधसम्भवे सर्वथा यदपेक्षितं मूलकारणं तन्निरूपयन्ति यच्चेति ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

अत्रेदमाकूतम् । गोकुलं तु विविधविहरणेच्छाजनितसहजकृपया साक्षाद्भगवता पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतमतः स्वानन्ददानार्थं लोके प्रकटितमपि तादृशाङ्गीकाररूपबीजस्वभावजनिततद्वासनया तदनुरूपोद्गतभावाङ्कुरमेवासीदिति तद्भावस्वभावाद्दुःखमपि तत्र स्थितम्, येन साक्षाद्भगवत्प्राकट्यमभूद्, अग्रे सुखादिकमपीत्यधुना स्वकीयानामपि तादृशनिरोधमार्गिणां तादृशमेव दुःखं तत्तन्निरोधेन तत्प्राकट्यसाधकम्, अतस्तदेवैवं स्वस्मिन्सम्भावनया सर्वदा भावनीयमिति स्वकीयान् प्रति लक्षयन्ति । तथा हि । अन्वयार्थस्तु स्पष्ट एव । यदित्यनिर्वचनीयत्वमुक्तम् । चकारोऽप्यर्थकः सम्भावनायाम् । तथा च सुखं तु दुर्लभमेव । दुःखमपि चेत्स्यादिति । एतद्दुःखस्य महानन्दस्यापि तुच्छकर्तृत्वात् सर्वोत्कृष्टत्वेनातिदुर्लभाधिकारज्ञापनाय सम्भावनैवोक्ता, न तु प्रार्थनम् । तत्रापि क्वचिन्

1 भक्तभावस्वरूपायेति पाठः । 2 निरोधे इति पाठः ।

कदापि भविष्यति, यदि भवेत्तदा किं वाच्यमिति सर्वदोत्कण्ठापेक्षितेति सूचितम् । एवं सति एतद्भावानुरूपं दुःखमेव निरोधसाधकमिति ज्ञेयम् । दुःखं तु भगवत्प्रादुर्भावात् प्रागपि श्रीमातृचरणानां श्रीनन्दादीनां च पुत्रोत्पत्तितल्लालनक्रीडावलोकनादिविविध- मनोरथात्मकमासीदेव, तथैव श्रीस्वामिनीनामपि प्रभुप्राकट्याशया तत्तन्मनोरथात्मकं तथा । ततः प्राकट्यानन्तरमपि बाल्ये पूतनादिदर्शनजनितभयेन कूपवृक्षादिपतनरूपम् । ततः प्रभोरतिचञ्चलस्वभावेन गृहाग्निभयरूपं क्रीडासक्त्या भोजनादिविलम्बजनितार्ति- रूपं च । श्रीस्वामिनीनामपि प्राकट्यानन्तरं क्षणमात्रावलोकनाभावेन स्थातुमशक्त्या विविधकार्यव्याजेन मुहुर्मुहुः श्रीमातृचरणसमीपागमनं तद्धेतुकमेवेति तादृशं तथा । प्रातर्यावत्पर्यन्तमुन्निद्रायतविकसदमलसरोजदलसदृशमीक्षणयुगलमुन्मीलयेत्प्रभुस्तावत्ताप- सहिष्णुतया 'चिरविरहे'त्युक्तप्रार्थनहेतुरूपं च । ततो गोचारणगमनादिषु प्रातरारभ्य सन्ध्यावधि तद्दर्शनजनिततत्तन्मनोरथात्मकं च । अग्रे नादनिशाघृतपानानन्तरं स्वामिनीनां तु स्पष्टमेव । अग्रेऽपि रासलीलायां साक्षात् पूर्णरसदानपर्यन्तं तिरोधानजनितविचित्र- भावात्मकं च । पुनरग्रे विप्रयोगस्फूर्तौ स्पष्टमेव । ततस्तस्य 'संस्मृत्य संस्मृत्ले-' त्युक्तत्वात्तल्लीलानुस्मरणकीर्तनादिना सर्वदा तदात्मकत्वात्तदस्फूर्तौ दुःखभानाभावाद्यथा पूर्वमेव प्रभुस्थितिं मन्यमानानां भक्तानां श्रीमदुद्धवोपदेशेन महद्दुःखार्णवनिमज्जनं चेत्यादि रूपम्, तथा चेद्रूपे दुःखे जाते पूर्णो निरोधः सिद्धो भवतीति श्रीमदाचार्यैरेतद्दुःखान्त- र्गतानिर्वचनीयसुखानुभवहेतुभावात्मकैः कृपया स्वकीयानामप्येवमेव तदपेक्षितमिति तदेव सम्भावनीयमिति तथोक्तम् ॥ १ ॥

एवं तेषां दुःखं सम्भाव्य तत्तदनन्तरजनितमनिर्वचनीयं तत्तत्सुखमपि तद्दुःखानु- भवे सम्भावयन्ति **गोकुल** इति ।

गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

तद्दुःखहेतुकप्राकट्यानन्तरं महोत्सवादिबाल्यमारभ्य प्रेङ्खपर्यङ्कान्दोलनादिरिङ्गण- क्रीडादानदधिदुग्धादिचौर्यान्तर्गतयावत्केलिवत्सगोचारणान्तनिलायनप्रभृतिवेणुगीतव्रत- गोवर्धनोत्सवरासान्तं स्वस्वमनोरथपूरकं तथा । तदनन्तरं विप्रयोगे जाते तल्लीलास्मरणेन तदात्मकतया दुःखभानाभावात् तदस्फूर्त्या यथा पूर्वबुद्ध्या मिश्रितं सर्वविलक्षणं च श्री- स्वामिनीनां तथा **सर्वेषां व्रजवासिनां** च श्रीगोकुले **यत्सुखं** सम्यगनिर्वचनीय **सम्भूतं तन्मे भगवान् किं विधास्यतीति** पूर्वोक्तरीत्यैव तदभिलापोपेक्षित इति भावः । यद्यप्यतिदुर्लभं तथापि सर्वसामर्थ्यवत्त्वेन पूर्वं यथा स्वयमेव कृतवांस्तथाधुनापि करिष्यतीति ज्ञापनाय भगवत्पदम् ॥ २ ॥

एवं निरुद्धानां दुःखसुखाभिलापं स्वस्मिन्निरूप्य पुनस्तादृशसुखानन्तरं विप्रयोगजनिते दुःखेपि विलक्षणसुखविशेषोत्पादकः कश्चनोत्सवो जायत इति तं सम्भावयन्ति उद्धवागमन इति ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

यथा देशान्तरगते प्रिये तत्प्रेषितगृहसेवकागमने तन्मात्रादीनां विशेषतः प्रियायाश्च प्रियकृतस्वस्मरणजनितौत्सुक्यविशेषेणोत्सवो भवतीति लोकरीतिः, प्रकृते तथोद्धवस्य भगवद्धावेन सर्वदोत्सवरूपस्य प्रियसन्देशहारकस्य भगवदीयस्यागमने उत्सवः सुतरामलौकिकत्वेन महान्यथा जातः, सुमहत्पदेन तस्योत्सवस्य तदनुभवैकवेद्यत्वेनाशक्यनिर्वचनमुक्तम् । कुत्रेत्याकाङ्क्षायामाहुः वृन्दावने गोकुले वेति । वेति चार्थे । तेन वृन्दावने श्रीस्वामिनीनां गोकुले श्रीमातृचरणानामिति विवेकः । तथा मे मनसि कदापि भविष्यतीति तथापेक्षित इत्यर्थः । उत्सवस्तु मानसोत्साहरूपो मनोधर्म इति मनस्येवाभिलाप उक्तः । अयमत्र भावः । भगवदीयस्य भगवत्सम्बन्धिनि समागते साक्षाद्भगवानेवागत इति तादृशोत्साहः सर्वथापेक्षितः, नो चेत्, तत्त्वमेव न भवतीति सिद्धान्तः । एते तु सर्वथा प्रपन्नाः परमभगवदीया इति तेषां सर्वदोत्सवरूपस्योद्धवस्यागमने प्रथमं तस्स्वरूपदर्शनेन कोयं भगवद्वेशधारीति विस्मयेनोत्कण्ठारूपोत्सवो जातः, पश्चाद्भगवदीयत्वेन निर्धारितत्वेऽस्मत्प्रियसम्बन्धी गृहे समागतः, तत्रापि परमभक्तो निकटवर्ती ज्ञायते, अहो महद्भाग्यमस्मदीयं यतोऽस्मासु तत्सम्बन्धित्वज्ञानेऽयमत्रागतः प्रेपितो वा, नो चेद्भगवदीयस्तदन्यत्र किमर्थं गच्छेत् । तेन प्रभुकृपाप्यस्मासु भविष्यतीत्यपि ज्ञायते, यतस्तत्कृपाऽभावे भगवदीयस्यागमनं न सम्भवति । किञ्च, तद्गृहमेव न भवति यत्र भगवदीयो नायाति, यतस्तदागमने भगवानप्यागच्छतीति प्रभुस्नेहभरवशाद्गृहेऽपि तत्सम्बन्धित्वजनितनिरुपधिस्नेहवात्सल्येनोत्साहभरवशात्तत्सत्कारादिकरणे परमोत्सवो जातः । क्वचिदित्येतादृशस्य दुर्लभत्वमुक्तम् । एवमाधुनिकानामपि निरोधमार्गीयाणां तत्सम्बन्धाभावजनितदुःखं सर्वदापेक्षितम्, भगवदीयागमने तादृश एवोत्सवोप्यपेक्षितः । एवं सर्वात्मना चित्तादिनिरोधे जाते तेन च साक्षात् प्राकट्येन कृपया सुखमपि दास्यतीति भावोपि ज्ञाप्यत ॥ ३ ॥

ननु ज्ञानमार्गे तु चित्तनिरोधे जाते ध्यानादिना आत्मसुखं भवति, अत्र दुःखेन चित्तनिरोधेपि दुःखमेव तिष्ठतीति क उत्कर्षस्तत्राहुः महतामिति ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

येषां भगवदीयदर्शनमात्रात् परमानन्दानुभावको महानुत्सवो भवति सर्वदा

भगवदावेशात् । स्वयमपि उत्सवरूपा अन्तरङ्गास्ते भक्ता महान्तः, तेषां कृपया यावद्भगवान् दयां करिष्यति, कृपया प्रादुर्भूय स्वरूपानन्दं दास्यति, तावत्तत्सोद्भूतप्रचुरभावैर्भगवदीयैः सह कीर्त्यमानो भगवान् साक्षादन्तःप्रकटीभूय सकलेन्द्रियाणामासक्तिं स्वस्वरूपे विधाय सुखाय भवति, न दुःखायेति । हृदयस्थ एव तत्तदिन्द्रियेषु स्वानन्दं पूरयतीत्यर्थः । यत आनन्दसन्दोहरूपः । यथा स्वरूपं तादृशं तथा गुणा अपि, तेन कीर्तनद्वारापि तथा आनन्ददातेति गुणगानमेव तेन कर्तव्यम्, नान्यदिति ज्ञापितं भवति । अनेन तद्दुःखमपि रसभावात्मकमानन्दात्मकम्, न तु लौकिकविषयात्मकम् । यत्र दुःखस्यापि रसानन्दात्मकत्वम्, तत्र सुखस्यानन्दरूपत्वोत्कर्षः किं वाच्य इति सूचितम् । किञ्च, अत्र प्रभुदयायां हेतुत्वेन महत्कृपोक्ता, तेन महच्छब्देन स्वामिन्य एवोक्ता इत्यवगम्यते । यतोऽयं रसस्तासामेव, भगवानपि तदधीन एव रसानुभवं करोतीति तत्कृपाऽभावे प्रभोरपि न दयेति महत्कृपयैव सर्वं भविष्यतीति सूचितम् । अत एव 'तद्दारा पुरुषे भवे'दित्यत्र 'तासामनुग्रहद्वारे'त्युक्तम् । अथवा तद्भावस्वरूपत्वेनात्मसूचकमेव महत्पदं दत्तमिति ज्ञायते । तेनाधुनिकानां श्रीमदाचार्यकृपयैव प्रभुः कृपां कृत्वा आनन्ददानं करिष्यतीति भावः ॥ ४ ॥

ननु भगवद्गुणगानं सर्वैरेव क्रियते, तेन च सर्वेषां सुखमेव भवति, निरुद्धानां तु को विशेषः, तत्राहुः महतामिति ।

महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा ।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

महतां पूर्वोक्तानां कृपया स्वभावदानात्मिकया कृत्वा यथा कीर्तनं निरोधमार्गीयाणां सदा सुखदं भवति, यतः परस्परगुणानुवादे प्रोच्छलितरसेन सकलेन्द्रियाणां स्वरूप एव निरोधेन प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं तदानन्दमग्ना एव तिष्ठन्तीति पुनस्तद्रसवासना न गच्छतीति सदेत्युक्तम् । तथा लौकिकानां प्रमाणधर्मनिष्ठानां तादृग्भावाभाववतां भक्तानां ज्ञानिनामपि तयारूपप्राकट्याभावात्तत्कीर्तनं तथा सुखदं न भवतीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः स्निग्धभोजनेति । एकं स्निग्धभोजनम्, अन्यद्रूक्षम् । स्निग्धभोजनं यथा सकलेन्द्रियाणां सुखदमाप्यायकं भवति, न तथा रूक्षम्, लौकिकेषु तद्भावाभावाद्रूक्षत्वमेवेति तथा । अनेतन्मार्गीयभावाभाववत्सु भक्तेषु ज्ञानिषु च लौकिकपदकथनेन यथा लौकिकालौकिकयोर्यावत्तारतम्यम्, तावत्तारतम्यमेतयोरपीति ज्ञाप्यते । एवं सति निरुद्धानां कीर्तने महानेव विशेष उक्तः ॥ ५ ॥

ननु सुखदत्वेपि दुःखं तु सर्वदा तिष्ठत्येवेति क उत्कर्षो गुणगाने, एतदपेक्षया ज्ञानिनां सकलेन्द्रियादीनामात्मनि लयेऽनन्तदुःखसम्भावनारहितात्मसुखानुभवः सर्वोत्कृष्टः प्रमाणसिद्ध इति चेत्तत्राहुः गुणगान इति ।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गोकुलेन्द्रस्य रसात्मकलीलाविशिष्टस्य गुणगाने सुखावाप्तिर्यथा निरुद्धानां जायते प्रकर्षेण, तथा पूर्णज्ञानिनां तत्राप्येकान्तभक्तानां शुकादीनामात्मनि आत्मसुखानुभवदशायां नैव भवति, कुतोऽन्यतः भक्तिरहितेभ्य इत्यर्थः । एवेति निश्चयार्थे । गानद्वारा सुखप्राप्तौ प्रकर्षः साक्षात्स्वरूपप्राकट्यजनित एवेति ज्ञेयम् । यद्यपि श्रीशुकैरेवं लीला वर्णिता, भक्तिरसेनापि ते पूर्णाः, तथाप्येतदानन्दानुभवस्तेषामपि न जात इति मुख्यतया शुकपदमेवादौ दत्तम् । एवं सति तत्कृपयैवायमानन्दः प्राप्यः, नान्यथा । तत्रैतद्दुःखमेव साधकमिति तस्यैव परमपुरुषार्थत्वम्, नान्यस्येति । यत्रात्मसुखापेक्षया तद्दुःखस्यापि सर्वोत्कृष्टत्वम्, तत्र किमु वक्तव्यः सुखोत्कर्ष इति कैमुतिकन्यायेनापि ज्ञाप्यते ॥ ६ ॥

ननु परमपुरुषार्थत्वेन सर्वदा तेषु दुःखमेव स्थापयति भगवान्, किं वा कदापि बहिः सुखमपि प्रयच्छति, तत्राहुः क्लिश्यमानानिति ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

एवं क्लिश्यमानान् साक्षात्स्वरूपसम्बन्धाभिलाषजनितप्रचुरार्त्या प्रतिक्षणमूर्छाजागरणावस्थाभेदेनानिशं क्लेशानुभवं कुर्वतः स्वीयान् जनान् दृष्ट्वा प्रभुर्यदा कृपायुक्तो भवेत्तदा सर्वं सदानन्दं सर्वांशपूर्णं सदानन्दस्वरूपं तत्तदिन्द्रियेषु भावात्मकतया सर्वांशेनानन्दपोषार्थं हृदिस्थमलौकिककामरूपं वा साक्षात्तत्स्वरूपं बहिर्निर्गतं प्रकटं करोति, बहिरानन्ददानार्थं हृदयात् प्रकटो भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

एवमयमानन्दः कृपैकसाध्य इत्यतिदुर्लभत्वमाहुः सर्वानन्दमयस्येति ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् ॥ ८ ॥

ब्रह्मानन्दपर्यन्तं यत्र यत्रानन्दो गणितस्तन्मयस्यापि कृपानन्दः सुतरां दुर्लभः । अथवा सर्वेषां तन्मयस्य स तया । मुक्त्यादिषु य आनन्दो भवति, सोऽप्येतदंश एव, परन्तु स साधनैर्भवति, अयं कृपैकसाध्यः, यतो दानं विना न भवति, अतः सुतरां दुर्लभः, न केनापि प्राप्तुं शक्यः । अथवा सुतरां दुःखेन शोभनेन वा लभ्यो लाभो यस्येति । समस्तसाधनासाध्यत्वादन्येषां दुर्लभः, तद्गतामेव सुलभ इति सूचितम् । तत्प्राप्तिप्रकारमाहुः हृद्गत इति । तादृग्दुःखजनिततापार्त्या मिथो गुणानुवादेन स्वगुणान् श्रुत्वा हृद्गत एव पूर्णः सकलेन्द्रियव्याप्तः, तज्जनितोच्छलितरसाब्धिप्रेरणान्तःपुष्टः सन् बहिः स्वस्वरूपं

प्रकटीकृत्य जनान् स्वीयान् स्नापयते, तत्तद्रसाब्धितरङ्गेषु तरणं कारयति । यथा यथा सकलेन्द्रियाणां दुःखं जातम्, तथा तथैव तेषु स्वानन्दं पूरयतीति भावः ॥ ८ ॥

अतः परमेतत्कथनप्रयोजनमाहुः अहमिति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम् ॥ ९ ॥

अहं स्वयं साक्षात् प्रभुणा पूर्वं निरुद्धः, निरुद्धानां मार्गेऽङ्गीकृतः, पश्चाद्रोधेन गुणगानद्वारा सकलेन्द्रियाणां रोधेन निरोधस्य पदवीं गतः, फलदशां प्राप्तः। निरुद्धेति पाठे निरुद्धानां पदवीं गतः, तन्मध्यवर्ती सन् तदानन्दानुभवं प्राप्तः । अतस्तदाज्ञया निरुद्धानामाधुनिकानां रोधाय तमेव निरोधं वर्णयामि, कथयामि । एतेन मदुक्तरीतिकरणेन सर्वथा निरोधसिद्धिर्भविष्यतीति ज्ञापितम् । त इति पाठे तुभ्यं त्वदर्थं वर्णयामीति कमपि भाग्यवन्तं प्रत्युक्तमित्यन्येषामानुपङ्गिकी शिक्षा सूचिता । किञ्च, यतोहं प्रभुणा साक्षात् स्वयं निरुद्धः, अतो मम वर्णनशक्तिः, नो चेत्, केन वक्तुं शक्य इत्यपि सूच्यते ॥ ९ ॥

एवं निरोधस्वरूपमुक्त्वा सर्वथा कर्तव्यत्वमाहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः ॥ १० ॥

यस्मादेवं सर्वोत्कृष्टत्वेन पराकाष्ठापन्नः सर्वदुर्लभः कृपानन्दः तस्मात् सर्वं परित्यज्यैतत्प्रापकत्वाभावात् सर्वं सवासनं त्यक्त्वा निरुद्धैः उद्भूतभावाङ्कुरैः सर्वदा गुणा एव गेयाः, तेषामयमेव सहजो धर्म इति तदभिलाषिभिरपि तदेव कर्तव्यम्, नान्यदिति भावः । गुणास्तु तत्तल्लीलात्मका बहुविधा इति कीदृशानां गानं कर्तव्यमित्यपेक्षायां विशेषणमाहुः सदानन्दपरैरिति । सदानन्दः साक्षाद्रसात्मकः पुरुषोत्तमः, तत्परैस्तन्निष्ठैः सद्भिः, न त्वितरस्वरूपनिष्ठैः । रसस्वरूपनिष्ठत्वकथनेन गुणा अपि रसात्मका रासादिलीलारूपा एव गेया इति सूचितम् । सदानन्दपरैस्तादृशैर्भगवदीयैः सहेति वा योज्यम् । तेन तादृग्व्यतिरिक्तैः सह न गेया इत्युक्तं भवति । तत्र कथने सर्वथा हानिरेवेति भावः । सर्वदेति क्षणमात्रमप्यन्यथाभावसम्बन्धगन्धाभावार्थम् । ततः सच्चिदानन्दता भवति, सर्वत्र भगवदावेशात्तत्स्वरूपात्मकतैव भवेदिति भावः । अथवा सच्चिदानन्दता ब्रह्मभावसम्पत्तिः, तेनान्तःसाक्षात्पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता भवति, तस्य तदधिष्ठानत्वादिति सूचितम् । कुत्रापि स्वत इति पाठः । तदा सच्चिदानन्दता भगवद्धर्मरूपता, सा त्वस्मिन्मार्गे स्वत एवानायासेनैव भवतीत्यानुषङ्गिकत्वमुक्तम् । यत्र ज्ञानमार्गीयपरमफलमपि गुणगानस्यानुषङ्गिकं फलम्, तत्र साक्षात्फलस्वरूपं किमु वाच्यम् ॥ १० ॥

ननु निरुद्धानामेव सर्वपरित्यागपूर्वकमेतदुच्यते, न अन्येषां साधननिष्ठानाम्, तत्किमिति तत्राहुः हरिणेति ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

हरिणा सर्वदुःखहर्त्रा **ये** विशेषेण त्यक्ताः, स्वानन्ददानेन दुःखदूरीकरणेच्छाऽभावात् त्यक्ताः, **ते** तु **भवसागरे मग्नाः**, साधनान्तरप्रवृत्ता अपि एतदानन्दाभावात् तन्मग्ना एवेति भावः । **ये** तदानेच्छया **निरुद्धाः** पुष्टिमार्गाङ्गीकृताः, केवलस्वरूपनिष्ठभावैकसाधनाः, **त एव** तत्कृपया सादरं **मोदमायान्ति**, बाह्याभ्यन्तरं रसपूर्णाः सन्तस्तदानन्दसमुद्रमग्ना एव तिष्ठन्ति, तदप्य**हर्निशम्**, क्षणमात्रमपि न तदानन्दविच्छेद इति भावः । अतो निरुद्धानामेवायमानन्दः, न साधननिष्ठानामपीति तदर्थमेवोच्यत इति सर्वं सुस्थम् ॥ ११ ॥

ननु निरुद्धानामपि पूर्वस्थितसंसारस्य विद्यमानत्वात् तत्तद्विषयासक्तेन्द्रियाणां तद्विस्मरणमशक्यमिव भाति, तदभावे गुणगानादिप्रवृत्तिरप्यशक्या, तत्राहुः **संसारे**ति ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्नि ईशाय योजयेत् ॥ १२ ॥

निरोधार्थं केवलपुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य साधनान्तरप्रवृत्तिनिवृत्त्योरप्रयोजकत्वादङ्गीकारस्वभावेन यथा स्वरूपे स्नेहात्मिका प्रवृत्तिर्भवति, न तथा विषयेषु, किन्तु तत्सम्बन्धदोषनिवारणीय इति **संसारावेशदुष्टानां** तत्तद्विषयभोगादिषु अहन्ताममतात्मकावेशेन दुष्टानां तज्जनितबन्धेन दुःखज्ञानाभावेन तन्निवर्तकधर्मविमुखानामि**न्द्रियाणां हिताय** प्रीतये पूर्वोक्तमेदेन हेतुना **कृष्णस्य** सदानन्दस्य **सर्ववस्तूनि** प्रकरणादेकादशेन्द्रियाणि सम्पूर्णस्वरूपं च, तानि प्रत्येकसमुदायाभ्यां तत्तन्मनोरथात्मकभावनया **भूम्नि** समस्तस्वेन्द्रियविषयाधिष्ठानानि कृत्वा स्वकीयान्यात्मसहितानि **दादश** तत्र **योजयेत्**। यद्यपि निरुद्धस्य स्नेहस्वभावेनैव भगवत्स्वरूपासक्तिः सकलेन्द्रियेषु भवतीति नियमविधिरयम्, तथापि संसारावेशिनामतिक्लेशं वीक्ष्य एतत्सम्बन्धेन ममापि क्लेशदुःखमेव भविष्यति, न तु स्नेहासक्तिजं सुखमिति भयेन ततः सांसारिकधर्मेभ्यः प्रत्यावर्त्य समस्तेन्द्रियाणि तत्र **योजयेत्**। यत्किञ्चित्सम्बन्धेनापि विघ्नो मा भूदिति कर्तव्यविधिरुक्तः । किञ्च, इन्द्रियाणां स्वस्वविषयप्रवृत्तिः सहजा, तथा चातितुच्छं विषयं त्याजयित्वा परमानन्दरूपविषयेषु तानि योजनीयानि । तथा चोक्तं 'अक्षण्वता'मित्यस्य विवरणे **'इन्द्रियवतामिदमेव फल'**मिति, 'भगवता सह संलाप' इत्यारभ्य 'एवं तद्भावन सदे'त्यन्तम् । अत्र तु द्वादशैव तद्विषया उक्ता इत्यत्रापि तावत्संख्यैवोक्ता । एवं सत्याधुनिकानामपि सांसारिकधर्मेभ्यः परावर्त्य तानि भगवति

योजनीयानीति शिक्षा सूचिता । एवं योजनेन तदासक्तौ सत्यां साक्षात्स्वरूपसम्बन्धाभावात् तद्गुणेष्वेवासक्तिवशादावेशो भवेत्, न त्वन्यत्रेति भावः ॥ १२ ॥

ननु एवं योजनेपि तत्तदिन्द्रियाणां पूर्वसंसाराध्यासात् तत्तद्विषयेषु यत्किंचिदहन्ता-ममतात्मकः संसारस्तिष्ठेदेवेति तत्त्यागजनितक्लेशोऽपि तत्सात्त्वगावाद् भवेदिति कथं सुखम् ? तत्राहुः गुणेष्विति ।

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १३ ॥

एवमासक्त्या गुणगाने क्रियमाणे तत्रैवाविष्टचित्ता भवन्तीति मुरवैरिणस्तत्र प्रतिबन्धनिवर्तकस्य गुणेष्वाविष्टचित्तानां तेषां संसारः पूर्वोक्तस्तत्त्यागजनितक्लेशश्च तौ न स्याताम् । तेषां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं गुणगानाविष्टत्वेन पूर्वोक्ताध्यास एव नश्यति, कुतस्तत्त्यागजक्लेशसम्भावनेति भावः । एतदेवोक्तं वेणुगीते 'क्रीडास्तन्मयतां ययु'रित्यस्य विवरणे 'जाग्रत्स्वप्नेपु क्रीडामेव पश्यन्ती'ति । ननु तथापि पूर्ववद्विषयभोगेष्वेव तेषामासक्त्या तत्सुखमपि पूर्वोक्तविषयजन्यसुखसदृशमेवेति चेत्, तत्राहुः हरिवदिति । पूर्वोक्तभोगासक्त्या संसार एव । अत्र तु हरिर्यथा सर्वदुःखहर्ता निखालौकिकरसात्मकानन्दरूपश्च, तथा तस्य सुखमप्यग्रे दुःखसम्भावनारहितं संसारनिवर्तकं तादृशमेव, न तु पूर्वसादृश्यं भवतीति महद्वैलक्षण्यमुक्तम् ॥ १३ ॥

एवं सर्वेषां विषयवासनारहितदृढासक्तौ यद्भवेत्तदाहुः तदेति ।

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥

एवं प्रचुरतापात्मकभावासक्त्या सकलेन्द्रियाणां प्रपञ्चाध्यासरहितः पूर्णो निरोधः स्वरूपात्मकतारूपो यदा सिध्येत्तदा दयालुत्वं प्रभोर्भवेत्, स्वास्यादिकरणेन प्रतिबन्धको न भवेदित्यर्थः । अन्यथा तादृशासक्त्यभावे क्रूरता निश्चिता । साक्षात्स्वीयत्वेनाङ्गीकृतस्य स्वधर्मरूपभगवदभिप्रेताकरणे प्रभोरात्कोशो भवतीत्यपि क्रूरपदेन सूचितम् । ननु सर्वत्यागेन गुणगानमात्रप्रवृत्तौ कालकर्मादिकृतबाधः सम्भवेत्तत्राहुः बाधशङ्केति । बाधस्य शङ्कापि नास्ति । कुतो बाधः । अत्र गुणगान इत्यर्थः । सकलेन्द्रियेषु भगवत एवानिष्टत्वेन स्थितत्वाद्बाधः केन कर्तुं शक्यः, स्वयमपि भगवान् न शक्नोति, तदा कोन्य इति नैव शङ्कोदयः । एतदेवोक्तं सन्न्यासनिर्णये 'अत्रारम्भे न नाशः स्या'दित्युपक्रम्य 'हरिरत्रे'-त्यन्तम् । अत्रेति कथनात् तत्तज्ज्ञानमार्गीयसाधनेषु बहवो विघ्नाः सन्तीत्यपि ज्ञाप्यते । ननु तथापि स्वरूपमिलनाभिलाषस्य विद्यमानत्वात् स्वस्य भगवता सह भेदज्ञानं तिष्ठत्येव, तच्च तदभिमानेन सम्भवति, स च बाधरूप एवेति चेत्तत्राहुः तदध्यास इति । यथा

१ भक्ताविति पाठः । २ भगवद्विषयभोगे इति पाठः ।

ज्ञाने 'सोऽह'मिति स्फुरति, तथा स्वस्मिन् सर्वत्र देहादौ तस्य भगवत एवाध्यासः, तद्रूपत्वेनैव भानं 'कृष्णोऽह'मित्यादिरूपः सिध्यति, न तु स्वस्मिन् भिन्नत्वं स्फुरति । सिध्यति सिद्धिं प्राप्नोतीत्युक्त्या यथा संसारावस्थायां तादृशाध्यासः स्थितः, तथेदानीन्तनावस्थायां सत्यां साक्षाद्भगवत्स्वरूपाध्यास एव भवतीति स्वभावपरावृत्तिर्जायत इति सूच्यते । एतदेव 'तन्मनस्का' इत्यस्य विवरणे द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

ननु तथापि वैराग्याभावे कथं पूर्वोक्तप्राकृतविषयाध्यासनिवृत्तिस्तत्राहुः भगवद्धर्मेति ।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थितः ।
गुणैर्हरेः सुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

भगवतः सकलैश्वर्यादिगुणयुक्तस्य धर्मैः गुणगानद्वारान्तःप्रविष्टैस्तेषां सामर्थ्याद्विषये प्राकृते तद्भावत्वेन भगवत्यपि वा तादृशस्य विरागः स्थितोऽस्ति । स्थिर इति वा पाठः । विषयत्वेन सर्वत्र वैराग्यमेव, किन्तु तेषां पराकाष्ठापन्नालौकिकानन्दरूपे साक्षाद्भगवति निरुपधिस्नेहेन केवलतदीयत्वबुद्ध्यैव तथा प्रपन्नतेति 'सन्त्यज्य सर्वविषया'मिति निरूपणेन ज्ञायते । अत एव भगवानपि स्वयं कृपया तादृशानन्दमनुभावयतीति सर्वमवदातम् । तर्हि दुःखं कथं भवति ? तत्राहुः गुणैरिति । हरेः सर्वदुःखहर्तुर्गुणैः सुखस्पर्शान्न कर्हिचिद्दुःखभानम् । तेषामन्तस्तत्स्वरूपानन्दपूर्णानां सर्वदा तदात्मकतया दुःखस्य भानमेव नास्ति, कुतस्तत्सम्भावनेति भावः । तापात्मकं यद् दुःखं दृश्यते तस्य रसरूपत्वात् सुखरूपत्वमेव, न दुःखरूपत्वमिति ज्ञेयम् ॥ १५ ॥

अत उपसंहरन्ति एवं ज्ञात्वेति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो गुणवर्णने ।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

साक्षाद्भगवदानन्दस्य सर्वेन्द्रियाणामावरत्वनिरूपणेन तत्साधनरूपगुणगानस्य सुखरूपत्वेन च ज्ञानफलस्याक्षरलयपर्यवसायित्वात् तत्साधनस्य च कष्टसाध्यत्वाच्च ज्ञानमार्गाद्गुणवर्णने महोत्कर्ष इति ज्ञात्वा निरुद्धैः साक्षाद्भगवद्द्वाररूपाङ्गीकारादारभ्य सर्वपरित्यागेन गुणा एव वर्णनीयाः, न त्वन्यत् । द्वासत्ययनन्तरं तत्स्वभावात् स्वयमेव गुणगानं भविष्यति, साम्प्रतं तदभावादन्न कर्तव्यविधिरुक्त इति सर्वमनवद्यम् । तत्र प्रतिबन्धकरूपमान्तरं दोषद्वयं सर्वथा त्याज्यमित्याहुः अमत्सरैरिति । मात्सर्यं परोत्कर्षासहनं लोभश्च तद्रहितैः कर्तव्यम् । भगवदीयेषु मात्सर्येण सौहार्दाभावे गुणवर्णनमशक्यम्, लोभे तु स्वार्थार्थमेवेति कुतस्तदावेशः, प्रत्युत सर्वथानुचितत्वाद्भगवद्भक्तानां सर्वस्वहानिरेवेति सर्वथा दोषद्वयं त्यक्तव्यमिति भावः । सदेति कार्यान्तरव्यासङ्गे भावशैथिल्याभावायोक्तम् ॥ १६ ॥

नतु श्रीमुखावलोकनादीनां भावजनकत्वेन सर्वदा भगवत्स्वरूपसेवैव कर्तव्येति भक्तिसिद्धान्तः, प्रकृते मुख्यतया गुणगानमेवोच्यते तत्कथमित्याशङ्क्य तत्राहुः हरिमूर्तिरिति ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
पायुर्मलांशत्यागेन शेषभावं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

अत्रेदं प्रतिभाति । भगवानुद्धारार्थं मर्यादया सर्वानेवाङ्गीकरोति । तेषां स्नेहरूपा मानसी सेवा फलरूपेति तत्साधनत्वेन मार्गनिष्ठया सेवाकरणमावश्यकम् । येषां साक्षात्पुष्टिमार्गे निःसाधन एवाङ्गीकारस्तेषां तदात्व एवोद्भूतस्नेहभावाङ्कुराणां स्वरूपसम्बन्धाभिलापेण 'भगवता सह संलाप' इत्यादिरूपा भावनैव जायते, भावना तु मनोधर्मः, तद्भावनायां मनसस्तत्परता भवतीति तद्रूपा मानसी सेवा जायते इति पूर्वोक्तसेवाया अधुना प्रयोजकत्वाभावात्तदार्ढ्यार्थं गुणगानमेव मुख्यमिति तदेवोक्तम् । अत एव भगवद्वरणानन्तरमेवोद्भूतभावाभिः कुमारिकाभिः पूजादि सर्वं विहाय गुणगानमेव कृतमिति 'भूयान्नन्दसुतः पति'रित्यत्र विवरणे विवृतम्, साधनमार्गीयशरणागतानामपि साधनरूपसेवाकरणेन स्नेहानन्तरभावोत्पत्तौ गुणगानद्वारा तदार्ढ्यार्थं त्याग एवोक्तो भक्तिवर्धिन्यां 'तादृशस्यापी'त्यारम्य 'त्यागं कृत्वे'तीति सर्वमनवद्यम् । किञ्च, पूर्वोक्तसाधनरूपसेवाकरणेन स्नेहभावजनितं तापात्मकं दुःखं जायते, तद्दुःखनिवृत्तिस्तु विरहानुभवे गुणगानेनैव भवतीति तदेव मुख्यत्वेनोक्तम् । तथा च यतस्तादृशपुष्टिमार्गाङ्गीकारस्वभावोद्भूतस्नेहभावाङ्कुरजनितमनोरथप्रकारेण हरिमूर्तिः सदा ध्येया भावयितुं योग्या भवति, अतस्तज्जनिततापनिवृत्त्यर्थं तदार्ढ्यार्थं च गुणगानमेवोक्तमित्यन्वयः । तर्हि ज्ञानमार्गेपि ध्यानमेव क्रियते, ततो गुणगाने को विशेषस्तत्राहुः सङ्कल्पादिति । सङ्कल्पात्पूर्वोक्तप्रकारकविविधमनोरथकदम्बादपि तत्र भावनायां भावात्मकतया साक्षात्प्रकटस्य भगवतो दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टमनुभूतं भवति, तथैव कृतिस्तदन्तिके गतिश्च, तथैव श्रवणं तत्कूजितानां, कीर्तनं भगवता सह संलापादिरूपं च तथा । पूर्वोक्तज्ञानसाधनध्याने तु न तथेति स्पष्टमित्युक्तम् । तत्र तु प्रत्यक्षेपि आत्मनि न तथानुभवः । गाने तु सङ्कल्पमात्रादपि स्पष्टमनुभूतं भवतीत्यपिशब्देन द्योत्यते । एवं भावनायां प्रकटीभूय तापात्मकं दुःखं हरतीति ज्ञापनाय हरिमूर्तिरित्युक्तम् । ननु भगवदङ्गीकारेण तत्कृपया एतत्सर्वं भवेदिति 'कृपायुक्तो यदा भवे'दित्यनेनोक्तम्, परन्तु तत्र भगवत्कृपायां महत्कृपा पूर्वं हेतुत्वेनोक्ता 'महतां कृपये'त्यनेनेत्यस्य तदधीनत्वेन तत्कृपाभावे स कथं प्राप्येतेत्यत आहुः पुत्र इति । यतः पूर्वोक्तभक्तास्तु पराकाष्ठापन्नरसभोक्तारो मात्सर्यादिदोषरहिता भगवत्कृपाविषयेषु सहजवत्सलशीला इति तेषां

तादृशे कृष्णप्रिये कृष्णः प्रियो यस्य कृष्णस्य फलदानसमुत्सुकस्य प्रिये वा पुत्रे पुत्ररूपे रतिः प्रीतिरिव भवति । स्वप्रियप्रीतिहेतुत्वेन कृपया भावदानात्तेषां गुरुत्वात्तस्मिन् पुत्रत्वं सिद्धमेवेति तद्रूपत्वमुक्तम् । तासां गुरुत्वं तु सन्न्यासनिर्णये 'कौण्डिन्यो गोपिका' इति स्फुटीकृतम् । किञ्च, यथा पुत्रस्य काम्प्यार्तिं दृष्ट्वा तस्मिन् वात्सल्येन तदुपचारः क्रियते, तथात्रापि तादृशीमार्तिं दृष्ट्वा वात्सल्येन तद्दानं तैरपि क्रियत इति ज्ञापनाय पुत्ररूप इत्युक्तम् । अन्यच्च, पुत्रे यथा तद्विहितविविधापराधादपि वत्सलतैव भवति, तथा तादृशे कृपापात्रे प्रीतिहेतोरपि तथोक्तम् । प्रीतिरपि तेषां भावात्मिकैव भवति, न तु तद्रहितेति ज्ञापनाय रतिपदमुक्तम् । रतिर्हासमश्रेति तद्रूपत्वं तस्याः स्पष्टम् । एवं सति तेषामपि कृपा तादृशे जायते इति स रसोपि तेन प्राप्यत इति सुष्ठूक्तं तथा । किञ्च, यथा तादृशानां तादृशे भक्ते पुत्रभावस्तथा तस्यापि तादृशेषु भक्तेषु सर्वदा मातृभाव एव स्थापनीय इत्यपि सूचितम् । अथवाऽन्ययमपि गूढाभिसन्धिरनुमीयते । कृष्णप्रियास्तु बहुविधा . परन्तु स्फुरत्कृष्णप्रेमेति श्लोकोक्तरूप कृष्णस्यानन्दरसात्मकस्य प्रियत्व श्रीमदाचार्येष्वेव विलसति नान्येषु, तदेतुक साक्षात् श्रीस्वामिनीनामपि प्रियत्वं तादृग्वात्सल्यनैतेष्वेव सम्भवति, नान्येषु । यत. श्रीमदाचार्याणामेव तद्भावात्मकत्वं तन्मध्यपातित्व च निजयते । तथा च कृष्णस्य प्रिये वल्लभे मयि पुत्र इव रतिस्तेषां वर्तेत इति मदङ्गीकृतेन्यस्मिन्नपि तादृशे भविष्यतीति भाव. । अथवा कृष्णप्रिये मयि रतिर्वर्तेत इति कथनात् स्वस्य तद्भावात्मकत्वात्तदन्तर्गतत्वाच्चाधुनिकानां स्वकृपयैव भविष्यतीत्यपि सूचितम् । एव तत्कृपया जनितो रतिरूपो भावो निखिल प्राकृतांश त्याजयित्वा क्रमेणालौकिक साक्षाद्भगवदात्मक तत्तद्विषयमिन्द्रियेषु योजयतीति सदृष्टान्त निरूपयन्ति वायुरिति । वायुः सर्वदेहेन्द्रियव्यापी भुक्तपाननिखिलवस्तूनां यो मलांशस्तस्य त्यागेनाधोद्वारेण बहिरुत्सर्गेण शेषभाव साराश तनौ नाडीद्वारा तत्तदधिष्ठाने यथा प्रापयति तथायमपि प्राकृतांश त्याजयित्वा शेषभावं सर्वं भगवति नयेदित्यन्वय. । तनावित्युपलक्षणम्, किन्तु देहप्राणेन्द्रियादिष्वित्यर्थः । अथवा ज्ञानमार्गीयस्य योगादिधारणाया प्राणायामादिकरणेन सकलेन्द्रियाणां तत्तत्प्राकृतविषयग्रहणादिरूप मलाश त्याजयित्वा वायु॰ शेषभावभूत प्राकृनतद्विलीमूत आत्मान तानि च परमात्मनि यथा योजयति तथात्रापि स भाव इति ज्ञेयम् । भावमिति[1] पाठे स्पष्टमेव । अथवा वायुर्यथा कलुषितजलाना यो मलाशस्तन्मध्यस्थ॰ पङ्कस्तस्य त्यागेन शेषभाग मलाशावशिष्ट जल तनौ स्वस्मिन्नयति शोषणद्वारा गृह्णाति, तथा स भावोपि प्राकृताशत्यागेन शेषभागं सर्वं तनौ स्वदेहादिरूपे प्रभौ प्रापयेत्, तदात्मको भवतीति भाव॰ । अथवा तनौ स्वतनौ यत्सर्वं शेषभाग तनुध्यतिरिक्त मन प्रभृति तत् सकल नयेत्, हरिं प्रापयेत्, एतत्स्वरूपात्मको भवतीति पूर्ववत् । एव पूर्णो निरोध सिद्धो भवति ॥ १७,१८ ॥

---

[1] विषयमिति पाठ ।

ननु तद्भावस्वभावात्स्वत एव भविष्यतीति कर्तव्यविधिः किमर्थमुच्यते ? तत्राहुः यस्य चेति ।

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

चेत्यनादरे । यद्यपि तद्भावस्वभावादेव तादृशस्य सर्वं भवति, तथापि लौकिकजनानुरोधेन यस्येन्द्रियस्य भगवत्कार्ये भगवदावेशेन तत्कृतिरिव कृतिर्यदा स्पष्टं प्रकटं न दृश्यते तदा लौकिकसर्वपरित्यागेन पूर्वोक्तैः भगवदीयैः सह गुणगानेन तस्येन्द्रियस्य विनिग्रहोऽन्यतः प्रत्यावर्त्य स्वरूपग्रहणैकस्वभाव एव कर्तव्य इत्येतदर्थं कर्तव्यविधिरुक्त इति निश्चयो ज्ञेय इत्यर्थः ॥ १९ ॥

एवं पूर्णं निरोधस्वरूपं निरूप्य तत्साधकत्वाद्गुणगानस्य सर्वोत्कृष्टत्वमाहुः नातः परतर इति ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

मन्त्रस्तवविद्यातीर्थादीनां लोकवेदोक्तफलप्रापकत्वाल्लोके वेदे च महत्त्वं भवतु, न तु तदतिरिक्ते । गुणगानस्य तदतीतफलप्रापकत्वात्तदतीतसर्वोत्कृष्टत्वमपीत्येतज्ज्ञापनार्थं फलस्तुतिरुक्ता । यद्यपि मन्त्रादिद्वारा चित्तशुद्ध्या निग्रहादिकं भवति, तथापि महता क्लेशेन, तत्राप्येतदपेक्षया फलं स्वल्पतरं, गानद्वारा निग्रहादिकमपि सुखेन भवति, फलमपि महत्, सर्वोत्कृष्टमिति गुणगानस्यैव सर्वातिशयवत्त्वं निरूपितम् ॥ २० ॥

श्रीमदाचार्यचरणसरोजसततस्मृतेः ।
ममार्थावगतिर्जाता दुर्बोधेऽप्यत्र निश्चितम् ॥ १ ॥
तेन सङ्गतमेवाहं मन्येऽत्र तदपि स्वतः ।
संशोधयन्तु सुधियः कृपया मयि वत्सलाः ॥ २ ॥
अहर्निशं विचारेऽस्मिन्नेवं तिष्ठति यन्मनः ।
अतो हि लिख्यते नूनं मयार्थोऽयं न चान्यथा ॥ ३ ॥
श्रीविट्ठलेश्वरपदाम्बुजरेणुरत्र सर्वस्वमित्यनिशमस्तु ममाभिलाषः ॥
यत्स्पर्शतः सपदि दैवजने स्वतः श्रीवैश्वानरोक्तपदवी फलिताखिला स्यात् ॥ ४ ॥

इतिश्रीनिरोधलक्षणविवरणं श्रीवल्लभकृतं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेतम् ।

प्रणम्य श्रीमदाचार्यान् स्वीयेषु करुणावतः । निरोधलक्षणग्रन्थं तद्दासश्चिन्तयत्ययम् ॥१॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः सन्न्यासनिर्णये भक्तिमार्गीयत्यागस्य विरहानुभवार्थं कर्तव्यतां गुरुद्वयकथनभिन्नकालफलबोधनाभ्यामधिकारिभेदं च सूचयित्वा, तस्य त्यागस्य प्रेमैकसाध्यत्वं, तत्र साधनाकाङ्क्षायां भावनामिद्धस्य भावमात्रस्यैव साधनत्वं, ततो विलक्षणाधिकारे गुणानां जीवनहेतुत्वं चोक्तवन्तः । तत्र कीदृशस्याधिकारिणः कीदृश्या भावनया जातः कीदृशो भावः साधनतां प्राप्नोति, गुणाश्च तत्र बाधकत्वेनोक्ता अपि कीदृशाधिकारे केन प्रकारेण जीवनहेतुतया साधकत्वं प्राप्नुवन्तीत्याकाङ्क्षोत्पद्यते । किंच, भक्तिवर्धिन्यां जातभक्तिदृढबीजभावस्य भगवदुक्तस्वविचारितरीत्या भजमानस्य भक्तिप्रवृद्ध्यर्थं गृहत्यागपूर्वकश्रवणकीर्तनरूपं साधनमुक्तवन्तः । अदृढबीजभावस्य तु गृहे स्थित्वा पूजाश्रवणादिभिः स्नेहासक्तिव्यसनपर्यन्तमुपाय तेन कृतार्थतां चोक्त्वा, अग्रे त्यागकरणादेरावश्यकत्वमुक्तवन्तः । तत्रापि भक्तिवृद्धेः किं स्वरूपमित्याकाङ्क्षोत्पद्यते । तथा सेवाफलविवरणे चाद्यफलाभावे सेवाया अनाधिदैविकीत्व हेतुत्वेनोक्तवन्तः । तत्रापि सेवाया आधिदैविकीत्वं कथं स्यादित्याकाङ्क्षोत्पद्यते । एवं तत्र तत्राकाङ्क्षोत्पत्तौ तत्रत्यास्ता आकाङ्क्षाः पूरयितुं यथा भगवानवतारदशायां भक्तदृग्गोचराभिर्गुणलीलाभिः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकस्वासक्तिरूपं निरोधं क्रमेण विदधानो जीवानुद्धरति, तथेदानीमनवतारदशायामपि श्रवणकीर्तनादिगोचराभिर्गुणलीलाभिरेव क्रमेण निरुन्धानो जीवानुद्धरतीति बोधनाय त्यागपूर्वकं श्रवणजन्यभावनया भजता, त्यागपूर्वकं कीर्तनेन भजता, गृहे स्थित्वा पूजादिना च भजता, यथाधिकारं भक्तिप्रवृद्ध्यात्मकपूर्वोक्तनिरोधार्थं यतमानेन भाव्यम् । तत्रापि त्यागपूर्वकं श्रवणजन्यभावनया भजता कृपा परीक्षणीया, गुणाश्च गातव्याः, स्वावस्था च परीक्षणीया, स्वाधिकारानुसारेण स्वस्मिन् निरोधोत्पत्तिराशसाविशेषैः परीक्षणीया । कीर्तनेन भजता तु कीर्तनजन्यसुखविशेषैर्भक्तिवृद्धिः परीक्षणीया, कृपा च परीक्षणीया । गेहे स्थित्वा

---

१. तद्वित्तजयोर्हेतु भावनाप्रधानत्वमिति भावः । आधिदैविकी सेवा प्रेमद्वारा त्यागसाधिकेति ।
२. सन्न्यासाश्रमं उक्त्वा गृहस्थाश्रमं आहु । ३ त्यागसन्न्यासयोर्भेदो गीतायाम् । ४ तथा फलस्य प्रवर्तकत्वात् तत्राहु । ५ ज्ञानत्वेन कृपात्वेन कार्यकारणभावः ।

भजता तु सेवाया आधिदैविकीत्वाय श्रवणकीर्तनध्यानान्यभीक्ष्णं विधेयानीत्युपदेष्टुं निरोधलक्षणग्रन्थमारभन्ते।

ननु अस्य ग्रन्थस्य संन्यासनिर्णयादिशेषत्वेन विचारे किं बीजमिति चेत्? उच्यते। अत्र ग्रन्थकरणप्रतिज्ञाऽभावेन यत्किञ्चित् साकाङ्क्षत्वे निश्चिते, संन्यासनिर्णयस्थभावनादेः स्वरूपाकाङ्क्षोत्थापकत्वात्, गुणानां जीवनहेतुत्वकथनस्य च प्रकाराकाङ्क्षोत्थापकत्वात्, भक्तिवर्धिनीस्थभक्तिवृद्धिपदस्य च स्वाभिधेयस्वरूपाकाङ्क्षोत्थापकत्वात्, सेवाफलविवरणस्थाधिदैविकीपदस्य चाधिदैविकीकथंभावाकाङ्क्षोत्थापकत्वात्, अत्रत्याशंसागुणकीर्तनादिकथनस्य चाकस्मिकतया कैमर्थ्याकाङ्क्षोत्थापकत्वात्, परस्पराकाङ्क्षापूरकत्वं दयालुत्वादिशब्दानां तत्रत्यप्रमेयस्यापि प्रत्यभिज्ञानं चेति जानीहि। न च भक्तिवर्धिनीस्थपदप्रत्यभिज्ञाऽभावात् तच्छेषत्वाभावः शङ्क्यः। संन्यासनिर्णयप्रमेयेणैव तत्प्रमेयस्यापि क्रोडीकरणाददोषात्। परस्पराकाङ्क्षावशादेव श्रीहरिरायैरपि 'श्रीकृष्णरसविक्षिप्ते'त्यादिश्लोकपञ्चकस्य स्वतन्त्रत्वेन प्रतीयमानस्यापि जलभेदशेषत्वमङ्गीकृतम्। तस्मादेवं शेषत्वैकवाक्यत्वयोरङ्गीकारे न किञ्चिद्बाधकमिति तच्छेषत्वेन व्याख्यायते। तत्र संन्यासनिर्णये त्यागिनो भावनामात्रसिद्धभावस्यैव साधनत्वेन साधितत्वात्, त्यागिषु प्रथमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहविषयकानुभवार्थत्वात्, विरहस्य च प्राकट्यतिरोभावजनितदुःखात्मकत्वात्, तादृशस्याधिकारिणः कृष्णे आसक्त्या गृहस्थानां बाधकत्वानात्मत्वयोर्भासने कृते, ईषत्प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकतया भगवदासक्तौ जातत्वे, व्यसनेन च भगवद्गुणलीलाप्राधान्यं विहाय भगवत्स्वरूपपरतायां जातायां, दैन्ये सति जन्मप्रकरणोक्तरीत्या भक्तदुःखस्यैव भगवत्प्रादुर्भावहेतुत्वज्ञानात्, तादृग्दुःखाशंसयोत्पादन इति। तत्र तादृग्दुःखजनकातिशयस्यैव भक्तिवृद्धिरूपत्वं, प्रपञ्चविस्मृतिभगवदासक्त्योराधिक्यात्। अतः तादृशनिरोधस्य प्रस्तूयमानदुःखाशंसारूपा तद्भावनारूपं च कार्यलक्षणमिति प्रथमं तदाहुः यच्चेत्यादि।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्॥ १॥

अत्र दुःखाधारभूतानां त्रयाणां कथनेन तेषां भाववैविध्यं द्योतितम्। चकारत्रयेण तत्तत्सजातीयभाववन्तः कंसादेः कालतोऽज्ञानाच्च दुःखभाजः संगृहीताः। तदानीं कंसादिवदिदानीमप्यसुरान्तराणां संभवात्। कालाज्ञानयोरपि संभवाच्च। क्वचिदिति अनिर्णीतदेशविशेषोक्त्या तत्र तत्र भगवद्देशेषु पर्यटनकृत्यसूचनेनाधिकारिणस्त्यागित्वं बोधितम्। एवमग्रेऽपि ज्ञेयम्। तथा च ये बालादिभावे, ये च पौगण्डादिभावे, ये च प्रौढादिभावे आसक्ताः, तेषां दुःखं दृष्ट्वा तन्निवृत्त्यर्थं तादृशतादृशरूपेणैव भगवान् तत्तद्भावानुसृतं सुखं दातुं प्रकटीभवतीति भगवत्प्राकट्ये तादृशं दुःखमेव साधनमिति स्वस्मिन् तदाशंसोत्पादको

यः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपो निरोधः स एव कृष्णे व्यसनस्य फलम् । तदाशंसैव प्रथमाधिकारिणो भक्तिवृद्धिलक्षणमित्यर्थः । अत्र स्यादित्याशंसासूचकम् । यद्यपि आशंसावचने लिङिति सूत्रेण आशंसावाचिन्युपपद एव लिङ् विहितस्तथापि लोक उपपदाभावेपि देवदत्तश्चेदागच्छेद् मत्कार्यं भवेदित्यादिप्रयोगदर्शनान्न दोषः । यदि च लोकोक्तिर्न प्रमाणमिति प्रार्थनायां वा सम्भावनायां वा लिङिष्यते, तदापि तयोराशंसामूलकत्वादाशंसा न व्यभिचरति, तस्माददोषः ॥ १ ॥

अथ मध्यमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहसामयिकासक्तिप्रमन्यायकभगवदनुभवार्थत्वात् तस्य भक्तिवृद्धिस्वरूपं तादृशनिरोधलक्षणकथनमुखेनाहुः गोकुल इत्यादि ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

तुशब्दः पूर्वव्यावृत्त्यर्थः । एषोत्यन्त विप्रयोगेण दुःखित इति रसप्रधान इति प्राकट्यजनिका अत्यन्तासक्तिरेव तस्य भक्तिवृद्धिरिति यथाकथञ्चित् दर्शनजन्यसुखाकाङ्क्षारूप कार्यं तद्भक्तिवृद्ध्यात्मकनिरोधलक्षणमिति ज्ञापनाय पूर्वं गोपिकापदोक्तिः । अन्येषां तद्वत् सर्वात्मभावाभावेन ततो न्यूनत्वात् पश्चादुक्तिः । किंशब्दो विकल्प द्योतयति । 'विकल्पे किं किमुत च'ेति कोशात् । आशसायां भविष्यत्काले लृट् ॥ २ ॥

अथोत्तमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहानन्तरभाविसाक्षात्कारार्थत्वात् तस्य तत्साक्षात्कारोत्तरं यदा पुनर्व्रजस्थानामिव विरहस्तदा तस्य पूर्वानुभूतस्य लीलासुखादिस्मरणसवलितविरहसामयिकानुभवपरत्वात् तदा भगवतः स्वस्मरणोत्पादको निरोध एव तस्य भक्तिवृद्धिरूप इति तस्य स्वस्मिंस्तदभिज्ञापक लक्षणमाहुः उद्धवेत्यादि ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

अत्रापि पूर्वश्लोकोक्ता स्यादिति क्रिया अनुषज्यते । तथा च तादृशस्मरणोत्सवादिविषयिणी आशंसैव स्वस्मिंस्तादृशभक्तिवृद्धिज्ञापक लक्षणमित्यर्थः ।

अत्र त्रिष्वपि श्लोकेषु गोकुलादोक्त्या पूर्वोक्तरीतिको भाव श्रीव्रजनाथस्वरूपासक्तानामेव निरूपितः, नान्यस्वरूपासक्तानामिति ज्ञापितम् । ते एव परमानुग्रहविषया इति च । तृतीये वृन्दावनपदोक्तिस्तु तेष्वपि आधिक्यज्ञापनार्थेति बोध्यम् । तेनैतादृशपुष्टिमार्गीयविषयक एवायं विचारः, न तु सर्वसाधारण इत्यपि बोधितम् । चाचामते त्वत्र श्लोकत्रये सुबोधिन्याद्युक्तस्य निरोधस्यानव्यभावसूचको मनोरथ एवोच्यते । श्रीहरिरायाणां मते तु निरोधनिमित्तकारणभावयोर्भावनगुणगानयोर्मध्ये प्रथम भावनमुच्यते, तच्च दुर्लभत्वबोधनाय स्वविषयकतया प्रार्थनारूपेणोच्यते । मन्मते त्विदमाशसाया भक्तिवृद्धिज्ञापकलक्षणतयैवोच्यत इति ततो भेद इति ज्ञेयम् ॥ ३ ॥

एवं त्यागिषु ये श्रवणजन्यभावनामात्रपरास्तेषां भक्तिवृद्धिरूपं भावनात्मकं निरोध-
मांशसारूपकार्यमुखेनाभिज्ञानार्थमुक्त्वा, ये त्यागिषु ततोऽधिका गुणगानासक्तास्तेषां
भक्तिवृद्ध्यात्मकनिरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणं निर्विवदन्त प्रथमं गुणगातृषु
प्रथमाधिकारिणः स्वस्मिंस्तदभिज्ञापकं लक्षणमाहुः महतां कृपयेत्यादि ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

अत्र यावदिति पदमुत्तरानधिज्ञापकं तावत्पदं च पूर्वावधेः । महत्पदं च
पारोक्ष्येण व्रजभक्तज्ञापकम् । तथा च तासां कृपया भगवान् यावद्दययिष्यति
वक्ष्यमाणरीतिकस्वैकतानत्वसंपादिकां दयां करिष्यति तावत् ततः पूर्वं कीर्त्यमानः
'नामान्यनन्तस्ये'त्युक्तरीत्या स्मरणपूर्वकं वर्ण्यमानः आनन्दसन्दोहः श्रीमद्वृन्दा-
वनेन्दुप्रकटितरसिकानन्दस्य यः समूहः लीलारूपः हि निश्चयेन सुखाय भवतीति शेषः ।
अतस्तस्य कीर्त्यमानलीलया सुखजननं व्यसनोत्कर्षरूपस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं
लक्षणम् । इत्ननपरत्वेन प्रपञ्चविस्मृत्याधिक्यादित्यर्थः ॥ ४ ॥

अथैतत्कर्तुः पूर्वदशातः आधिक्यं कीर्तनपरता च पूर्वोक्तमहत्कृपयाधिका भवतीति
तादृशनिरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमाहुः महतां कृपया यद्वदित्यादि ।

महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा ।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

महतां पूर्वोक्तानां कृपया यद्वत् यथा कीर्तनं लौकिकस्याग्रे निषेध्यत्वात् भक्तकृतं
लीलाविषयकं कीर्तनं सदा सुखदं तथा लौकिकानां न, लौकिककर्तृकं लौकिक-
विषयकं च कीर्तनं न, सुखदं न । अत्रापि भवतीति शेषः । तत्र दृष्टान्तः । स्निग्धभोजन-
रूक्षवदिति । स्निग्धं भोजनं यस्यासौ स्निग्धभोजनः, स्निग्धभोजनस्य रूक्षेण तुल्यं
भवतीति स्निग्धभोजनरूक्षवत् । तथा च लौकिककर्तृके तद्विषयके च कीर्तने असुखदत्व-
मानपूर्वकमलौकिकविषयके भक्तकृते कीर्तने यत्सुखदत्वं 'कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा
विना, विनानन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाशयः' इत्युक्तधर्मैर्ज्ञायमानं यत्सुखदत्वं तदेव
पूर्वस्मादुत्कृष्टस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ ततोऽप्युत्कृष्टाधिकारे पूर्वस्मादधिकस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमाहुः
गुणगान इत्यादि ।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

'महतां कृपये'ति पदद्वयमत्राप्यनुषज्यते । अतो महतां कृपया गोविन्दस्य गुण-
गाने रागानुसारेण भगवद्गुणोपबन्धयुक्तपदवाक्यानां कीर्तने सुखावाप्तिर्यथा येन

प्रकारेण **प्रजायते** प्रकर्षाज्जायते, **तथा** तेन प्रकारेण **शुकादीनां** ज्ञानिभक्ताना **आत्मनि** हृदये न. **अन्यतः कुतः** । ज्ञानभक्तिभ्यामेव चेन्न भवति तदा तदतिरिक्ताद्धेतोः कुतः स्यादित्यर्थः कैमुतिकेनोक्तः । तथा च भगवद्गुणगाने तादृशसुखावाप्तिः पूर्वस्मादुत्कृष्टस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः । एवं च त्यागकर्तॄणां मध्ये कीर्तयितृषु गुणगातृषु च महत्कृपा हेतुत्वेनापेक्षितेति बोधितम् ॥ ६ ॥

सा कृपा तत्कार्यभूतं गुणकीर्तनादिजन्यं सुखं च कथं स्यादित्यपेक्षायां तत्र भगवत्कृपारूपं हेतुं प्रकारभेदेनाहुः **क्लिश्यमानानित्यादि** ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

जनान् जननधर्मवतः स्वकीयान् **क्लिश्यमानान्** स्वप्राकट्यार्थं दुःखितान् **दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत्** अत्यनुग्रहं कुर्यात् **तदा हृदिस्थं सर्वं सदानन्दं बहिर्निर्गतं** भवेत् । पूर्वार्धोक्ता भवनक्रियाऽत्राप्यनुषज्यते । तथा च कीर्तयितॄणां भगवद्दयया भावनाप्राबल्ये दहरविद्योक्तस्येव सर्वस्यान्तरस्य बहिःप्राकट्येन महतामपि प्राकट्यात् तत्कृपया स निरोधः फलमुपदधातीत्यर्थः । तेनेदमपि फलोपधायकस्य निरोधस्यैव लक्षणम् ॥ ७ ॥

अतः परं कीर्तयितृषु ततो विशेषं वक्तुं तथा तमाहुः **सर्वेत्यादि** ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् ॥ ८ ॥

उक्तरीत्या सर्वस्य सदानन्दरूपस्य बहिः प्राकट्ये जाता या सदानन्दता, तेन सर्वानन्दरूपस्यापि कृपाजनितो य आनन्दः सः पुनरपि दुर्लभः । कुत इत्याकाङ्क्षायां तस्य भगवदानन्दहेतुकत्वं स्फुटीकुर्वन्ति **हृद्गत** इत्यादि । हृदि स्थितो भगवान् कीर्त्यमानान् स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः बहुधा निविष्टः, कृपापदस्य पूर्वमुक्तत्वात् कृपया वा पूर्णः सन् **जनान्** स्वकीयान् प्लावयते, अन्तर्बहिः स्वस्मिन् मग्नान् करोति । अत्र श्रुत्वेति पदाद्गुणानां कीर्त्यमानत्वमार्थिकम् । तथा च तेषु कृपया जनितो यो भगवदानन्दः तेन तद्भवति, नान्यत इत्यतो दुर्लभ इत्यर्थः । अत इदं फलात्मकस्य निरोधस्य लक्षणम् । एवं च भक्तिवृद्धेः स्वरूपमत्र पर्यवसितमिति । तेन पूर्वोक्तेषु त्यागकर्तृषु साधनांशत्वेऽपि 'छन्दत उभयाविरोधा'दिति न्यायेन यत्र भगवतस्तत्कर्तृकस्वगुणगानकीर्तनयोः श्रवणेच्छा तेषां गुणगानादौ प्रवृत्तिः, यत्र च सा न तेषां साधनामात्र एव प्रवृत्तिरिति मुख्याधिकारिषु व्यवस्था बोध्या । एतेन कृपापरीक्षणप्रकार उक्तः ॥ ८ ॥

एवं नानाविधस्य निरोधस्य लक्षणान्युक्त्वा तत्र साधनमुपदिशन्ति तस्मादित्यादि ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता स्वतः ॥ ९ ॥

यस्माद्भावनापेक्षयापि भगवान् गुणगानेन अधिकं प्रसीदति **तस्मात् सर्वं परित्यज्य** भक्तिमार्गरीत्या प्रेम्णा सर्वं गृहादिकं सवासनं त्यक्त्वा **निरुद्धैः** प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तियुक्तैः **सदानन्दपरैः** हृदयस्थलीलारसैकतानैः **सर्वदा** अभीक्ष्णं कालाविच्छेदेन वा **गुणाः गेयाः** गानविषयीकार्याः । तत्रावान्तरफलमाहुः **सच्चिदानन्दता स्वत** इति । स्वतो यदृच्छातः गुणगानातिरिक्तसाधनं विनैव **सच्चिदानन्दता** अक्षरब्रह्मता भवति । **ततः** इति पाठे गुणगानादेवेत्यर्थो बोध्यः । एतेन गुणगातुः स्वावस्थापरीक्षणप्रकारश्चोक्तः । एवं च सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्'इत्यनेन यदवान्तरफलमुक्तं तदीदृशानामेव भवतीति बोधितम् ॥ ९ ॥

एवं त्यागिषु मुख्याधिकारिणां यादृङ्निरोधस्य सिद्धिः तत्स्वरूपमुक्त्वा तत्र स्वानुभवमग्रिमसिद्ध्यर्थं प्रमाणयन्तस्तद्वर्णनप्रयोजनमाहुः अहमित्यादि ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम् ॥ १० ॥

अहं निरुद्धः पूर्वोक्तरीत्या भगवदासक्तः **रोधेन** संसारावेशराहित्यादिन्द्रियनिग्रहेण **निरोधपदवीं गतः** निरोधमार्गं प्राप्तः सन् **निरुद्धानां रोधाय** संसारावेशराहित्याद्यर्थं **तं** पूर्वोक्तनिरोधं **वर्णयामि** । तुः प्रयोजनान्तरशङ्कानिरासे । त इति पाठे तु चतुर्थी । तथा च यः कथं भक्तिवृद्धिरित्यादिकं पूर्वं पृष्टवान् तस्मै तुभ्यं तदर्थमग्रे वर्णयामीत्यर्थः ॥ १० ॥

एवं मध्यमाद्यर्थं निरोधवर्णनं प्रतिज्ञायोपपादनपूर्वकं तदुपयोगिनिरोधस्वरूपमाहुः हरिणेत्यादि ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

विनिर्मुक्ताः विशेषेण त्यक्ताः, स्वीयत्वेन नाङ्गीकृता इति यावत् । अत्रेति गुणगाने भावनायां च । तथा च संसारावेशस्य भगवदनङ्गीकृतलक्षणत्वात्तद्विरुद्धा या गुणगाने भावनायां चाहर्निशं मोदप्राप्तिः सा निरुद्धानां सामान्यलक्षणमित्यर्थः सिध्यति ॥ ११ ॥

एवं लक्षणं निरूप्य भावकापेक्षया गुणगातृषु विशेषमाहुः गुणेष्वित्यादि ।

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम्

---
१. यमेवैष वृणुते इति श्रुतेः ।

मुरवैरिणः जडदोपनिवर्तकस्य गुणेषु गोवर्धनोद्धरणादिषु सर्वदासक्तचित्तानां संसारश्च विरहक्लेशश्च **न स्यातां किन्तु हरिवत् सुखम्** । तथा च भावकाना दुःखाशसया सुखाकाङ्क्षया भगवत्कृतस्मरणाकाङ्क्षया च विरहकृत दु खमेव बहुलम्, तत एव च शीघ्र लय. । गातॄणा तु ससारावेशाभावान्न लौकिक दु खम्, विरहस्फूर्तावन्तर्निष्ठा, बहिरनुभवे च गुणगानम् । अतो भगवत इव सुखमित्यर्थ. ॥ १२ ॥

एव भावयितृगात्रोर्विशेषमुक्त्वा तस्य कृपाहेतुकत्व निगमयन्ति, मध्यमाधिकारे हेतु तद्व्यवस्था च वदन्ति तदेत्यादि ।

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथाऽक्रूरता मता ।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १३ ॥

यदा पूर्वोक्ता रीति तदा भगवतो दयालुत्वं भवेदिति पूर्वोक्तस्य निगमनम् । अथ मध्यमस्य व्यवस्थोच्यते अन्यथेत्यादि । अन्यथा यदि न गुणाविष्टचित्तता तदा अक्रूरता भगवत , अघातकता तस्मिन् भक्तिमार्गेऽच्युतभावहेतुतेति यावत् । सा मता ससारावेशाभावगुणाविष्टचित्तत्वाभावाभ्या युक्तिभ्यामनुचिन्तिता । तथा च तेन मध्यमाधिकार इत्यर्थ । एतद्व्यवस्थामाहु बाधेत्यादि । अत्र अक्रूरताया बाधशङ्का भगवद्विषयकाज्ञानकृता निरोधच्युतिशङ्का, अपिशब्दात् भावनाप्राबल्यकृतो लयश्च नास्ति, तदध्यासः आसक्तिभ्रमन्यायको भगवदध्यासश्च सिध्यति । तेनैव सर्वो मध्यमाकल्पनतो मध्यमाधिकारिव्यवस्थेत्यर्थ । एतदेव कार्यं तज्जनकस्य तादृशनिरोधस्य लक्षण ज्ञेयम् । एतावता भक्तिवर्धिन्या 'बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवणकीर्तना'दित्यनेन यदुक्तिवृद्धिसाधनमुक्त तस्य फलमुपपादित ज्ञेयम् ॥ १३ ॥

अथादृढबीजभावस्य पूजादिभिर्यतमानस्य ससारावेशसत्त्वात् तस्य व्यवस्था विभिर्वदन्त तत्कृतसेवाया आधिदैविकीत्वाय पूर्वमुद्वेगनिवर्तक सर्ववस्तुसमर्पणरूप साधनमाहु संसारावेशेत्यादि ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १४ ॥
भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥
एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षं गुणवर्णने ।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

तादृशेन हि ससारावेशदुष्टानीन्द्रियाणि निग्राह्याणि । तानि च निगृह्यमाणानि क्षोभ

---

१ स्वसाधोक्ष्यमावन्द्रगुण्यु । २ गुणैं दुष्टानीं द्रयाणि दम्भपारम्पर्यकाणि न भवन्ति, सर्विन्द्रियाणि तु प्रापकाणि । ३ अपि पर. ।

जनयन्ति, अतस्तदभावार्थं तेषां **हिताय वै निश्चयेन सर्वाणि वस्तूनि स्वीयानि** **कृष्णस्य भूम्न ईशस्य योजयेत्** । समर्थ्य भगवत्सम्बन्धमिश्रितान्यनुसन्दध्यात् । फलात्मकत्वबोधनाय कृष्णस्येति । अवतारादिवारणाय भूम्न इति । एतावन्मात्रसाधनकरणेपि विपयव्यासंगनिवारणसामर्थ्यबोधनाय ईशस्येति । 'तं यथा यथोपासत' इति श्रुत्या तत्क्रतुन्यायेन चोक्तधर्मपुरस्कारेण चिन्तनस्यावश्यकत्वात् पदत्रयकथनम् । तेन फलमुपपादयन्ति **भगवदि**त्यादि । एकादशस्कन्धे 'दारान् सुता'निति प्रबुद्धवाक्ये सर्ववस्तुसमर्पणस्य भगवद्धर्मत्वकथनात्, कविवाक्ये च 'भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति'-रित्यादिश्लोकद्वये विपयवैराग्यस्य फलत्वेन कथनात्, सर्ववस्तुसमर्पणस्य भगवद्धर्मस्य सामर्थ्याद्विपये **विराग स्थिरो** भवति । तथा च भक्तिवर्धिन्यां 'स्नेहाद्रागविनाशः स्या'दित्यनेन यत्फलमदद्बीजभावस्य स्नेहादुक्तम्, तत्स्थैर्यकथनेन तज्जनकस्य स्नेहस्य दार्ढ्यभवनमन फलत्वेन बोधितम् । एव सर्वसमर्पणात्मकं योजनमेतादृशस्य निरोधलक्षणमिति च । आसक्तिदार्ढ्याय साधनान्तरमाहुः **गुणैरिति** । द्वितीयस्कन्धे 'विचक्षणा यच्चरणोपसादना'दिति शुकवाक्ये कीर्तनप्रणालिकया भगवद्गतिं प्राप्नुवतां गतक्लमस्त्वकथनेन कीर्त्यमानैर्गुणैः **हरिसुखस्पर्शात्** लौकिक **दुःखं कर्हिचिदपि** **न भाति**, न ज्ञानविपयीभवतीत्यर्थः । अत्र सर्ववस्तुयोजनस्य पूर्वं कथनेन तस्याधिकाररूपता बोधिता । तेन 'श्रद्धामृते'त्यारभ्य आत्मनिवेदिनां भक्तिफलबोधकमेकादशस्कन्धीय भगवद्वाक्यजातं स्मारितम् । तेनात्मनिवेदनपूर्वक क्रियमाणेन गुणगानेन दुःखानुसन्धानाभावरूप[1] फलं सिध्यतीति बोधितम् । एव फलमुपपाद्य दार्ढ्यार्थं तत्कृतिमुपदिशन्ति **एवमि**त्यादि । एवं पूर्वोक्तरीत्या **गुणवर्णने ज्ञानमार्गादुत्कर्ष**मवधार्य, **अमत्सरैरलुब्धैश्च** परोत्कर्पासहन मत्सरः, लोभो गर्धः, अत्यन्ताभिलापः, ताभ्यां दोपाभ्यां रहितैः, सर्वदा **गुणा वर्णनीयाः** । उत्कर्प इति प्रथमान्तपाठे तु गुणैः हरिसुखस्पर्शात् दुःखाभान ज्ञात्वा गुणवर्णने ज्ञानमार्गादुत्कर्पः सिध्यतीति शेषेण वाक्यं पूरणीयम् । तथा चैतदज्ञात्वा गुणवर्णने दुःखाभानमात्रम् । ज्ञात्वा वर्णने त्वेप उत्कर्प इत्युक्त भवति । तथा चैव गुणवर्णने तेनासक्तौ 'तद्गुणेपु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति ही'ति न्यायेन भगवदासक्तिदार्ढ्ये भक्तिवर्धिन्युक्ता गृहारुचिर्गृहस्थानां बाधकत्वानात्मत्वभान च दृढीभवतीत्यर्थवलेन बोधितम् । एव गुणगान चासक्तिगतो निरोधलक्षणमित्यपि ।

अथ व्यसनदार्ढ्याय भगवानि साक्षात् परम्परया च स्वीयेन्द्रियविनियोगादिरूप साधनान्तरमाहुस्त्रिभि **हरिमूर्तिरि**त्यादि ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

---

१ दुःखानुसन्धानरूपमिति पाठ ।

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः । पायोर्मलांशत्यागेन शेषभावं तनौ नयेत् ॥१८॥ यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते । तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

योऽदृढबीजः व्यसनार्थं यतते, तेन हरेर्भगवतो मूर्तिः स्वयं सेव्यमाना सदाभीक्ष्णं निरन्तरं वा ध्येया, भगवदभिन्नत्वेन ध्यातव्या । हि यतो हेतोः । तत्र मूर्तौ संकल्पादभिन्नताविचाराद्दर्शनं स्पर्शनं चक्षुषस्त्वचश्च कार्यं स्पष्टं स्वरूपदर्शनेन तत्स्पर्शनेन च भगवत्सम्बन्धितया स्फुटम् । पूजाप्रवाहेण तत्र सन्निधाने लब्धे अन्तर्यामिब्राह्मणोक्तन्यायेन, गुणोपसंहारे कार्याख्यानाधिकरणे 'सम्बन्धादेवमन्यत्रापी'ति सूत्रेऽङ्गीकृते, निबन्धे च 'तद्रूपं तत्र च स्थित'मित्येतद्बोधिते भगवदावेशे, वह्न्ययोगोलकन्यायेन च भगवतस्तद्व्याप्य बहिर्भावात् स्फुटमित्यर्थः । एतदेव हस्तपादयोः कार्येऽतिदिशन्ति तथा कृतिगती सदेति । उक्तन्यायेन यथा पूर्वोक्तं द्वयं भगवत्सम्बन्धि स्फुटम्, तथा कृतिगती हस्तपादयोः कार्ये भगवत्सेवायां तदर्थं चलने च सदा भगवत्सम्बन्धिनी स्पष्टे । पूर्वोक्तं स्पष्टपदमत्र विभक्तिलिङ्गविपरिणामेन सम्बध्यते सन्दंशात् । श्रोत्रवाक्कार्ययोस्तथात्वमाहुः श्रवणं कीर्तनं स्पष्टमिति । एतयोः प्रकारान्तरेणापि भगवत्सम्बन्धित्वस्य सर्वसम्मतत्वं बोधयितुं स्पष्टशब्दस्य पुनरुक्तिः । उपस्थे भगवदुपयोगित्वस्यास्फुटत्वात् तस्य भगवत्सम्बन्धित्वाय प्रकारमाहुः पुत्रे कृष्णप्रिये रतिरिति । 'कामः सङ्कल्पजः स्मृतः,' 'सङ्कल्पप्रभवान् कामा'नित्यादिवाक्यैः सङ्कल्पस्य पुत्रे कामे कृष्णस्य प्रिये सति रतिरुपस्थकार्यं भगवत्सम्बन्धि भवतीति शेषः । गोपालतापनीये 'यं मां स्मृत्वा निष्कामः सकामो भवती'ति गान्धर्वीं प्रति भगवद्वाक्यस्य श्रावणाद्भगवद्ध्यानात् तादृशसङ्कल्पेन भगवद्विषयककामोत्पत्तौ सापि भवतीत्यर्थः । भगवद्विषयककामाभावे तु यथोपस्थहितं भवति तथा प्रकारस्त्वग्रे वाच्यः । पायोर्विनियोगमाहुः पायोरित्यादि । पायोः कार्यं हि विसर्गः, स चात्र मलांशत्यागरूपः, तेन कार्येण तज्जनकस्येन्द्रियस्य तनौ शेषभावं नयेत् । भगवति विनियोज्यमाने स्वशरीरं तच्छोधनद्वारा गुणभावं प्रापयेदित्यर्थः । वेणुगीते 'अक्षण्वता'मित्यत्र सुबोधिन्यामिन्द्रियफलबोधिकासु कारिकासु यद्रोमोद्गमरूपं पायुकार्यमुक्तम्, तथा 'एषां तु भाग्यमहिमे'ति प्रक्षिप्ताध्यायश्लोकविवरणे 'रोमाञ्चस्वेदौ दशमकार्य'मित्युक्तम् । यच्च तृतीयस्कन्धे 'मुञ्चन्भीलदृशाऽश्रु च' इत्यत्रानन्दाश्रुमोचनरूपं तत्कार्यमुक्तं, तत् प्रथमाधिकारे न सम्भवति, द्वितीयस्कन्धे 'तदश्मसारं हृदय'मित्यत्र तथा निर्णयात् । अतोऽत्र 'अन्नमशितं त्रेधा भवती'त्यादिच्छन्दोगश्रुत्युक्तोऽन्नरसयोः स्थूलधातुः मूत्रपुरीषात्मको यश्च 'कफः पित्तं मलः खेषु प्रस्वेदो नखलोम च । कर्णविड्दूषिका चेति धातूनां क्रमशो मला' इति वैद्यकोक्तो मलांशः, स हि पायुनैवेन्द्रियेण तत्तच्छिद्रद्वारा निर्गच्छति । तावतैव तस्येन्द्रियस्य विनियोग इति गौणत्वेन शेषता । किञ्च, पूर्वं 'ससारार्येशदुद्वना'मितीन्द्रियविशेषणेन मध्ये धामत्सरेर-

लुब्धैश्चेति कथनाद्गुणवर्णनकर्तृषु तत्सत्ताबोधनेनान्ते चोक्तपाशुकार्यकथनेन चैतेषा जघन्याधिकारित्व बोधितम् । तेन ये भक्तिवर्धिन्यामदृढबीजभावा उक्तास्तदर्थोऽयमुपदेश इति सूचितम् । किञ्च, अत्र मन.प्रभृतीना नवाना विनियोजनप्रकार उक्त', घ्राणरसनयोस्तुविनियोग. कोपि नोक्त । किञ्च, भगवत्प्रिये कामे उपस्थविनियोगकथनात् तदभावे तदभाव. सूचित । तथा सति तेषा भगवदुपयोगाभावे किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहु यस्य वेत्यादि । वेत्यनादरे । यस्येन्द्रियस्य भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते तदा तस्येन्द्रियस्य विशेषेण निग्रह सयम कर्तुमावश्यक इति निश्चय । तथा च यदि तत्र तेषा निग्रह न कुर्यात् तदा, नो चेत् 'प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता' इत्युक्तन्यायेन विषयदस्युषु पाते ससारावेशरूप महदेवानिष्ट स्यात्, अतस्तदावश्यकमित्यर्थ । एवञ्च जघन्याधिकारिणा यदुक्तोपदेशरीत्या करण तदपि तदुचितनिरोधस्यैव लक्षणम् । तत्रापि मुख्याप्तिश्चेत्, तदा सुतरा तथेति बोध्यम् । एव करणे उद्वेगनिवृत्त्या क्रमेण सेवाया आधिदैविकीत्व सम्पद्यत इत्येतदेव जघन्याधिकारिणा मुख्य साधनमिति सिध्यति ।

एव सर्वमुपदिश्य जघन्याधिकारिणामेतत्प्रवृत्तिमुत्पादयितु ग्रन्थान्तर उपदिष्टेभ्य साधनान्तरेभ्य एतस्य साधनस्योत्कर्ष वदन्ति नात इत्यादि ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतर स्तव ।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

नातः परतर उत्कृष्टतर मन्त्रोऽस्ति जघन्याधिकारिणामतः उक्तात् मा...नातान् परतर ... । एवमग्रिमादिषु । तदावर्तेन हि सेवाकरणाद्यननोक्तम्, अनुकल्पत्वेन च, अतस्तथेत्यर्थ । ...निरुक्तं बोध्यम् । स्तव कृष्णाश्रयादिस्तोत्रपाठ, सोऽपि तथा, अनुकल्पत्वादकरणात्, विवेकधैर्याश्रये तथनाङ्गीकारादिति । विद्या उपासना, तीर्थं गङ्गादि, तयोरपि भगवत्कृपाभावे विलम्बेन फलसाधकत्वात्, श्रुता तत्तुल्यायादर्शनात्, भावे च यमुनीयो समान फलत्वेन कथनात् तयोरत्र पृथगुक्ति । तेन जघन्यानामधिकारिणामनोक्त योजनादि साधनत्रयमेवावश्यकम् । तत्र सर्वासामपि वसनाना क्रमेण गृहत्यागोत्तर पूर्वोक्तनिरोधस्वकभक्तिवृद्धिसिद्धिरिति निष्कर्ष । ... गोर्भिला श्रीहरिरायाश्च हरिया ये निर्मुक्ता' इति श्लोकोत्तर समारावश... पठन्ति तदत्र च 'गुणध्वानिमचित्ताना मित्यादीन् क्रमेण श्लोकान पठन्ति तत्रानामनु यत्र क्रमेण पेतु, तेन क्रमेण मया व्याख्यातम् । व्याख्यानप्रकारस्तु मतपा... इति मया न नानूदित इति दिक् ॥ २० ॥

आचार्यवर्यकृपया हृन्यस्थितेन यत् प्रेरित भगवता व्रजनायकेन ॥
तद्भावभावनमस्पृशत् पुरुषोत्तमाख्य श्रीविठ्ठलेशचरणाम्बुजदासदास ॥ १ ॥
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणानन्यदास्यमनुरूप समन विरचिता निरोधलक्षणववृति ।

---

१ इत्या ... रवी अन । सव मनन ... नि ... २ ... ता नाविदमिति ... । ३ व्याख्याने प्रकारद्वयम् ।
...र्वापि ... या मनपरि । ... तत्रार्थ ... ।
भगवद्गुण ... दुष्ट ... ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजकृतविवरणसमेतम् ।

व्रजस्त्रीहृद्यगिरिषु रोमालियमुनातटे । तद्बाहुलतिकावृन्दे क्रीडन्कृष्णो विराजते ॥ १ ॥
गोपीशरतिमार्गाब्जमार्तण्डाचार्यसंस्कृतः । मयि श्रीगोपिकाधीशनिरोधोऽस्तु महाफलः ॥२॥
स्वाचार्यचरणाम्भोजकृपया तन्निरूपितः । स्वीयसौकर्यबोधाय निरोधः क्रियते स्फुटः ॥३॥
श्रीविठ्ठलेशपादाब्जकृपारससुवृष्टिभिः । निरोधकल्पवृक्षो मे सिञ्चितः फलितोभवत् ॥ ४ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयेषु कृपया निरोधफलदित्सया निरोधस्वरूपं विवृण्वन्ति । तस्य फलात्मकानुशयनरूपत्वात्तत्र च प्रथमं प्राकट्यमपेक्ष्यत इति यथा प्राकट्यपूर्वकः सिद्धो भवेत्तथा निरूपयन्ति । यथेति पूर्वं येन प्रकारेण व्रजे निरोधार्थं प्रभुराविर्भूतः स मयि नास्तीति तदभावजदैन्येन तत्प्राप्त्यर्थं तथा प्रार्थनीयो यथा स भावो भवतीत्याहुः यच्च दुःखमिति ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

यद्दुःखं यशोदाया नन्दादीनां गोपिकानां गोकुले भगवदाविर्भावात्पूर्वमभूत् तद्दुःखं मम क्वचित्स्यादिति सम्बन्धः । भगवदाविर्भावाज्ज्ञायते यत्सर्वेषां तत्रत्यानां तादृशं दुःखमभूद्येन भगवदाविर्भावोऽजनि । अन्यथा भगवान्निःसाधनः दुःखाभावेन प्रकटो भवेत् । चकारत्रयेण तत्सम्बन्धिनामपि तादृग्दुःखमभूदिति भावो ज्ञाप्यते । अन्यथा संसर्गतोपि दोषः स्यात् । क्वचिदिति स्वस्य दैन्याधिक्यार्थमयोग्यत्वज्ञापनाय । गोकुल इति पदात्सर्वथा तत्रत्यानां निर्दोषत्वं ज्ञापितम् । यतस्तत्रानभिज्ञतेति न चातुर्यकापट्या-दिना दुःखमभूत्, किन्तु साहजिकमेव ॥ १ ॥

एतद्दुःखानन्तरभावि भगवदाविर्भावजं सुखं तत्रत्यानामिव भवेदिति प्रार्थनीयं दैन्येनैवेत्याशयेनाहुः गोकुल इति ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

गोपिकानां गोकुले इन्द्रियकुले, तु पुनः सर्वेषां व्रजवासिनां भगवदाविर्भावे जाते

यत्सुखं समभूत्तत्सुखं भगवान् किं मे विधास्यति । अत्रायं भावः । गोपिकानामिन्द्रियकुले 'आत्मानं भूपयाञ्चक्रु'रिति न्यायेन जात आनन्दो भगवान् षड्गुणैश्वर्ययुक्तः सर्वं कृत्वा सर्वदानसमर्थस्तादृक्स्वरूपं सम्पाद्य तथा दानं करिष्यतीति समग्रो मनोरथः । तस्य सर्वदानसमर्थत्वं दुर्लभत्वात्क्रमेण भविष्यतीति भावः । तु पुनः सर्वेषामेव व्रजवासिनां भगवदाविर्भावे जाते य आनन्दो जातः, येन वृद्धा बालाश्च उल्लसितहृदयाः नृत्यं कृतवन्तस्तादृशं मे भगवान् विधास्यति ॥ २ ॥

ततो भगवन्नित्यस्थितात्मकानन्दसुखप्रार्थनामाहुः उद्धवेति ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

उद्धवागमने जाते वृन्दावने व्रजस्त्रीषु गोकुले नन्दादिषु यथा सुमहानुत्सवो जातस्तथा मे मनसि कश्चिद्भगवान्करिष्यतीति सतापमनोरथः । सुमहानिति पदेन पूर्वोत्सवाद्विशिष्टत्वं ज्ञाप्यते । तथा हि, उद्धवागमनात्पूर्वं मथुरास्थानां ततो भगवानत्रागत इति तत्रत्या न भगवदीया इति ज्ञानं भगवतो व्रजनित्यस्थितिज्ञानेन भवेत्तत्र च श्रीमदुद्धवैरत्र नित्यस्थितिर्दिष्टेति तथैव ज्ञानं भविष्यतीति मनस्युत्सवः पूर्वस्मादिलक्षणो जातस्तथाचार्यैः श्रीभागवतविवृतौ प्रपञ्चितम् । तादृश उत्सवो मम मनसि क्वचित्स्यादिति भावः । यद्वा, गोकुले वृन्दावने वा उद्धवस्यागमने जाते सति तत्रत्यभक्तदर्शनेन तद्रजःप्राप्त्यर्थं तच्चरणरजःसम्बन्धयोग्यजन्मप्रार्थनात्मक उत्सवो जातस्तथा मम मनसि स्यादिति भावः । यद्वा, उद्धवो भगवता सर्वात्मभावार्थमत्र प्रेषितस्तेनात्रत्यभक्तानामाधिक्यं स्वस्य च नित्यस्थितिर्ज्ञापिता, तेन तदागमने जाते सति य उत्सवो वृन्दावने गोकुले वा जातस्तथेति भावः । यतो सर्वात्मभावस्तथैव भवेत्तदेव निरोधस्थानं, तेन तथा दानेच्छा येषु तत्रैव प्रेष्यन्त इत्युत्सवो भवति तदानार्थं वा तथा मे मदुपरि भगवन्मनसि तासां वा स्यादिति भावः ॥३॥

नन्वेतावान्मनोरथो भावनयैव कथं सिध्येदित्याशङ्क्य श्रीमदाचार्यकृपयैव सेत्स्यतीति विश्वासपूर्वकं भावनीयं, तेन भविष्यत्येवेत्याहुः महतामिति ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानसुखाय हि ॥ ४ ॥

महतां कृपया भगवान्यावत् दययिष्यति दयां करोति तावदानन्दसन्दोहः कृपारूपः कीर्त्यमानसुखाय पूर्वोक्ताय स भावो भवतीत्यर्थः । यद्वा, भगवान्यावत् महतां कृपां करोति तावत्कृपया जीवस्य सतापदैन्यदर्शनेन दयां करिष्यति तदा आनन्दसन्दोहः कीर्त्यमानसुखाय स्यादिति भावः । भगवान् कीर्त्यमानसुखाय यावन्महतां कृपया दययिष्यति तावद्वा स्यात् । अयमर्थः । यावत् भगवान् दयां करिष्यति तावत् महतां कृपया पूर्वमेव दयातः कीर्त्यमानसुखाय आनन्दसन्दोहः स्यादिति भावः ॥ ४ ॥

---

१ मात्रेति पाठः । २ नित्यस्थितिरिष्टेति पाठः ।

ननु श्रीमदुद्धवागमनजातोत्सवस्य विप्रयोगस्फूर्त्या दुःखसम्भावनरूपत्वात् सुखस्य महत्कृपया जातेपि तस्मिन् कथं निर्वाह इत्याशङ्क्याहुर्महतामिति ।

महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा ।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

महता कृपया सदा कीर्तनं सुखदं भवतीति शेषः । अयं भावः । सदा तस्मिन्नपि समये कीर्तनं तेषामेव कृपया सुखदम्, प्राणनाधायां जीवनार्थं भवतीति भावः । यद्वन्महत्वमित्यर्थः । ननु विप्रयोगे गुणानां जीवनत्वं नानुभवसिद्धमित्याशङ्क्यास्यालौकिकत्वात्तथा भवति। लौकिकानां न तथात्वमित्याहुः न तथेति । तु पुनः लौकिकानां न तथा सुखं भवतीत्यर्थः । तत्र निदर्शनमाहुः स्निग्धभोजनरूक्षवदिति । स्निग्धभोजकस्य रूक्षवत्, रूक्षभोजनं यथा न सुखं जनयति तथेत्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु ज्ञानस्य दुःखनिवारकत्वं श्रूयते, न गुणगानस्येत्याशङ्क्याहुः गुणगान इति ।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गुणगाने यथा सुखावाप्तिः प्रजायते तथा शुकादीनामात्मनि नैव जायते, अन्यतः कुतः स्यादित्यर्थः । शुकस्य चेद्गुणगानेन सुखं स्यात्तदा स्वानुभूतं स्वयमेवाचख्यौ, कथयेन्न तु स्वामिन्य एव गानं कुर्वन्तीति वदेत् । यद्वा, गुणगाने कृते गोविन्दस्य भगवतोपि यथा सुखावाप्तिः प्रजायते तथा शुकादीनामात्मनि नैव भवतीत्यर्थः । अन्यथा भगवानिव तेपि तद्दुःखदुःखिता भवेयुः । भगवतस्तथात्वं 'मणिधर' इति श्लोकादिषु निरूप्यते । यद्वा, गोविन्दस्य गुणगाने या सुखावाप्तिः पुष्टिस्थानां भवति, सा शुकादीनां भगवद्गुणगानानन्दसुखानामपि नेत्यर्थः । अयमर्थः । गोविन्दपदेन व्रजवधूनामिन्द्रियस्य ये गुणास्तद्गुणगानेनैवासां तथा भवति । शुकादीनां सर्वावतारचरित्रमिश्रगुणगानात्तथात्वं न भवतीति भावः । अत एव निरोधचरित्रकथनप्रस्तावे प्रथमाध्याये सूतोक्तौ तदन्तःस्थितो भगवानेवोत्तरं प्रयच्छतीति 'सभगवानथ विष्णुरात'मित्यस्मिन्पद्ये निरूपितम् ॥६॥

गुणगानमात्रेणैव कथं भगवान्निरोधात्मके कृपां कुर्यादित्याशङ्क्य तत्स्वरूपमाहुः क्लिश्यमानानिति ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
तदा सर्वसदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

जनान् क्लिश्यमानान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत्तदा हृदिस्थं सर्वसदानन्दं बहिर्निर्गतं कुर्यादिति सम्बन्धः । अत्रायं भावः । गुणगानस्य विप्रयोगतापे जीवनैकस्वभावत्वात्तापाप्त्यर्थं भगवदिच्छाकाङ्क्षया तापसहने गुणगाने कृते सति जनान् लौकिकदेहयुक्तान्, यतोऽलौकिकदेहे तापस्त्वानन्दरूप एव भवति, तान् क्लिश्यमानान् दृष्ट्वा, यदेति तस्य

दुर्लभत्वात् कृपायुक्तो भवेत्तदा हृदिस्थं स्वहृदिस्थं सर्वसदानन्दमाधिदैविकशक्तिरूपं बहिर्निर्गतं कुर्यादित्यर्थः । गुणगानकर्तुर्भावात्मकस्वरूपं तद्धृदिस्थं बहिः प्रकटं कुर्यादिति वा ॥ ७ ॥

ननु भगवतः सर्वमेवानन्दरूपमिति गुणा अप्यानन्दरूपाः, तेन गुणगानस्याप्यानन्दरूपत्वात्कृपया भावात्मकानन्दस्य बहिःप्रकटकरणरूपस्य को विशेष इत्याशङ्क्याहुः सर्वानन्दमयस्यापीति ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् ॥ ८ ॥

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभ इत्यर्थः । सर्वानन्दमयशब्देन भगवतो गुणाद्योपि भगवद्रूपा जीवेषु रसरूपप्रतिपादकपूर्वकरसदातार इति ज्ञाप्यते । एतज्ज्ञापनायैव मयट्प्रयोगः । मयट् प्राचुर्ये । तेन सर्वमेव भगवदीयमानन्दप्रचुरमित्यर्थः । अत एव गुणगानेन रमणं फलप्रकरणान्तर्गतद्वितीयाध्याये निरूपितम् । अपिशब्देन बहिःस्वरूपप्राकट्यात्मककृपानन्दस्य कथनविशेषो ज्ञाप्यते । स च कुमारिकाप्रतायावान्तरफलपरमफलरूप इति भावः । तासां च गुणगानानन्तरं परमफलप्राप्तिस्तथैव सर्वत्र निरोधाधिकारिणामित्याशयः । कृपानन्दस्य दुर्लभत्वोक्त्याऽनुग्रहैकलभ्यत्वं ज्ञाप्यते । नन्वनुग्रहेतरासाध्यत्वे गुणानामपि तथात्वं स्यादित्याशङ्क्याहुः हृद्गत इति । हृद्गतः स्वगुणान्कृत्वा पूर्णो भूत्वा जनान् प्लावयते मग्नान् कुरुते । रासान्धाविति शेषः । कृपयैव पूर्वमष्टदशाध्यायोक्तन्यायेन वेणुद्वारा हृद्गतो भवति, ततस्तथैव तद्वर्णनेन स्वयं तत्तापयुक्तो भवति, एतदेव पूर्णत्वम् । अत एव द्वात्रिंशाध्यायेऽस्मद्भावप्राणनाथे'द्वात्रिंशेऽन्तर्गोपिकाना'मित्यारभ्य 'तेनैव पूर्णानन्द इतीर्यते' इत्यन्तं पूर्णत्वं निरूपितं पूर्वतद्भावज्ञापकम् । यद्वा, स्वगुणान् तद्वर्णनेन तापकान्कृत्वा विप्रयोगदलेनापूर्णत्वात्स्वरूपस्य द्वितीयं दलं प्रकटीकृत्य पूर्णः सन् रसैः प्लावयत इति भावः । स्वगुणोद्भूततापानां स्वस्य तेषां दुःखदूरीकरणं युक्तमेवेति भावः । भगवद्गुणानां रसात्मकानां रसरूपतापोद्बोधकता तु 'पूर्णाः पुलिन्द्य' इत्यादिषु स्फुटमेव निरूपिता । तेन गुणगानस्य तत्साधकत्वमिति भावः । गुणानां च भगवद्रूपत्वादनुग्रहेतरकोटिसम्भावना न कर्तव्या ॥ ८ ॥

यस्माद्गुणानां तत्साधकत्वं तस्माद्गुणगानं स्वरूपज्ञानपूर्वकं कर्तव्यमित्याहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता स्वतः ॥ ९ ॥

यतो गुणास्तत्साधकास्तस्मात्सर्वं परित्यज्य सर्वदा सर्वकालनिरुद्धैस्तद्भावापन्नैर्गुणाः गेया इत्यर्थः । सदानन्दत्वेन परिज्ञेया इति भावः । अयं भावः । 'सन्त्यज्य सर्वविषया'निति

तत्सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सहेति शेषः । 'सखसखीम्योन्ववर्णय'त्तिविवत्तेः सद गुणा गेया इति भावः । गुणान्विशिनष्टि स्वरूपज्ञानार्थम्, सदानन्देन कृष्णेन परिज्ञेया इति भावः । अयमर्थः । गुणगानगुणाः प्रभुणैव ज्ञेया येन तान् श्रुत्वा स्वयं तद्वशो भूत्वा स्वरूपरसदानं करोति । ननु गुणेषु सदानन्दत्वाभावादेतज्ज्ञाने कथं तत्र तत्त्वं स्यादित्याशङ्क्याहुः सच्चिदानन्देति । स्वतस्तेषु सच्चिदानन्दता सिद्धेत्यर्थः । यतस्तेषु स्वतःसच्चिदानन्दता, अतस्तया ज्ञात्वा गेया इति भावः ॥ ९ ॥

ननु निरुद्धानां गुणगानं युक्तमिति सिद्धं, फलसाधकानां साधनदशायां कथं गुणगानं स्यादित्याशङ्क्य स्वानुभवात्मकपूर्वश्लोकनिरोधस्वरूपमाहुः अहमिति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥ १० ॥

अहं रोधेन निरुद्धः, निरोधपदवीं गत इत्यर्थः । अत्रायं भावः । भगवता येषु जीवेषु कृपया निरोधो विचार्यते, स च निरुद्धभक्तसंगेनैव सिद्धो भवति, नान्यथेति निरुद्धाना-ज्ञापयति भुवि प्राकट्यार्थं, तत्संगेन जातो यस्तीव्रतापः सः रोधपदवाच्यो भवति । श्रीमदा-चार्याणामपि दैवजीवभक्तिनिरोधार्थं प्राकट्यात्प्रभ्राश्चाद्याकरणात्तत्सङ्गजनिततापस्य रोधत्व-मिति भावः । एवं च सत्पुरुषलीला तेषां रोधेनानुरोधेन भगवता निरुद्धः निरोधपदवीं पुरः प्रकटरूपेणैव गत इति भावः । निरोधफलस्य विप्रयोगतापानन्तरमाविर्भावादाचार्याणां च लीलामध्यपातिस्वरूपस्य विप्रयोगासम्भवाद्भगवता जीवेषु कृपया तद्दर्शनार्थं तथा प्राकट्यार्थमाहुरते, श्रीमदाचार्यैरपि तद्दर्शनार्थं स्वानुभव एव प्रदर्श्यते । यथा अहं रोधेन रुद्धस्तथामूवम् । तथा लौकिके निरुद्धानां रोधार्थं निरोधं कथयामीत्याहुः निरुद्धानां त्विति । लौकिक इति शेषः । यद्वा, निवेदनेनैतत्स्वरूपेणैव निरोधयोग्यता भवती-त्याशयेनाहुः निरुद्धानामिति । निरुद्धानां स्वनिवेदितानां रोधाय भगवत्कृतलौकिका-सक्त्यभावाय निरोधं वर्णयामीति भावः । ते तवेत्यर्थः । त इत्येकवचनेनैतच्छ्रोतुर्दुर्लभत्वं ज्ञापितम् ॥ १० ॥

एवं प्रतिज्ञाय निरुद्धस्वरूपमेवाहुः हरिणा य इति ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्यर्थः । अत्रायं भावः । अकारणं सर्वदुःखहर्त्रा तत्साधनमविचार्य दुःखहरणशीलेन ये विशेषेण निर्मुक्ताः भावात्मकस्वरूपो-द्धोधरहिताः कृताः, येन च सागरे संसारसागरे मग्ना दुःखमेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । ये तु अत्र अस्मिन्नेव जन्मनि भावात्मकस्वरूपेण निरुद्धास्ते अहर्निशं मोदमायान्ति, सन्तोषं प्राप्नु-वन्तीत्यर्थः । अहर्निशपदेन भावात्मकतया गोपस्त्रीवद्गोपवच्च मोदं प्राप्नुवन्तीति व्यज्यते । अहनि भजवरविलासिनीवत्, रात्रौ गोपवत् ॥ ११ ॥

ननु तासां तेषां च विप्रयोगक्लेशो गुणगानदशासमयः (स) तस्य कथं मोदरूपतेत्या-शङ्क्याहुः गुणेष्विति ।

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १२ ॥

मुरवैरिणः गुणेषु आविष्टचित्तानां सर्वदा संसारविरहक्लेशौ न स्यातामिति सम्बन्धः । अत्रायं भावः । मुरस्य जलदोपारमकत्वात्सागरस्थितस्य वैरित्वोक्त्या रससागरदोपनिवारकत्वं व्यज्यते । तस्य गुणेष्वानन्दमयेषु विरहसामयिकोत्कटतापनिवारकजीवनहेतुभूतेष्वाविष्ट-चित्तानां तौ न स्यातामिति भावः । चित्ते ह्यावेशोऽस्यान्याविशाभावो बोध्यते । अत एव सर्वदेत्युक्तम् । भगवत्सेवार्थव्यापृतावपि तत्परत्वार्थम् । यथोक्तं जीवोत्कटतापनिवर्तकाचार्यैर्भक्तिवर्धिन्यां 'व्यापृतोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदे' त्यादिना । एवं गुणाविष्टचित्तानां भगवति संसारस्याहन्ताममतात्मकस्य विरहाभाव इति यावत्, विप्रयोगजः क्लेशश्च तावुभावपि न स्याताम् । अयमर्थः । भगवत्यहन्ताममतासहितनित्यसंयोग एव भवेत्, सुखं भवेदिति शेषः । तत्र निदर्शनमाहुः हरिवत् । हरिवत्तौ न स्यातां, सुखं भवेत् । अत्रायं भावः । भगवतो जीवेष्वहन्ताममताभावो कदापि यथा न भवति स्वकीयत्वात्तेषां तद्वि-प्रयोगजक्लेशोऽपि तथा । 'भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मने'ति भगवतैवोक्तत्वाभावः । निवेदनानन्तरं भगवत्स्वरूपात्मकत्वं सिध्यति । एवं सति भगवानिव तौ न स्यातां, सुखं च स्यादेवेति भावः ॥ १३ ॥

भगवत एवं करणे दयालुत्वं हेतुत्वेनाहुः तदेति ।

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोऽपि सिध्यति ॥ १४ ॥

यदा पूर्वोक्तप्रकारेण सुखं स्यात्तदा भगवति दयालुत्वं भवेत् । अन्यथा मर्यादा-दिप्रवेशेन क्रूरता मता सम्मता, पुष्टिस्थानामिति शेषः । भगवता एवं करणेऽभिमाना-दिबाधशङ्का मर्यादातिक्रमाचरणकृतबाधो वा भवेदित्याशङ्क्य नेत्याहुः । बाधशङ्कापीति । अत्र अस्मिन्मार्गे बाधशङ्कापि नास्ति । अपिशब्देन तच्छङ्कैव नास्ति कुतः पुनर्बाध इति भावो व्यज्यते । भगवदध्यासस्य दृढत्वाद्देहाध्यासाभावान्न बाधशङ्केत्याहुः तदिति । तस्य भगवतोऽध्यासोऽपि सिध्यतीति भावः । अपिशब्देन भगवतोऽप्येतदध्यासो रसरीत्या सिध्यतीति बोध्यते ॥ १४ ॥

ननु भगवतो दयालुत्वे सुखोत्पादकता भवतु, परमस्य लौकिकत्वाद्भगवतो-लौकिकत्वात्कथमेतस्य लौकिकनिरूढ्या निरोधसिद्धिरित्याशङ्क्याहुः संसारेति ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥

संसारावेशेन दुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै निश्चयेन तानि ईशाय योजयेदिति सम्बन्धः । अयमर्थः । संसारावेशेन भगवद्विनियोगप्रतिबन्धः स्यात्, तेन तदावेशो दुष्ट इति तदभावार्थमिन्द्रियाणां निश्चयेन यथा हितं भवति, तानि भगवदर्थं योजयेत्, तेन तथात्वं भवेत् । नन्वेतत्सामग्र्याः पूर्वं लौकिको दोषो निरूपित इत्याशङ्क्य तस्य दोषस्य वस्तुस्वरूपज्ञाने सुरूपतेति वस्तुस्वरूपमाहुः । यतो वस्तूनि सर्वाणि भूम्नः कृष्णस्य । अतो समर्पिते लौकिकत्वं नाशङ्कनीयमिति भावः । 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते' 'क्रीडाभाण्डमिदं विश्व'मित्यादिषु तथैव निरूपितम् । किञ्च, स भूमा समर्थो भवति लौकिकनिवारणपूर्वकमलौकिकत्व(सम्पादकत्व)सम्पादकः, स्वयं च लौकिकरसभोगार्थं स्वस्वरूपमर्यादोल्लङ्घनेनापि स्वभक्तवश्यता स्थित्वा तद्भावानुसारेण तस्य रसादानार्थं रमणं करिष्यतीतिभावः । यद्वा, संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां सम्बन्धीनि सर्ववस्तूनि भावात्मकानि वै निश्चयेन कृष्णस्य हिताय रसभोगार्थं योजयेत् । भूम्न इति विशेषणेन स्वस्यापि रसभोगः सिध्यतीति ज्ञाप्यते । कीदृशाय हिताय ईशाय आधिदैविकायेत्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु संसाराविष्टचित्तदुष्टानां कथं तत्र विरागेण भगवत्यनुरागपूर्वकं समर्पणं स्यादित्याशङ्क्याहुः भगवद्धर्मसामर्थ्यादिति ।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं याति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विषये विरागः स्थिरः स्यादित्यर्थः । भगवद्धर्माणामेतादृशमेव सामर्थ्यं येन तद्धर्मप्रवेशमात्रेणैव लौकिके विषये विरागः स्यात्, तदनन्तरं गुणैः भगवदीयैर्वर्णितैरलौकिकस्वरूपेण हरिसुखं हरेः सुखस्य स्पर्शं प्राप्नोति । कर्हिचिद्भगवदिच्छया परीक्षार्थकृतमपि दुःखं न यातीत्यर्थः । यद्वा, भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विषये भगवदीये विशिष्टो रागः स्थिरः स्यात् । किञ्च, गुणैः हरिसुखस्पर्शं याति । अयं भावः । गुणगानेनालौकिकत्वे सम्पन्ने हरेरपि सुखरूपः स्पर्शो यस्य तादृग्भावं प्राप्नोतीत्यर्थः । किञ्च, हृदयतो दुःखं विप्रयोगक्लेशानन्दानुभवात्मकं कर्हिचिदपि न गच्छतीति भावः ॥ १५ ॥

एवं निष्प्रत्यूहं तत्स्वरूपं निरूप्य तत्कर्तव्यप्रकारमाहुः एवमिति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षं गुणवर्णने ।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण ज्ञानमार्गादुत्कर्षो निरूपितस्तं गुणवर्णने ज्ञात्वा अमत्सरैर्मत्सरादिदोषरहितैर्ज्ञानादिषु अलुब्धैः स्वस्य रसभोगेच्छायां भगवदिच्छार्थं गुणाः सदा वर्णनीया इति भावः । सदेति पदेन क्षणमप्यन्यथा न स्थेयमिति ज्ञापितम् । यद्वा, गुणवर्णने च उत्कर्षस्तं ज्ञानमार्गात्सर्वं भगवदर्थमितिरूपाद्भगवदुपदिष्टगोपतुल्याद् (?) ज्ञात्वा सदा अमत्सरैः

सापत्न्यादिदोषरहितैरलुब्धैर्भगवतः स्वामृतग्रहणसमये मानादिदोषरहितैर्गुणा वर्णनीयास्त-
ज्ञाताश्चर्थ, व्रजविलासिनीवत्स्वसमानशीलेष्विति शेषः ॥ १६ ॥
एवं गुणवर्णनस्यावश्यकत्वं सोपपत्तिकमुपपाद्य तद्वर्णने क्लेशसहनात्मकं दूषणमुद्भाव्य
परिहरन्ति हरिमूर्तिरिति ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथाकृतिगती सदा ॥ १७ ॥

सदा हरिमूर्तिर्ध्येयेति सम्बन्धः । अकारणसर्वदुःखहर्त्री दुःखहरणार्थमेव मूर्तिधारक-
स्तस्य ध्येयेति भावः । हीति युक्तश्चायमर्थः । स्वस्य तदर्थप्रयोजनाभावस्यैव ध्येया । ननु
तद्ध्यानमात्रेण कथं दुःखनिवृत्तिः स्यादत आहुः दर्शनमिति । ध्यानेन दर्शनं स्पर्शनं
च स्पष्टमेव भवतीत्यर्थः । ननु दर्शनं स्पर्शनं च योग्यरूपाभावे कथं स्यादित्यत आहुः
तथेति । ध्यानेन तथा आकृतिर्गतिश्च भवेताम् । सदेति नित्यमित्यर्थः । न स भावः
पुनरन्यथा भवेत् ॥ १७ ॥
नन्वेतत्सर्वं फलदशायां सम्भवति, न साधनदशायामित्याशङ्क्य साधकानां तत्सिद्ध्य-
र्थमुपायमाहुः श्रवणमिति ।

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

श्रवणं कीर्तनं तथात्वसम्पादकं स्पष्टमेव, तस्मात्कर्तव्यं, तत्करणेन तथात्वं स्यादि-
त्यर्थः । तथाभूतस्य दुःसंगवर्जनमाहुः । भगवदप्रियस्य त्यागे निदर्शनमाहुः पायुरिति ।
मलांशत्यागेन यथा पायुर्गृह्यते तथा बहिर्मुखपुत्रादित्यागेन शेषभागं तनौ स्वकीयत्वेन
नयेत् ॥ १८ ॥
ननु सर्वेषामात्मा भगवानेवास्ति, तस्मात्कथं त्यक्तव्याः, स्वान्तरङ्गत्वादपि त्यागो-
नुचित इत्याशङ्क्याहुः यस्येति ।

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

यस्य भगवत्कार्यं स्पष्टं न भवति स न भगवदंशः किन्तु प्रकृत्यंश एव, आन्तरं तथा
भावे बाह्यमपि तथैव भवति, अन्यथा तु पाषण्डित्वमेव । अत एव निबन्धेऽस्मत्प्राणेश्वरैः
'कृष्णसेवापर'मिति श्लोकविवरणे सेवापरगुरुरित्यादिना तथैव निरूपितम् । विकल्पेन
यस्यार्थे भगवान् स्वकार्यं रसरूपं स्पष्टं करोत्येवं न दृश्यत इति व्यज्यते । तदापि निरूपितो
यो दस्तः वामहस्तस्तस्य विधिः कर्तव्यः । अयमर्थः । यथा मलांशत्यागानन्तरं वामहस्तस्य
शुद्धिं विधाय सर्वकार्योपयोगित्वं क्रियते तथा तस्य स्वात्मजत्वात्तत्र स्वांशभगवति निवेदनं
कृत्वा स्वांशं स्वस्मिन्नावेश्य तस्य त्यागो विधेयः । अस्मिन्नर्थे न सन्देह इत्यर्थः ॥ १९ ॥

एवं निरोधस्वरूपं निरूप्यान्यनिषेधपूर्वकमेतत्करणार्थमस्य सर्वाधिकत्वमुक्त्वोपसंहरन्ति नात इति ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

अतः परतरो मन्त्रो नास्ति, तेन मन्त्रादिषु विश्वासं विहायायमेव ग्रन्थो जाप्यः । एतदुक्तप्रकारेण स्थेयमित्यर्थः । अतः परतरोन्यः स्तवो न । तेनैतदुक्तप्रकारेणैव प्रभुः स्तुत्य इत्यर्थः । अतः परतरा विद्यापि न । या विवेकोनविंशाध्याये व्रतप्रस्तावे निरूपिता सेयमेवेत्यर्थः । अतः परतरं तीर्थमपि न । तीर्थे प्रतिबन्धकपापनिवर्तकत्वमस्ति, न त्वाधिदैविकप्रतिबन्धनिवर्तकत्वम्, अस्य चाधिदैविकतन्निवर्तकत्वमस्तीति नातः परतरं तन्निवारकमन्यदिति भावः । तस्मात्प्रतिबन्धकापगमार्थमेतदेव स्तोत्रं सेव्यमिति भावः ॥ २० ॥

इति श्रीगोपिकाधीशवल्लभाचार्यसूचितः ।
निरोधो विवृतस्तेन सदा तुष्यन्तु ते मयि ॥ १ ॥
निरोधसंशयोऽनेन प्रकारेण सदा बुधैः ।
छेत्तव्य इति हि ज्ञात्वा तत्कृपातो विवेचितः ॥ २ ॥

इति श्रीदयामलात्मजश्रीव्रजराजविरचितं निरोधलक्षणविवरणं सम्पूर्णम् ॥

परिशिष्टम् ।

'निरोधलक्षणकी टीका प्रथम श्रीहरिरायजुने कीनीथी पत्र २२'

अथ विचार्यते, को निरोध ? किं तस्य कारणम् ? कथं वा फलत्वमिति । प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिर्निरोध इति । न चासक्तिमात्रं निरोध इति वाच्यम् । विषयासक्तौ व्यभिचारात् । न च तत्र प्रपञ्चविस्मृति, किन्तु तदभिनिवेश एव । न चासक्तिविषयातिरिक्तप्रपञ्चविस्मृतेर्विषयसाधारण्येनातिव्याप्तिरिति वाच्यम् । प्रपञ्चशब्दस्य तत्सामान्याभिप्रायत्वात् । न च लौकिकासक्तिविषयो न प्रपञ्च । न च तद्विषयस्य प्रपञ्चमात्रमारण आसक्तेर्निर्विषयत्वापत्त इति वाच्यम् । प्रपञ्चातीतस्य तद्विषयत्वात् । न च तद्विषयस्य अतीन्द्रियार्थत्वेन भक्त्या तदनीत्वे प्रापञ्चिकत्वात् आसक्तेरविषयत्वमिति वाच्यम् । योगजधर्मप्रत्यासत्त्या अतीन्द्रियार्थस्येव भक्त्या ... न । तस्य ज्ञानप्रपञ्चातीतस्य विषयत्वोपपत्तेः । ननु प्रपञ्चत्यागः एव कुतो न निरोधविशेषणमिति चेत् । न । तस्माद्विस्मृतिमात्रमेवात्र कृत्यमिति । मार्गीयमोक्षसाधनत्वात् । 'भक्ताना गृहमेव विशिष्यत इत्युक्तत्वाच्च । तस्माद्विस्मृतिपूर्वकं भक्तविषयकाम स च निरोधो द्विविध । भागवतोऽन्यश्च । तत्र भागवतो भगवत प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भक्तविषयक ... अन्येन पक्षा भेदेन निर्देशाच्च । निरोध इति । 'निरोधोऽस्यानुशयनमात्मन सह शक्तिभि'रिति वचनात् । लीलारूपेषु सर्गादिषु परिगणितत्वाच्च । 'निरोधोऽस्यानुशयन प्रपञ्चे क्रीडन हरे'रित्याचार्यचरणोक्तत्वाच्च । लीलारूपेषु ... प्रपञ्चविस्मरणाभावादिति मन्वत्र लक्षणमिदमनुपपन्नम्, भक्ताना प्रापञ्चिकत्वेन भगवत्तद्विषयकासक्तेः । प्रपञ्चविस्मरणाभावादिति चेत्, उच्यते । प्रापञ्चिकत्व केन प्रकारेण ? न तावत् प्रत्यक्षम्, अस्मदादिप्रत्यक्षागोचरत्वादनुभवात् । अत एव तथात्व बोधयन् भगवान् भक्तानामर्जुन प्रति भक्तविशेषप्रत्यक्षस्यप्रापञ्चिकत्वानुकूलत्वात् । अत एव 'यदि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिता' इति श्रीभागवत- 'दिव्यं ददामि ते चक्षु'रित्युक्तवान् । 'यदि पश्यन्ति मुनयो ...' इत्यत्रस्य वाक्याच्च । नाप्यनुमितिः, अनुकूलतर्काभावात् । न च दृश्यत्वादेरनुकूलतर्कत्वमिति वाच्यम् । 'तद्विप्रास ,' 'तद्विष्णो परम पदम्' 'तद्विप्रास ,' प्राकृतप्रकारैरस्थापितत्वात् । शब्दस्तु 'जयति जननिवास', 'तद्विष्णो परम पदम्' 'मुक्ता अपि लीलाविग्रह कृत्वा भजन्ते' इत्यादिवाक्यैरनुक्त एवेति नानुपपन्नं किञ्चित् । ननु भवतु भक्तानां तथात्वम्, तथापि 'मन्निष्ठ निर्गुणं स्मृतम्,' 'न भजन् निर्गुणो भवेत्,' 'मुक्तेरप्यप्रपदेशात्,' 'मुक्ता अपि लीलाविग्रह कृत्वा भजन्त' इत्यादिवाक्यैरनुक्त एवेति नानुपपन्नं किञ्चित् । ननु भवतु भक्ताना तथात्वम्, भगवतोऽनन्तशक्तिमत्त्वेन भगवतोऽप्रतिहतज्ञानशक्ते प्रपञ्चविस्मरणं कथमुपपद्यत इति चेत्, इत्थम् । 'धिया पुष्ट'इति यदा यदर्थं यां शक्तिमाविर्भावयति, सा तदा तत्कार्यानुगुणा भवति । एवञ्च सति 'धिया पुष्ट'इति वाक्ये मुख्यशक्तिमायपाठादविद्याया अपि सत्त्वेन तदाविर्भावनादज्ञत्वमप्युपपन्नम् । न च विरोधात् सर्वज्ञत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम् । विरुद्धविविधधर्माधारत्वस्य 'तदेजति तन्नैजती'त्यादिश्रुतिसिद्धत्वे सर्वज्ञत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम् । विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य सविस्तरमस्माभिर्निरूपित विद्वन्मण्डने । न च 'बन्धोऽस्याविद्ययाऽनादि' रिति वाक्यादविद्याश्रयत्वे तथा बन्धसम्भव इति वाच्यम् । तस्य मुख्यमायाशक्तिजन्याविद्याशक्तिजन्य त्वात् । एतच्च यथा तथा सविस्तरमस्माभिर्निरूपित विद्वन्मण्डने । 'तस्य मुख्यमायाशक्तिजन्याविद्याशक्तिजन्य' इति रिति वाक्यादविद्याश्रयत्वे तथा बन्धसम्भव इति वाच्यम् । बन्धमोक्षकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते' इति त्वात् । 'विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्, बन्धमोक्षकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते, ते जीवस्यैव स्यात् । 'विद्याविद्ये हरे शक्ती माययैव विनिर्मिते' इति श्रीमदाचार्यनिरूपित निबन्धे, 'विद्याविद्ये हरे शक्ती माययैव विनिर्मिते' 'मदन्यत्ते न जानन्ति वाक्यात् । तदेव श्रीमदाचार्यैर्निरूपितं निबन्धे, भक्तिमार्गं एव आविर्भावयतीति 'सद्गुणान्' नान्यत्र तु खिन्न वाप्यनीशते ति । तां च प्रभु भक्तिमार्गं एव आविर्भावयतीति भगवत्स्वरूपतत्त्वानभिज्ञेन 'सद्गुणान्' नाहं तेभ्यो मनागपी'ति वचनादवसीयते । अत एव निरूपित केनचित् भगवत्स्वरूपतत्त्वानभिज्ञेन सहृदयैरात एव इत्यादि । तदेतत् सर्वमाचार्य'र्यथार्थक स्वप्नविभ्रमविभ्रम' इत्यत्र निरूपितमिति सहृदयैरात एव विभावनीयम् । अथ किं तस्य कारणमिति चिन्त्यते । न तावल्लोक इव वासनया जन्यत इति यत्तु शक्यम् । तस्या अनुभवजन्यत्वात् । भगवतश्च साक्षात्कारात् प्राक् लौकिकविषयविषयीन्द्रियाविषयत्वेन अनुभवात् । साक्षात्कारे तु दिव्यदृष्टिदानेन तथात्वसम्भवात् । 'दिव्य ददामि ते चक्षु'रिति वाक्यात्, 'कश्चित् धीर' इति श्रुतेश्च । नापि भक्ति , सा च द्विविधा, मर्यादापुष्टिभेदेन, तत्र न तावदाद्या, तस्या

१. नि. ल.

'भक्त्या त्वनन्यया,' 'विशते तदनन्तरम्' 'ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षण,' इत्यादिवाक्यै पुरुषोत्तमसायुज्यफलकत्वेन निरोधाजनकत्वात्। 'ननु भक्त्या सञ्जातये' त्यादिवाक्यैर्मर्यादाभक्ते पुष्टिभक्तिफलत्वेन, सा च निरोध इति कथं न निरोधजनकत्वमिति चेत्, उच्यते, तस्या अनुग्रहसहकारित्वेन परम्परासाधनत्वात्। अन्यथा 'नोपासितमहत्तमा' इति वाक्यं विरुध्येत। महदुपासनस्य मर्यादाभक्तिरूपत्वात्, न द्वितीया। तस्यास्तद्भिन्नत्वात्, न हि स्वमेव स्व प्रति साधनं भवति। तर्हि किमाकस्मिकत्वमेवेति चेत्, न, तादृशविशेषानुग्रहस्य कारणत्वात्, तादृशस्य गुणगानसहकृतस्य विशेषश्च तथा फलदानेच्छैवेति संक्षेपः। वस्तुतस्तु न गुणगानादेरपि साधनत्वं, नि साधनत्वभङ्गात्, तथापि योगक्षेमसाधारणसाध्यत्वमादाय तथोक्तम्। अथ कथं निरोधस्य फलत्वमिति। सुखदुःखाभावान्यतरभावात्। प्रयुतासक्ते स्वविषयाप्राप्त्या दुःखसहकृतत्वाच्चेति। उच्यते। निरोधो हि प्रपञ्चविस्मृतिसहिता आसक्तिः, सा च स्वविषयविषयकविविधमनोरथजनको भावः, तस्य च रसरूपत्वेन सुखरूपत्वात्। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवती'ति श्रुतेः। प्रपञ्चविस्मृतिरूपत्वेन प्रापञ्चिकदुःखाभावरूपत्वाच्च। किञ्च, फलं हि पुरुषार्थः, तत्त्वं च तेन स्ववृत्तितयेष्यमाणत्वम्। तथा च आसक्तिमध्यपातितदुःखस्याकाङ्क्षणीयत्वेन तथात्वम्। 'विपदः सन्तु ताः शश्व'दिति वाक्यात्। अन्यथा श्येनादावपि तज्जन्यनरकस्य तदुभयरूपत्वाभावेन फलत्वं न स्यात्। 'भूयान् मे नरकः शत्रुर्विपद्यतामि'ति धिया श्येनकरणात्। सुखसाधनं तदिति चेत्, तदा प्रकृतेऽपि दीयतां दृष्टिः। न च सुखभ्रमात् प्रवृत्तिरिति वाच्यम्। नरके सुखभ्रमायोगात्। तस्मात् पुरुषार्थ एव फलम्। वस्तुतस्तु दुःखमेव न, किन्तु परमानन्द एव। अत एव श्रीशुकैः सर्वान्ते 'रेमिरे' इत्युक्तम्। अत एव श्रीमदाचार्यैः 'ततो निरोधो महाफल' इत्यभिहितम्। एवं सति भक्तिमार्गे निरोधस्यैव फलत्वात् ससाधनतन्निरूपणं कुर्वन्तः श्रीमदाचार्यास्तस्य दुर्लभत्वज्ञापनाय प्रार्थनारूपेण निरूपयन्ति 'यच्च दुःख'मिति। निरोधो हि प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिः। सा च स्वविषयदर्शनाभ्यां सुखदुःखात्मिका। यदिति पदात् दुःखं च लोकविलक्षणस्वरूपात्मकत्वात् कोटिकोट्यानन्दरूपं युगपत्सर्वलीलानुभावकं भगवदाविर्भावपरम्, अतो निरोधस्य प्रथमांशो दुःखं प्रपञ्चविस्मृतेर्भगवदर्थदुःखजन्यत्वात्। अतो मूलभूतत्वादन्तेप्यस्यैव फलत्वादभ्यर्हितत्वेन प्रथमांशं दुःखं प्रार्थयन्ति 'यच्च दुःख'मिति। यद् दुःखं यशोदाया नन्दादीनां चकारादन्येषां गोकुले अस्ति तद्दुःखं मम कचिदपि स्यादिति सम्बन्धः। अन्येषामपि निरोधस्य फलत्वे, तदेव दुःखं, मुख्यात्वेनाप्यस्यैव तथात्वसम्भवादिति चेत्। न, अनाकलनात्। 'मानसी सा परा मता' 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'त्यादिभिः सिद्धान्तमुक्तावल्यामाचार्यैर्निरोधपदार्थस्यैव फलरूपसेवात्वेनोक्तत्वात्, अतो न काचिच्छङ्केति भावः। मातृचरणदुःखस्य स्त्रीस्वभावतोऽधिकत्वात् प्रथमोक्तिः। ननु पूर्वक्लेशेन भगवदानन्दनिधिप्राप्ता किं क्लिष्टा एवेति चेत्। अयमाशयः। भगवति मथुरां प्रति प्रस्थिते, तत आरभ्य मातृचरणादीनां स्वरूपात्मकविप्रयोगदानेन ते क्लिष्टा एव, परं स महारसो विलक्षणानन्दः। फलत्वेयमेव पर्यवसितिर्निर्देयमानन्दानुभवः, अतस्तन्मनोरथं कुर्वन्ति 'स्यान्मम कचि'दिति ॥ १ ॥ एवं यशोदादिदुःखं प्रार्थयित्वा अतिदुरापं गोपिकादुःखं प्रार्थयन्ति 'गोपिकानां चे'ति। तुशब्दः पूर्वस्मादुत्कर्षप्रदर्शकः। गोपिकानां व्रजसीमन्तिनीनां यत् श्रीभागवतादौ निरतिशयत्वेन प्रसिद्धं स्वरूपात्मकं तत् कचिदपि देहेन्द्रियप्राणेषु स्यादिति मनोरथः। यशोदानन्दादीनामेतत्सुखस्य स्वस्य रामसखीभावपूरितविग्रहत्वेन अयोग्यतया अप्रार्थनीयत्वाद् गोपिकादीनामेव सुखांशं प्रार्थयन्ति 'गोकुले गोपिकानां चे'ति। गोकुले भगवतो लीलाभिर्वेणुनादादिरूपाभिगापिकानां, चकाराद्गोपानां सर्वेषां व्रजवासिनां चापि यत्सुखमनुभूयमानलीलाव्यसम्पादकमभूत्, तत् किं मे विधास्यति। अन्यत्र तथाकरणे सामर्थ्याभावमाशङ्क्याहुः 'भगवा'निति। स हि सर्वं कर्तुं समर्थः। अतोऽस्मत्रापि तथा करिष्यत्येवेत्यर्थः ॥ २ ॥ एवं दुःखं प्रार्थयित्वा लीलाभिर्यत्सुखं तदपि प्रार्थयित्वा आत्यन्तिकविप्रयोगदानानन्तरं यत्सुखं तदपि प्रार्थयन्ति, उद्धवागमन इति। उद्धवस्यागमने जाते यथा गोपिकानां मनसि भगवत्सारूप्य

दर्शनेनोत्सवो जातस्तथा मे मनसि क्वचिदपि स्यादिति सम्बन्धः । वृन्दावने गोकुले वेति । यानन्द-
समुच्चयार्थः । यत्र तद्गुणानेव गायन्त्यो व्रजसीमन्तिन्यः सम्भूय स्थितास्तत्र वृन्दावने, तासां
नन्दादीनाञ्च गोकुले च उत्सवः स इति तथेति 'गच्छोद्धव व्रजं' 'प्राप्तो नन्दव्रज'मित्यादिसामान्योक्त्या-
वसीयते । ननूत्सवः कश्चित् पूर्वतन एव, तं विलोक्यागतमित्यादिनोक्तः प्रार्थनीय इति चेत्, तत्राहुः सुविस्मि-
तसुमहानिति । पूर्वस्तु महान् मुरल्यादिभ्यः, अयं तु मत्प्राप्त्युत्तरकालीनत्वात् सुतरामेव महान्, सुविस्मि-
ताः कोयमपीत्यदर्शन इत्यादिनोक्तः॥३॥एवमलौकिकसामर्थ्यरूपो मुख्यो निरोधः स्वस्यैव तदधिकारित्वेन
स्वविषयतयैव प्रार्थितः । अन्येषां तु भगवान् महापुरुषकृपया स्वाधिकारानुसारेण सायुज्यं वैकुण्ठादिषु
संवोपयोगिदेहं वा दास्यतीत्यभिप्रायेण तावत्पर्यन्तं स्थितिप्रकारमाहुः महतामिति । यावद् भगवान्
फलोन्मुखां दयां करिष्यति तावद् कीर्त्यमानाः कीर्तनविषयीक्रियमाण एव सुखायेत्यर्थः । 'महस्ते विष्णो
सुमतिं भजामहे,' 'विना महत्पादरजोभिषेकम्,' 'किरातहूणान्ध्र', 'देवर्षिर्मे प्रियतमः', 'त्वत्पादपोतेन
महत्कृतेन', 'सदनुग्रहो भया'नित्यादिवाक्यैर्भगवतो दयायां च नान्यत्कारणमिति पक्षमाहुः महतां
कृपयेति । एतेन भक्तिमार्गस्य त एव निर्वाहका इत्युक्तं भवति । ननु कीर्त्यमानेपि भगवति फलपर्यन्तं
क्रमेण कर्मादिरिव दुःखमेवेत्याशङ्क्याहुः आनन्दसन्दोह इति । भगवत्स्वभावेन तद्गुणानामपि
तदभिन्नतया स्वरूपसमानयोगक्षेमत्वात् साधनदशायामपि तत्कीर्तनेनानन्द एव भवतीत्यर्थः । अत एव
भगवत्भगवत्कथारसः परीक्षिदेव तदर्थकमेव 'श्रोत्रमनोभिरामा'दिति विशेषणमुक्तवान् । हि शुको
यमर्थ । आनन्दे कीर्त्यमाने सुखस्य सुखत्वात्॥४॥ ननु कीर्तनं हि सुखसाधनम्, तत्र महतां कृपयेति को
वाग्रहः, यथाकथञ्चिदपि कृतं तत्सुखसाधनमिति प्रश्नेनेत्याहुः महतां कृपयेति । यथा महतां कृपया
अलौकिकानां भगवत्सम्बन्धिनां सदा कालापरिच्छेदेन कीर्तनं तापनिवारकं भगवतः प्रादुर्भावकं
निरोधजनकं, तथा लौकिकानां लोकसम्बन्धिनां महापुरुषद्वारा भगवच्छरणगतानां कीर्तनं न तथे-
त्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाहुः स्निग्धभोजनरूक्षवदिति । स्निग्धस्य पदार्थस्य भोजने रूक्षं । तुल्यत्वे
भिन्नप्रकारस्यद्योतनाय । स्निग्धस्य पदार्थस्य भोजने रूक्षस्य प्रीतिरहितस्यैवेत्यर्थः । यथा कस्यचिज्ज्व-
राद्यभिभूतस्य स्निग्धं वस्तु न रोचते तस्य यथा तद्रसानभिज्ञस्य प्रतिदिनं क्षीयमाणस्य न तद्भोजनं
पुष्टिफलम्, तथा प्रकृतेपि महापुरुषकृपाभावरूपदोषयुतानां तादृक्कीर्तने रूक्षाणां लौकिकानां कीर्त-
नस्य न पुष्टिफलत्वमिति भावः । यद्वा, स्निग्धं भोजनं यस्य स च रूक्षः रूक्षभोक्ता च तयोरिव तद्-
तिरिति । तथा च यथा स्निग्धरूक्षभोजनयोस्तारतम्यं तथात्रापीत्यर्थः ॥५॥ ननु 'तरति शोकमात्मवि'दिति
श्रुत्या ज्ञानेनैव दुःखनिवृत्त्या सुखप्राप्तेरुक्तत्वात्स्यैव स्थैर्ये, किं गुणगानेनेति चेत्, तत्राहुः गुणगान इति ।
यथा गोविन्दस्य गोगोकुलपतेर्गुणानां गाने स्तुतियुक्त्या कथने शुकादीनां पूर्णज्ञानवतामपि सुखं तथा
तेषामेव आत्मनि स्वात्मविषये महात्म्यैक्यज्ञानेन जायमानं यत्र न तथेत्यर्थः । अत एव व्यासस्येतर-
पुराणेतिहासकथनेष्वपरितोषः', परितोषश्च श्रीभागवतकथनेनेति दिक् । अत एव 'लोकाश्च लोकानुगतान्
पशूंश्च हित्वाश्रितास्ते चरणातपत्रम्, परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्माः' । 'अथ ह वाव तव
महिमामृत, यदनुचरित, तव कथामृत, श्रवणादर्शनात, येन्यतो भागवताः' । तत्र अन्यतः अन्येषां
अन्यतः विषयादिभ्यो वा अन्यत्र देहादौ कुत इत्यर्थः । सार्वविभक्तिकस्तसिल् । 'ज्ञाने प्रयासमुद-
पास्य, निवृत्ततर्षः', नैवातिदुःसहा' इत्यादि वाक्यैः श्रीभागवते तथैव निरूपणात् । ननु तरति शोकमा-
त्मविदित्यादिश्रुतेः का गतिरिति चेत्, अत्र वदामः, तस्मान्मद्भक्तियुक्त-
विन्, तमेव विदित्वातिमृत्युमेतीत्यादिश्रुतेः ज्ञानानपेक्षणाज्ज्ञानिनस्तु नैष्कर्म्यमप्यच्युतेत्यादिवाक्यैर्भक्त्यपेक्षणात्तन्निरपेक्षभक्त-
स्येति वाक्यादन्तिमतो ज्ञानफलोक्तिस्तु दुःखाभावपर्यवसानैव, परमानन्दावाप्तिस्तु भ-
मार्ग एव समीचीनः । श्रुत्यादिषु ज्ञानफलोक्तिस्तु दुःखाभावपर्यवसानैव । अनर्थोपशममिति वाक्यात् । अत एवाचार्यैरानन्द-
स्यैव । वस्तुतस्तु दुःखाभावोप्येतदधीन एव । अनर्थोपशममिति वाक्यात्, सहकारियोग्यतासम्पत्त्या पुरुषोत्तमप्राप्ति-
पाधिकरणे 'एवं सती'त्यारभ्य स्वीयत्वेन वरणे अन्यथाभावात् । तत्र प्रकृत्यर्थं
भवनीनि निर्णीयत इत्यभिधास्यामि ॥ ६ ॥ ननु गुणगाने कृतेपि किं भवतीत्याशङ्क्य तत्र प्रकृत्यर्थं
परिपाचकं फलमाहुः क्लिश्यमानानिति । गुणगानेन तत्स्वरूपस्मृत्या तद्भावयर्यं क्लिश्यमानान्

उपतपतो जनान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत् तदा सर्वं सर्वात्मकं सदानन्दं परं ब्रह्म हृदिस्थं परमन्योऽपि प्रादुर्भूतं बहिः प्रकटं भवतीत्यर्थः । अत एव व्रजसीमन्तिनीनां गुणगानेन हृदि प्रादुर्भूय तन्मनस्का इत्यादिना तथाभावसम्पत्तौ कृपया भगवान् प्रादुर्भूत इत्युच्यते । तदेवोक्तमाचार्यैः 'नहि साधनसम्पत्त्या हरिस्तुष्यति कस्यचित्, भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनं'मिति । यद्वा, सदानन्दस्य भगवतो हृदिस्थ अभिप्रायादिकं बहिर्निर्गतं भवतीत्यर्थः । अत्रायमभिसन्धिः । 'हस्तु सुस्वर राज'न्नित्यादिना तादृशभावे यदा कृपायुक्तो जातस्तदा भगवतोऽभिप्रायं प्रभुणैव मया परोक्षं भजता, न पारयेऽहं निरवद्यसयुजामित्यादिनाविर्भावित इति तथेत्यर्थः ॥ ७ ॥ ननु किमिति कृपापेक्षया गुणगानेन क्लेशः सम्पादनीयः, ज्ञाननिष्ठया ब्रह्मानन्द एव सम्पाद्यतामिति चेत्, तत्राहुः 'सर्वानन्दमयस्यापी'ति । एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानीति श्रुतेः सर्वत्र स्थितो य आनन्दः स भगवति प्राचुर्येण वर्तेत इति तदाश्रितस्य मानुषानन्दमारभ्य ब्रह्मानन्दो न कस्यापि दुर्लभत्वम्, 'सर्वं मद्भक्तियोगेने'ति वाक्यात्, तथापि कृपानन्दः कृपारूपो य आनन्दः स भगवद्धर्माणां स्वरूपसमानयोगक्षेमत्वात् कृपया प्राप्तो भजनानन्दाख्यः स तु सुतरां दुर्लभ एव । ब्रह्मानन्दस्यापि दुर्लभत्वात् । सम्भवति साधनमिह किञ्चिदिति चेत्? गुणगानमेवेति गृहाण । अत एवोक्तमाचार्यैः 'लौकिकस्त्रीषु सत्सिद्धः तद्द्वारा पुरुषे भवेत् । स्वानन्दस्थापनार्थं हि योग्यतापि निरूपिता । अतो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग् विधार्यत' इति । एतदर्थस्तु प्रभुचरणैरेव विवृतः । 'भजनानन्दस्य स्वरूपात्मकत्वेन रसरूपत्वात् तस्य च स्त्रीष्वेव सिद्धस्यैव तथात्वाद् भावव्यतिरिक्तलोके विवाहवत्स्त्रीषु सम्यक्सिद्धो भवति । तत् एतत्कथाश्रवणेन तद्भावोदये पुरुषेऽपि स रसो भवेत्, नान्यथेति स्त्रीष्वेव तदुत्तमित्यर्थः इति । तत्रैव द्वितीयकारिकार्थनिरूपणे यद्वा, भक्तदेवे स्वधर्मान् निरूपयता भगवता 'गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्री'रिति वाक्ये श्रियोऽपि स्पृहानिरूपणेन तस्या अपि दुर्लभो यो रसः तं प्राप्य गोप्यो धन्या इति व्रजस्त्रीष्वेव स्वानन्दानुभवयोग्यता निरूपिता, नान्येषु नान्यासु चेत्यर्थः । तया च तत्रैवैतदधिकारित्वात् भवेति भाव इत्येतावत्सर्वं हृदिकृत्योक्तं कृपानन्दः सुदुर्लभ इति । 'नाथ गुणाय' 'नेम विरञ्च' 'एता परं' 'केमाः स्त्रियः, नाथ स्त्रिय' 'आसामहो' इत्यादिवाक्यैः श्रीभागवतेऽपि तस्य तथात्वनिरूपणाच्च । कृपानन्दस्य दुर्लभत्वबोधकं तत्कार्यमाहुः 'हृद्गत' इति । हृद्गतः हृदयप्रविष्टः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णं गुणगानेन प्रतिक्षणं वर्धमानः जनान् प्लावयते रससिन्धौ निमज्जयतीत्यर्थः । अत एव 'बर्हापीडे'ति पद्ये स्वामिनीनां मुखद्वारा भावात्मकः प्रभुरन्तः प्रविष्टो 'ऽक्षण्वता'मित्यादिभिस्तद्वर्णितगुणश्रवणेन पूर्णः क्रीडामयतामेव सम्पादितवान् । अत एवोक्तं श्रीमदाचार्यैर्युगलगीते 'अन्तः प्रविष्टो भगवान् मुखाद्दृष्टस्य कर्णयोः, पुनः प्रवेदयते सम्यक् तदा भवति सुस्थिर'इति । एतद्विवरणे यथार्थस्तथैवास्माभिरुक्त इति सर्वमनवद्यम् ॥ ८ ॥ एवं सोपपत्तिकं गुणगानं तत्स्वरूपम् निरूप्य कर्तव्यत्वेन तदुपसंहरन्ति 'तस्मा'दिति । यस्मात्कर्मज्ञानोपासनादिमार्गतो भक्तिमार्गो निरतिशयितनिजविषयः 'नैष्कर्म्यमपि' 'पूजादिना ब्रह्मलोक'मित्यादिवाक्यात् तस्मादेतो सर्वं कर्मज्ञानोपासनादिकं परित्यज्य सवासनं त्यक्त्वा निरन्तरं भगवता स्वीयत्वेन वृतैरत एव किञ्चिदित्यतमपेक्षितरूपं साधनानि विदधद्भिर्गुणा एव सर्वदा सर्वेष्टदातारस्तत्कर्तव्यत्वेन गेया इत्यर्थः । ननु वेदमार्गानुसारेणेति वाक्यात् तन्मार्गस्य व्याख्यातृभिर्बहुविधत्वात् केवलं स्वगुणान् गायेदिति शङ्कायामाहुः सदानन्दपरैरिति । सदानन्दः आनन्दमयः परः परमात्मा परमकाष्ठापन्नो न तु पुष्ट्यादि येषां तादृशैरित्यर्थः । विधया विशेषणमेतत् । अनेन ब्रह्मवादे स्थित्वा गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तं भवति । तत एव तेभ्य एव गुणेभ्यो जीवस्य सच्चिदानन्दता गुणत्रयाविर्भावेन अक्षररूपतया पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता भवतीत्यर्थः । अत इति पाठे गुणगाने क्रियमाणे स्वत एव तदनुग्रहभाव्यत्वात्, न तु तदर्थं प्रयत्नान्तरापेक्षेति तथेत्यर्थः ॥ ९ ॥ एवं गुणगानकर्तव्यतामभिधाय निरोधलक्षणलीलयैव तत्सिद्धिरिति स्वस्य स्वीयार्थमेव निरोधविवृतिकर्तृत्वमिति वदन्तः तस्य च काव्यमित्यभिचारितानिराकरणाय दृष्टान्तं निरूपयन्तः स्वानुभवं प्रमाणयन्ति, अहं निरुद्ध इति । अहं निरोधेन स्वरूप एवाहि आहुणोति तादृशेन गुणेन

तथेत्यर्थः । अयमर्थः । गुणाविष्टचित्तानां सर्वत्र संसारेण अहन्ताममतारूपेण अभिलषितप्राप्तितदभावाभ्यां यः क्लेशः यश्च संसाराभावेन भगवत्यपि तदभावेन भवति सोपि तथेत्यर्थः । भगवद्विषयकसंसारस्य सतामप्यपेक्षणीयत्वात् । अत एव 'कुर्वन्ति गोवत्सपदं' मित्यग्रत्यस्य गोवत्सपदमात्रकरणोक्त्या अहमेतद्दासोऽयं मम स्वामीत्येतावान् संसारः स्थापितो भवतीति निरूपितमाचार्यैः । स च क्लेशः 'क्लेशोधिकतरस्तेषा' मित्यादिना भगवता गीतायामेव वर्णितः ॥ १३ ॥ ननु गुणाविष्टचित्तत्वेप्यनिष्टनिवृत्तिरेव किमित्याशङ्कायामाहुः 'हरिश्च सुख'मिति । हरेः सर्वदुःखहर्तुर्भगवतो यथा सर्वदैव भक्तसाहित्येन सुखं पूर्णानन्दत्वाद्भगवतस्तथा गुणाविष्टचित्तत्वेऽन्तस्तदाविर्भावाद्भगवत्साहित्येन तथैव सुखमित्यर्थः । 'सदा सत्सङ्गयुक्तानामवस्थैव यदा भवेत् । तदा दयालुता दैन्यदर्शनात्तु हरेर्भवे' दित्याशयेनाहुः तदा भवेद् दयालुत्वमिति । अन्यथेति । एवं भावाभावे भगवतोपि क्रूरता अकृपालुता अनपेक्षकत्वेन मतास्माकं सम्मतेत्यर्थः । अत एव नैवात्मन इति श्लोके भगवत आत्मनः प्रभोर्निजलाभपूर्णस्य अतिदृजनोपकृतोऽपराग्रहीतुं करुणया किङ्करनिवेदितानुग्राहकत्वमुच्यते श्रीभागवते । सा च पूर्वोक्तभावे नैव भवतीति सर्वमनवद्यम् । ननु कालकर्मस्वभावादिभिर्बुद्धिनाशवैयग्र्योद्वेगादिदोषसम्भवे कथं गुणगाननिर्वाह इति चेत्, तत्राहुः बाधशङ्कापि नास्त्यत्रेति । अत्र गुणगाने कालादिबाधशङ्कैव न, यतो भगवतैवोक्तं श्रीभागवते 'न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो निमिषो लेढि हेति'रिति । किञ्च । नात्र भगवतापि बाधः कर्तुं शक्यः, तत्र के वराकाः कालादय इत्यर्थः । अत एवोक्तमाचार्यैः 'हरिरपि न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोपर' इति । ननु सर्वकृतिसमर्थस्य भगवतः कथमेतद्बाधकत्वसमर्थत्वमिति चेत्, सत्यम्, परन्तु सर्वस्य वशीति श्रुत्या सर्ववश्यस्य भगवतो भक्तवश्यतैव सर्वसमर्थस्य भक्तभावबाधासमर्थत्वमिति भावः । एवमनिष्टनिवृत्तिमुक्त्वा इष्टप्राप्तिमाहुः तदध्यासोपि सिध्यतीति । गुणगानेन तस्य भगवतः अध्यासः सर्वत्रावभासः सोप्यवान्तरफलतया सम्यक् सिद्धिविषयो भवतीत्यर्थः । अध्यासपदं घटादिषु तदवभासस्य भावप्राप्तयुक्त्येन वस्तुतः आसक्तिभ्रमबोधनाय । अन्यथा घटादेः पुरुषोत्तमाभिन्नत्वं स्यात्, नहि घटादिः साक्षात्तदभिन्नः, किन्तु परम्परया । तस्याक्षरात्मतया तद्द्वारा तथात्वात्, अन्यथा तावद्धर्मविशिष्टत्वं तेष्वप्यन्यसिद्ध्यात् । ननूक्तमत एव महाधर्माः सच्चिदानन्दादयस्तेष्विति चेन्न, अक्षरगतानामेव तेषां तद्वृत्तितया व्यपदिश्यमानत्वात् । अन्यथा षड्गपीठत्वादयोपि व्यपदिश्येरन् । न च इष्टापत्तिः । तदसाधारणधर्माणामन्यत्र कथनस्यानुचितत्वात् । किञ्च, सर्वेषां धर्माणां साधारणत्वे तद्गतासाधारणधर्माभावे लक्षणाभावादनिरूप्यत्वं जीवसमत्वमभजनीयत्वं च स्यात् । तस्मादभेदस्याक्षरसमानाधिकरणत्वेन तद्धर्मव्यपदेश एव, न पुरुषोत्तमधर्मगन्धोपीति युक्तमस्य । नन्वैश्वर्यादयो व्यपदिष्टा एव, किं न ते पुरुषोत्तमधर्मा इति चेत्, सत्यम्, तद्धर्मा एव, परस्याक्षरस्य चरणरूपत्वेन तदभिन्नतया तेषां तत्र सद्भावात् । यतो व्यासादिष्वपि तदिच्छया सद्भावः, शुके भगैः स्वैरिति वाक्यात् । एवं सति 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्य' 'भेदव्यपदेशाच्चे'त्यादिस्मृतिसूत्रमीमांसया अक्षरभेदः पुरुषोत्तमभेद इति भेदाभेदवादोऽस्माकमिति दिक् ॥ १४ ॥ ननु वैराग्यस्य गुणगानाङ्गत्वेन तदभावे अङ्गहीनत्वेन न सफलत्वमित्याशङ्क्य तदभावेनैव भवतीति साधनसम्पादकरूपमुत्कर्षमाहुः भगवद्धर्मसामर्थ्यादिति । भगवद्धर्माः गुणगानं तत्सामर्थ्याद्गुणगानस्येत्थं विषये भगवद्व्यतिरिक्तविषये विरागो रागाभावः स्थिरः, अन्यापरिभाव्यो भवतीत्यर्थः । 'सा श्रद्दधानस्य विवृद्धमाना विरक्तिमन्यत्र करोति पुंस' इति वाक्यात् । यद्वा, भगवद्धर्माः भगवल्लीलादयः, तत्सामर्थ्यादेव तत्स्वभावादेव विरक्तो भवतीत्यर्थः । अत एवोक्तमित्थं भूतगुणो हरिरिति ॥ १५ ॥ एवं सोपपत्तिकं गुणगानकर्तव्यतामभिधाय तदुपसंहरन्ति एव ज्ञात्वेति । एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण ज्ञानमार्गात् गुणवर्णने उत्कर्षं ज्ञात्वा सर्वापेक्षां परित्यज्य सदा कालाव्यवधानेन गुणा एव वर्णनीयाः । अत्र बाधकद्वयं त्यागार्थमाहुः अमत्सरैरलुब्धैरिति । मात्सर्यलोभयोरत्यन्तबाधकत्वात् त्याज्यत्वम्, निर्मत्सराणां सतामिति वाक्यात् ॥ १६ ॥ ननु गुणगानं रागतानादिवशीकृतचित्ततया कार्यं इत्याशय तापक्लेशैर्गुणगानस्य

लौकिकसुखपरिरोधाभिचाररूपत्वात् तद्रुपया भगवत्स्वरूपध्यानमात्रेण साधनमाहुः हरिमूर्तिः सदा ध्येयेति । एव कृते तदेकतानस्य अन्यानवधानपूर्वकत्वसोऽरभस्य सर्वथा ॥ साधनस्य तदेकग्रस्येव रक्षार्थं भगवानाविर्भवतीति ज्ञापयितु हरिरिति । ननु योग इव चक्षिततमूर्तिरूपासनायामिव तत्पारिता- ध्यमभिव्याविशेषयुक्तमूर्तिना अत एव सोपयानमूर्तेर्ध्यानमिहापि भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः हरिमूर्ति- रिति । भगवदाविर्भूतस्वरूपस्यैव ध्यानम्, न त्वन्यथागृहीतस्येत्यर्थः । ध्येयेति चित्तपर्यवसानत्वप्रमाणेन आह इयकस्य योगिनाम् । ननु ध्यानपूर्वकगुणगानमात्रेण किं भवतीत्याशङ्क्याहुः सङ्कल्पादपीति । सङ्कल्पाद्विचारमात्रादपि तत्र भगवन्मूर्तौ प्रादुर्भावात् भगवतो दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टमाभासि भवति । तथा धृतिः पदार्थक्षेपणादिरूपा, शक्तिः विलासगति, कृतार्थं ध्यानपूर्वकतादृशगुणगानेन तिरोभा- वनावस्थरूपे स्पष्टमाभासि अनुभूत भवतीत्यर्थं । तिरोभावेऽतिरोधानान्तराण्याहुः, श्रवण कीर्तन- मिति । श्रवणं श्रीभागवतादे, कीर्तनं, स्पष्टमपि स्पष्टम्, सङ्कीर्त्यादिप्रकृष्टत्वा कर्तव्यम् । अन्यथा श्रवणे कीर्तने भगवद्भावावादिपरितभावे स्यातात्, तथा च भजनं स्यादिति भाव । श्रीकृष्णापेक्षां कीर्तनं, तन्निरपेक्ष गानमिति तयोर्विवेकः । किञ्च शुद्धे कृष्णप्रिये कृष्णस्य प्रिया कृष्णः प्रियो वा यस्य तथाभूते रतिः कार्येत्यर्थं । शुद्धे कृष्णप्रिये इति व्यवहारेण कृष्णप्रियत्वेनैव रतिः कार्या, न शुद्धत्वेनेति भावः सूच्यते । अतः परं साधनानुष्ठानं निरूपयन्तः शरीरपरिचर्यालक्षण सतिबन्धनिराकरणमाहुः वपुरिति । तत्परिकरेण गुणगानेन मकरन्दे भगवति तच्चरणमकरन्दगन्धवाहः ध्यायिभिः प्रविशन् शरीरग- तमलांश शोषणयोग्य शोषयित्वा तद्योग्य स्वदेशेऽवशिष्य तौ देवभाव देव अवशिष्टे चरणरेणु- सम्बन्धी शाप्तः स भवेत् प्राशुपात् । तथा सति अग्निरिव शरीरे अलौकिकस्वरूपस्या शुद्धतोपासनाप्त- शुभयोग्यता भवतीत्यर्थः । नन्वेतद्व्यतिरिक्तसाधनस्य परित्यक्तो न निर्गत इत्युक्तम् । गृहस्थस्यापि तु संगाविना भगवत्शास्त्रप्रसादुपायमाहुः यत्नेति । यत्न पुत्रापेक्षयाद कार्यं सेवादिरूप स्पष्ट प्रकटे प्राणिवधेन न स्यात् शिक्षायमपि, तदा सति सामर्थ्यं तस्य विशेषेण भरणादिकमहत्त्वापि निग्रहः कर्तव्य इत्यर्थः । अन्यथा सति सामर्थ्ये तदभिमदे 'आर्तापिस्त्रहतुमत भवती' इति न्यायेन तत्रगो गृहे कृष्णप्रिये रतिरित्यनेन विरोधापत्तेरित्यत आहुः इति निश्चयः । सति सामर्थ्ये निग्रह एव कर्तव्य इति भाव । इदमुक्तं भवति । कृष्णप्रियादे रतिरस्पष्टमनुकार्यपरत्वे औदासीन्य प्रातिपक्ष्ये सति सम्भवे त्यागस्य सेवाप्रतिकूलतया निग्रहः, अशक्तत्वेन तु त्यागं कृत्वा आगमभक्तिमार्गी भवेत इति ॥ १७ ॥

॥ १८ ॥ १९ ॥ अत परं साधनरूप निरूपयन्तः साधनान्तरत्यागमयोजनपरत्वं प्रवृत्ताः ते ।

लालूभट्टकृत 'निर्णयार्णवा'न्तर्गतैतद्ग्रन्थसंशयनिरासः ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै । कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशाय योजये'दिति । कृष्णस्य सर्ववस्तूनि कृष्णसंबन्धिरूपरसादीनि विषयरूपाणि इन्द्रियाणां हिताय योजयेत् । भगवद्रूपादौ चक्षुरादीनां विनियोगः कार्यो, न त्वन्यत्रेति फलितोऽर्थः । ननु जीवानां नानादेशस्थानां भगवद्रूपादिदौर्लभ्यात्कथं विनियोगः स्यादित्याशङ्क्याहु 'भूम्न' इति । व्यापकस्येत्यर्थः । ननु व्यापकत्वेपि तिरोहितत्वाद्दौर्लभ्यं दुर्निवारमित्याशङ्क्याहु 'ईशाये'ति । सर्वत्र सर्वरूपेण सर्वकरणसमर्थस्येत्यर्थः । एवं सति मूर्त्यादिरूपेण प्रकटस्य साक्षाद्भगवत्त्वात्तत्र चक्षुरादिविनियोगस्य सौकर्यमिति कृतार्थता सिद्ध्येति सामर्थ्यसूचकमीशपदम् ।

अत्रैव—हरिमूर्तिः सदा ध्येयेत्यादि । ध्येयेति । अनेनाऽन्तःकरणस्य भगवदुपयोग उक्तः । दर्शनं स्पर्शनमिति चक्षुस्त्वचोः । तथा कृतिगती इति करपादयोः । श्रवणं कीर्तनं स्पष्टमिति श्रोत्रवाचोः । पुत्रे कृष्णप्रिये रतिरिति । कृष्णः प्रियो यस्य कृष्णस्य प्रिय इति वा विग्रहेण भगवद्भक्त इत्यर्थः । कृष्णप्रिये पुत्रे इत्यत्र 'निमित्तात्कर्मयोगे' इति सूत्रेण सप्तमी । रतिरिति कर्मपदम् । अध्याहृतेन कर्तव्येति पदेन कर्मणोऽभिधानादभिहिते रतिरूपे कर्मणि प्रथमा । प्रथमान्तेन कर्मवाचकरतिपदेन योगात्पुत्रे कृष्णप्रिये इत्यत्र निमित्तसप्तमी । तथाच कृष्णप्रियपुत्रार्थं रतिः कर्तव्येत्यर्थो भवति । अनेन व्यवायेन्द्रियस्य परम्परया भगवत्सेवोपयोगो निरूपितः । भगवद्भक्तः पुत्र उत्पत्स्यत इति बुद्ध्या भोगः कार्यो, न त्वन्यथेति भावः । पुत्रपदेन स्वभार्यायामेव ऋतावेव भोगः कार्यो, न स्वाच्छन्द्येनेत्युक्तम् । पायोरिति । तद्द्वारा मलत्यागो देहशुद्धौ भगवत्सेवायामुपयोक्ष्यत इति पायोः परम्परयोपयोगो ज्ञेयः । यस्य चेति । अन्तःकरणबहिःकरणानां मध्ये यस्य चक्षुरादेर्यदा यस्मिन् समये भगवत्कार्यविनियोगो न दृश्यते, तदा, तस्मिन् समये तस्य विनिग्रहः कर्तव्यो, न तु भगवदितरपदार्थे विनियोग इत्यर्थः । केचिदत्र 'यस्य वा भगवत्कार्यं मिलनेन व्यवायेन्द्रियमात्रस्य निग्रह उक्त' इत्याहुः । तन्न । यस्य यदा तस्य तदेत्युक्तयोर्यत्तच्छब्दयोर्वैयर्थ्यापत्तेः । अतः साक्षात्परम्परया वा यथाकथञ्चिदपि भगवद्विनियोगः स्यात्तदेन्द्रियाणि विनियोजयितव्यान्यन्यथा तु सर्वेषामेवेन्द्रियगणस्य निग्रहः कार्य इत्येवाचार्यचरणानामाशयो, न तु केवलं व्यवायेन्द्रियमात्रनिग्रहे तात्पर्यमिति ज्ञातव्यम् ।

ननु निरोधलक्षणग्रन्थे 'यच्च दुःखं यशोदाया' इत्यादिना श्रीमदाचार्यवर्यैर्भगवद्विरहाद्विगामयिकदुःखादि स्वयं मानितमेतावता निरोधस्य किं लक्षणं सिद्धमिति चेत् । शृणुत । भगवद्विरहे दुःसह दुःखं भगवत्संयोगे परमाह्लादश्चेत्यादि कार्यं निरोधजन्यमेव । यतो निरुद्धानामेव भगवद्विरहे दुःखं श्रूयते । संयोगे महानानन्दश्च । 'गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने । क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभव'दिति वाक्यात् । एवं सति तादृशदुःखादेर्निरोधकार्यत्वात्कार्यलक्षणमत्र सुखसाध्यमिति कल्प्यं । भगवद्विरहसामयिकपरमदुःखकारणत्वं निरोधस्य भगवत्संयोगसामयिकपरमानन्दसाधकत्वं निरोधत्वमित्यादिलक्षणानि निरोधस्य सिध्यन्ति । निरोधस्य निबन्धसुबोधिन्योर्बहुधा निरूपितस्य परस्परविरुद्धतया प्रतीयमानलक्षणस्य सम्यग्निरोधप्रकारो मया सुबोधिनीयोजनायां विवृत इति विशेषजिज्ञासायां ततोऽवधेयम् ।

---

१ एतदन्ते मुद्रितम् ।

लालूभट्टकृतनिरोधस्वरूपनिरूपणं श्रीदशमस्कन्धसुबोधिनीयोजनान्तर्गतम् ।

श्रीगोवर्धनधारी तनोतु मङ्गलानि ।

श्रीगोवर्धनधारिणं शुभकरं शृङ्गारमूर्तिं भजे । वन्दे नन्दपुराणपुण्यफलितं श्रीबालकृष्णं प्रभुम्
श्रीमद्वल्लभविट्ठलेश्वरविभू ध्यायामि सद्बुद्धितो । कुर्वे तत्कृपया निरोधविवृतौ सन्देहविध्वंसनम् ॥

अथ निरोधस्य स्कन्धार्थत्वात् प्रथमं तत्स्वरूपं विचार्यते । तत्र 'निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह-शक्तिभि'रिति वाक्यादात्मनः पुरुषोत्तमस्य शक्तिभिरनुशयनं निरोधः । आत्मपदान्निर्गुणं परं ब्रह्म ग्राह्यम् । 'गौणश्चेदात्मशब्दादि'त्यात्मशब्दस्य परवाचकताया निर्धारितत्वात् । तत्र 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः, तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत' इति श्रुतेः, 'कृष्णस्तु भगवान्स्वय'मित्यादि-वाक्याच्च परमात्मत्वं कृष्णस्य सिद्धम् । अतः कृष्णस्य अनुशयनं निरोधः । अनुशयनं नाम लीलानुरूपा स्थितिः । 'विष्णुः सर्वगुहाशय' इत्यादौ शीङ्धातोः स्थित्यर्थकत्वात् । 'न हि गुहायां शेते' इति व्युत्प-त्तेन गुहाशयशब्देन निद्रातीत्यर्थः सिध्यति, निद्राया अविद्यावृत्तित्वात् । अतः शीङ्धातोरत्रास्व-स्थितिरत्रार्थः । एवं सति शक्तिभिः सह भगवतः स्थितिः शयनं, अनुरूपतोपसर्गार्थः । कस्यानुरूपे-त्याकाङ्क्षायां स्थितेर्लीलाप्रयोजनकत्वाल्लीलानुरूपेति बोध्यम् । एवं च कृष्णस्य लीलानुरूपा स्थितिरनु-शयनमिति सिद्धम् । स्थितिरपि लीलाविशेषोऽनेकविधलीलासाधकः । अतः सर्वलीलासाधिका स्थितिरूपा लीला निरोधपदार्थो भगवद्धर्मः, स च प्रपञ्चमध्य एव स्फुटः । कृष्णावतारस्य प्रपञ्च एव जातत्वात् । तदुक्तं निबन्धे 'स एव कदाचिज्जगदुद्धारार्थं अखण्डः पूर्ण एव प्रादुर्भूतः कृष्ण इत्युच्यत' इति । अतोऽनेक-शक्तिभिः सह कृष्णस्य प्रपञ्चे क्रीडा निरोध इति फलितम् । एतदुक्तं सुबोधिन्यां 'निरोधोऽस्यानुशयनं शक्तिभिः सह कृष्णस्य प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः । शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षण'मिति । इह कारिकायां कृष्णस्येतिपदं मूलस्थात्मपदव्याख्यानरूपम्, आचार्यमते कृष्णस्यैवात्मरूपत्वात् । अत एवावतारान्तरलीलायां स्कन्धा-न्तरप्रतिपाद्यायां नातिव्याप्तिरिति भावः । एवं निरोधशब्दोऽनुशयने रूढ इत्युक्तम् । किञ्च, प्रपञ्चविस्मृति-पूर्विका भगवदासक्तिर्निरोधः, नितरां रोधो निरोध इति व्युत्पत्तेः । रोधः कस्येत्यपेक्षायां भक्तानामिति पू-र्वस्कन्धार्थसङ्गत्या लभ्यते, कस्माद्रोध इत्यपादानापेक्षायां प्रपञ्चो ग्राह्यः । तथा सति प्रपञ्चाद्रोध इति सि-ध्यति स्म । प्रपञ्चाद्रोधेऽपि 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्या-चारः स उच्यत' इतिवत्प्रपञ्चस्मरणं चेत्तदा भगवल्लीलानुभवे मुख्योऽधिकारो न स्यात्, अतः प्रपञ्चविस्मर-णमपेक्षितम्, तदुपसर्गेण लभ्यते, नितरां रोधः प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकः स निरोध इति । कस्मिन्निरोध इत्य-पेक्षायां भगवति निरोध इति ज्ञेयम् । स हि परमरत्युत्पादकलीलाजन्यत्वेन परमसुखरूपत्वादासक्तिरूपो भवितुमर्हति । एवं यौगिकव्युत्पत्त्या प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिर्निरोध इति फलितम् । 'या तु व्यसनसंप्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्यत' इति भरताचार्यवाक्ये व्यसनपदव्याख्याया आसक्तेरेव निरोधत्वकथ-नाच्च । सा च 'इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा, कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदना'मित्यत्र स्फुटमभिहितम् । 'शय्यासनाटनालापस्नानक्रीडाशनादिषु, न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णदेवता' इत्यत्र च स्फुटमभिहिता । एवमुभयं निरोधपदवाच्यम् । 'समुदायो जन्मवाची क्रीडायुक्तस्य वै हरेः । प्रपञ्च-विस्मृतिः सक्तिर्भक्तानां चापि योगत' इति निबन्धात् । निरोधशब्दस्य यौगिकत्वपक्षे भक्तकर्मकनिरोधवत् भगवत्कर्मको निरोधो गौण्यतया विवक्षितः । यथा भगवता लीलाभिर्निरुद्धा भक्ता भगवद्वशो भवन्ति, एवं पुष्टिभक्तैर्लीलाभिर्निरुद्धो भगवान् भक्तवश्यो भवति । अत एव भगवता भक्तेतरविषयकज्ञानाभावः स्वस्मिन्प्रदर्शितो 'नाहं तेभ्यो मनागपी'त्यनेन । इममर्थं सूचयितुं स्वहृदयशेने भगवतः शयनमाचार्यै-रुक्तं 'नमामि हृदये शेषे' इत्यनेन । 'अन्यत्र गतिरहितो य' इति टिप्पण्यां व्याख्यातं च । अन्यच्च 'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते, स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यत' इत्यादौ प्रलयो निरो-

पदवाच्य । स च प्रपञ्चप्रतियोगिक । एव च सुबोधिन्युक्त्या टिप्पण्युत्पादितया पूर्वोत्तरस्कन्धार्थसङ्गत्या नवमदशमार्थसङ्गतिविचारे भक्ताना प्रपञ्चप्रलयो निरोध इत्यायाति । अत एव द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां 'भक्ताना प्रपञ्चाभावो निरोध' इत्युक्त इहैव सुबोधिन्याम् । अतो 'निरोधो भक्तानां प्रपञ्चस्येति निश्चय' इत्यभाणि । तथा च भक्ताना प्रपञ्चस्य प्रलयस्तिरोधान नित्यलीलौपयिकदेहत्वफलको जाड्यात्मकप्रपञ्चभावाल्लय इति यावत् । तदुक्त सुबोधिन्या 'अतो निरोधो भक्ताना प्रपञ्चस्येति निश्चय' इति । सूतोक्तलक्षणेषु निरोधस्थाने संस्था पठिता, संस्था च 'नैमित्तिक प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लय । 'संस्थेति कविभि प्रोक्तश्चतुर्धास्य स्वभावत' इत्यनेन प्रलयरूपा व्याख्याता । अतो निरोधशब्देन प्रलय उच्यते, 'निरोधोऽस्यानुशयन'मित्यस्य सुबोधिन्यामपि शक्ती शाययित्वा तद्भोगार्थ भगवत शयनमिति व्याख्यातम् । तत्रापि शक्तिशयनानन्तर शयनकथनेन प्रलय उक्त । अतो भक्तप्रपञ्चसम्पादिका शक्ती स्वस्वरूपे तिरोहिता कृत्वा तिष्ठति, ततो भक्तान् प्रति प्रपञ्चस्तिरोभवति, अतो भक्ताना प्रपञ्चनिवृत्तिरिति सिध्यति । एतदभिसन्धायोक्तमत्र 'एष सर्वगतो विष्णु प्रकटश्चेत् तदिदीव, यावन्न लीयते सर्वमिति कृष्णसमुद्यम' इति । इदमत्र ज्ञेयम् । स्वच्छन्दलीलाभिर्भगवानिरोध्य भक्तानां देहादिरलकलप्रपञ्चे स्वानन्द प्रवेशयन् तिरोहितानन्दमथाविर्भावयति, ततो भगवदानन्दानुभवयोग्यालौकिकदेहत्वप्राप्तौ जाड्यादिरूपपूर्वप्रपञ्चभावो लीयते, अयमेव प्रलयपदार्थ । अतो भक्तानां प्रपञ्चप्रलयो निरोध इति फलति स्म । तथा च प्रपञ्चे शक्तिभिर्भगवत्क्रीडन भक्तानां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिर्भक्तानां प्रपञ्चाभावश्चेति त्रय निरोधपदवाच्यम् । तत्र भगवत्क्रीडन करण, भगवदासक्तिर्व्यापार, भक्तानां प्रपञ्चाभाव फलमिति त्रितयरूपो निरोध स्कन्धार्थ । एवमत्रैव सिद्धम् । भगवाननेकशक्तिभि करणरूपनिरोधात्मिका क्रीडा कुर्वन् प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकासक्तिरूपनिरोधात्मकव्यापारेण प्रपञ्चाभावरूपफलात्मकनिरोध सेवकानां सपादयतीति त्रिष्वपि निरोधपदव्यवहार सुबोधिन्यामप्युपलभ्यत इति सर्वमनुष्टम् । किञ्च, 'लौकिकेषु तु भावेषु यथैव हरिवेशन । निवर्तते तदेवात्र यद्रौद्रमय यथे'ति कारिकाया फलात्मको निरोध उक्त । तथाहि, लौकिकेषु भावेषु पदार्थेषु यत्र यत्र भगवान् प्रविशति, तत्र तत्र चिदानन्दयोस्तिरोभूतयोराविर्भावात्तदैव पूर्वस्थितस्वरूप तिरोहितानन्दक निवर्तते, ब्रह्मात्मक भवति, प्रकटसच्चिदानन्दक भवतीति यावत्, तत्र दृष्टान्त, वह्नेरित्यादि । वह्निप्रवेशो दारुणां वह्निरूपता तद्वदित्यर्थ । एव भक्तानां प्रपञ्चप्रलयो बोध्य । अन्यच्च, शक्तिशयनानन्तरशयनवाचके अनुशयनशब्दे गोप्योर्योरपि विवक्षित, तदनुसारेण स्कन्धारम्भे स्कन्धार्थरूप भगवन्त प्रमत्सङ्गि श्रीमदाचार्यचरणैर्लीलाक्षीरसिन्धुशायिन एकशीसहस्रलीलाभि सेव्यमान कलानिधिमित्युक्तया रहस्यलीलायां निरोधपदवाच्यत्व सूचितम् । तदनुसारेण प्रभुचरणैष्टिप्पण्यां 'अनुशय्यते अनेने तिकरणव्युत्पत्तिं प्रदर्श्य निगूढभावकरण येन स निरोध इत्युक्त्या स्वकीयेषु स्वविषयकभावोत्पादन यया लीलया क्रियते, सा निरोधपदवाच्येत्युक्तवन्निर्गुणलीलाया स्कन्धार्थता प्रतिपादितेति सुधीभिर्विभावनीयम् । एवञ्च, श्रीसुबोधिनीसुबोधिनीटिप्पणीषु सर्वत्राविरोध इत्येक एवार्थ प्रतिपाद्यते भवति स्म । तथा सर्वाद सिद्धम् । देहादौ चिदानन्दयोः प्राकट्येन जाड्यादिप्रपञ्चभावप्रलय एकत्र निरोध सिद्धः । तस्मिन् सति प्रपञ्चे विद्यमानानामपि भक्तानां कृष्णानन्दानुभवयोग्यदेहत्वसिध्यति । इदमेव मधुनाहरे 'प्रमास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावते' त्यनेन प्रार्थित, ततो नित्यलीलाप्रवेशः स मुक्तिपदवाच्यः, निरोधलीलायां भक्ताना साधारणमायागुणरहितत्वेऽपि लीलास्थमक्तप्रियाणामक्रमायागुणत्वेन लौकिकसादृश्यव्यवहारः पुराणादौ, तेषां क्रमात्तद्वयोगमायागुणनिवृत्तौ नित्यलीलाप्रवेशरूपा मुक्ति , अतो मुक्तिर्नाम लीलायां पुरुषनिर्गुणत्वमिति विवेक । 'मुक्तिर्हित्वान्यथारूप' इति यावत् । तद्गुणत्वाभ्यामुपाहृतावात् ।

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतम्-अन्तिमम्

सेवाफलम्

सविवरणम्

चतुर्दशटीकाभिस्समलंकृतम्

१. श्रीकल्याणरायाणाम्
२. चचा श्रीगोपेशानाम्
३. श्रीदेवकीनन्दनानाम्
४. श्रीहरिरायाणाम्
५. श्रीवल्लभानाम्
६. श्रीपुरुषोत्तमानाम्
७. श्रीद्वारकेशानाम्
८. श्रीलालूभट्टानाम्
९. श्रीजयगोपालभट्टानाम्
१०. श्रीलक्ष्मणभट्टानाम्
११. श्रीगोकुलनाथानाम्
१२. केषाञ्चित्
१३. केषाञ्चित्
१४. श्रीव्रजभूषणानाम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-गोस्वामिश्री-१००८
श्रीगोविन्दराय-महाराजश्रीचरणैः-प्रकाशितम्

श्रीवल्लभाब्द : ५०३

वि. सं. २०३७

प्रकाशक :
गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोविन्दरायजी महाराज
गोविन्दनिकेतन, माटिया बाजार,
पोरबन्दर, गुजरात, ३६०५७५, भारत.

साधारणसंस्करण २००० प्रति
राजसंस्करण १००० प्रति
श्रीवल्लभाब्द : ५०३

ग्रन्थपरिचयलेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :
स्टूडियो वहार, २३-ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चोपाटी, बम्बई, ४०० ००७.

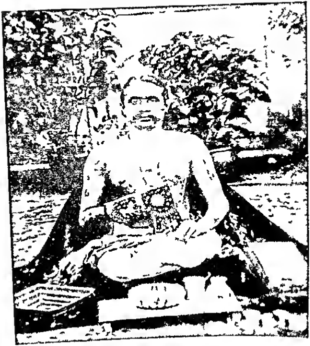

गोस्वामिश्री १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज

गोस्वामिश्री १००८ श्रीरणछोडलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

फल और उसके विवरण की रचना श्रीमहाप्रभुने आगरामें विष्णुदास छीपाके लिए कंवदन्तीके अनुसार इसका रचनाकाल वि. स. १५८२ माना जाता हैं.[१] वार्तामें एक उल्लेख यो मिलता है :

आगरेके पासके गाममें एक छीपाके घरमें प्रकटे. सो बडे भये, बीस वर्षके, तब ते. सो पिता वस्त्र छाप देय विष्णुदास आगरेमें जाई बेच लावें. सो ऐसे करत एक आचार्यजी आगरे पधारे. सो विष्णुदास सुन्दर छीटके थान लै आगरे गये तब श्रीआचार्यजीने कृष्णदाससो कही—'यह छीपाके पास छीट आछी है सो तू ले. जो मागें सो दे.' तब कृष्णदासने विष्णुदाससो कही— 'यह छीटके थान सगरे हमको दे. याके दाम हैं सो तू ले.' सो विष्णुदासने चोगुनो मोल कह्यो. सो कृष्णदासने सगरे रुपया गिन दिये. और कहे— 'और आछे थान होई सो ले आऊ !'

तब विष्णुदास चकृत होई रहे जो ए तो बड़े महापुरुष अलौकिक जीव हैं ! जो मोल न कियो, सगरे थान लिये, ताके दाम दिये ! सो इनको छीट देनी उचित नहीं है. इनको पैसा मेरे घर आवेगो तो सगरो घर बैरागी होई जायेगो ! तब विष्णुदासने कही— 'ये सगरे अपने रुपया लेऊ. मेरे छीटके थान फेरि देऊ ' तब कृष्णदासने कही—'तू बडो मूरख दीसत है ! ते मोल कह्यो सो दाम दिये अब यह थान कबहू फिरै नाही. तेरे टोटा होई सो और हू रुपया ले. चोगुने तो दाम लिये !'

तब विष्णुदासने कही—'तुम महापुरुष हो ताते तिहारो द्रव्य घरमे आये सगरो घर बैरागी होईगो याते मैं तुमको नाही बेचत. जो थान न देहू तो यह रुपया हू राखो. और थान हू राखो. परन्तु रुपया तिहारो मोको पचे नाही ' तब कृष्णदासने कही— 'यह थानको श्रीआचार्यजीने श्रीमुखसो सराहना करिके कहे—"लेऊ." सो तू कोटीन उपाय करे तो यह थान फिरे नाही और श्रीआचार्यजी बिना सेवक औरको कछू लेत नाही...' तब विष्णुदासने कही— 'श्रीआचार्यजी कहा हैं ?"

उपनिषद्में ठीक ही तो कहा है कि परमात्मा न तो प्रवचनसे मिलता है, न मेधामे और न बहुश्रुततासे ही ' *परमात्मा कहा है ? किसे मिलता है ? उत्तर : परमात्मा जिसे* खोज रहा हो वही परमात्माको खोज पाता है ! परमात्मा जिससे मिलना चाहता है वही परमात्मासे मिल पाता है— "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य." (कठ. १-२-२३).

---

१ वैष्णववाणी (अंक ४ वर्ष १९७९) श्रीनागरदास शास्त्री लिखित लेख

भारतवर्षकी तीन-तीन परिक्रमाओंमें श्रीमहाप्रभु इन्हीं विष्णुदासोंको तो खोज रहे थे तभी तो विष्णुदास भी पूछ सके— "श्रीआचार्यजी कहा हैं ?"

निरोधलक्षण ग्रन्थमें कहा गया है कि भक्तोंके बीच भगवानका इस भूतलपर प्रकट होना करणनिरोध है प्रपञ्चको भूल कर भक्तोंका भगवानमें आसक्त हो जाना व्यापार-निरोध है इस प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके व्यापारद्वारा भक्तके देह-इन्द्रिय-अन्त करण-प्राण आत्मा सभीसे सर्वत्र-सर्वदा भगवानके स्वरूप या लीला का निरन्तर अनुभव होना (मानसी सेवा) फलनिरोध है तदनुसार विष्णुदासकी छींटपर श्रीमहाप्रभुका रीझना करण-निरोध या विष्णुदासका— "श्रीआचार्यजी कहा हैं ?" पूछना व्यापारनिरोध था और सेवाके बिना ही विष्णुदासको इस 'सेवाफल' का दान फलनिरोध था। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम्"

जीवात्माका वरण करणनिरोध है और परमात्माद्वारा निजरूपका विवरण फलनिरोध है

वार्तामें आता है कि "तब श्रीआचार्यजी श्रीयमुनाजीके तीर पधारी विष्णुदासको न्हवाई नाम सुनाये ब्रह्मसम्बन्ध कराये विष्णुदासने विनती करी— 'महाराज! मैं मूरख हों सो ऐसी कृपा करो जो श्रीभागवत आदि आपके ग्रन्थनमें कछु ज्ञान होई, आपके मारगको सिद्धान्त जान्यो जाई' तब श्रीआचार्यजी 'सेवाफल' ग्रन्थ करी विष्णुदासको सुनाये सो सुनिके विष्णुदासने विनती करी—'महाराज! 'सेवाफल' ग्रन्थके सुनेते सगरे शास्त्रपुराणको ज्ञान भयो परन्तु 'सेवाफल' ग्रन्थको अभिप्राय समुझिवेमें नाही आयो तब श्रीआचार्यजी कहें— 'ग्रन्थ' 'सेवाफल' ऐसो ही कठिन है भली करी ते पूछयो!' पाछे आप 'सेवाफल' की टीका करिके सुनाये तब सगरे मारगको सिद्धान्त विष्णुदासके हृदयारूढ भयो सो मगन होई गये सो विष्णुदास थोरो सो कपडा छापें सो आगरे बचि आवें जामें देहनिर्वाह होई और सगरे दिन-रात मानसी सेवा श्रीआचार्यजीके ग्रन्थ श्रीसुबोधिनीजीके भावमें मग्न रहें।"

यह मानसी सेवा परासेवा है, यह सिद्धान्तमुक्तावलीमें कहा गया था मानसी सेवाकी सिद्धि तनु वित्तजा सेवा करनेसे होती है, यह भी वहीं कहा गया था इस पुष्टिभक्तिरूपा सेवाके अधिकारी पुष्टिजीव ही होते हैं, सभी नहीं, यह पुष्टिप्रवाहमर्यादामें निरूपित किया गया है सिद्धान्तरहस्यमें पुष्टिजीवोंको पुष्टिभक्तिरूपा सेवामें दीक्षित करनेके लिए आत्म-समर्पणका प्रकार समझाया गया है इसके भोगासक्ति पुष्टि-भक्तिमें बाधा पहुचानेमें असमर्थ बन जाती है नवरत्नमें सेवाको उद्वेगरहित बनानेके लिए चिन्तात्यागकी बात समझायी गयी है अन्त करणप्रबोध विवेकधैर्याश्रय तथा कृष्णाश्रय द्वारा इसी पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवामें विघ्नरूप उद्वेग एवम् प्रतिबन्धो से बचनेके उपाय दिखलाये गये हैं चतुश्श्लोकीमें इस सेवाका पुष्टिमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षकी पुरुषार्थचतुष्टयीमें क्या स्थान है यह दिखलाया गया है

भक्तिवर्धनीमें इस सेवाके बीजभावसे लेकर व्यसनदशातक होते विकासकी रूपरेखा खींची गयी है. सेवाके अनवसरमें चित्तके भगवत्प्रवण बने रहनेमें कोई व्यवधान न आये एतदर्थ जलभेद-पञ्चपद्यानिमें भगवत्कथाके श्रवण-कीर्तनका स्वरूप समझाया गया है. यह सेवा न निभती हो तो भोगासक्तिपर काबू पानेके लिए गृहत्याग कर देना चाहिये. यह गृहत्याग व्यसनदशा सिद्ध होनेपर ही करना चाहिये अन्यथा नहीं. संन्यासनिर्णयमें यह सावधानी बरतनेकी सलाह दी गयी है. निरोधलक्षणमें इस सेवाके मानसी सेवाके रूपमें विकासके सहायक कारणोंको परिभाषित किया गया है. अब सेवाफलमें उक्त तनु-वित्तजा सेवाका फलित रूप फलनिरोध अर्थात् अलौकिक-सामर्थ्यके रूपमें दिखलाया जा रहा है. यह परमात्माके भूमारूपमें सकल वृत्तियोंका योजन है. इसे 'सर्वात्मभाव' भी कहते हैं.

समग्र षोडशग्रन्थोंकी एकवाक्यता या आधारशिलाके जैसी केन्द्रीय धारणा, पुष्टिप्रवाह-मर्यादा ग्रन्थके—"भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टि: नान्यथा भवेत्," वचनमें श्रीमहाप्रभुने स्पष्ट कर दी है. अतएव षोडशग्रन्थके उपसंहाररूप सेवाफलमें पुष्टिमार्गीय फलसे भिन्न किसी फलका निरूपण स्वीकारनेपर; अथवा पुष्टिमार्गमें भी सेवासे भिन्न किसी कर्तव्य या अवस्था को पुरुषार्थ या फलरूप माननेपर, उपक्रम-उपसंहार आदि तात्पर्यनिर्णायक अंगोंमें परस्पर विसंवाद उपस्थित हो जायेगा. अतएव इस ग्रन्थके उपसंहारमें श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं—"कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः".

इस ग्रन्थमें सेवाफलके रूपमें वर्णित 'अलौकिक सामर्थ्य,' 'सायुज्य' तथा 'वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेह' की अनेक व्याख्यायें विभिन्न टीकाकारोंद्वारा दी गयी हैं.

यथा :

१) ये तीनों फल पुष्टिसर्गके तीन अवान्तर वर्ग पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि तथा प्रवाह-पुष्टि की त्रिविध कक्षाके जीवोंके फल हैं

२) तनुनवत्वरूप अलौकिकसामर्थ्य भगवद्विरहकी फलात्मिका अनुभूति है. सायुज्य भगवत्संयोगकी फलात्मिका अनुभूति है. नवतनुत्वस्वरूप सेवोपयोगिदेह उभयसाधारण अधिकारकोटीका फल है.

३) अलौकिक सामर्थ्य पुष्टिभक्तिका फल है; तथा सायुज्य और सेवोपयोगिदेह मर्यादाभक्तिके फल है.

४) अलौकिकसामर्थ्य सायुज्य और सेवोपयोगिदेह क्रमश: उत्तम मध्यम तथा साधारण कोटीके फल हैं.

५) संयोगानुभूतिरूप सायुज्य परम फल है. वियोगानुभूतिरूप अलौकिकसामर्थ्य तथा सेवोपयोगिदेह अधिकारसिद्धिरूप अवान्तर फल हैं.

६) अलौकिक सामर्थ्य और सायुज्य पुष्टिभक्तिके फल हैं तथा सेवोपयोगिदेह मर्यादाभक्तिका फल है.

७) अलौकिकसामर्थ्य अति-अन्तरंग सेवाका फल है अन्तरंग सेवाके द्विविध सायुज्यरूप फल होते हैं केवल आत्मना अनुभूयमान सायुज्य और अलौकिक-देह-इन्द्रिय-अन्त करण-आत्मना अनुभूयमान सायुज्य. सेवोपयोगिदेह बहिरंग सेवाका फल है

८) सर्वेन्द्रियोकी भगवत्परता अलौकिकसामर्थ्य है- देहनाशक विगाढभावसे अन्यस्फूर्ति-रहित आन्तर सयोग सायुज्य है मानसी सेवाकी सिद्धि होनेपर, वैकुण्ठादि भगवद्धामोमे जैसे देह होते हैं वैसे, सेवोपयोगिदेहकी सिद्धि तृतीय फल है

भगवान्‌के द्वारा प्रदत्त भावोके अनुसार भगवदनुभूतिके अनेक प्रकारोमे भक्तोको फल-रूपता प्रतीत होती है. अत सभी व्याख्याकार अपनी-अपनी फलरुचिके अनुसार फलकी व्याख्या करते रहते हे. इनमे यदि मतभेद दिखलायी पडता है तो वह भी अपनी-अपनी फल-रुचिकी मस्तीका मधुर मतभेद है अत मतभेद भी फलात्मक है !

ग्रन्थके तात्पर्यका जहा तक प्रश्न है तो वह भागवत (३।५।३२-४०) के नौ श्लोकोकी सुबोधिनीमे श्रीमहाप्रभुने सुस्पष्ट किया है. वहा भी सेवाफलकी तरह भक्तिके तीन फल दिख-लाये गये हैं जीवन्मुक्ति सायुज्य और वैकुण्ठलोकप्राप्ति अत अलौकिकसामर्थ्य और जीवन्मुक्ति को एकरूप मानना चाहिये, तथा वैकुण्ठादिपु सेवोपयोगिदेह और वैकुण्ठलोक-प्राप्ति को एकरूप मानना चाहिये, उभयत्र सायुज्य तो समान है ही. इस एकरूपताको निर्धारित करनेके बाद सुबोधिनीमे जो विस्तृत विवरण फलत्रयका दिया है तदनुसार सेवाफल ग्रन्थमे निर्दिष्ट फलत्रयका भी स्वरूपनिर्धारण सुकर हो जाता है

अलौकिकसामर्थ्य प्रकट होता है, इस भूतलपर भगवत्सेवा करते हुवे, सकल इन्द्रियोसे भगवदनुभूतिके रूपमे, यही पुष्टिमार्गीय जीवन्मुक्ति है इसे 'फलनिरोध,' 'सर्वात्मभाव,' 'व्यसनोत्तर-कृतार्थता,' 'तनुनवत्व' या 'मानसीसेवा' कुछ भी कहो, एक ही अवस्थाके विभिन्न पहलुओका निरूपण है स्थूल दृष्टिसे शब्दार्थ भिन्न भिन्न है पर पदार्थ सर्वत्र एक ही है

भागवतके दशम स्कन्धका वर्ण्य-विषय निरोध है. एकादश स्कन्धका वर्ण्य-विषय मुक्ति है द्वादश स्कन्धका वर्ण्य-विषय आश्रय-ब्रह्मभावापत्ति है इस स्कन्धत्रयीके विषयक्रम तथा श्रीमहाप्रभुके—' एवं भेदत्रय निरूपित सायुज्य वैकुण्ठ जीवन्मुक्तिश्चे ति" (सुबो ३।२५।४०) वचन की एकवाक्यताको दृष्टिगत करनेपर यहा सेवाफलग्रन्थमे वर्णित फलत्रयका रूप स्पष्ट-तया निर्धारित हो जाता है अलौकिकसामर्थ्य फलनिरोध है, इस भूतलपर घटित होनेवाली भक्तोकी जीवन्मुक्तिकी तरह, जो दशम स्कन्धके भक्तोके जैसी भगवदनुभूतिका एक अलौकिक प्रकार है सायुज्य परमात्मामे लय है, विदेहमुक्तिकी तरह, जो एकादश स्कन्धका वर्ण्य-विषय है. वैकुण्ठादिपु-सेवोपयोगिदेह आश्रय-ब्रह्मभावापत्ति है, वैकुण्ठादि दिव्य भगवद्धामोमे दिव्य देह प्राप्त करके पुन भगवद्भजनके सुअवसरकी प्राप्ति है, जो भागवतके द्वादश स्कन्धका वर्ण्य विषय है

इस तरह तीनोकी एकवाक्यता निर्धारित हो जानेपर निरोधलक्षण ग्रन्थके बाद सेवाफल

ग्रन्थकी क्रमसंगति भी स्पष्ट हो जाती है. निरोधकी साधनावस्थाका निरूपण निरोधलक्षणमें अभिलषित है तथा निरोधकी फलावस्थाका निरूपण यहा सेवाफलमें. जैसे सेवाकी साधनावस्था सिद्धान्तमुक्तावली तथा सिद्धान्तरहस्य में विवक्षित है और सेवाकी फलावस्था यहा सेवाफलमें.

विभिन्न व्याख्याकारोंके इस फलविचारके बारेमें इतने ज्यादा मतभेदका कारण एक मधुर कलह है. पुष्टिभक्तिमें भगवान्‌की सयोगानुभूति परमफल है कि विरहानुभूति. इस प्रश्नका उत्तर देते समय विभिन्न व्याख्याकार अपनी-अपनी भावरुचिके विवश उलझ जाते हैं. अतः सेवाफल ग्रन्थके अध्ययनसे पूर्व एतद्विषयक श्रीमहाप्रभु-श्रीप्रभुचरणके मन्तव्योंका अध्ययन उपकारक होगा.

तैत्तिरीयोपनिषद्‌में ब्रह्मको 'आनन्दमय' (२।५) कहा गया है और 'आनन्द' (३।६) भी. इसी तरह यही (२।७ मे) ब्रह्म को 'रस' भी कहा गया है—"रसो वै स." ब्रह्मसूत्रके—"आनन्दमयोऽभ्यासात्" सूत्रमें दो बातें निर्धारित की गयी हैं. एक तो 'आनन्द' पदके साथ 'मय (ट्)' प्रत्यय प्रचुरताके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है अतः 'आनन्दमय' का अर्थ होता है: प्रचुर आनन्दरूप. दूसरे 'आनन्दमय' शब्द परमात्माका वाचक है. इन सारी बातोंको लक्ष्यगत करनेपर दो प्रश्न उठते हैं :

१) क्या 'आनन्द' और 'आनन्दमय' शब्द पर्यायवाची होनेपर भी अभंशायाके भेदके कारण ब्रह्मके किन्ही दो रूपोंका निरूपण करते हैं या नही ?

२) यदि करते हो तो "रसो वै सः" वचन द्वारा ब्रह्मके किस रूपको, क्या आनन्दरूपको अथवा आनन्दमयरूपको, 'रस' कहा जा रहा है ?

निश्चयेन कहा जा सकता कि श्रुतिका भार परमात्माकी रसरूपतापर अधिक है क्योंकि स्पष्टतया वहां कहा गया है—"रसो वै स रस ह्येवाय लब्ध्वा आनन्दी भवती."

इस विषयमें श्रीहरिरायचरणकी धारणा है कि परमात्माके बहिःप्रकट साकृति रूपको 'आनन्दमय' कहना चाहिये और भक्तके हृदयमें प्रकट होती परमात्माके प्रति स्नेहानुभूति या प्रीति को 'आनन्द' कहना चाहिये.

रसशास्त्रमें रति अर्थात् प्रीति को 'रस' एवम् 'स्थायिभाव' कहा जाता है. जिस व्यक्तिके बारेमें रति या प्रीति होती है उस व्यक्तिको रसशास्त्रमें 'आलम्बनविभाव' कहा जाता है. रसशास्त्रका प्रमुख विवेच्य विषय हमारे प्रमुख मनोभाव, उनके विषय, उद्दीपक, अनुभावक एवम् अगभूत अस्थायी मनोभावो के स्वरूपोंका निर्धारण है. अतः रस अर्थात् स्थायी मनोभाव को रसशास्त्रमें धर्मी माना जाता है; और इन प्रीति भय क्रोध उत्साह निर्वेद जैसे मनोभावोंके विषय उद्दीपक आदि अन्य सभी अंगोंको धर्म माना जाता है.

तदनुसार श्रीहरिरायचरणकी धारणा है कि बहिःप्रकट परमात्माका रूप, क्योंकि भक्तके स्नेहमय स्थायी भावका ही आलम्बनविभावके रूपमें हृदयके बाहर प्राकट्य है अत, उसे

धर्मसहित धर्मी मानना चाहिये. इसके विपरीत भक्तके हृदयमे प्रकट स्थायीभाव, जिसकी स्पष्ट अनुभूति विरहदशामे ही सम्भव है, उसे केवलधर्मी मानना चाहिए. "एतावान्पर विशेषो यद् बहि प्रकट रूपं रसधर्मसहितम् 'आनन्दमय' शब्देनोच्यते, धर्मिमात्र केवल भाव रूपम् 'आनन्द' शब्देन इति" (प्रमुप्रादुर्भावविचार). अत. केवल धर्मीको उपनिषद्में 'रस' कहा गया है. श्रीहरिरायचरणके अनुसार 'आनन्द' और 'रस' पर्यायवाची शब्द हैं, और. 'आनन्दमय' का अर्थ होता है: रसधर्म-आलम्बनविभावसहित स्थायिभाव. 'आनन्दमय' और 'रस' पर्यायवाची नही है.

अणुभाष्यमे परन्तु भाष्यकार किञ्चित् भिन्न प्रकार दिखलाते हैं— "अग्रे 'रसो वै सः' इति वक्ष्यमाणत्वात् तस्य च स्थायिभावात्मकत्वात् तस्यैव आनन्दमयमत्वाच्च" (अणुभा. ३।३।१५). यहा 'आनन्दमय' और 'रस' को पर्यायवाची माना गया है.

ब्रह्मको आनन्दरूप माना गया है— "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्". ब्रह्म अपरिच्छिन्न-अनन्त-पूर्ण आनन्द है, पर भक्तके हृदयमे जब उस परमात्माके लिए प्रीति प्रकट होती है तो उसके अनुभवका सुख,ब्रह्मकी केवल तत्वानुभूतिसे कही अधिक पूर्णतर-प्रचुर होनेके कारण, 'आनन्दमय' कहलाता है अत भाष्यकारके मनमे 'रस' का पर्यायवाची शब्द 'आनन्दमय' है तैत्तिरीयोपनिषद् (२।५) मे अतएव विज्ञानमयकोशके भीतर आनन्दमयकी उपस्थिति दिखलायी गयी है इस आनन्दमयकी आत्मा आनन्द है यह—"आनन्द आत्मा" (वही) कह कर-दिखलाया गया है

ऐसी स्थितिमे आनन्दको धर्मी मानना चाहिये कि आनन्दमयको ? यदि आनन्दको धर्मी मानते हैं तो आनन्दमय धर्म बनेगा और यदि आनन्दको धर्म मानते हैं तो आनन्दमयको धर्मी मानना पडेगा

हमने देखा कि रसशास्त्र प्रेमको धर्मी मानता है और प्रियतम आदिको धर्म क्योकि रसशास्त्र भावविवेचना है और प्रेम एक भाव है. अत अपने पारिभाषिक अर्थमे प्रियतम रसशास्त्रके लिए धर्म बन जाता है क्योकि प्रियतमके स्वरूप गुणधर्म या विभिन्न प्रकारो का विवेचन, रसशास्त्रको, प्रेमके जनक और प्रेमके आलम्बन-विषय के रूपमे अभीष्ट है—स्वतन्त्रतया नही. भागवतमे भगवान्से भिन्न किसी लौकिक चरित्रके रसात्मक वर्णनका कोई स्थान नही है. ऐसे ही ब्रह्मके शुष्क तात्त्विक विवेचनार्थ भी भागवत प्रस्तुत नही है भागवत भगवान्के रसात्मक रूप एवम् लीला के वर्णनार्थ प्रवृत्त हुयी है अतएव कभी रसशास्त्रीय परिभाषाओंके सहारे भगवान्के स्वरूप एवम् लीला का वर्णन होता है तो कभी ब्रह्मशास्त्रीय परिभाषाओंके सहारे भी. कभी भक्तोकी भक्तिके अगके रूपमे भगवान्का वर्णन होता है, तो कभी भगवल्लीलाके अगके रूपमे भक्त और उनकी भगवद्भक्ति का वर्णन होता है कभी अतएव भक्तिको धर्मी मान कर तदंगभूत भगवान्का धर्मके रूपमे वर्णन होता है (यह रसशास्त्रीय विवेचनशैली है) और कभी भगवान्को धर्मी मान कर उनकी लीलाके अगभूत भक्ति और भक्तो का

धर्मरूपेण निरूपण होता है (*यह शक्रशास्त्रीय विवेचनशैली है*). इनमेंसे किसी एकतर परिभाषाके अनुसार विवेचनाका हठाग्रह सरस तो हो सकता है पर सर्वांगीण नहीं.

अतएव भागवतानुसारी भगवान्के रसात्मक रूपके निरूपणमें दोनों वर्णनशैलियोंका यथायथ उपयोग अभीष्ट होता है. भक्तोंके प्रियतम भगवान्को कभी 'धर्मी' कहा जाता है और उनके स्वरूप गुण एवम् लीला के आकर्षणके कारण प्रकट होती प्रीतिको 'धर्म'.

सुबोधिनी (१।२९।१६) में श्रीमहाप्रभुने यह समझाया है : "स्नेह एक विलक्षण पदार्थ है. स्नेहके आधार और विषय दोनों ही भगवान् ही होते हैं जितना-जितना कोई भगवान्के निकट पहुंचता जाता है, उतना उसमें भगवान्के ज्ञान ऐश्वर्य आदि गुणोंका संक्रमण भासित होने लगता है, जैसे अग्निके निकट स्थित वस्तुओंमें उष्णता संक्रान्त होती है. इसी तरह जितनी जितनी निकटता भगवान्के साथ हमारी बढती जाती है, उतनी-उतनी मात्रामें भगवद्धर्म प्रीति भी हमारे भीतर बढती चली जाती है". प्रीति भगवान्का आत्मरतिरूप धर्म है, पर भगवान्के निकट होनेपर वह हमारे भीतर भी प्रकट होने लगता है अतएव श्रीमहाप्रभु कहते है—"प्रीतिस्तु भगवद्धर्मः" (सुबो. २।२।७). यह शक्रशास्त्रीय विवेचनशैली है.

प्रेम, प्रियतमके कारण, प्रेमीके हृदयमें प्रकट होता है प्रेमके अति गाढ होनेपर, प्रियतमकी अनुपस्थितिमें भी आसक्तिव्यसनदशामें, उस प्रेमके कारण प्रियतम भी कभी प्रकट हो सकता है प्रियतमके प्रकट होनेके रूपमें *प्रेम धर्म तथा प्रियतम धर्मी माना जाता है*. पर प्रगाढ अवस्थामें प्रेमके कारण प्रियतमके प्रकट होनेपर, प्रेम धर्मी और प्रियतम धर्म बन जाता है. अत. प्रेम और प्रियतम का भेद बडा लचीला है—"विरहभावे तु ज्ञानादिसर्वतिरोधानेन *अधिमरसानुभवो न भविष्यतीति स्वयमेव (आलम्बनविभाव एव*[1]) *तदनुभवात्मको भवतीति* ज्ञापनाय विज्ञानरूपःश्रूयते तदनुभवविषय आनन्दमय इति तत्स्वरूपमुच्यते. तत्र निरुपधिप्रीतिरेव मुख्या नान्यदिति ज्ञापनाय प्रियस्य प्रधानांगत्वमुच्यते. स्थायिभावस्यैवरूपस्वादात्मत्वमुच्यते. यत तत एव (स्थायिभावादेव[1]) विभावादि विविधभावोत्पत्तिः" (अणुभा. ३।३।१३) प्रेम ही जब प्रगाढ बन कर प्रियतमके रूपमें बाहर प्रकट हो जाता है *तो यहि प्रकट रूपको 'आनन्दमय' कहा जाता है और अन्तःस्थित प्रेमको 'आनन्द'*. अन्यथा प्रियतम भगवान् आनन्द हैं और भगवत्प्रेम आनन्दमय.

अणुभाष्य (३।३।१०) में यह कहा गया है कि जैसे तन्तुओंके आतान-वितान बुने जानेपर जो पट प्रकट होता है वह तन्तुओंसे भिन्न नहीं होता, इसी तरह *आलम्बन विभाव (स्वयम् भगवान्)* उद्दीपन विभाव (*वेणुनाद आदि*) *अनुभाव* (*भ्रूभंगादि*) *तथा सञ्चारिभाव-(सान्देहादि*) के परस्पर आतानवितानमें जिस स्थायिभाव (*भगवत्प्रीति*) का प्राकट्य होता है वह स्वयम् भगवान्से भिन्न नहीं होता. अत *आनन्द* और *आनन्दमय* का भेद वस्तुगत न होकर विवक्षागत होता है

---

१ कोष्ठान्तर्गत शब्द लेखक के हैं

अवतारकालमे भगवान् अपनी लीलाओके द्वारा भक्तोके हृदयमे अनेक प्रकारके स्नेह प्रकट करते हे. ऐसे स्नेही भक्त जब भगवद्विरहमे भगवान्के गुणगानमे तल्लीन हो जाते है तब हृदयस्थित स्नेह भगवद्विषयक विविध मनोरथोके साचेमे ढलकर स्वयम् भगवान् एवम् उनकी लीलाओ का रूप धारण कर लेता हे. अनवतारकालमें इसी तरह सेव्य-स्वरूप सेवानर्तनें हृदयमे स्नेह प्रकट करते है. यह स्नेह भगवत्कथाके श्रवण–कीर्तन–कालमें भक्तके हृदयमें भगवत्स्वरूपानुभूतिका रूप भी धारण कर लेता है.

तामस-प्रमेय-प्रकरणकी सुबोधिनीमे अनएव भगवान्का स्वरूप 'नटवरवपु'के रूपमे वर्णित हुआ है :

"रसानुभूतिके दो प्रकार सम्भव हे प्रथम प्रकार होता है जहा प्रेम (स्थायिभाव-धर्मी) और प्रियतम (आलम्बनविभाव-धर्म) दोनोकी अनुभूति हो द्वितीय प्रकार होता है : प्रियतम (आलम्बनविभाव-धर्म) अनुपस्थित हो, पर प्रेम (स्थायिभाव धर्मी) की अनुभूति हो रही हो नाट्यमे, द्वितीय प्रकारसे, केवल रति या प्रेम को ही वास्तविक अनुभूति होती है. प्रियतम–आलम्बनविभावके रूपका तो केवल नाटन ही होता है. साक्षात् उपस्थिति नही. सयोगमें आलम्बनविभाव और स्थायिभाव दोनो ही उपस्थित रहते हैं. नेत्रोके समक्ष बाहर आलम्बनविभावरूप भगवान् उपस्थित होते है और हृदयके भीतर स्थायिभावरूप भगवद्रति भी अवस्थित होती है सयोग-लीलामे अतएव 'वर' की तरह प्रत्यक्षभोग माना जाता है; और विप्रयोगलीलामे गाढ स्नेहवश 'आसक्तिभ्रम'की तरह अनुभूत होती भगवदुपस्थिति 'नट' की तरह केवल नाटन मात्र है अत नटवत् और वरवत् लीला करनेवाले भगवान्के स्वरूपको 'नटवरवपु' कहा जाता है क्योकि श्रृगाररसके अनुसार प्रत्यक्ष-साक्षात् सम्भोग जैसे वर-पतिका कार्य है, वैसे ही नाट्यमे सम्भोगका नाटन नट-अभिनेताका कार्य होता है भगवान् एककालावच्छेदेन उभयविधकार्य सम्पन्न करते है बाहामे प्रकट होकर रसानुभव प्रदान करनेका, तथा हृदयमे तीव्र आसक्तिवश प्रकट होती अनुभूतिमे रसाभिनय करनेका भी

ज्ञानियोद्वारा उपासनार्थ कल्पित रूप हृदयमे अनुभवसुख प्रदान कर सकता है पर भक्तोके लिए तो उनके द्वारा भावित रूपको धारण कर भगवान् बाहर भी प्रकट होते है सभी इन्द्रियोसे अनुभूत होनेका सुख भक्तको प्रदान करते है इस बहिःप्रकट भावित रूपको मायिक कल्पित, या देहदेहिभावव्याप्तसे परमात्माके वास्तविक स्वरूपको आवृत करनेवाला कोई भिन्न रूप नही माना जा सकता है यह भावित-बहि प्रकट रूप उतना ही पारमार्थिक होता है जितने कि स्वयम् परमात्मा" (सुबो १०।१२।५).

इस प्रसगमे रसशास्त्रीय रीतिके अनुसार निरूपण किया गया है अतएव भगवद्रतिको तुलनामे भगवान्को धर्मरूपमे वर्णित किया गया है फिरभी लक्ष्यमे रखने लायक बात यहा यह है कि वृन्दावनमे प्रत्यक्षभोक्ताके रूपमे, तथा व्रजकी गोपिकाओके हृदयमे वृन्दावन

की आन्तर लीलानुभूतिके दानद्वारा, रूप एवम् लीला या नाटक करते हुवे, अपना उभयविध (नटवत् और वरवत्) रूप भगवान्ने एककालावच्छेदेन प्रकट किया है भगवान् स्वयम्को बहि प्रकट न करें तो ज्ञानियो और भक्तोके सुखमे कोई तारतम्य नही रह जाता है. प्रत्युत भक्तोके लिए केवल हृदयमे भगवान्का अनुभूत होना तो एक दुःखकी बात बन जाती है ! (हृद्येव प्राकट्ये तु मनोमात्रभोग्यत्वम्. बहिःप्राकट्ये सर्वेन्द्रियभोग्यत्वम्. एव सति चक्षुराद्यविषयत्वे प्रियपदार्थस्य मनोमात्रविषयत्व दुःखदमित्यनुभवसिद्धमतो भक्तार्थं तथेति नतु स भगवान् एव तथा आत्मभिन्नवपुषो मर्ता इत्यर्थः. सुबो टिप्प. १०।१८।५).

यदि आनन्दको स्थायिभावात्मक आत्मस्थानीय धर्मी माना जाये तो यहि प्रकट आनन्दमय स्वरूप अर्थात् आलम्बनविभावरूप वपु उस स्थायिभावसे भिन्न नही होता. इसी तरह यदि आनन्दको आलम्बनविभावरूप धर्म माना जाये तो भी प्रत्ययभोक्ता 'वर' के रूपसे केवल-रसरूप आनन्दमय धर्मी 'नट' रूप भगवान् भिन्न नही होते.

"यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्" (४।१।११) ब्रह्मसूत्रके भाष्यमे यह कहा गया है कि "जिन भक्तोको आन्तर भगवदनुभूति होती है या जिन भक्तोको बाह्य भगवदनुभूति होती है उनके भाव या अनुभूयमान भगवत्स्वरूप मे किसी भी प्रकारका तारतम्य नहीं होता." आन्तर-सयोगमे भक्तहृदयस्थित भाव भगवदाकार ग्रहण कर लेता है, तथा बाह्यसयोगमे भगवान् भक्तके हृदयमे भावाकार ग्रहण करते चले जाते हैं दोनो ही तरह समानता है.

पुरुषोत्तमकी अनुभूतिस पूर्व अनिवार्य सर्वात्मभाव, अतएव, वियोगकी तरह भक्त-भगवान्के सयोगमे भी स्वीकारा गया है. वेणुगीतकी सुबोधिनीमे सकल इन्द्रियोके भगवान्मे विनियोगको सर्वात्मभाव कहा गया है वाणीसे भगवान्के साथ सलाप, नयनोसे दर्शन, बाहुओसे भगवान्का आलिंगन, हाथोसे सेवा, त्वचासे स्पर्श, रसनासे अधरामृतपान, कानोसे वेणुकूजनका श्रवण, नासिकासे भगवद्गन्धका आघ्राण, चरणासे भगवान्के निकट गमन, अन्तःकरणसे भगवत्स्वरूपकी भावना, पायूपस्थेन्द्रियोसे रोमोद्गम और भोग को वेणुगीतमे इन्द्रियवानोका परमफल माना गया है सकल इन्द्रियोके भगवान्मे ऐसे विनियोगकी तुलनामे मुक्ति तो भक्तोको अपनी सर्वविध सम्पूर्ण निष्फलता हो प्रतीत होती है जैसे किसी नयनवानको सदा-सर्वदाके लिए अन्धकूपमे धकेल देना या उसे नयनोसे वञ्चित कर देना दोनोमे काई विशेष अन्तर नहीं होता है जागतिक विषयोमे अनुरागके नष्ट होनेपर तथा सर्वात्मभावसे सम्पन्न होनेपर भक्तको सकल इन्द्रियो द्वारा भगवत्स्वरूपानन्दकी अनुभूति मिलती है—"बाधकाना परित्यागे साधकाना न तद् भवेत्" (वेणुगीत सुबो कारिका)

इन कारिकाओमे सयोगकालीन सर्वात्मभावका वर्णन है श्रीप्रभुचरण उल्लिखित 'बाधक' का अर्थ प्रापञ्चिक विषयोमे अनुराग, तथा 'साधक' का अर्थ सर्वात्मभावपूर्वक भजन करते हैं सर्वभाव सिद्ध होनेपर ही भक्त सायुज्यमुक्ति (भगवान्मे लीन होने)से बच सकता है अर्थात प्रस्तुत सेवाफल विवरणमे विवक्षित प्रथमफल 'अलौकिक सामर्थ्य' के सिद्ध होनेपर भक्त, द्वितीयफल 'सायुज्य'से बच सकता है

तृतीयस्कन्ध-सुबोधिनीके एतद्विषयक विचारोसे एकवाक्यता करनेपर सायुज्य बाद पुन नूतन अलौकिक देहकी प्राप्तिका भी एक प्रकार मान्य किया गया है अत अलौकिक सामर्थ्यके बाद सीधे सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति, अथवा सायुज्योपरान्त सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति, अथवा सायुज्य ही केवल, यो फलानुभूतिके अनेक प्रकार सम्भव हैं परन्तु यह निश्चित है कि इन्द्रियवानोका मुख्य फल तो सर्वात्मभाव या अलौकिकसामर्थ्य ही है. अन्यथा तृतीयस्कन्धके— "हृतात्मनो हृतप्राणाश्च भक्तिरनिच्छतो गतिमण्वी प्रयुङ्क्ते" वचनमे निरूपित गौणफलरूप सायुज्य मिलता है. इन्द्रियादिसे रहित होकर भगवान्के दर्शन-स्पर्शन-श्रवणादिके सुखसे वञ्चित होना इन्द्रियवान् भक्तोंके लिए एक विडम्बना है!

भ्रमरगीतके "सर्वात्मभावोधिकृतो भवतीनामधोक्षजे" (१०।४७।२७) वचनमे विप्रयोग-कालीन सर्वात्मभावका वर्णन है और वेणुगीतमे सयोगकालीन.

यहा यह अवधेय है कि रसशास्त्रीय दृष्टिसे करुणविप्रयोग और शृगारविप्रयोग मे, एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यही है कि जहा पुनर्मिलन निश्चित हो, वहा विप्रयोग शृगाररसात्मक माना जाता है, पर जहा पुनर्मिलन असम्भव हो अथवा जन्मान्तरमें सम्भव हो तो ऐसा विप्रयोग शृगाररस न रहकर करुणरस बन जाता है "यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तर पुनरलभ्ये विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्य " (साहित्यदर्पण ३।२०९) "शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादय रस, विप्रलम्भे रति. स्थायी पुन सम्भोगहेतुक" (सा द ३।२२६)

परमफल सयोगको मानना चाहिये कि विप्रयोगको, इस विवादमें अतिवादी दृष्टिकोण अपनाने पर, या तो अधूरे शृगारकी महत्ता माननी पडती है या शृगारविप्रयोग और करुण-विप्रयोग के मौलिक भेदकी उपेक्षा ही जाती है क्योंकि रसशास्त्रमे यह माना गया है कि विप्रयोगके बिना केवल सयोगानुभूतिमें वह चमत्कृति नही आती है. अतएव पूर्वरागोत्तर मानोत्तर और प्रवासोत्तर सयोगमे विशेष चमत्कृतिका हेतु पूर्वराग, मान या प्रवास जनित विप्रयागको ही माना गया है-'न विना विप्रलम्भेन सम्भोग पुष्टिमश्नुते कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते '

श्रीमहाप्रभु भी अतएव जैसे— "बाह्यामावे तु आन्तरस्य व्यर्थता" का विधान करते हैं वैसे ही—"आन्तर तु पर फलम्" भी स्वीकारते ही हैं श्रीप्रभुचरणने भी अतएव स्पष्ट शब्दोंमे इसका खुलासा— "स रसस्तु सयोगविप्रयोगाभ्यामेव पूर्णो भवत्यनुभूतो नैकतरेण ' (अणु ४।२।१) यह कर दिया है

केवल विप्रयोग अथवा केवल सयोग को परमफल मानना भगवान्के 'नटवरवपु' रूपकी अस्वीकृति है विप्रयोगम भक्तके हृदयमें भगवान्की आन्तर अनुभुति होती है नटवत्; और सयागमें भक्तके नेत्र आदि इन्द्रियोद्वारा भगवान्की बाहर अनुभूति होती है, वरवत्.श्रीमहाप्रभु किन्तु केवल नटवत् या केवल वरवत् रूपको फल न मानकर 'नटवर वपु' के रूपमें भगवान्का—' इदमेवेन्द्रियवता फलम्" स्वीकारते हैं

लौकिक शृंगारमें विप्रयोगकालीन आन्तर संयोगकी अनुभूतिको आशावितवश पैदा होती केवल भ्रान्ति ही माना गया है क्योंकि नायक अथवा नायिका की अनुपस्थितिमें उनकी अनुभूति वास्तविक नहीं हो सकती है किसी भी देश अथवा काल में परन्तु सर्वव्यापी सनातन परमात्माका अनुपस्थित होना अकल्पनीय बात है. अनुभूत होते हो या नहीं पर, हृदयमें और हृदयके बाहर, सर्वत्र-सर्वदा भगवान् तो विद्यमान हैं ही. अतः भगवदनुभूतिपर भ्रान्तिकी परिभाषा लागू ही नहीं हो पाती है।

भक्तिके घटक तत्त्व दो माने गये है एक माहात्म्यज्ञान और दूसरा सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह. यह माहात्म्य भगवान्का ही हो सकता है कि वे बाहर अप्रकट होनेपर भी भक्तके हृदयमें भावात्मना प्रविष्ट होकर भक्तको करुणरस होनेसे बचा लेते हैं. इसी तरह सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहमें भी यह सामर्थ्य स्वीकारना पड़ता है कि उसके वशीभूत होकर भगवान्को भक्तके मनोरथोंके अनुरूप बाहर प्रकट होना पड़ता है

इस विषयमें श्रीप्रभुचरणकी यह उक्ति मननीय है कि— "भगवद्विरहस्य सर्वसाधारण-त्वेऽपि स्थायिभावात्मकरसरूपभगवत्प्रादुर्भावो यस्य हृदि भवति तस्यैव तदप्राप्तिजः तापः तदनन्तरं नियमतः तत्प्राप्तिश्च भवति" (अणु. ४।२।११).

भक्तिवर्धिनीमें भक्तिकी चार अवस्था स्वीकारी गयी हैं -

(१) बीजभाव

(२) प्रेम

(३) आसक्ति

(४) व्यसन

"भावैरङ्कुरित" कारिका और उसके व्याख्यानमें, अवतारकालीन सुदृढ सर्वतोधिक भगवद्रति, जो बिना किसी प्रकारके माहात्म्यज्ञानके ही व्रजभक्तोंमें प्रकट हो गयी थी, की चारके बजाय सात अवस्थाओंका वर्णन श्रीप्रभुचरण तथा श्रीहरिरायजी ने किया है : (१) भाव (२) प्रेम (३) प्रणय (४) स्नेह (५) राग (६) अनुराग (७) व्यसन—

भावैरङ्कुरितं महीमृगदृशामाकल्पमासिञ्चितम्
प्रेम्णा कन्दलितं मनोरथमयैः शाखाशतैः सम्भृतम्
लौल्यैः पल्लवितं मुदा कुसुमितं प्रत्याशया पुष्पितम्
लीलाभिः फलितं भजे व्रजवधूशृंगारकल्पद्रुमम् ॥

(श्रीमत्प्रभुचरण)

भाव प्रेमप्रणय स्नेहो रागानुरागव्यसनानि ।
अंकुरकन्दलशाखापल्लवकलिकाप्रसूनफलानीति ॥

(श्रीहरिरायचरण)

यह रसशास्त्र और भगवत्शास्त्र के समन्वयपर अवलम्बित भक्तिशास्त्रीय विवेचन है, अन्यथा केवल रसशास्त्रके अनुसार रतिकी दस अवस्थायें स्वीकारी गयी है : (१) चक्षूराग

(२) मन सग (३) सकल्प (४) जागर (५) तनुता (६) विषयद्वेष (७) लज्जात्याग (८) उन्माद (९) मूर्छा (१०) मरण इन्हें भक्तिवर्धिनीमे वर्णित चार अवस्थाओमे बाट कर देखना हो तो इस तरह देखा जा सकता है:

(१) बीजभाव—— (क) चक्षूराग (ख) मन सग (ग) सकल्प
(२) प्रेम——(क) जागर (ख) तनुता
(३) आसक्ति——(क) विषयद्वेष (ख) लज्जात्याग
(४) व्यसन——(क) उन्माद (ख) मूर्छा (ग) मरण

यहा अवधेय यह है कि व्यसनदशामे उन्माद एवम् मूर्छा तक तो बाह्य या आन्तर सयोगकी अनुभूति सम्भव है अतएव इन्हें निरोधलीलाके अन्तर्भूत माना जा सकता है क्योंकि निरोध जब भगवत्स्वरूप एवम् भगवद्गुण उभयकृत होता है तो वह स्वयम् फलात्मक होनेसे अगीरूप माना जाता है अन्यथा केवल भगवद्गुणकृत निरोध एकादश द्वादशस्कन्धमें वर्ण्य मुक्तिलीला और आश्रयभावापत्ति की लीलाका अग होनेसे 'साधनफलत्ता' रूप माना गया हैं. मुक्ति या आश्रय लीलाके अगरूप निरोधवाली व्यसनदशामे स्नेहकी दसवी अवस्था मरण सम्भव हो जाती हैं भक्त इस भौतिक देहको छोडकर या तो भगवान्मे लीन हो जाता हैं या फिर नूतन अभौतिक सच्चिदानन्दात्मक दिव्य देह व्यापिवैकुण्ठ-नित्यलीलाम प्राप्त कर लेता हैं—"ब्राह्मेण ब्रह्मस्पर्शिना ब्रह्मणा भगवतैव स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन सत्यज्ञानानन्दात्मकेन शरीरेण पूर्वोक्तान् अश्नुते' (अणु ४।४।१५).

इस दिव्य देहान्तरसे लभ्य पुन सयोगकी भगवच्छास्त्रीय दृष्टिसे बडी महत्ता है, मुक्तिके रूपमें रसशास्त्रीय दृष्टिसे किन्तु देहान्तरलभ्य सयोग शृगाररसकी मर्यादासे बहिर्भूत या विपरीत है अतएव भक्तिशास्त्रमें एसे सयोगकी फलरूपता गौण मानी गयी है—"भगवानेव हि फल स यथाविर्भवेद् भुवि" (पु प्र म) वचनमें भूतलपर ही आविर्भूत भगवान्को पुष्टिफल मानकर अतएव भक्तको मुक्ति या आश्रय लीलाकी ओर हठात् ले जानेवाली भक्तिका वर्णन स्वयम् भगवान्ने इन शब्दोम किया है-'अनिच्छतो गतिमण्वी प्रयुक्ते' भ्रमरगीतपर टिप्पणीमें श्रीप्रभुचरण ऐसी भगवल्लीलाका —"अस्मदधिकारविरुद्धा कहते हैं

सक्षपमे (१) अलौकिकसामर्थ्य सर्वात्मभावरूप होनेके कारण सयोग या वियोग दोनो अवस्थाओंमे फलनिरोधरूप है इस तनुनवत्व' या 'मानसी सेवा' भी कहा जा सकता है पुष्टिभक्तोंने लिए यह जीवन्मुक्तिके जैसी अनुभूति है (२) सायुज्य विदेहमुक्ति है पुरुषोत्तममे लीन हो जाना (३) वैकुण्ठ आदि स्थानोमे सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति नवतनुत्व है इसे 'ब्रह्मभावापत्ति' या 'आश्रयभावापत्ति' भी कहा जाता है

समग्र षाडशग्रन्थम प्रस्तुत सवाक्ड ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुके स्वयकृत विवरणके बावजूद अति क्लिष्ट ओर सूत्रात्मक भाषाम लिखा गया ग्रन्थ है छन्दशास्त्रकी दृष्टिसे वैसे तो इस ग्रन्थम साढे सात कारिकायें है पर वाक्यार्थबोधकी दृष्टिसे वाक्यविमर्श करनेपर इसम पद-

रह सूत्रात्मक वाक्य दृष्टिगोचर होते है. पाणिनीसूत्रोंकी तरह बहुधा इनमें भी—"सूत्रेष्वदृष्ट पद सूत्रान्तरादनुवर्तनीय सर्वत्र" नियम लागू होता दिखलायी देता है तदनुसार उन्हें पृथक् पृथक् करके देखनेका प्रयास अब हम करना है इसमें दो तीन तरह मार्गदर्शक मानने पडेगे उदाहरणतया पूर्ववाक्यके किसी अंशसे उत्तरवाक्य पूर्ण होता हो तो उसे पूर्ण कर लेना चाहिये सेवाफलविवरणमें स्वयम् श्रीमहाप्रभुने जिस अस्पष्ट शब्दका जो अर्थ दिया हो उसे कोष्ठकमें रखकर उस अर्थको स्फुट या पूर्ण कर लेना चाहिये कभी साकांक्ष पदोंकी आकांक्षा-पूर्तिके लिए कोष्ठकमें सम्बन्धघटक सर्वनामादिपदोंका विन्यास भी किया जा सकता है.

तदनुसार प्रथम वाक्य तो एकदम स्पष्ट ही मिल जाता है

१) यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते

सिद्धान्तमुक्तावलीके—"कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा' वचनमें, चतुःश्लोकीके— "सर्वदासर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन" वचनमें, तथा भक्तिवर्धिनीके—"बीजदार्ढ्य-प्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः" वचनमें सेवाका जो स्वरूप समझाया गया उसके सम्पन्न हो जानेपर सेवाकी फलरूपताका स्वरूप यहां समझाया जा रहा है

२) अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः

आद्य ग्रन्थ यमुनाष्टकके सातवे श्लोकमें वर्णित— भवतु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये । प्रागनाम व्यक्त हुवे मनोरथकी सिद्धि, जब भगवान अलौकिकसामर्थ्यका दान करते है तभी सम्भव है अन्यथा अलौकिकसामर्थ्यके दानके अभावमें भगवत्सेवापरायण भक्त या तो पुरुषोत्तममें लीन हो जाता है, या फिर वैकुण्ठ आदि भगवद्धामोंमें, भौतिक देहके छूट जानेके बाद अलौकिक दिव्य सेवोपयोगिदेह प्राप्त कर लेता है

३) अत्र (सेवायां) फलं (अलौकिकसामर्थ्यं) वा, अधिकारो (सायुज्य सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु) वा (भवतु) काल नियामक न (भवति)

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें यह कहा गया था कि पुष्टि जीवोंको उनका फल भगवत्स्वरूपसे ही मिलता है— कायेन तु फलं पुष्टौ यहो यह भी कहा गया था कि 'भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद् भुवि, गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत् अर्थात् यथाधिकार हृदयमें भगवद्-गुणोंका अथवा नयनोंके समक्ष साक्षात् भगवत्स्वरूपका इस भूतलपर प्रकट होना पुष्टिजीवोंकी फलानुभूति है भगवान् ही जब फल हो, और वे यदि काल-कर्म-कर्ता मन्त्र द्रव्य देश स्वभाव आदि हेतुओं अथवा साधनों के अधीन न हो तो पुष्टिमार्गीय फलात्मिका सेवा अथवा अधिकारात्मिका सेवा का नियामक काल कैसे हो पायेगा ?

अलौकिकसामर्थ्य या तनुनवत्व के साथ भगवत्सेवा सम्पन्न हो पाती हो तो वह सेवाकी फलरूपता हैं अन्यथा वह न होनेपर सेवाके कारण पुरुषोत्तमम सायुज्य या वैकुण्ठ आदि

भगवद्धामोमे सेवोपयोगी नूतन दिव्य देह प्राप्त होता है, भगवत्सेवा करनेवाले भक्तके भौतिक देहके छूटनेके बाद. अत. ऐसी भगवत्सेवा फलरूपा न होकर अधिकाररूपा मानी जाती है. फल हो या अधिकार, पुष्टिभक्तिमे भगवान् ही नियामक है, काल-कर्म-स्वभावादि नही.

४) (सेवाया) बाधकं तु उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्, भगवतः अकर्तव्य चेद्.

काल-कर्म-स्वभाव यद्यपि फल या अधिकार मे नियामक नही है, फिर भी, फलदान या अधिकारसम्पादन की भगवदिच्छाके न होनेपर भगवत्सेवामे उद्वेग प्रतिबन्ध अथवा भोग बाधक बन सकते है

जैसे फल तीन माने गये है, सेवामे, ऐसे ही विघ्न भी तीन ही माने गये हैं. इनमे उद्वेग के अनेक रूप नवरत्न एवम् विवेकधैर्याश्रय मे दिखलाये गये है. वहा आश्रयभावकी दृढताके लिए अष्टाक्षरका उच्चारण तथा लीलाभावना की बात समझायी गयी है अतएव उद्वेग और उससे बचनेके उपायके बारेमे अब पुनः यहा किसी निरूपणकी आवश्यकता नही है अत इस सेवाफलके विवरणमे प्रतिबन्ध एवम् भोग रूप विघ्नोका विचार होगा.

प्रतिबन्ध दो प्रकारके होते है एक साधारण और दूसरा भगवत्कृत. साधारण प्रतिबन्धोका निवारण लोकचातुरीसे करना चाहिये.

श्रीप्रभुचरणने अपने आत्मजोको लिखे एक पत्रमे ऐसी लोकचातुरीका उपदेश दिया है "अन्यच्च यवनादयो ठाकुरद्वारे आगच्छन्ति यथापूर्वं भावणमिलनप्रसादादिक कार्यम् यद्यपि हार्दं न भवति, बाह्यतोपि कार्यम्' ऐसी लोकचातुरीका प्रयोजन निर्विघ्न भगवत्सेवाका निर्वाह ही होना चाहिये. आत्मसम्मानको खोकर सरकारी अफसरोकी चापलूसीका नही. अतएव इसी पत्रमें सावधान भी किया गया है—"सावधानै सहपरस्परस्नेहै अबहिर्दृष्टिसेवकपरै स्थेयम् "

भगवत्कृत प्रतिबन्धका निराकरण जीवके सामर्थ्यके बाहर होता है अत उसका विचार बादमे किया जायेगा इसी तरह द्विविध भोगका विचार भी आगे किया जायेगा

५) भगवत सर्वथा अकर्तव्य चेद् (भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध तदा) गति न हि (भगवान् फल न दास्यतीति मन्तव्य, तदा अन्यसेवापि व्यर्था, तदा) यथा वा तत्त्वनिर्धार (आसुरोय जीव इति) विवेक (तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यमिति, अन्यथा) बाधकानां (त्रयाणा माधन –) परित्याग (कर्तव्य इति) साधन मतम् .

पुष्टिमार्गीय जीव दैवी होनेके कारण कभी प्रवाहमार्गीय या आसुरी सृष्टिका हो नही सकता फिर भी यह सम्भव है कि उसके देह इन्द्रिय-प्राण-अन्तःकरणमे किसी समय या किसी जन्ममे आसुरभावोका आवेश हो जाये अतएव पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमे—"आसक्तौ भगवानेव शाप दापयति क्वचित्" के द्वारा पुष्टिजीवोमे आसुरावेशके कारणरूपम भगवदिच्छाको मान्य किया गया है सुबोधिनी (३।२५।३२) म–"ये वा देव्या सम्पदि जाता तेषामपि (इन्द्रियाणि) देवरूपाणि भवन्ति आसुराण्यपि भवन्ति" कहा गया है. वहीं यह भी कहा गया है कि " भक्तिदेवैरेव भवति नासुरं " अत जिस जन्ममें पुष्टिभक्तके देहेन्द्रियादिमें दैवी

गुणोका आवेश प्रबल नही होता, उस जन्ममें पुष्टिप्रभु उस जीवसे फलात्मिका सेवा लेना नही चाहते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये ऐसी स्थितिमें अन्य कोई रह नही जाता, जिसके आश्रय या भजन से भगवत्सेवामें पैदा होनेवाले विघ्न दूर हो पायें, या अन्य कोई उपाय शक्य बन पाये अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं—"तदा अन्यसेवापि व्यर्था"

भगवन्मार्गमें भगवदिच्छाके बिना कोई विघ्न आ नही सकते और भगवदिच्छाके कारण आये हुवे विघ्नोंको कोई दूर नही कर सकता है नवरत्नमें अतएव कहा गया है कि "अज्ञानादथवा ज्ञानात्कृतमात्मनिवेदन यै कृष्णसात्कृतप्राणै तेषा का परिदेवना।" अत पुष्टिजीवको जब प्रभु ससारासक्तिमें फसाये रखना चाहते हो तो अन्याश्रय या अन्यभजन से कुछ भी प्राप्त हो नही पायेगा.

तत्त्वदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणम 'कृष्णपदेन बहिर्भजनमेव मुख्यमिति निरूपितं 'यो वेद निहित गुहायाम्' इति तु ज्ञानमार्गे" (कारिका १३) कहा गया है. भागवतार्थ प्रकरणम भी भगवदवतारकालीन भजनका विकल्प ज्ञान माना गया है—"पुरुषाणा तथा स्त्रीणा रात्री च दिवसे तथा ज्ञान भक्तिश्च सतत चक्रवत् परिवर्तते" (१०।१११–११३) भक्तिवर्धिनी (४) में भी "व्यावृत्तोपि हरौ चित्त श्रवणादौ न्यसेत्सदा" कहा है इसी तरह "सेवाया वा कथायां वा " कारिकामें 'सेवा और कथा' को उत्तमरूप माना गया है, तथा 'सेवा या कथा' को गौणरूप माना गया है अणुभाष्य (४।१।८) म—'एव बहि प्राकट्यमुक्त्वा आन्तर तदाह भावनोत्कटपदशायां व्यभिचारिभावात्मकसततस्मृति-रूपध्यानादपि हृदि प्रकट सन्नासीना भवतीत्यर्थ ' कहा गया है

इन सभी उद्धरणोपर लक्ष्यपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सेवाफलम वर्णित 'ज्ञानमार्ग' मर्यादामार्गीय ज्ञानवाला नही है, किन्तु पुष्टिमार्गीय ज्ञानको लेकर ही यहा 'ज्ञान-मार्ग' शब्द प्रयुक्त हुआ है पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवा भक्ति है तथा भगवद्गुणगान या भगवत्कथा ज्ञान है भगवद्गुणानुवादकी प्रणालीसे हृदयमें सतत भगवद्ध्यान या भगवत्स्मृति को बनाये रखना 'ज्ञान' कहलाता है निरोधलक्षणमें— गुणाविष्टचित्ताना सर्वदा मुरवैरिण ससारविरहक्लेशौ न स्याता हरिवत्सुखम ' कहा गया है अत भगवानके गुणानुवादसे 'क्षीरा-भाव' सिद्ध होता है यह पुष्टिमार्गीय विवेक है

जिनसे यह कथात्मिका भक्ति भी न निभती हो उनके लिये विवेकधैर्याश्रय तथा कृष्णाश्रय में प्रपत्तिमार्गका निरूपण किया गया है— अलौकिकमन सिद्धौ सर्वथा शरण हरि, एव चित्त सदा भाव्य वाचा च परिकीर्तयेत (विवे १३) इसी तरह अजामिलादिदोषाणा नाशकोनुभवे स्थित ज्ञापिताखिलमाहात्म्य कृष्ण एव गतिर्मम विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषत पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिमम (कृष्णा ७ और ९) कहा गया है

पूर्णभक्तिके दो अग माने गये हैं एक बाह्य अग माहात्म्यज्ञान और दूसरा आन्तर अग सुदृढ सर्वताधिक स्नेह अत सुदृढ सर्वतोधिक स्नेहके बिना सेवा कथाका निर्वाह शक्य नही होता फिरभी माहात्म्यज्ञानपर अवलम्बित शरणागति–आश्रय–प्रपत्तिरूप उपाय शक्य हो ता

उसे अपनाना चाहिये. अतएव माहात्म्यज्ञानमूलक होनेके कारण प्रपत्तिमार्गको भी पुष्टिमार्गमें ज्ञान माना जाता है.

प्रतिबन्ध जो भगवत्कृत प्रतीत न होने हो पर हमें पुष्टिमर्यादोचित विवेक या धैर्य से वञ्चित करते हो तो, उनसे बचनेके अनेक उपाय नवरत्न तथा विवेकधैर्याश्रय में दिखलाये गये हैं. यथा—प्रार्थनात्याग, अभिमानत्याग, हठत्याग, अनाग्रह, सहिष्णुता, असामर्थ्यभावना, भगवत्स्वीकभावना, मनवाणीसे सतत शरणभावना, अन्याश्रयत्याग, दृढ विश्वास तथा प्राप्त सुख-दु:खको समताद्वेष-रहित स्वीकृति आदि.

उद्वेगके हेतुओं, साधारणप्रतिबन्धके हेतुओं तथा लौकिक भोगके हेतुओं का त्याग करनेपर सेवाका निर्विघ्न निर्वाह सुकर बन जाता है. उद्वेग और उसके विभिन्न हेतुओं के निवारणका उपाय नवरत्न ग्रन्थमें समझाया गया. साधारण प्रतिबन्ध तथा उसके हेतुओंके निवारणका उपाय विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें समझाया गया है. अब लौकिक क्षुद्र भोग और अलौकिक महान् भोग का प्रभेद तथा अन्य भी तत्सम्बन्धी विवेचन आगे किया जायेगा.

६) भोगे अपि बाधकानां परित्याग एक साधनं मतम्.

भोग दो तरहके सम्भव है: एक लौकिक भोग और दूसरा अलौकिक भोग लौकिक भोग त्याज्य होता है भगवान्को असमर्पित—अनिवेदित वस्तुओंका उपभोग भगवत्सेवामें बाधक बनता है. यह सिद्धान्तरहस्य (कारि ४) में—"अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन, असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत्" कह कर समझाया गया है. अतः असमर्पित-अनिवेदित वस्तुओंका उपभोग बाधक है और उनका परित्याग हमारे लिये एक साधनके रूपमें कर्तव्य है.

७) तथा भोगे परं विघ्नत्यूहं साधनम् अपि मतं (मत.) महान् (अलौकिकस्तु) भोग (फलानां मध्ये) प्रथमे सदा विशते (प्रविशति).

सिद्धान्तरहस्य ग्रन्थम जैसे असमर्पितके त्यागकी बात समझायी है,उसी तरह समर्पितके उपभोगकी आवश्यकता भी दिखलायी गयी है—"निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति...नैवकाना यथा लोके व्यवहार: प्रसिद्ध्यति तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता तत." भगवान्को समर्पित भगवत्प्रसादरूप स्रक् गन्ध वस्त्र अलकार अन्न गृह तथा पारिवारिक जन, सांसारिक मोहके नहीं, किन्तु भगवद्भावके वर्धक होते हैं ब्रह्मको समर्पित सभी कुछ ब्रह्मात्मक हो जाता है जैसे गदी नालीका जल गगामें मिल कर गगाजल बन जाता है अणुभाष्य (३।३।३९) मे अतएव कहा गया है—"सर्वनिवेदनपूवक गृहेषु भगवत्सेवां कुर्वता तदुपयोगित्वेन तेभ्यएव मुक्ति भवतीत्यर्थ एतादृशना गृहा भगवद्गृहा एव आदिपदेन स्त्रीपुत्रपश्वादय सग्रहयन्ते एतेन ज्ञानादिमार्गादुक्तरूप उक्तो भवति बाधकानामपि साधकत्वात्" अन्यमार्गमें भोगके साधन अन्नवस्त्रगृहपरिवार आदि बाधक माने जाते है, पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवाके अग बन जानेपर, इन्हें साधक माना जाता है क्योंकि वे लौकिक आसक्तिको बढानेके बजाय शनै शनै हम अलौकिकसामर्थ्य अर्थात् सर्वेन्द्रियोंको भगवत्परताकी ओर ही ले जानेवाले बनते है. निरोधलक्षण ग्रन्थम इसे—"संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै कृष्णस्य

सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्" कहा है.

भगवन्निवेदित वस्तुका भगवत्प्रसादके रूपमें उपभोग, सेवाके प्रथम फल अलौकिक-सामर्थ्यको प्राप्त करनेकी दिशामें अग्रसर होना है. अत वह अलौकिक भोग होनेसे निष्प्रत्यूह-निर्दुष्ट है, महान् है.

८) सविघ्न अल्पो (भोग) बलात् घातकः स्यात्.

"यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्प तन्मर्त्यम्" (छान्द व ७।२४।१) इस श्रुतिमे मर्त्यत्वेन निन्दित अल्पभोगका परिहार भगवत्समर्पितके उपभोगसे शक्य बन जाता है. अतएव छान्दोग्योपनिषद्के इसी प्रकरणमें- "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति. स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीना विमोक्ष (७।२६।२) वचनद्वारा आहारशुद्धिके उपलक्षणसे प्रत्येक भोगकी शुद्धिकी आवश्यकता दिखलायी गयी है, मर्त्य-अल्प-क्षुद्र लौकिक भोग कभी शोकमोहसे रहित नही होता है. अत. अनेकविध शोकमोहरूप विघ्नोसे युक्त अल्प भोग स्वयम् मर्त्य होनेपर भी मारक होता है. भगवत्सेवोचित भावका बलवान् घातक होता है अत: लौकिक भोग त्याज्य है

९) बलाद् एतौ (प्रतिबन्धकौ) सदा मतौ

भक्तिवर्धिनी (६) मे कहा ही गया है कि "तादृशस्यापि सतत गेहस्थान विनाशकम्" अत लौकिक भोग और भगवत्कृत प्रतिबन्ध भगवत्सेवामें बहुत बलवान् प्रतिबन्धक सदा होते हैं इनमे लौकिक भोगका त्याग तो शक्य है पर भगवत्कृत प्रतिबन्धका निवारण शक्य नही है यह अब आगे कहा जायेगा

१०) द्वितीये (भगवत्कृत-प्रतिबन्धे ज्ञानस्थित्यभावे च) ससारनिश्चयात् चिन्ता सर्वथा त्याज्या

सर्वनिर्णय-प्रकरण (कारिका २४७) में यह दिखलाया गया है कि किन-किन स्थितियोंमे भगवत्सेवा छोड देनी चाहिये यथा-

क) आसुरावेशके कारण हमारी इन्द्रियोकी भगवत्सेवामे स्वत प्रवृत्ति सम्भव न लगती हो तो हठपूर्वक उन्हें भगवत्सेवामें लगानेपर विक्षेप उत्पन्न हो जाता है ऐसी स्थितिमें सेवा छोड देनी चाहिये.

ख) अतिवार्धक्य या शारीरिक व्याधियो के कारण किसी व्यक्तिमे भगवत्सेवार्थ अपेक्षित शक्ति न रह जाती हो तो सेवा छोड देनी चाहिये

ग) पारिवारिक सामाजिक या राजनैतिक दृष्टिसे जिनके अधीन होनेके कारण हम विवशतया भगवत्सेवा न कर पाते हो तो वह भी एक प्रतिबन्ध सेवात्याग सम्भव है

घ) सेवा करते रहनेपर भी निरन्तर चित्तमें अन्यन्यासंग या व्यग्रता बनी ही रहती हो तो भगवत्सेवोचित भावना हृदयमे कदापि प्रकट नही हो पाती

ङ) अन्य पारिवारिक जन भगवत्सेवार्थ अपेक्षित भावनासे रहित हो, या भगवत्सेवामें प्रति-कूल हो, पर वे हमारे द्वारा की जाती भगवत्सेवामे लौकिक हेतुओंसे वश सहयोग देनेको बाधित होते हो तो, उन्हें वह सेवा पीडाजनक प्रतीत होगी ऐसी परपीडाजनक भगवत्सेवा

नहीं करनी चाहिये.

श्रीमहाप्रभु स्पष्ट शब्दोमें आज्ञा करते है कि इन स्थितियोंमें सेवा छोड देनी चाहिये. सेवा छोड देनेपर उसका अनुकल्प भगवत्कथा माना गया है कथानुष्ठान पुष्टिमार्गमें भक्तिकी ज्ञानमार्गसे जुडी हुई सीमाकी तरह है परन्तु यहां इस सीमाके भीतर भी रहना जो शक्य न हो तो माहात्म्यज्ञानमूलक प्रपत्तिमार्गमें अवस्थित होना चाहिये. एतदर्थ विवेक धैर्य और आश्रय को अपनानेकी बात समझायी गयी है. पर जब वह भी शक्य न हो तो समझ लेना चाहिये कि इस जन्ममें प्रभु हमें संसारावेशसे छुटकारा देना नहीं चाहते हैं

विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें अतएव-" अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः" कहकर तथा नवरत्न ग्रन्थमें-"चित्तोद्वेगं विधायापि हरिः यद्यत् करिष्यति तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत्, तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः" (८-९) के उपदेशके अनुसार चिन्ताका त्याग कर शरणभावना करनी चाहिये

११) नाद्ये (आद्यफलाभावे) तु (भगवत आधिदैविकसेवा-) दातृता नास्ति

सेवा निरन्तर करते रहनेपर भी अलौकिकसामर्थ्यके प्रकट होनेके कोई चिन्ह दिखलायी न पडते हो तो सेवाकी न्यूनता नहीं मान लेनी चाहिये किन्तु भगवान्‌की आधिदैविकी सेवाके सुखदानकी इच्छा नहीं हैं, ऐसे समझना चाहिये आधिदैविकसेवा-सुखकी पात्रता भगवान्‌की दातृतापर अवलम्बित है यह तो कहा ही गया है कि पुष्टिमार्गीय फल या अधिकार की प्राप्ति भगवान्‌के देनेपर ही होती है, साधनाभिमानमें नहीं.

१२) तृतीये (भोगाभाव-सिद्ध्यभावे) तु गृहं बाधकम्

स्वगृहमें निरन्तर सेवा करते रहनेपर भी भोगाभाव यदि सिद्ध न होता हो तो गार्हस्थ्य-गृहको ही बाधक समझना चाहिये अतएव भक्तिवर्धिनी और सन्यासनिर्णय ग्रन्थोंमें, ऐसी स्थितिमें, कथाश्रवण परिचर्या या गृहत्याग के अनुकल्पोंको अपनानेकी बात समझायी गयी है

१३) इय (भगवतो दातृता) अवश्या सदा भाव्या सर्वमन्यत् मनोभ्रमः, तदीयैरपि तत् (दातृताभावन) कार्यं (यतो भगवान्) पुष्टौ नैव विलम्बयेत्

नवरत्न ग्रन्थमें कहा गया था कि आत्मनिवेदन करनेवाले पुष्टिभक्तको कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिये क्योंकि पुष्टिप्रभु भगवान्, किसी एकाद जन्ममें लौकिक स्थिति जैसी स्थिति पुष्टिजीवकी करते भी हो, परन्तु गति कभी लौकिक या प्रावाहिकी नहीं करते अतः भक्तिके भलीभांति निर्वाह न होनेकी स्थितिमें अन्य पुष्टिमार्गीय भगवदीयोंके साथ बैठकर अपने आत्मनिवेदनका स्मरण-भावन करना चाहिये "भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिं, निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति" (१-२)

होता वही है जो भगवदिच्छा होती है मिलता वही है जो भगवान् हमें देना चाहते है भगवान्‌की फलदानेच्छा किसीके वशकी बात नहीं है वह 'अवश्या' है. उसपर किसीका जोर नहीं चलता है भगवान् परन्तु दयालु भी है वे केवल सर्वेश्वर ही नहीं अपितु सर्वात्मा भी

है. अतः जिस जीवका पुष्टिमार्गमें वरण भगवान्ने कर लिया हो उसे पुष्टिभक्तिके दानमें अधिक विलम्ब नहीं करेंगे. इस तरह भगवान्के पुष्टिफलदाता होनेकी भावना सदा करनी चाहिये.

साथ ही साथ निरोधलक्षण ग्रन्थमें यह भी कहा गया था कि "महतां कृपया यावद् भगवान् दययिष्यति, तावदानन्दसन्दोह कीर्त्यमानः सुखाय हि" अतः जिनसे सेवा आदि न निभ पाती हो ऐसे दयनीय पुष्टिजीवोंके प्रति अन्य भगवदीयोंका भी यह कर्तव्य है कि वे भगवान्के ऐसे गुणो एवम् चरित्रो का कीर्तन करें कि जिससे साधारण पुष्टिजीवोंके हृदय और बुद्धि में भगवान्के पुष्टिफलदाता होनेकी आस्था एवम् धारणा दृढ हो जाये. यह जिससे सेवा-कथामय आदर्श जीवन निभ पाता हो ऐसे एक पुष्टिजीवका दूसरे, जिससे नहीं निभ पाता, उसके प्रति कर्तव्य है. बालबोध ग्रन्थके उपदेशद्वारा श्रीमहाप्रभु अतएव भगवत्सेवार्थ असमर्थ जीवोंमें तदीयता और तदाश्रय के भावोंको उद्बोधित करना चाहते हैं.

जलभेद और पञ्चपद्यानि ग्रन्थमें अतएव वक्ता एवम् श्रोता की उत्तम-मध्यम-निम्न कक्षायें समझायी गयी हैं उनके भलीभांति ज्ञात हो जानेपर जिस पुष्टिजीवसे सेवात्मिका भक्ति नहीं निभ पाती वह भी कथा-श्रवण-कीर्तन-स्मरण आदिकी प्रक्रियाके द्वारा अपने पुष्टि-भावोंके पोषणमें सक्षम हो पाता है

१४) गुणक्षोभे अपि एतदेव द्रष्टव्यम् इति मे मति

भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें यह दिखलाया ही गया है कि स्वगृहमें भगवत्सेवाकथामय जीवन-यापन सभी पुष्टिजीवोंके लिए शक्य नहीं होता. इसके अनुकल्परूप गृहत्यागके लिये आवश्यक भक्तिका व्यसनदशामें विकास भी अतएव बहुत दुर्लभ बात है गृहत्यागका विकल्प किसी भगवदीयकी सत्सङ्गतिमें रहकर भगवत्परिचर्या करना और भगवत्कथाके श्रवण-कीर्तनमें सम्मिलित होना दिखलाया गया है परन्तु जिस भगवदीयका सत्सङ्ग हम करना चाहते हो उसमें मानव-स्वभाव-सुलभ दोषदर्शन होनेपर भक्तिभावमें बाधा पहुंचनेकी आशंका उठी थी इसके परिहारार्थ एकान्तवासके औचित्यका भी वहां विचार किया गया था एकान्तवासके बजाय भगवदीयकी सङ्गतिमें 'अदूरे-विप्रकर्ष' की नीति बरतनेका सुझाव दिया गया था. क्योंकि अपरिपक्व सिद्धान्तबोधकी स्थितिमें एकान्तवास करनेपर कभी अपसिद्धान्तोंके स्वाध्यायकी सम्भावना रहती है

स्वमार्गीय सिद्धान्त अतः स्वमार्गीय वक्ताके मुखसे सुननेका आग्रह रखना चाहिये "भक्त्याचारोपदेशार्थंनानावाक्यनिरूपणं" श्रीमहाप्रभुके ग्रन्थोंका ही स्वाध्याय करना चाहिये सारे गुणक्षोभ इससे शान्त हो जायगे, ऐसा श्रीमहाप्रभुका आश्वासन है

१५) अत्र कुसृष्टि वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः

षोडशग्रन्थके उपक्रमरूप यमुनाष्टकम- "ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वम्" यह वर भगवत्सेवार्थ अपेक्षित देहकी नूतनताकी प्रार्थनाके द्वारा भगवत्सेवाकी महत्ता दिखलायी गयी है षोडशग्रन्थके उपसंहाररूप सेवाफल ग्रन्थका नामाभिधान 'भक्तिफल' 'कथाफल' 'त्यागफल'

'निरोधफल' या 'प्रपत्तिफल' न कह कर 'सेवाफल' करना; तथा अलौकिकसामर्थ्यके रूपमें सेवाका फल पुनः सेवाको ही मानना भी, पुष्टिमार्गमें सेवाकी महत्ताका ही प्रमाण है.

सिद्धान्तमुक्तावली, पुष्टिप्रवाहमर्यादा, सिद्धान्तरहस्य, 'भक्तिवर्धिनी तथा निरोधलक्षण ग्रन्थोंमें शब्दशः; तथा अन्य ग्रंथोंमें तात्पर्यतः सेवाके महत्त्वके पुनःपुनः उल्लेख द्वारा जो अभ्यास किया गया है, उसके आधारपर भी पुष्टिमार्गमें सेवाकी असाधारण महत्ता सिद्ध होती है.

चतुःश्लोकीमें-"सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप. स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्य. क्वापि कदाचन" द्वारा की गयी कृष्णसेवाकी प्रशंसा, तथा निरोधलक्षणमें की गयी-"नातः परतरो मन्त्र. नातः परतर स्तव. नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्" वचन द्वारा अन्य उपायोंकी निन्दा, द्वारा अर्थवादके विचारसे भी भगवत्सेवाकी महत्ता सिद्ध होती है.

श्रीमहाप्रभुके अन्य ग्रन्थोंमें भी यथा निवन्ध भाष्य या सुबोधिनी में सेवाका उल्लेख मिलता है, परन्तु भगवत्सेवाका सांगोपांग-सपरिकर स्वरूप जैसा यहां वर्णित हुआ है, वह अन्यत्र सुलभ नहीं है. सेवाका अन्तरंगरूप भाव-भावना है. सेवाके वहिरंगरूपमें आत्मसमर्पण, तनुवित्तजा सेवा, गृहस्थित वस्तु एवम् परिजनों का भगवत्सेवामें विनियोग; तथा अन्य भी नवधा भक्त्यंगभूत श्रवण-कीर्तनादि उपाय माने गये है. इन सारी बातोंका जैसा स्पष्ट एवम् सुसंगत विचार, अपूर्वतया यहां षोडशग्रन्थोंमें हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है

पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवा द्वारा किसी फलकी कामना नहीं जाती है क्योंकि सेवाका फल सेवा ही होती है. अतएव विवरणमें-"सेवायाः फलत्रयम्" न कह कर "सेवायां फलत्रयम्" कहा गया है. अतः तीनों ही फलावस्था षोडशग्रन्थमें मुख्यतया प्रतिपाद्य सेवाके अन्तर्भूत ही है. इस फलसंकीर्तनसे भी षोडशग्रन्थोंका तात्पर्य भगवत्सेवोपदेशमें ही पर्यवसित होता है

अन्तिम तात्पर्यनिर्धारक लिंग उपपत्ति माना गया है अन्य प्रमाणोंसे किसी एक बातका खण्डित होना सम्भव नहीं है, इस तरहका निरूपण करना 'उपपत्ति' कहलाता है. अतएव श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि इन सोलह ग्रन्थोंमें मुख्यतया प्रतिपाद्य भगवत्सेवाके स्वरूपको अन्यान्य साधनोंकी तुलनामें गौण बनानेवालेको पुष्टिकी सुन्दर सृष्टिमें कुसृष्टिरूप ही समझाना चाहिये-"कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रम." ऐसे ही भ्रमोंके निवारणार्थ अन्तःकरणप्रबोध लिखा गया है

इस तरह उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अर्थवाद, अपूर्वता, फल और उपपत्ति रूप छहों तात्पर्यनिर्धारक लिंगोंके द्वारा यह निःसन्दिग्धतया सिद्ध होता है कि पुष्टिजीवोंके लिये स्वगृहमें श्रीकृष्णके पुष्टिस्वरूपकी सेवा, व्रजभक्तोंके भावोंका भावनात्मक अनुसरण करते हुवे, निजतन-मन-धनका भगवान्‌में विनियोग; तथा उसके अनवसरमें एतद्भाववर्धिका भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन करना प्रथम एवम् चरम कर्तव्य है यहां वहां भटकनेवाले चित्तकी सभी वृत्तियोंका निरोध भगवत्सेवा और भगवत्कथा में होना चाहिये क्योंकि 'ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ।" का नियम ध्रुव और अकाट्य है

सेवाफल ग्रन्थका प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९७२ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रोसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है उस प्रथम संस्करणमें प्रकाशित न हो पानेके कारण सेवाफलकी जो तीन टीकायें जलभेदके साथ प्रकाशित हुई थी, उन टीकाओंको हमने यथास्थान यहां निविष्ट कर दिया है इसके अलावा सेवाफलकी मूल कारिका तथा विवरण वहां पृथक्-पृथक् छपे थे, उन्हे यथामति हमने उपर नीचे योजित किया है

प्रथम संस्करणमे श्रीपुरुषोत्तमजीके बाद जिस "तदनुसारिणी" की टीका मुद्रित हुई थी, नामनिर्देशरहित, उस टीकाके लेखकका नाम हम कोटायाश्रम मिल गया श्रीमन्मथुराधीश मन्दिरके हस्तलिखित ग्रन्थागारकी रजिस्टर संख्या (२१०/३) की हस्तलिखित प्रतिमें इस टीकाके 'श्रीमथुरानाथात्मज द्वारकेशकृत सेवाफल विवृति प्रकाश' नामका उल्लेख उपलब्ध होता है कांकरोलीवाले महाराजश्रीके पास इन श्रीद्वारकेशजीके पुत्रके हस्ताक्षरोंमें लिखित एक प्रति विद्यमान है ऐसा ग्रन्थपरिचय-लेखकको लिखे एक पत्रमें गोस्वामी श्रीव्रजेशकुमार (कांकरोली) सूचित करते हैं श्रीवल्लभवंशवृक्षमें इन श्रीमथुरानाथात्मजश्री द्वारकेशजीका उल्लेख या मिलता है (प्रथम / २ गृह जन्म वि. सं. १८५२) इसके अलावा कांकरोली-विद्याविभागमें स्थित श्रीव्रजभूषणजी (द्वितीय) की विद्वन्मण्डन टीकाका मंगलाचरण तथा यहां १४ वें क्रमम मुद्रित सेवाफलविवृतिप्रकाश टीकाका मंगलाचरण समान होनेसे, यह टीका श्रीव्रजभूषणजी विरचित है, ऐसा गोस्वामी श्रीव्रजेशकुमार महाराजश्रीका अनुमान है

सेवाफल और सुबोधिनी की एकवाक्यताके प्रदर्शक (सुबो ३।२५।१२-४०) अंशको हम नूतनतया यहां पाठकोंके सुविधार्थ प्रकाशित कर रहे हैं

प्रथम संस्करणके सम्पादक श्रीमूलचन्द्र तुलसीदास तलीवाला तथा श्रीधीरजलाल व्रजदास सांकलिया थे प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग गोस्वामी श्री १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज (पोरबन्दर) ने दिया था इन सभी महानुभावोंका इस पुनः प्रकाशनके अवसरपर हम हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं श्रीकृष्णार्पणमस्तु

Editors' Note.

Sevaphala is the last and the most important of the famous Sixteen small Sacred Books of Shri Vallabhacharya It clearly states the three sorts of realisations, according to one's 'adhikara,' viz, (1) spiritual power, which, going beyond the world, obtains a vision of God, and enjoys indescribable bliss with Him, or (2) Sayujya with Purushottama or the last (3) a body fit for service of God in Vaikuntha, Gokula etc A detailed description of all these, and also of hindrances in their way will be found in the Sanskrit introduction and the commentaries

It gives us very much pleasure to note that we have been able to collect all the rare commentaries yet known on this important work,—we hope the last one is of Shri Vrajanathaji, and to publish them all together Moreover, we have secured several copies of many commentaries, and it gives us great satisfaction to find that our printed texts have become much better than the oldest manuscripts in our possession, on account of comparisons with and necessary corrections from other manuscripts of the same texts Elsewhere we have noted various extra passages which we found in some Mss, after the text was printed, we have noted only those readings which gave quite different meanings and we have refrained from adding unnecessary 'other' readings

We sincerely thank all who have kindly supplied us with these extremely rare Mss The first among these is Pandit Gattulalaji's Library from which we got a large collection and we are highly obliged to Sheth Tribhuvandas Varjiwandas and Mr Kashidas Dalal who allowed us the use of the same Next Dr S K Belvalkar M A., Ph D favoured us with a loan of several Mss, including the extremely rare one of Jayagopal Bhatta from the Govt collection in the Deccan College Shri Vallabhalalji and his Shastri Madhavji also supplied us with several Mss Mr Utsavlal Sankalchand also gave us one rare commentary and Mr Tansukhram Survaram also gave us some Mss Mr Lallubhai Chhaganlal gave us the use of his block of the photograph of Shrimad acharyaji To all these, we offer our heartfelt thanks H H Shri Jivanalalji Maharaja of Porebunder has put us under a deep debt of gratitude by supplying us with the necessary zeal and funds, without which this work could not have been published We are also indebted to the manager of the N S Press for printing this work within eight weeks With feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love, at the Lotus Feet of Lord Krishna

BOMBAY
19th December 1916

M T Telivala
D V Sankalia

ग्रन्थसङ्ग्रहपरिचयः।

१ श्रीमदाचार्यकृत सेवाफल तद्विवरण च यावत्प्राप्यटीकाश्च सर्वा दृष्ट्वा मुद्रितमस्ति। तत्र विद्यमाना पाठभेदा श्लोकक्रमभेदाश्चास्माभिस्तत्रैव दर्शिता।

२ श्रीकल्याणरायकृतसेवाफलटीकाया पुस्तकद्वयमस्माभिरुपलब्धम्। प्रथम मा मा वे म प गट्टूलालहस्तलिखितसग्रहस्थम्। तत्र प्रथम प्राचीनम्, प्राय शुद्धम्। द्वितीय 'डक्कनकोलेज' हस्तलिखित सग्रहस्थ प्रायोऽशुद्ध तथापि पाठादिशोधनार्थं क्वचित् क्वचिदत्यन्तमुपयोगि।

३ चाचाश्रीगोपेशटीकाया पुस्तकत्रय प्राप्तम्। तत्र पुस्तकद्वय प गट्टूलालसग्रहस्थम्। अन्यद् 'डक्कनकोलेजस्थसग्रहस्थम्। इद पुस्तकत्रयमपि प्राय शुद्ध प्राचीन च। एतट्टीकाया मुद्रणानन्तरमेकमन्यत्प्राचीन पुस्तक प्राप्तम्, तत्र विद्यमाना पाठभेदा परिशिष्टे दर्शिता।

४ श्रीदेवकीनन्दनकृतटीकाया पुस्तकत्रय प गट्टूलालसग्रहस्थम्। तत्रैक प्राचीनमन्यद्वय नूतनम्। तत् प्राचीनपुस्तकमवलम्ब्य यावल्लब्ध तावत्पर्यन्त सशोध्य मुद्रितमस्माभि।

५ श्रीहरिरायकृतटीकाया पुस्तकत्रय मिलितम्। इद शुद्ध प्राचीन च। एक केनचिद्देन वासुदेवेन स्वपठनार्थं लिखितमस्ति। इद पुस्तकत्रय प गट्टूलालसग्रहस्थम्।

६ श्रीवल्लभकृतटीकाया एक पुस्तक मिलित प गट्टूलालसग्रहात। इद प्राय शुद्ध प्राचीन च। एतदपि यावल्लब्ध सशोध्य मुद्रितमस्माभि। एतट्टीकामुद्रणानन्तरमस्या अन्यत्पुस्तक मिलितम्। तत्र सेवाफलविवरणानुसारेण श्लोकक्रममादाय सैव टीका पुनर्लिखितेति प्रतिभाति। तत्र विद्यमाना उपयोगिपाठभेदा परिशिष्टे दर्शिता।

७ श्रीपुरुषोत्तमकृतटीकाया पुस्तकत्रयमुपलब्धम्। तत्र पुस्तकद्वय प गट्टूलालसग्रहस्थम्। तृतीय डक्कनकोलेजसग्रहस्थम्। एतत्पुस्तक शुद्ध एतच्च पूर्वं लिखित श्रीपुरुषोत्तमै। परन्तु तत्सेवाफलटीका श्रीपुरुषोत्तमै सविस्तर पुनर्लिखितेति प गट्टूलालसग्रहस्थादर्शद्वयदर्शनेनाक्लिष्टतया निश्चीयते। प गट्टूलालसग्रहस्थादर्शद्वय समवलम्ब्य एतद्विवरण मुद्रितमग्रास्माभि। एतन्मुद्रणानन्तरमेकमति शुद्ध प्राचीन पुस्तकमेतद्विवरणस्य मिलितम्। तत्रत्योपयोगिपाठभेदा परिशिष्टे दर्शिता।

८ एतत्पुस्तक प गट्टूलालसग्रहस्थम्। अस्य कर्तृनाम न विद्यते। यथादृष्टमेव मुद्रितमस्माभि। इद श्रीपुरुषोत्तमविवरणानुसारिविवरणम्।

९ लालूभट्टकृतटिप्पण्या पुस्तकद्वयमुपलब्धमस्माभि। एक डक्कनकोलेजसग्रहस्थम्, द्वितीय प गट्टूलालसग्रहस्थम्। प्रथम प्राचीन प्राय शुद्धम्, द्वितीयमपि तथैव परन्तु नूतनमिति प्रतिभाति।

१० जयगोपालभट्टकृतटीकाया एकमेव पुस्तक डक्कनकोलेजस्थसग्रहादुपलब्धम्। अस्मिन्पुस्तके ४३ तम पत्र तु न मिलति। इद पुस्तक ग्रन्थकृतो मूलमेवेति प्रतिभाति। तत्र एकवार विवरण समाप्य परमतखण्डनाय २० पत्राणि पश्चादनेन लिखितानि। किं तस्य मत तत्तु पूर्वं तेन स्वटीकायामेव दर्शितम्।

११ लक्ष्मणभट्टकृतटीकाया एक पुस्तक श्रीगोकुलेशचरणपरागानुरागि ठ सवलाल साकलचन्द' इत्यनेन दत्तम्। इद पुस्तक ग्रन्थकृता स्वयमेव लिखितमिति प्रतिभाति।

१२ अस्य विवरणस्य कर्तृनाम न विद्यते। अस्य पुस्तकमेक गट्टूलालसग्रहस्थम्। प्राय शुद्धम्। परन्तु क्वचित्सन्दिग्धम्। यथादृष्टमेव मुद्रितमस्माभि।

अस्मिन्पुस्तकसञ्चये च गट्टूलालसंस्थया 'कार्याध्यक्ष काशीदास नारायणदास दलाल वकील, हाईकोर्ट, मुख्यश्रद्धी श्रेष्ठि त्रिभुवनदास' इत्येषां महत्युपकृतिः । 'डा० बेलवल्कर' इत्येतेषां महत्युपकृतिः पुस्तकप्रदानतोऽभूत् । अस्मान्मिश्रोत्सवलालस्यापि तथैवोपकृतिः । चतुर्थपञ्चमपीठाधीश्वर-गोस्वामिश्रीवल्लभलालानां माधवशास्त्रिणश्च हस्तलिखितशुद्धपुस्तकप्रदानतो महत्युपकृतिः, परन्तु मुद्रणानन्तर तत्पुस्तकानां प्राप्तत्वादुपयोगिपाठा अत्र विद्यमाना परिशिष्टे निवेशिता ।

विवरणकृतां परिचयः ।

तत्र प्रथम सेवाफल-

१ तत्रादौ श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटित सेवाफल द्वादशटीकायुत समुद्रयते । प्रकटीकृतमिति । विवरण तु श्रीमदाचार्यकृतिरेव । स्वीयाननुगृहीतुकामै श्रीमदाचार्यचरणैस्तत् श्रीमदाचार्यश्रीवल्ल-

२. द्वितीय मुद्रित विवरण श्रीमत्कल्याणरायाणाम् । इमे श्रीकल्याणराया मार्गशीर्षकृष्ण भाचीश्वरद्वितीयकुमारश्रीमद्विठ्ठलेश्वरप्रभुचरणद्वितीयसूनुश्रीमद्गोविन्दरायाणा सूनव । तेषामनेकग्रन्था सूक्ष्मा सप्तम्यां १६२५ वर्षे प्रादुर्भूता । श्रीमद्धरिरायाणा पितृचरणा अपि ते एव । तेषां प्राचीनतमा, अधुनापि हस्त अपि सिद्धान्तमर्मबोधका सरलाश्च सन्ति । निबन्धोपरि टिप्पणी मयनगोपरीभवन्ति । लिखितग्रन्थाकारेण विराजते । उत्सवनिर्णायका अपि केचिद्ग्रन्थाश्च प्रादुर्भाविता षोडशग्रन्थोपरि तेषां व्याख्यानानि दृश्यन्त अन्यान्यपि ।

३ तृतीय व्याख्यान चाचाश्रीगोपेशानाम् । इमे श्रीगोपेशा श्रीम प्रभुचरणविठ्ठलेश्वराणां सप्तमपुत्रश्रीघनश्यामानां सूनव, चचा वा चाचा चेतिप्रसिद्धा । षोडशग्रन्थोपरि बहुवक्षेपा टीका विद्यमाना दृश्यन्ते । भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६५२ वर्षे प्रादुर्भूता ।

४ चतुर्थं व्याख्यान श्रीमद्देवकीनन्दनानाम् । के इमे देवकीनन्दनास्तन्न निश्चितया निश्चेतु यच शक्तुम । तथापि श्रीपुरुषोत्तमकृततद्विवरणोपन्यासाज्ज्ञायते यत् ते श्रीपुरुषोत्तमानां प्राच्च । श्रीमद्विठ्ठलेश्वरप्रभुचरणपञ्चमपुत्रश्रीरघुनाथाना सूनव श्रीदेवकीनन्दना मार्गशीर्षशुक्लसप्तम्यां १६२४ वर्षे प्रादुर्भूता । कदाचित् त एव एते, परन्तु तत्पुत्रश्रीरघुनाथकृतत स्तोत्रे तत्कृतग्रन्थानां प्राय रसाब्धिकाव्यबालबोधप्रकाशादिसर्वेषामपि नामानि गृहीतानि, तत्रास्य व्याख्यानस्य नामादर्शो नास्त्यन्देह । श्रीदेवकीनन्दनानां पौत्रा अपि श्रीदेवकीनन्दना बभूवु । तेपि १६८५ श्रावणशुक्लपूर्णिमायां प्रादुर्भूता । तेपि श्रीपुरुषोत्तमाना प्राच्च । कदाचित् तेऽप्यस्य प्रणेतार स्यु ।

५ पञ्चम व्याख्यान श्रीमद्धरिधनचरणानाम् । श्रीहरिराया इति प्रसिद्धा हि ते । तेषां प्रादुर्भावस्तु भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६४७ वर्षे । एषां ब्रह्मसम्बन्धसंस्कारस्तु श्रीविठ्ठलेश्वराणां चतुर्थलालै श्रीवल्लभै श्रीगोकुलनाथेतिप्रसिद्धैस्तै कृत । श्रीहरिरायाणामसंख्याता सूक्ष्मग्रन्था दृश्यन्ते । श्रीमद्धरिधनचरणस्वरूपे तु शुद्धपुष्टिमार्गीय फलात्मक रसात्मक विप्रयोगात्मक साक्षाद्दैन्य मूर्तिमत् प्रादुर्भूतमनुभूयते । तेषां व्याख्यानानि सर्वाण्यपि भक्त्यनुगुणानि । नि साधनजीवानुगृहीतुमेव तेषां प्राकट्यमिति प्रतिभाति । अत एवात्र मुद्रित तेषां सेवाफलव्याख्यान भक्त्यनुगुण सरल भक्ति निष्ठजनानुग्रहाय विराजते ।

६ षष्ठ श्रीविठ्ठलेश्वराणां सूनुना श्रीवल्लभानाम् । काकाश्रीवल्लभजीतिप्रसिद्धा हि ते श्रावण कृष्णचतुर्दश्यां १७०२ वर्षे श्रीमत्प्रभुचरणज्येष्ठपुत्रश्रीगिरिधरत पुरुषगणनया तृतीयसंख्या विभूषयन्त प्रोद्भूता । श्रीसुबोधिनीलेखकारा अप्येते तत्र । षोडशग्रन्थोपरि तेषामन्यानि व्याख्यानानि दृश्यन्ते । निरोधलक्षणविवृतिस्तेषामस्त्सविधे वर्तते । इमे श्रीवल्लभा श्रीदेवकीनन्दननन्दना, १६७२ माघ

सेवाफलतात्पर्यम् ।

श्रीकृष्णं वरसुन्दरं मधुरिमामूर्तिं तदास्यप्रभून् । सेवायां मकरन्दपानमधुपौ लोकोत्तरौ तत्सुतौ ॥
नत्वा तानखिलान् निगूढहृदयान् सेवारसास्वादकान् । व्याख्यानानि विलोक्य तानि विवृतिं सन्दोहरूपां यते

निःसाधनजनोद्धारप्रकटिततनुभिः श्रीमदाचार्यवर्यैर्निजजनाः स्वल्पेनैव प्रयासेन सर्वसिद्धान्तं जानीयुरितिकृपया षोडशग्रन्थाः प्रकटीकृताः । यद्यपि तं तमधिकारिणमुद्दिश्य आचार्यैरेते ग्रन्थाः प्रणीतास्तथाप्याचार्याणां यावन्त्य उक्तयस्तासां न्यायरूपत्वात् तत्तात्पर्यं सर्वथा सर्वदा त्रिकालाबाध्यमपरिछिन्नमिति तु निर्विवादं तद्ग्रन्थाध्येतॄणाम् । यथा नवरत्नो देवश्रीगोविन्दमुद्दिश्य प्रकटीकृतस्तथैव सेवाफलं श्रीविष्णुदासमुद्दिश्य प्रकटितम् । षोडशग्रन्थेषु सेवाफलग्रन्थस्त्वन्ते वर्तते । अस्य ग्रन्थस्य निगूढार्थत्वात् सकलपुरुषार्थपर्यवसानप्रतिपादकत्वात् स्वयमेवाचार्यास्तं विवृण्वन्तः । विवरणसहित एव सेवाफलग्रन्थो महानुभावैस्तैस्तैर्गोस्वामिभिर्भिन्नैश्च यथाशक्ति यथामति विवृतः । तत्र मिलितानां द्वादशविवरणानां संग्रहोत्र कृतः । यद्यप्येतासां टीकानां विषयोयं ग्रन्थस्तथाप्यस्य गूढार्थत्वं तु नैवापैति ।

आदौ तावद्यथा बालबोधोस्माभिः पूर्वं पुष्टिभक्तिसुधायां प्रस्तरेण स्पष्टीकृतस्तथैवेममपि ग्रन्थं प्रस्तरेण स्पष्टीकरिष्यामः, एतेनास्य ग्रन्थस्याशयो विशेषतः सुगमो भविष्यतीति ।

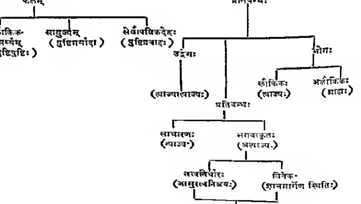

सेवा—नृणामात्यन्तिकनिःश्रेयससिद्ध्यर्थं श्रीमदाचार्यैः पूजामार्गाद्भिन्नः सेवामार्गः स्नेहप्रधानः प्रवर्तितः। अस्मिन् मार्गे स्नेहस्य प्राधान्यं न विधेः। सेवाशब्दार्थः श्रीमदाचार्यैः सर्वनिर्णयेपि दर्शितः। 'भक्तिशब्दस्य धात्वर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेमेति'। अनर्थमूलाहन्ताममताया नाशं विना चित्तस्य प्रवणं भगवति न भवतीत्येतदर्थं प्रथमं तनुजवित्तजसेवोपदिश्यते श्रीमदाचार्यैः। अहन्तारूपस्य देहस्य ममतारूपस्य वित्तस्य विनियोगो यदा भगवति सर्वांशेन भवति तदा तादृश्यहन्ताममताया विपरिणामो भवति, चित्तस्य सर्वतः सम्बन्धे निवृत्ते तस्य भगवति स्थितिर्भवति। भगवदीयस्य तदाहन्ताममतापि भगवदीया भवति। सा तु न बाधिका, प्रत्युत परमफलसाधिका। देहवित्तस्य भगवति विनियोगः साक्षाच्छ्रीमद्गोपीजनवल्लभोपदिष्टप्रकारेण महाप्रतिज्ञारूपसर्वस्वसमर्पणद्वारा श्रीमदाचार्यैः स्वशरणागतजीवानां कृतः। तदैव ते जीवा भगवदीया भूत्वा ज्ञाननिष्ठजीवानां परमकष्टेनासाध्यं जीवन्मुक्तिमहावबोधरूपमवान्तरफलमनायासेन प्राप्तवन्तः। एतादृक्प्रकारेण चित्तप्रवणद्वारा यदा भगवदीयस्य सेवा मानसी आधिदैविकी भवति, तदा सा स्वतःफलरूपा भवति। तादृशां विरलभक्तानां तु सेवां विना न किमप्यपेक्षितम्। एतदेवोक्तं श्रीभागवते 'मत्पुद्दिष्टसेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु'रिति। ईदृशी स्वतःफलरूपा सेवा केवलभगवदनुग्रहैकलभ्या। अतोऽस्मिन् ग्रन्थे यत्फलमुच्यते तत्पुष्टिमार्गीयसेवाया एव, न केवलमर्यादामार्गीयाया वा केवलप्रवाहमार्गीयाया वा। अत्र श्रीहरिराया वा श्रीमदाचार्यैः केवलाया मानस्या एव फलमुच्यत इति विचार्य तस्याः फलत्रयमुक्तवन्तः। श्रीपुरुषोत्तमाः तनुजवित्तजसहितमानसीसेवायाः फलमुच्यत इति विचार्य तस्याः फलमुक्तवन्त.। केचित्पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्यादापुष्टिप्रवाहसेवायाः क्रमेण फलत्रयमुक्तमाचार्यैरिति वदन्ति। सर्वैरपि सिद्धान्तमुक्तावलीप्रोक्ता सेवोपन्यस्यते। श्रीमदाचार्याणां वाचां निगूढार्थत्वात् विवरणकाराणां भिन्नभिन्नाधिकारवत्त्वात् यादृशोधिकारस्तादृशी स्फूर्तिरिति सर्वेषां मतानामाचार्याशयाविरुद्धत्वात् सर्वेषामविरोधस्तु सिद्ध एव। अथ सेवामार्गस्तु केवलप्रेमप्रधानः, नैवात्र क्रियाया वा ज्ञानस्य प्राधान्यम्। भगवद्भाववतां सर्वेषामत्राधिकार.। एतादृशीपुष्टिमार्गीयसेवायाः फलत्रयमुच्यते, उत्तममध्यमसाधारणभेदक्रमेण। तत्रोत्तमाया. फलमलौकिकसामर्थ्यं पुष्टिपुष्टे'। सायुज्य मध्यमाया. पुष्टिमर्यादायाः। सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु साधारणायाः पुष्टिप्रवाहाया'। जयगोपालभट्टास्तु एतत्क्रम नैवाङ्गीकुर्वन्ति। तेषां मते तु सायुज्यमेव परम फलम्, अलौकिकसामर्थ्यादि गौण फलम्। लक्ष्मणभट्टास्तु अत्यन्तरङ्गान्तरङ्गबहिरङ्गाणां सेवानां क्रमेण फल दर्शयन्ति।

अलौकिकसामर्थ्यम्;—भगवता सहगानादिसामर्थ्यं मुख्यानामिति श्रीकल्याणरायाः। अलौकिकभजनानन्दानुभवे स्वरूपयोग्यतेति श्रीगोपेशाः। श्रीमद्व्रजभ्योत्करील्या इतरप्रमाणागोचरमितरसाधनाप्राप्य सर्वात्मभावैकलभ्यभजनानन्दानुभवलक्षणमिति श्रीदेवकी-

शुद्धसप्तम्यां प्रादुर्भूता इति केषाञ्चिन्मतं जामनगरस्थश्रीमदनमोहनलालमन्दिरस्थश्रीसुबोधिनी-लेखेतिश्रीतो निरुद्धत्वात्केषाञ्चिक प्राह्यम्। भाषासाम्येनापि निश्चीयते यत् श्रीसुबोधिनीलेखकृते रेवेय टीका लिखितेति। लेखकस्य तेषां श्रीसुबोधिन्यनुसारिव्याख्यानं तदेव ज्ञापयति । एतेन गीतातत्त्वदीपिकाकारा श्रीवल्लभा श्रीसुबोधिनीलेखकृतश्च श्रीवल्लभा उभे भिन्ना, यदि गीतातत्त्वदीपिकाकारा श्रीवल्लभा श्रीदेवकीनन्दननन्दना एव स्युरिति। पञ्चमगृहे द्वौ श्रीवल्लभौ प्रादुर्भूतौ । तयोरेक श्रीदेवकीनन्दनतनुज १६७२ मार्गशीर्षशुक्लसप्तम्यां प्रादुर्भूत । अन्यश्च श्रीविठ्ठलरायसूनुः १७२९ कार्तिककृष्णद्वादश्यां प्रादुर्भूतः । स तु श्रीपुरुषोत्तमदर्वाचीन इति न स लेखकृत् । जामनगरस्थश्रीमदनमोहनलालमन्दिरस्थश्रीसुबोधिनीलेखेतिश्रीतो ज्ञायते यदिमे श्रीवल्लभा काकाश्रीवल्लभजीतिप्रसिद्धा श्रीविठ्ठलेशसूनव । तत्र श्रीपुरुषोत्तमात् प्राक्कालीन श्रीविठ्ठलेशसूनुर्न कोपि श्रीवल्लभ पञ्चमगृहे प्रादुरभूत् । तस्मात् श्रीरघुनाथवरस्य कस्यापि वल्लभस्य लेखकर्तृत्व नैव समीचीनम् ।

७ सप्तम श्रीमत्पुरुषोत्तमानाम् । श्रीमदाचार्यत पुरुषगणनया सप्तमीं सख्यां विभूषयन्तो भाद्रपदशुक्लदशम्यामेकादश्यां वा १७२४ वर्षे प्रोद्भूता । तेषां विवरण शास्त्रीयमाचार्यौशयतल स्पर्शीति प्रतिभाति । विशेषतस्तेषां परिग्रहजिज्ञासुभि पुष्टिभक्तिसुधेतिमासिकपत्रिकाया पञ्चमवर्षस्य तृतीयाङ्को द्रष्टव्य । यावत्प्राप्य वाङ्मयान्तर वा तेषां चरित्रादिकमस्माभिस्तत्रैव निवेदितमिति नात्र पुनरनूद्यते ।

८ अष्टम व्याख्यान केषाञ्चिद्गोस्वामिनाम् । इद व्याख्यान श्रीपुरुषोत्तमानुसारिश्लोकान्वय मनुसरति ।

९ नवम व्याख्यान लालूभट्टानाम् । केचिद्द्राविडजातिजनाः तैलङ्गदेशीया विद्वांसो ब्राह्मणा श्रीमद्विठ्ठलेश्वरप्रभुचरणैर्गोकुले समानीता । तै सह श्रीमत्प्रभुचरणै कन्यादानव्यवहारो रक्षित । तैलङ्गदेशेषु ब्राह्मणेषु द्वौ भ्रातरौ गोविन्दकृष्णभट्टौ बभूवतु ययोर्भगिनी श्रीरुक्मिणी श्रीमत्प्रभुचरणै स्वपत्नीत्वेन स्वीकृता । आत्रेयगोत्रस्य विश्वनाथस्य पुत्रौ हि एतौ । विश्वनाथभट्टवंशेषु कश्चिन्मधुसूदन भट्टो बभूव । तस्य मधुसूदनभट्टस्य सूनव एते लालूभट्टोपनामबालकृष्णदीक्षिता । सम्राट्सवाई जयसिंहस्याश्रिता । सवाई जयसिंहस्तु सवत् १६८८ वर्षे प्रादुर्भूत, १७२८ वर्षे पञ्चत्व गत । अतोऽस्मिन्समये लालूभट्टा विद्यमाना आसन् । प्राय श्रीमद्गोस्वामिना दुहितृतो वश्या भट्टा इत्युच्यन्ते । लालूभट्टा अपि तथैव । गोस्वामिश्रीगिरिधारिणा शिष्या । तेषामनेकग्रन्था हस्तलिखिता दृश्यन्ते । तथा लेखनशैली तु सरला वर्तते । तत्सारल्यमस्मिन् व्याख्यानेपि प्रकटीभवति । अणुभाष्यनिगूढार्थ प्रकाशिकाश्रीसुबोधिनीयोजनानिबन्धयोजनासेवाकौमुदीनिर्णयार्णवप्रमेयरत्नार्णवषोडशग्रन्थविवरणादयो बहवो ग्रन्थास्तेषां प्रकाशकर्तृन् प्रतीक्षन्ते ।

१० दशम व्याख्यान मटपातजयगोपालभट्टानाम् । एते चिन्तामणिदीक्षितस्य सूनव । ते श्रीमत्प्रभुचरणश्रीविठ्ठलेश्वरद्वितीयकुमारश्रीगोविन्दरायज्येष्ठपुत्रश्रीकल्याणरायाणां शिष्या । स्वकृत तैत्तिरीयभाष्ये वह्निसुतसुतपदसे च स्वपरिचयमेव कारयन्ति । प्रणमामि हरिं श्रीमद्वल्लभाचार्यस्वरूपिणम्, श्रीविठ्ठलेश्वराख्यांश्च प्रभून् स्वाभीष्टसिद्धये । श्रीमद्गोकुलनाथान् श्रीमत्कल्याणरायगुरुचरणान् । नामनिवेदनदातॄन् प्रणमामि मुहुर्मुहु प्रेम्णा । तैलङ्गद्विजचिन्तामणितनयो मटपति विख्यात । जयगोपाल उपनिषद्भाष्य वितनोति तैत्तिरीयाणाम् ॥, श्रीमद्वल्लभविठ्ठलेश्वरहरिं श्रीगोकुलेशप्रभून् । नत्वा भक्तिपथप्रचारचतुरान् श्रीकल्याणरायान् गुरून् । तातभ्रातृपदाम्बुजातयुगल ध्यात्वा च सर्वोदित कुर्वे प्रायमह वह्निसुतसुतभ्यमपि वेञ्जवा ।, 'तैलङ्गाभरणश्रीचिन्तामणिदीक्षितात्मजातेन । जयगोपाल

कृता कृतिरेषा चन्द्रतारकं जयतात् ।' अहेषु इमे व्याख्यातॄणामपि प्राग्रः । अद्यापिपर्यन्तमज्ञातपूर्वा हि ते । पं. गट्टूलालजीलेखेष्वपि तेषां न किमपि विद्यते । परन्तु एतेषां वैदुष्यं तु निर्विवादम् । बहवोऽपि कृतयस्तेषामुपलभ्यन्ते । तैत्तिरीयभाष्यबहिर्मुखमुखध्वंसविल्वमंगलकृतकृष्णकर्णामृतटीकाशुद्धपुष्टिमार्गीयसेवादयः प्रबन्धास्तेषां नयनगोचरीभवन्ति । सरस्वतिकृतसंगीतसूत्रटीकायाः पत्रद्वयं तत्रसुस्राविगुंजरातीपत्रदीपावल्यंके संवत् १९७० वर्षे मुद्रितम् । भक्तिवर्धिन्या स्वकृतटीकाया उपन्यासोऽस्मिन्नेव सेवाफलव्याख्याने तैः क्रियते । मुण्डकोपनिषद्भाष्यमपि तैः कृतमिति सम्भाव्यते इति तत्कृततैत्तिरीयभाष्याज्ज्ञायते । सेवाफलव्याख्यानमपि तेषामतिरसिकं वर्तते । एतैरस्य व्याख्यानस्यान्तिमपद्यानि स्वकृतविवरणमेकवारं समाप्य पुनः श्रीहरिरायादिमतखण्डनाय पश्चाल्लिखितानि । तेषां परमतखण्डनं नास्माकं सन्तोषप्रदम् । एतदग्रे स्पष्टीकरिष्यते ।

११. एकादशं व्याख्यानं भट्टश्रीलक्ष्मणभट्टानाम् । इमे लक्ष्मणभट्टाः भट्टश्रीनाथभट्टपुत्रगोपीनाथभट्टसूनवः । इमे तु सर्वथा अज्ञातपूर्वाः । यद्यपि ग्रन्थान्ते तेषां नाम न विद्यते तथापि तत्पुस्तकोपरि 'श्रीनाथभट्टस्य पुत्रश्रीगोपीनाथभट्टस्य पुत्रलक्ष्मणभट्टस्येद'मिति दृश्यते । एतेषामन्येऽपि ग्रन्थाः पं. गट्टूलालहस्तलिखितसंग्रहे दृश्यन्ते । तथापि ग्रन्थान्ते इतिश्री समाना ।

१२ अस्य विवरणस्य कर्तृनाम न विद्यते । अत एवास्माभिरन्ते मुद्रितम् । जयगोपालकृततदुपन्यासादिदं केऽपि प्राचीना इति निश्चीयते । प्रसिद्धासु सेवाफलटीकासु श्रीव्रजनाथकृता टीका नास्माभिरुपलब्धा । जामनगरे श्रीमदनमोहनलालमन्दिरस्थपुस्तकसंग्रहे तस्याः पुस्तकत्रय विद्यते, परन्तु तन्मन्दिराधिष्ठातृश्रीअनिरुद्धाना कृपाऽभावात् सा टीका नास्माकं मिलिता । तेषु पत्रद्वयमपि प्रेषितं परन्तु तदुत्तरमपि तेषामवकाशो न मिलित इति प्रत्युत्तराभावादनुमीयते ।

अस्मिन्मुद्रणे त एव पाठा रक्षिता ये केषुचिदपि आदर्शपुस्तकेषु विद्यन्ते । कुत्राप्यादर्शपुस्तकेऽनुपलभ्यमानः पाठस्तु, यत्रापि आदर्शे विद्यमानः पाठोऽस्माकमसमीचीनो भाति, तथापि नैव निवेशितः, यतस्तथैव करणे क्वचिन्महाननर्थो भवति । केनचित् कुत्राप्यादर्शपुस्तकेऽविद्यमानः स्वाभिमतपाठनिवेशनेनाशुद्धः कल्पितः पाठो निवेशितः, टीकाकारान् प्रति महानन्यायश्च कृतः । प्रार्थयामहे च साम्प्रदायिकग्रन्थमुद्रणकर्तॄन् प्राचीनादर्शे विद्यमानानेव पाठान् मुद्रणे रक्षन्तु, न तु स्वमनःकल्पितान्, यतो यः पाठोऽस्माकमशुद्धः प्रतिभाति स अन्येषामत्यन्तसमीचीनो भातीति ।

अस्य यावत्प्राप्तटीकासमेतसेवाफलग्रन्थस्य मुद्रणव्ययो गोस्वामिवर्यश्रीजीवनलालैः महर्षं कृत इति तेषामुपकृति वयं सविनयं स्मरामः, प्रार्थयामहे चान्येऽपि गोस्वामिनः श्रीमन्तो वैष्णवाश्च एताननुकुर्युरिति । एतेषां गोस्वामिवर्याणां कृपयैव सेवाफलं द्वादशविवरणयुतं मुद्रितं साम्प्रदायिकानां सुगमं भविष्यतीति ।

मार्गशीर्षकृष्णनवमी,
श्रीमत्प्रभुचरणप्राकट्योत्सवः

मूलचन्द्र तेलीवाला ।
धैर्यलाल सांकलीया ।

नन्दनाः । भगवतः कोटिसूर्याग्निरूपस्यात्यन्तिकफलदित्सायां सर्वलीलाविशिष्टस्य प्रमो- हृदयप्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यमिति श्रीहरिधनचरणाः । सर्वाभोग्यसुधेतिश्रीवल्लभाः । पर- प्राप्तिविवरणश्रुत्युक्तभगवत्स्वरूपानुभवे 'प्रदीपवदावेश' इतिसूत्रोक्तरीतिकभगवदावेशजा योग्यता यया रसात्मकस्य भगवतः पूर्णस्वरूपानन्दानुभव इति श्रीपुरुषोत्तमाः । तदनु- सारिणश्चानुक्तत्वात् तथैव । साक्षात् श्रीवृन्दावनादौ श्रीकृष्णस्वरूपदर्शनस्पर्शनादिकृति- क्षमत्वमितिलाल्भट्टाः । कस्यचिदेतत्सङ्गाते कस्यचिदेतद्देहपातोत्तरं वृन्दावनादिष्वलौकिक- सद्घातेन प्रियतमभगवत्सङ्गम इति जयगोपालभट्टाः । भगवत इवालौकिकमेव ज्ञान- क्रियाभ्यां सामर्थ्यं जगद्व्यापारवर्जमिति लक्ष्मणभट्टाः । साक्षाद्भगवत्सम्बन्धरूपम्, हीन- जीवस्योत्तमभगवता सह साम्येन रतौ रसोद्बोधश्चेतिविवृतिटिप्पणीकाराः ।

इदं त्ववधेयम् । अत्र सर्वेषां टीकाकाराणां मतानि प्रायो भिन्नानीत्यतोनुमीयते यदत्राचार्यैर्न किमपीदमित्यतया विवक्ष्यते । जयगोपालभट्टं विना सर्वेपि टीकाकारा अलौकिकसामर्थ्यमुत्तमफलत्वेन मन्यन्ते । नैवेदं फलं जीवकृतिसाध्यम्, परन्तु केवल- भगवदनुग्रहैकसाध्यम् । महानन्दात् समुद्धृत्येद फलं भगवता वृतेषु विशेषकृपया दीयते । कीदृशं तद्दानं तन्निश्चेतुं नैव शक्यते, भगवदिच्छाधीनत्वात् तस्य । एतत्फलं तु गोपवधू- सदृशस्वतन्त्रप्रेमात्मकोत्कटभक्त्या परमसंतुष्टेन भगवता विशेषानुग्रहख्यापनाय क्वचिद् दीयते । कोटिब्रह्माण्डादीनामखिलनियामकः सन्नप्यत्र स्वेच्छया भक्तमनोरथपूरणाय भगवान् तद्वश्यो भवति । अखिलं जगत् स्वेच्छया लीलया नर्तयन्नपि परमार्द्रार्द्रो भूत्वा भक्तमनोरथानुसारेण तद्वशः सन् स्वयं नृत्यति भगवान् । सर्वज्ञो भूत्वापि यशोदायाः सन्निधौ मुग्धमुग्धवत् तिष्ठति । भक्तमम्बरीषं स्वयं रक्षन्नपि भक्तापराधक्षमाकरणाय स्वस्याशक्तिं कथयन् दुर्वाससं प्रति भक्तवश्यतां प्रकटयति । अखिलं विश्वं स्वमायया बन्धयन्नपि श्रीमन्मातृचरणानां भक्त्यतिशयेन स्नेहातिशयेन तद्वशः सन् स्वयं श्रीमद्यशोदया

---

१ ननु किमर्थं भगवानेतावद्दृष्टवा बन्धनरूपो जात इति चेत्, तत्राह एवमिति । एवमपकारिणि लोके स्वकीयत्वमात्राभिमानेनापि एतावतीमभूतपूर्वां कृपां करोतीति स्वस्य भक्तवश्यता प्रदर्शिता । प्रदर्शन- स्यापि प्रयोजनमाह हरिणेति । स हि सर्वदु:खहर्ता तत्प्रसिद्ध्यर्थमसम्बन्धेन दु:खहर्तृत्वेतिप्रसंगात् संसार- निलय स्यादिति सम्बन्धार्थेकृपालुतां प्रदर्शयति । कृपा च सर्वधर्मधर्मिभ्यो बलिष्ठेति यत्तु भक्तवश्यता- शब्देनेवोक्ता । ननु भक्त्या चेद्धर्मधर्मिणामुपमर्दं क्रियते तदा स्वरूपस्य प्रच्युतत्वात् फलाभावात् प्रदर्शन- मपि व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्याह स्वदर्शनापीति । स हि स्ववश एव, न केनाप्युपमर्दः । अनेन फलसाधकत्व- मुक्तम् । फलस्वरूपमाह कृष्णेनेति । नन्वेवं कृते अन्यो महान् मन्दारिर्न लभ्यते, ततो माहात्म्यस्य न्यूनभावाम तथा फलत्वमित्याशङ्क्याह यस्येद मेश्वरं वशं इति । ततदधिष्ठातृदेवतासहितं सर्वं यस्य जगत् वशे । अतो नान्यभावत केनचिदपि कर्तुं शक्यमिति भावः । नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यंगसंश्रया प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात् । एवं स्वमनोरथे निर्दे-।

दासा यद्धो भवति । ईदृशं किञ्चित्प्रकारकं सामर्थ्यं यत्र भक्त्यतिशयेन प्रेमातिशयेन
भगवान् भक्तवश्यः सन् तत्कामान् पूरयति तत्र प्रकटीभवति । इदमेवोत्तमं फलं
श्रीमदाचार्याणामभिप्रेतमिति नात्र संशयः । श्रीमद्गोकुलनाथानां श्रीमत्पुरुषोत्तमा-
नामप्ययमेवाभिप्रायः । 'सोऽश्नुते'श्रुतिरपि भक्तस्य निखिलरसभोगचतुरेण रसेश्वरेण
भगवता सह भोगं निरूपयन्ती भक्तस्य प्राधान्य भगवतो गौणत्वं स्पष्टमेव कथयति ।
प्राप्तं फलं यावत्पर्यन्तं स्वाधीनं न भवति तावत्पर्यन्तं तस्य फलत्वमपि न प्रकटी-
भवति । रसशास्त्रेऽपि रसाधिक्ये पुंभावः प्रतिपाद्यते । अर्थाद्भगवतो गौणत्वं भक्तस्य
प्राधान्यं यत्र भवति तत्रैवालौकिकसामर्थ्यं प्रकटीभवति । स्वस्य स्वातन्त्र्यं पालयन्
भक्ताधीनो भूत्वा तन्मनोरथान् पूरयन् स्वस्य विरुद्धधर्माश्रयत्वं महामाहात्म्यं च
प्रकटीकुर्वन् भगवान् श्रीकृष्ण एव परमफलरूपोऽलौकिकसामर्थ्यरूपः श्रीमदाचार्याणां
हृदयशेपे नित्यं रमते स्म । बहिरपि श्रीमदाचार्याणां सन्निधौ अखिललीलाविशिष्टो
भगवान् कृष्णो रममाणः प्रकटतया भक्तवश्यतां प्रदर्शयन् निरन्तरं स्वदृग्विषयो भवति ।
एतादृशं भगवतः परम फल वाङ्मनसागोचर सत् शब्दैः कथं प्रतिपादयितुं शक्यते ।
अनुभवैकवेद्यत्वात् तस्य । अत एवाचार्यैः तादृशनिगूढत्वप्रदर्शनाय 'अलौकिकसामर्थ्य'-
मिति परमनिगूढशब्दप्रयोग. कृत इति प्रतिभाति । अत्रापि सर्वेषां टीकाकाराणाम-
निरोधस्तु अनुक्तसिद्ध एव । सर्वेषां भिन्नाधिकारवत्वात् भगवतः स्वतन्त्रेच्छत्वाच्च कीदृशं
दानं भगवान् करिष्यति तन्न ज्ञातु ... इति । श्रीपुरुषोत्तमचरणैस्तु अनिरोधप्रकारो-
तिसुन्दरतया प्रतिपादित., अतस्त.ऽस्माभिरत्रानूद्यते । एतत्सर्वं भगवतो नानाविध-
प्रवेशहेतुकत्वाद्भगवदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादुपपन्नमिति ।

सायुज्यम् ।—सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यम्, सहभावः गोपाना-
मिनेति श्रीकल्याणरायाः । भक्त्या मामभिजानातीत्युक्तो भगवत्स्वरूपे लय इति श्रीगोपेश-
श्रीदेवकीनन्दनश्रीपुरुषोत्तमा. लालूभट्टाश्च । निवृतिटिप्पणीकारा अपि तथैव । संयोगानु-
भवसामर्थ्यम्, भगवता सह सततमविनिरेव सार्वदिकसंयोगरसानुभव इतिश्रीहरिधन-
चरणाः । सोऽश्नुत इतिश्रुत्युक्तमहमानेन भगवता सह भोग इतिश्रीवल्लभाः । शुद्धपुष्टिमार्गीयं
भेदसम्बन्धघटित केवलेन हि भावेनेत्यादिवाक्यैरच्युतमत्कृपया ब्रह्मभावज्ञानवैराग्यनिरपेक्ष-
प्रेमासक्तिव्यसनरूपकेनलभावजनितभगवत्सहभावविशिष्टसार्वकालिकसर्वकामभोगरूपमिति
जयगोपालभट्टा. । उभयविधमपि सायुज्यमितिलक्ष्मणभट्टा. । तथा चात्र द्विविधं सायु-
ज्यम् । रूढार्थकं यौगिकार्थकं च । तत्राद्यं ज्ञानमिश्रितानामेकत्वरूपम्, अभेदरूप
भेदात्यन्ताभावरूपमात्मनैक्यम । शुद्धभक्तानामपरम्, भेदस्तद्दत्तसहितस्तदानन्दानु-
भवात् । पूर्वेन देहेन्द्रियप्राणान्त.करणानि विहायेह स्वात्मनैव केवलेन तदानन्दानुभवः,

1 यत्र च भक्तस्य स्वातन्त्र्य तदिच्छानुसारेण भगवद्दृत्तिमया दामोदरलीलायां सा पुष्टि । नि. १०२.

अपरत्र सहैव तैरिति सार्थकतैषाम्, अन्यत्र नेति । अत्रापि पूर्ववदविरोधस्तु सिद्ध एव । व्याख्यानस्य प्रकारद्वयम् । एक शास्त्रीयम्, अपर भक्तिमार्गीयम् । श्रीहरिरायादयो भक्तिसरणीमनुसृत्य यौगिकार्थक सायुज्यमङ्गीकुर्वन्ति । श्रीपुरुषोत्तमादय शास्त्रीयसरणीमनुसरन्तो रूढार्थक सायुज्यमङ्गीकुर्वन्ति, तथापि यौगिकार्थसायुज्यग्रहणे नैव तेषां प्रद्वेष, प्रत्युत सम्मतिरपि वर्तते, यत तैरपि निबन्धे 'आदिमूर्ति कृष्ण एव सेव्य सायुज्यकाम्यये'त्यत्र तथैव सायुज्यशब्दो यौगिकार्थे व्याख्यात । श्रीपुरुषोत्तमरीत्या विचार्यमाणे इद सायुज्य पुष्टिमर्यादाया फल भवति । श्रीहरिरायरीत्या विचारिते तु इदमपि फल मानसा शुद्धपुष्टेरेवेति भेद । अत्रेदमपि ध्येयम्, शास्त्ररीत्या जीवस्य प्राप्यफलस्य विचार्यमाणे सायुज्यपर्यन्त बुद्धिरारोहति, तदतीते अलौकिकसामर्थ्ये तु न । अत एवाचार्या प्राय सर्वत्र फल निरूपयन्त सायुज्यशब्द प्रयुञ्जन्ति । स्वस्मिन् लयं कारयित्वा अनुग्रहविशेषेण पृथगाविर्भावयित्वा यदा फल दातु प्रभुरिच्छति, तदा भक्तस्य तदनुभवोपि नैव स्वरूपेण, परन्तु भगवत्कृततत्प्रवेशहेतुक, प्रभुरेव तस्यानुभवात्मा तदैव भवति । तस्यामवस्थाया यत्र सर्वोपि व्यवहारो भगवदीय एव, आत्मत एव इद सर्वम्, तत्र द्वैताद्वैतयो प्रश्नो नैवोत्तिष्ठति । तथापि भेदेनानुभव विना भक्तिरसस्यानुभवो सम्मान्यतो न भवतीति विचार्य श्रीगोकुलनाथश्रीहरिरायादिभिर्द्वैतविशिष्टाद्वैतपक्ष क्वचिदुपन्यस्त । वास्तव श्रीमदाचार्यप्रतिपादित शुद्धाद्वैतमेवाखण्डित तेषा मते भवति । तथापि तत्पक्षमनुसृत्य ते सायुज्यशब्दस्तथैव यौगिकार्थे व्याख्यात । अतो न कुत्रापि विरोध । अत्र जयगोपालभट्टास्तु श्रीहरिरायवत् सायुज्यशब्द यौगिकार्थकमङ्गीकुर्वन्त सायुज्यमेव परम फलमलौकिकसामर्थ्यादि गौण फलमिति मन्यन्ते, तन्नैवास्माक मनस्यायाति । विप्रयोगस्य परमफलत्व सयोगस्य मध्यमफलत्व यच्छ्रीहरिचरणै प्रोक्त तदपि परमाग्रहेण खण्डयन्ति । परन्तु तत्रापि दृष्टिभेदत एव विचारवैषम्य भासते । श्रीहरिरायादय विप्रयोगमेव परमफलत्वेन मन्यन्ते, सयोगादयस्तेषा मते व्यभिचारिभावा, विप्रयोगस्तु स्थायिभाव । श्रीमत्प्रभुचरणा सयोग परमफलत्वेन मन्यन्ते, तत्र सयोग स्थायिभाव, विप्रयोगादय व्यभिचारिभावा । आचार्यास्तु 'आन्तर तु महाफल'मित्यत्र विप्रयोगस्य महाफलत्व दर्शयन्ति । अत्र विरोधस्तु नैवाणुरपि । आचार्याणा विप्रयोगरूपत्वात् श्रीमत्प्रभुचरणाना सयोगरूपत्वादुभयरूपेण प्रभु फलरूपेण उभयद्वारा प्रकटीभवन् स्वीयाना मनोरथान् पूरयिष्यन् निरा सुधा वर्षयिष्यति कथ केति न ज्ञातु शक्यते । अत सर्वमत्र प्रतिक्षणनूतनत्वात् रमणीयमेव । किञ्च, रसरूप प्रभुरेव परम फलम् । रसस्योभयदलविशिष्टत्वात् सयोगरूपेण विप्रयोगरूपेण वा फलत्व तस्य नैव व्यभिचरति । यस्य निष्ठा विप्रयोगे भवति स त प्रधानीकृत्य सयोग मध्यमफलत्वेन मन्यते, यथा श्रीहरिरायादय । यस्य निष्ठा सयोगे भवति स त प्रधानीकृत्य विप्रयोग

मध्यमफलत्वेन मन्यते, यथा जयगोपालादय । श्रीमदाचार्यास्तूभयदलविशिष्टमपि प्रभुस्वरूप परमफलरूप मन्वाना निप्रयोगस्य क्वचित्प्राधान्य दर्शयन्ति, क्वचित्संयोगस्य । उभयस्य परमफलत्वे तु नैव सन्देह, तथापि यादृश भगवता दान तादृशी रुचिरुत्पद्यते । अतो भगवतो रसरूपत्वात् तस्य च भावविभावानुभावै पुष्टत्वात्, स्वपूर्णप्राकट्यकरणार्थैवात्र विविधमतप्रदर्शन भगवता स्ववृतभगवदीयद्वारा कृतमिति प्रतिभातीति सर्वं समञ्जसम् ।

सेवौपयिकदेहो वैकुण्ठादिषु,—सेवाया क्रियमाणायामेवानुग्रहविशेषाभावात् साक्षात् सेवानुपयोगे अन्यै तादृशसाक्षाद्रमानुभवकर्तृभि क्रियमाणाया सेवाया उप समीपे योग सम्बन्ध तद्वत्पक्ष्यादिशरीरप्राप्तिरितिश्रीहरिधनचरणा । देहेन्द्रिया सुहीन पुरुषस्त्रीपशुपक्षिवृक्षाद्याकृति सस्थानविशेष इति श्रीपुरुषोत्तमचरणा । व्यापिवैकुण्ठादौ पार्षदादिदेहप्राप्तिरिति लालूभट्टा । 'गोकुल वननैकुण्ठमिति कृष्णोपनिषदुक्तेप्रपञ्चातीतभगवन्निवासस्थान व्यापिवैकुण्ठान्तर्गत वृहद्वन नन्दीश्वर चोच्यते । आदिपदेन श्रीवृन्दावनश्रीमद्गोवर्धनादि च । तत्र सायुज्यफलादानेधिकार सेवौपयिकदेहरूपो वाथवा भवतीत्यर्थ । वैकुण्ठान्तरस्य शुद्धपुष्टिमार्गीयफलरूपभगवल्लोकत्वाभावाद् गोकुलस्यैव तादृग्भगवल्लोकत्वाद् वैकुण्ठपदेन श्रीगोकुलम्, आदिपदेन वृन्दावनादिक चाभिप्रेतमितिजयगोपालभट्टा । अप्राकृतभूतभौतिकतृणलतौषधिवृक्षपशुपक्ष्यादिदेह अधिकारात्मा, तत्र सेवोपयोगी बोध्य, वैकुण्ठपदेन मुख्येऽमुख्ये च । आदिपदेन स्वर्गादिषु विष्णो स्थानेष्वपि तथेतिलक्ष्मणभट्टा । अलौकिकदेहवयोगुणादिकमितिविवृतिटिप्पणीकारा । रमाप्रार्थितवैकुण्ठक्षीरोदश्वेतद्वीपेषु भगवत्सेवायोग्यदेहप्राप्तिरितिश्रीगोपेशा । तथैव श्रीदेवकीनन्दना । आदिपदेन श्रीमथुरावृन्दावनादिक ग्राह्यमितिश्रीवल्लभा । आदिपदेन भूलोके उद्धवादीनामिव गवादीनामिवेति वा सेवोपयोगिदेहप्राप्तिरितिश्रीकल्याणराया । अनेद ज्ञेयम् । श्रीगोपेशा श्रीदेवकीनन्दना क्रमेण मर्यादाभक्ते प्रवाहिकभक्ते फल वदन्ति, अन्ये तु पुष्टिभक्ते साधारणभक्तेर्वा फल वदन्तीनि दृष्टिभेदतस्तारतम्यम् ।

उद्वेग —सेवाया क्रियमाणायामन्यत्र गमनेच्छादिरितिश्रीकल्याणराया । मनस सेवाया क्रियमाणायामुत्कृष्टो वेग, सर्वथा तत्रास्थिरता चाहिर्मुख्यमितिश्रीहरिधनचरणा । मनसोन्यपरतेतिश्री वल्लभा । उद्वेगमय चलन वा, सेवाया क्रियमाणाया दुष्टादिभ्यो मनसो भय पापादिना बुद्धेश्चाञ्चल्यमितिद्विप्रकारकमुद्वेग श्रीपुरुषोत्तमा आहु । भगवत्सेवासमये चित्तक्लेशप्रदश्चाञ्चल्यविशेष इतिलालूभट्टा । अन्ये तु विशेष न कथनाहु । अयमुद्वेग सेवाया प्रतिबन्धरूपत्वात् त्याज्य । आचार्या प्रथममुद्वेगादित्रय ससाधन त्याज्यत्वेनोक्त्वाग्रे तत्त्याज्यत्वात्याज्यत्वविभाग च कृत्वा पश्चाद्द्वयो साधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगयो त्याज्यत्व निरूपितवन्तो न तूद्वेगस्यापि, अत उद्वेगस्य कश्चिद्भिन्न एव प्रकारोभिमत इति विचार्य श्रीपुरुषोत्तमास्तस्या अनुक्ते कारण दर्शयन्त उद्वेगस्यानुकाशेन अत्याज्यत्वमपि सूचयन्ति ।

प्रतिबन्धः—सेवासमये लौकिकवैदिककार्यान्तरासक्तिरन्यकृतान्तरायादिश्चेतिश्रीकल्याणरायाः श्रीहरिरायाश्च । वेदनिन्दा म्लेच्छवल्लिग्रहर्हिर्मुखजनितोपद्रवश्चेतिश्रीगोपेशाः । कायस्यान्यपरतेतिश्रीवल्लभाः । तत्प्रतिकूलो निग्रह इतिश्रीपुरुषोत्तमाः । सेवायां रुचौ सत्यामपि तत्समये लौकिकवैदिककायिकादिकार्यासक्तिरूप इतिश्रीपुरुषोत्तमास्तदनुसारिणश्च । प्रतिबन्धकं तूदासीनं दुःखसुखे प्रयच्छतीतिलालूभट्टाः । अयं प्रतिबन्धो द्विविधः । साधारणो भगवत्कृतश्च । साधारणो बुद्ध्या त्याज्यः । भगवत्कृतस्तु न । भगवत्कृतप्रतिबन्धे तत्त्वनिर्धारविवेकौ साधनरूपौ, तेन फलं शोकाभावः, न मुक्तिः । विशेषस्तु स्पष्टः, टीकासु दर्शितत्वादत्रानुपयोगित्वाद् विस्तरभयाच्च नानूद्यते । तत्त्वनिर्धाररूप आसुरत्वनिश्चयः, भगवान् फलं न दास्यतीति विवेकश्च स्पष्टतया टीकाकारैरनूदितौ ।

भोगः—लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधः । लौकिकस्त्याज्यः । लौककभोगस्तु गृहत्यागं विना न सिध्यतीत्यतो 'भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग' इत्याचार्यैरुक्तम् । अलौकिकभोगस्तु ग्राह्यः । भगवन्निवेदितानां भोगोऽलौकिकभोगः । अलौकिकसामर्थ्यमिति प्रायः सर्वे वदन्ति, श्रीवल्लभास्तु प्रथमफलं सेवोपयोगिदेह इति वदन्ति । भगवत्स्मरणसहितकृतभोगस्तु नैव बाधकः ।

एवं सेवायाः फलं बाधकं चोक्त्वा आचार्याः श्लोकेः सर्वदा भावनमुपदिशन्ति । यद्यपीयं भावना न स्वकृतिसाध्या तथापि कर्तव्येति तथैव सर्वैरनूद्यते । गुणक्षोभेपि तद्भावनमेव कर्तव्यम्, अन्यत् सर्वं मनोभ्रमः । गुणक्षोभशब्दस्तु टीकाकारैर्द्विधा सामान्यतो व्याख्यातः । केचिदश्रुपुलकादिक्षोभ इति वदन्ति, अन्ये तु सत्त्वरजस्तमसां क्षोभ इति वदन्ति । उभयथापि भगवच्चरणभावनमेवाचार्याणां स्पष्टमभिमतमिति तु नैव सन्देहः । तदीयैरपि तदेव कर्तव्यम्, फलाविलम्बाय, यतोधुना जीवानां पुष्टिमर्यादायामेवाङ्गीकारः । यथाहुः श्रीहरिधनचरणाः 'साम्प्रतं तु पुष्टिमर्यादायामेवाधुनिकानामङ्गीकाराद्भजनसिद्धिविलम्बसद्भावेन तावत्पर्यन्तं प्रोषितभर्तृकाया इव फलप्रतिबन्धभावनं सर्वदा कार्य'मिति । अत्राचार्यैरुक्तं 'अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः' इति वाक्यं पुष्टिमार्गीयसाधुनिकस्य कीदृशं कर्तव्यमिति स्पष्टतया ज्ञापयति । सर्वप्रमाणातीतो वाङ्मनसागोचरः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रो भगवान् केनचित्साधनेन प्राप्यते इति तु नैव वक्तुं शक्यम् । अत एव भगवत्प्रापकत्वेन किञ्चित्साधनं भगवदतिरिक्तं पुष्टिमार्गे वर्तते इत्यपि तु वक्तुं नैव शक्यम् । साम्प्रतं वेदमार्गस्य प्राय उत्सन्नत्वात् सोपि भक्तिमार्गस्य पुष्टिमार्गस्याङ्गत्वेनानैव प्रविशति । अतः पुष्टिस्थितो भगवान् मर्यादास्थितसाधनैर्नैव प्राप्तुं शक्यते, अत एवोभयथा पुष्टिमार्गस्य निःसाधनत्वं स्फुटं प्रतीयते । तथापीदं विचारणीयम् । श्रीहरिरायश्रीपुरुषोत्तमादिभिरधुनातनाङ्गीकारस्तु प्रचलतीति प्रतिपाद्यते, सांप्रतं जीवानां पुष्टिमार्गीयाणामङ्गीकारोपि पुष्टिमर्यादायामेव भवतीत्यपि तैरेवोच्यते ।

तेन यद्यपि जीवैर्भगवत्प्रेरणं विना किमपि कर्तुं स्वबलेन नैव शक्यते, तथापि भगवत्प्रेरणया भगवद्बलेन यच्छक्यं भवति तदवश्यं कर्तव्यम्, स्वनिर्वाहाय प्रोषितभर्तृकावत्। यद्यपि एतत्फलरूप भावन भगवत्कर्तृकमेव तथापि एतदेव भगवच्छरण-भावनं कर्तव्यं न तु तूष्णीं स्थेयम्। पुष्टिमार्गस्य भगवद्रूपत्वाद्भगवतो निरुद्धधर्माश्रयत्वात् तस्यापि तथात्वादस्मिन् मार्गे भासमानो निरोधोपि निरोधाभास इवालङ्काररूप एव। साधन-फलरूपो भगवानेव। तथाहुः श्रीमत्प्रभुचरणा निबन्धे 'भक्तिमार्गे तु भगवान् स्वत एव यदा भक्तेषु सर्वं सम्पादयति स्वीयत्वेन, तदा भक्तः स्वाङ्गीकार सर्वात्मना ज्ञात्वा स्तुत्या-दिषु स्वाधिकारं जानाति ततः स्तौति। अथवा सर्वात्मना स्वांगीकारज्ञानेनान्तरानन्दे पूर्णे बहिरपि सर्वेन्द्रियेषु प्राकट्यसमये वाचि स निर्गच्छन् स्तुतिरूपो भवती'ति। यावन्ति साधनानि तानि न भगवत्प्रापकाणि, तेषां स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वात्। विशेषस्तु स्थलसङ्कोचाद् गुजरातुवादे प्रतिपादयिष्यत इति।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

मार्गशीर्षकृष्णनवमी,
श्रीमत्प्रभुचरणप्राकट्योत्सव }

मूलचन्द्र तेलीवाला।
धैर्यलाल सांकलीया।

३८ तमे पृष्ठे प्रकाशितसेवाफलविवृतिव्याख्यानान्ते अधोलिखितों-शोऽधिक उपलभ्यते श्रीमन्मथुराधीशग्रन्थागारे (२१०/३) क्रमाङ्कित सन्दर्भसूच्याम् —

"भगवदिच्छाभावनमात्र तु श्रीगोपीजनवल्लभो अस्मत्प्रभु पुष्टावगीकृतात्मना स्वयमेवोद्वेगादिक निवार्य यथाधिकारमतद्ग्रन्थोक्तफल दास्यति इति सिद्धम।

श्रीवल्लभप्रभोर्नामोच्चारणात्प्राप्तबुद्धिना।
विचारिता मयाप्येषा पूर्वटीकानुसारत ॥

इति श्रीगोस्वामिमथुरानाथात्मजद्वारिकेशन कृत. सेवाफलविवृतिप्रकाश. समाप्त
॥ श्रीगोपीजनवल्लभार्पणम ॥

मिति कार्तिक सुदि ४ सवत्सर १९३५।
पुस्तक मथुरादास को लिखन कियो हरिदास।
मन्दिर श्रीमथुरेश का दडौतिसिला पास ॥

॥ सेवाफलं सविवरणम् ॥

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥१॥
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

सेवाया फलत्रयम् अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्य सेवोपयोगिदेहो[1] वैकुण्ठादिषु.

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥२॥
अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्नहि ।
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥३॥
बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम् ।
निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥४॥

सेवाया प्रतिबन्धकत्रयम् उद्वेगः प्रतिबन्धो भोगो वा. त्रयाणा साधनपरित्यागः कर्तव्यः भोगो द्विविधः लौकिकोऽलौकिकश्च. तत्र लौकिकस्त्याज्य एव. अलौकिकस्तु फलाना मध्ये प्रथमे प्रविशति. प्रतिबन्धोपि द्विविधः साधारणो भगवत्कृतश्च. तत्र आद्यो बुद्ध्या त्याज्यः. भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धः तदा भगवान् फल न दास्यतीति मन्तव्यम्. तदा अन्यसेवापि व्यर्था. तदा आसुरोय जीव इति 'निर्धारः'. तदा ज्ञान-मार्गेण स्थातव्य शोकाभावायेति 'विवेक'.

ननु साधारणो भोग कथं त्यक्तव्य इत्याकाङ्क्षायामाह–

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ ।

'सविघ्नो अल्पो घातकः स्याद्' इति सविघ्नत्वाद् अल्पत्वाद् भोगस्त्याज्यः. 'एतौ' प्रतिबन्धकौ.

---

१ 'सेवोपयिकदेह' इत्यपि पाठ

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥५॥

द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्ध ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाह द्वितीय' इति

नत्वाद्ये दातृता नास्ति

आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्व नास्ति तदा सेवा नाधिदैविकी इत्युक्त भवति

तृतीये बाधकं गृहम्।

भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग

अवश्येय सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रम ॥६॥

तदीयैरपि तत कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदवेति मे मति ॥७॥

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रम।

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटित सविवरण सेवाफल ॥

॥ समाप्तम् ॥

॥ सुबोधिन्येकवाक्यतया सेवाफलस्वरूपनिर्णयः ॥

सुबोधिन्यां सेवनास्वरूपम्ः

एकमनस पुरुषस्य सर्वेन्द्रियाणा सत्त्वमूर्तौ भगवति या स्वाभाविकी वृत्ति सा भक्ति इति.. ये देव्या सपदि जाता तेषामपि देवरूपाणि (इन्द्रियाणि) भवन्ति आसुराण्यपि भवन्ति एतस्मिन्नेव गोलके उभयमपि तिष्ठति यानि पुनर्निषिद्धे लौकिके च रज्यन्ते तानि बलाद् विहिते प्रवर्तमानान्यपि न परितुष्टानि भवन्ति इत्यासुराणि तत्र भक्ति देवैरेव भवति नासुरे किञ्च तान्यपि कर्मयोगज्ञानादिबहुरूपे वैदिके कर्मणि प्रवर्तमानानि पूर्ववासनयाऽभ्यासात् भवन्ति तेषामपि यदि फलावस्था भवति तदा सत्त्व एव शुद्धसत्त्वरूपे भगवत्स्वरूपे प्रवर्तमानानि स्वभावतो भवन्ति वस्तुतस्तु गुणातीते भगवति स्वाभाविकी वृत्तिरिति भगवच्छास्त्रम्, "मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्" इत्यादिवाक्यै सर्वा भगवत सामग्री निर्गुणा मनोपि द्विविध देवासुरविभदन तत्रासुर सकल्पविकल्पात्मक नानाभावापन्न मननात्मकमेव ..मनसा तु द्वितीयेन न भाव्यमेव तयामति इन्द्रियाणा पूर्वोक्ता वृत्ति न स्यात्, अत एव स्वभावापन्न मनो यस्य तस्यैव भक्ति . अन्यथा तु यथाकथञ्चित् क्रियमाणा भगवति खण्डशो वृत्तिरक्षयत्वात् बहुभिर्जन्मभि पुष्टिं गता अन्तिमजन्मनि भक्तिरूपा वृत्ति जनयिष्यति इति न काप्यनुपपत्ति वृत्ति तन्निष्ठता न तु ग्रहणमात्रम् फलरूपे जन्मनि सा अनिमित्ता भवति स्वतन्त्रा, भगवन्निमित्ता वा, भगवत सकाशात् फलानि निमित्तानि. या अनिमित्ता सा भक्ति भवतीत्युत्तरेण सम्बन्ध , किञ्च सा चेद् भागवती भवति, साक्षाद् भगवन्त विषयीकरोति भगवद्भाव वा षड्गुणरूपतामापद्यत मुक्तेस्सायुज्यादपि इय भक्ति गरिष्ठा (सुबो. ३।२५।३२-३३)

सुबोधिन्याम् अलौकिकसामर्थ्यस्वरूपम् :

तादृशभक्तानां ज्ञानिनामिवाप्रिमकृत्यमाह प्रकारद्वयेन. तत्र प्रथममाह त्रिभिर्नैकात्मतामित्यादिभि., जीवता साधनावस्था फलरूपा तथा परा सायुज्य च तृतीय स्यादतो नोत्क्रान्तिमापण तत्र प्रथम भक्तानां साधनावस्थामाह–

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित्
मत्पादसेवाभिरता मदीहा ।
यन्योन्यतो भागवता प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥

इय फलरूपा भक्तिर्ज्ञातव्या. ये भक्ता यावज्जीवन्ति च तावत्फलरूपां भक्ति कुर्वन्तीरयर्थ. फलरूपता तदैव भवति यदा भजनाद्रसोऽभिव्यक्तो भवती तस्या अभिव्यक्ते निदर्शन भगवत एकात्मता सायुज्यरूप फल न स्पृहयन्ति प्रार्थना तु दूरे ते भक्तेषु विरला प्रसगान्निरूप्यन्ते केचिदिति दुर्लभा तेषा कायवाङ्मनोवृत्ति स्वभावत एव भगवति भवतीरयाह मत्पादेत्यादिना मम पादसेवायामेव अभिरतिर्मनोवृत्तिर्येषाम्. सर्वतो गत्वा भगवत्कार्यं कर्तव्यमिति पद्भ्या सेवेत्यर्थ अन्यत्तु सुख गमनानन्तरसाध्यम्. इय मनोवृत्तिर्निरूपिता. कायिकीमाह मदीहा इति. मत्सम्बन्धिन्येव ईहा चेष्टा येषाम्. तेषा वाचनिकीमाह अन्योन्यत इति ....

तेषा फलावस्थामाह–

पश्यन्ति ते मे रुचिरावतस–
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साक वाच स्पृहणीयां वदन्ति ॥

ते मे रूपाणि पश्यन्ति निरन्तर भगवत्साक्षात्कारो भवति. यथा मित्रैस्सह ीडन्ति प्रथमत पश्यन्ति भगवतो रूपाणि वर्णयति रुचिराण्यवतसानि कर्णाभरणानि येषाम् अलनवृन्दावनादौ भगवत्साक्षात्कारो भवतीत्युक्तम्. प्रसन्नानि वक्त्राणि अरुणानि लोचनानि येषामिति ... रूपाणीति परमोपासकानामेक रूप कदाचित् साक्षात्कृत भवति तेषा तु बहूनि. तानि च दिव्यानि लौकिकबुद्ध्या न गृहीतानि. अलौकिकभाव वा प्रकटयन्ति. तान्प्रत्येव प्रकटानीति तथा सति नातिप्रसक्ति तेषामन्यदीयव्यावृत्त्यर्थं निदर्शनान्तरमाह वरप्रदानीति न ह्यन्यत्र वर दातु शक्यते. प्रसन्नरूपादेतेषा वैलक्षण्यमाह साक वाचमिति. जीवन्त एवेत एतस्मिन्नेव लोक भगवता सह स्पृहणीया वाच वदन्ति. यथा मित्रैस्सह इष्टालापा क्रियन्ते (सुबो ३।२५।३४-३५)

सुबोधिन्या सायुज्यस्वरूपम्:

तत्रैव भाग्यमाह–

तैर्दर्शनीयावयवैरुदार–
विलासहासेक्षित वामसूक्तै ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्ति.
अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ॥

तै पूर्वोक्तरूपै अनुभवसमय एव आनन्दजनकै दर्शनीया अवयवा येषाम् उदारो विलास, हासपूर्वकमीक्षित वाम मनोहर सूक्त वाक्य च येषाम्, तै हृतान्त करणाना वशीकृतेन्द्रियाणा च सा पूर्वोक्ता भक्ति, तामनिच्छतोप्यण्वी गति सायुज्य प्रापयति भक्तस्य चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धयर्थं चतूष्पत्व च साध्यते तत्र, दर्शनीया अवयवा यामपूरका, उदारो विलास अर्थजनक, हासपूर्वकमीक्षित धर्मजनकम्, वामसूक्तानि मोक्षजनकानि. कामो हि विषयसौन्दर्येण अन्त शक्त्या च सिध्यति. अतो दर्शनीयेति विशेषण वहिरलौकिकसौन्दर्यार्थम् विलासो हि अर्थस्य नानाप्रकारकत्वाय, उदारत्व तस्य सर्वोपकारकत्वाय, भगवतो हि लीला सर्वेषा सर्वपुरुषार्थदायिनीति भगवत्त्वम् हासो देहादौ अध्यासजनक अन्यथा निरन्तर धर्मो न सिध्येत् हासपूर्वक च शान धर्मजननमेव सूक्त हितकारी अविद्यानाशकम् वाम परमानन्ददायकमिति सूक्ष्मा हि गतिरेकरूपानन्दस्वरूपा, रूपाणि च अनन्तानन्दरूपाणि, अतएवानिच्छा, अतएवान्त करणेन्द्रियाणा च तैराकर्षण सर्वेन्द्रियसुखरूपत्वात् स भगवान् स्वगृह गच्छन् तानपि नयति, ते तु इन्द्रियाणि मनश्च नयन्ति, भक्तिस्तु फलावश्यभाविनी कालादिनामप्यगम्यम् अतिसूक्ष्ममेव भगवदात्मक फल प्रयच्छति (सुबो. ३।२५।३६)

सुबोधिन्यां वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेहस्वरूपम् :

एव सायुज्यरूप फलमुक्त्वा सालोक्यादिरूप फलमाह–

अथो विभूतिं मम मायाविनस्ता–
मैश्वर्यमष्टांगमनुप्रविष्टाम् ।
श्रिय भागवतीं वाऽस्पृहयन्ति भद्रां
परस्य ते मेऽश्नुवते नु लोके ॥

अथो इति. सा चेद् भक्तिर्मध्यमा भवेत्, ततोय भिन्नप्रक्रम. अथो मम मायाविनो विभूति पुत्रधनादिरूपा स्वर्गादिरूपा च. न तत्र भोग्यमस्तीति मायाविन इत्युक्तम्, सर्वस्यापि विषयस्य भगवदीयाना भगवदधीनत्वाय षष्ठी तामित्यलौकिकी सर्वलोकसिद्धा वा ऐश्वर्यमणिमादि, अष्टांगानि यस्येति सर्वैश्वर्यप्राप्ति. भगवद्भजनमनु भगवन्तमनु प्रविष्टा श्रिय सर्वामेव सम्पत्ति मोक्षपर्यन्ताम्, भागवती च भगवत्कृतसम्पत्ति च यत्नादर, सर्वमेव वा अ स्पृहयन्ति, भद्रा मोक्षसम्पत्तिमपि मध्यमा भक्ति फलमवश्य प्रयच्छति इति, यद्यन्यत्र तेषा भोगो न रोचत तदा वैकुण्ठ एव तभ्यो भोग प्रयच्छतीत्याह परस्य मे तेऽश्नुवते नु लोक इति, परस्य कालादक्षराच्च, लोके ब्यापिवैकुण्ठे, सर्वमैश्वर्यादिकमश्नुवते (सुबो ३।२५।३७)

सुबोधिन्यां फलाधिकारयोः कालानिमम्यत्वरूपम् :

ननु लोकाना कालभयस्य विद्यमानत्वात् 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति' इति स्वस्यानत्यागात् किं वैकुण्ठलोके विषयानुभावेन इत्याशङ्क्याह–

न कर्हिचिन्मत्परा शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेति ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरु सुहृदो दैवमिष्टम ॥

शान्त रूप यस्येति सर्वदोषविवर्जिते वैकुण्ठे वा अहमेव परो येषा ते न नश्यन्ति, क्षीणपुण्या नश्यन्ति पतन्ति वा न वा हेति कालचक्र तान् भक्षयति तत्र हेतु – कालस्य यत्र विषयस्तत्र प्रवर्तते. तस्याष्टौ विषया –विषया , देह , सुता , मित्राणि, गुरव , सम्बन्धिन', इष्टदेवता कामश्चेति तस्मिन् लोके नैते सन्ति किन्त्वेतेषा कार्यमहमेव करोमि अतएव तेषामहमेवाष्टविध . नहि कालो मा विषयी करोति नैषा मदन्य कोपि नास्ति देहादि . प्रियो हि विषयो भवति. वैकुण्ठस्तु मद्रूप इति तत्राहमेव विषय सारूप्यस्य च प्राप्तत्वात् देहोप्यहमेव. देहेन विषयेषु भुज्यमानेषु प्रकृति सूयत इति सुता भवन्ति. तत्र विषयभोगेनापि अहमेव भवामि. पुत्रस्नेहस्तत्रत्यै मय्येव क्रियत तत्र बाह्योपि सखा अहमेव, तत्रत्यानां पुरुषाणा मद्रूपत्वात एत चत्वार ऐहिका पारलौकिकाश्चत्वार गुरुरुपदेष्टा वैकुण्ठे त्वहमेव. गुरोरुपदेशानन्तर ये तत्र हितार्थं यतन्ते ते बान्धवा सुहृद , सुहृत्कार्यं तु तत्रत्यैरेव क्रियत इति दैव देवता, पूज्य , फलदाने स प्रयोजक . फल च इष्टम् अत तेषा नाशाभाव उचित एव (सुबो ३।२५।३८)

सुबोधिन्या फलनिष्कर्ष.

एव भदत्रय निरूपित सायुज्य वैकुण्ठ जीवन्मुक्तिश्चेति (सुबो. ३।२५।३९-४०)

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण–विरचित – सुबोधिन्यकवाक्यतया सेवाफल-स्वरूप-निर्णय ॥

॥ समाप्त ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीकल्याणरायविरचितसेवाफलोक्तिविवृतिसमेतम् ।

श्रीमदाचार्यमार्गेण सेव्यमानोस्मदीश्वरः ।
निवारयतु नेस्तापान् सुखसन्दोहसिद्धये ॥ १ ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्यमार्गोक्तप्रकारेण सेव्यमानो भगवानितोधिकं किञ्चित् फलं दास्यति मुक्तिमेव वेति सन्दिग्धचेतसां समाधानार्थं श्रीमद्वल्लभाचार्याः सेवासिद्धौ फलं निरूपयन्ति यादृशी सेवनेति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

भक्तिमार्गे सेवा मया यादृशी प्रकरणेणोक्ता 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति तत्सिद्धौ सत्यां यत् फलं भवति तदुच्यते ।

अस्य ग्रन्थस्य गूढार्थत्वाद्विवरणमपि श्रीमदाचार्याः कृतवन्तः । सेव्यमानो भगवान् प्रसादानुसारेणोत्तममध्यमसाधारणप्रकारेण फलं प्रयच्छतीति त्रैविध्यादिविवरणे सेवायां फलत्रयमित्युक्तम् ।

तत्रोत्तमं फलमाहुः **अलौकिकसामर्थ्यमिति** । भगवता सह गानादौ सामर्थ्यं, गुरुयानामिव । मध्यमं फलमाहुः **सायुज्यमिति** । सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यं सहभावः, गोपानामिव । साधारणं फलमाहुः **सेवोपयोगी देहो वैकुण्ठादिष्विति** । आदिपदाद्भूलोके उद्धवादीनामिव ।

सेवासिद्धौ सत्यां यदि भगवानलौकिकं देहादिकं सम्पादयति तदा फलविषयको मनोरथोन्योपि सिध्यतीत्याहुः **अलौकिकस्येति** ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ २ ॥

अलौकिकस्य योग्यस्य शरीरादेर्दाने सति अधिकारसम्पत्तौ सत्यां पूर्वोक्तं फलं प्राप्नोतीत्यर्थः । हीति युक्तश्चायमर्थः । एतत् फलं साधनानां साधनासाध्यत्वात् । चोप्यर्थे ।

१ मत्पापानिति पाठः । २ सेवाफलसिद्धाविति पाठः । ३ भूलोकेषु गवादीनामिवेति पाठः ।

चाल्प इतिपाठे साधारणहीनमध्यमयोः कथमिस्सिद्धावपि भगवद्दानं विनोत्तमं फलं न सिध्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

कालकर्मवशादिदं कदाचिद्भवेदित्याशंक्याहुः फलं वेति ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

भजनानन्दलक्षणफले तदधिकारयोः **कालो नियामको** दाता प्रतिबन्धको वा न भवतीत्यर्थः ।

सेवासिद्धौ व्यवस्थया फलमुक्त्वा सेवासाधनदशायां बाधकान्याहुः **उद्वेग** इति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

सेवायां क्रियमाणायामन्यत्र गमनेच्छादिरुद्वेगः । सेवासमये लौकिकवैदिककार्यान्तरासक्तिः अन्यकृतान्तरायादिश्च प्रतिबन्धः । भोगो विषयाणाम् ।

एते त्रयः प्रत्येकं बाधकाः । तेनैतेषां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । **भोगो** द्विविधः । लौकिकोऽलौकिकश्च । लौकिको लोकसिद्धः । यथा लोकाः स्वार्थमुच्चावचान् पदार्थानानीय भोगं कुर्वन्ति स लौकिको बुद्ध्या त्याज्यः । एतेन श्रुतिस्मृतिपुराणादिसिद्धो भोगो व्यावर्तितः । अलौकिको भगवद्दत्तः अम्बरीषादेरिव । स तु साधारणमध्यमोत्तमफलेषु प्रथमफले प्रविशति, यथा सेवोपयोगिदेहं दत्वा सेवां कारयित्वा प्रसादत्वेन दत्तानां भोगं कारयति भगवान् स **अलौकिकभोगो** न त्याज्यः । प्रतिबन्धोपि द्विविधः । साधारणो भगवत्कृतश्च । तत्र साधारणः पूर्वमुक्तः । स बुद्ध्या त्याज्यः । यस्य यत्साधनस्य च प्रतीकारो न सम्भवति स भगवत्कृतः ।' स यदा भवति तदा भगवान् फलं न दास्यतीति ज्ञातव्यम् ॥ २ ॥

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

अकर्तव्यं भगवतः । अस्य श्लोकस्य विवरणं भगवत्कृतश्चेदित्यारभ्य विवेक इत्यन्तम् । **तदान्यसेवापि व्यर्थेति** । महादेवनारदादीनां भक्तिदातृत्वश्रवणान्महादेवादिसेवया सेवातत्फलसिद्धिर्भविष्यतीत्याशया कृता महादेवादिसेवापि व्यर्था, नैतत्फलसाधिकेत्यर्थः । तदेति । तदा **आसुरः** आसुरावेशवान् आसुरभाववान् **वायं जीव** इति **निर्धारो** निश्चय इत्यर्थः । जीवस्यासुरत्वे सेवायां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । तदा कथं ममैवं भवतीति शोकाभावाय भगवानीश्वरः स्वेच्छया सर्वं ददाति मम प्रायेण मुक्तिमेव दास्यतीति ज्ञात्वा ज्ञानमार्गेण श्रवणमनननिदिध्यासनानि कुर्वता स्थेयमित्यर्थः । यथा तत्त्वनिर्धारो भवति तथायं विवेको वा साधने इत्यर्थः । अत्राय भावः । दुःसंगाद् बाहिर्मुख्ये भक्तापराधे वा भगवान् प्रतिबन्धं करोति तदा अन्यसेवया स्वतो वा मुख्यं फलं न भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

ननु साधारणो लौकिको भोगः किमर्थं त्याज्यः, भोगेनैव सेवा कर्तव्येत्याशंक्याहुः सविघ्नोल्पो घातक इति ।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ ।
द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ४ ॥
बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम् ।
निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ५ ॥

सविघ्नत्वात् सर्वथा न सिध्यति । जायमानोप्यल्पसुखजनको भवति, भावघातकोपि भवति, अतस्त्याज्यः । ननु सावधानतया स्थितेर्न भोगप्रतिबन्धकयोर्बाधकत्वमित्यत आहुः सावधानेपि भोगप्रतिबन्धौ वस्तुसामर्थ्यादेव प्रतिबन्धकौ सम्मतावित्यर्थः । बाधकानामितिश्लोक एवं योजनीयः । बाधकानां परित्यागः कर्तव्यः । भोगेप्येकं परमुत्कृष्टमेकं भोगं विहाय तथा परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । यतो निःप्रत्यूहं यथा स्यात्तथा महान् भोगः प्रथमे प्रविशति । पूर्वं व्याख्यानमेतत् । ज्ञानस्थितीति । ज्ञानमार्गेण स्थितावपि प्रतिबन्धे या चिन्ता तदभावार्थमित्यर्थः । अत्रायं भावः । पूर्वं ज्ञानमार्गेण स्थातव्यमित्युक्तम् । अधुना श्रीकृष्णप्रसादाभावान्मुक्तिरपि न भवतीति स्वस्य संसारनिश्चयात् फलार्थं चिन्ता न कर्तव्येत्यर्थः । ननु पूर्वकृतसेवायाः सत्त्वात् फलं कथं न भवेदित्याशंक्याहुः आद्येति । आद्येन भगवता भगवत्कृतप्रतिबन्धेन फलाभावे कायवाङ्मनोभिस्तत्परतया कृतत्वेपि तत्परतया कृतत्वाभावात् सा सेवा नाधिदैविकी, कायवाङ्मनोभिस्तत्परतया कृतत्वेपि भक्तापराधादिना भगवांश्चेत्तां न मन्येत तदा सा सेवा नाधिदैविकी भवति, भगवद्गामिनी न भवति । आधिदैविक्या एवैतत्फलसाधकत्वात् । भोगेति । गृहपरित्यागः गृहासक्तिपरित्याग इत्यर्थः । द्वितीय इति । द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्धस्तस्मिन् सति फलं कथं स्यादिति चिन्ता संसारनिश्चयात् सर्वथा त्याज्येत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥

ननु प्रतिबन्धसाधारणभोगयोः सत्त्वेपि साधनकरणे फलं स्यादित्याशंक्याहुः न त्वाद्ये इति ।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।
अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

आद्ये भगवत्कृतप्रतिबन्धे भगवतो दातृता नास्ति । तृतीये साधारणभोगे गृहासक्तिर्बाधिकेत्यर्थः । अवश्येयमिति । इयं रीतिरवश्या, कर्तुमशक्यापि फलार्थं सदा कर्तव्यत्वेन भाव्या । अन्यत् सर्वसाधनं मनोभ्रमः स्वान्तर्भ्रान्तिरित्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु भगवदीयानां स्वत एवैतत्फलं भविष्यति किमर्थं पूर्वोक्तं कार्यमित्याशंक्याहुः तदीयैरिति ।

१ दुष्टमितिपाठः । २ तद्भावार्थमितिपाठः ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

भगवदीयैरपि पूर्वोक्तसाधनं कार्यम् । मर्यादायामंगीकारात् । ननु भक्तिमार्गप्रवेशमात्रेण कचित् फलं दृश्यत इत्यत आहुः पुष्टाविति । पुष्ट्यंगीकारे तु भगवान् विलम्बं नैव कुर्यात्, तेन शीघ्रं फलसिद्धिरित्यर्थः ।

रजस्तमोभ्यां मनसः क्षोभेपि एतदेव साधनं कर्तव्यत्वेन द्रष्टव्यमित्याहुः गुणक्षोभेपीति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

मम निश्चय एतावानेवेत्याहुः **मे मतिरिति ॥ ७ ॥**

ननु साधनानां बहूनां सत्त्वात् किमिति एतदेव साधनमित्यत आहुः **कुसृष्टिरत्रेति ।**

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

अत्रास्मिन्फले कुसृष्टिः कुत्सितानां साधनानां या सृष्टिः कल्पना उत्पन्ना स्यात् सा भ्रम एव इत्यर्थः ॥ ७॥ ॥

सेवाफलोक्तिविवृतेः स्वाचार्याणां यथामति ।
कृता कल्याणरायेण विवृतिः स्वसुखाय च ॥ १ ॥

इतिश्रीवल्लभचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता सेवाफलोक्तिविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सेवाफलम् ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवृतिटिप्पणीसमेतम् ।

स्वमार्गोक्ततनुवित्तजायाः सेवाया मानसीसेवाफलमिति सिद्धान्तमुक्तावल्यां श्रीमदाचार्यचरणोक्तेर्निबन्धे तु भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यत इत्युक्तेः सन्दिहानान् स्वानुपदिशन्ति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी यत्प्रकारिका **सेवना** सेवा **प्रोक्ता** स्वग्रन्थेषु पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्यादामर्यादाभेदैर्मया विविच्योक्ता **तत्सिद्धौ** तेषां स्वफलजननस्वरूपयोग्यतायां सत्यां तत्प्रकारकं फलमुच्यत इत्यर्थः ।

तत्र प्रथम भगवदर्थं निरुपधिसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते यन्मुख्यं फलं भवति तदाहुः ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

अलौकिकस्य स्वरूपानन्दस्य, **दाने** वितरणे, **हि** निश्चिते सति, तथा च भगवतश्चिकीर्षिते सतीत्याशयः । **आद्यः** स्वरूपानन्दानुभवात् प्रथममुत्पन्नो **मनोरथः** 'यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले गोपिकानां तु' इत्यादिना निरूपितस्वरूपो लिप्साविशेषः **सिध्येत्** सद्विषयकः स्यादित्यर्थः । इत्थञ्च प्रेमोत्पत्त्या सिध्येत् तद्विषयकः स्यादित्यर्थः । चेति मनोरथश्च स्यात् सिद्धश्च स्यादित्याशयः । इत्थञ्च प्रेमोत्पत्त्यनन्तरं भगवतः स्वरूपानन्ददित्सायां फलरूपस्वविषयसद्विस्य मनोरथस्योत्पत्तिः । दित्साया अभावे तु तदनुत्पत्तौ पूर्वोक्तप्रेमान्तसेवायाः पुरुषोत्तमसायुज्यं फलं भवतीति ध्येयम् । वक्ष्यन्ति चेममर्थं न त्वाद्ये दातृता नास्तीत्यनेन ॥ १ ॥

एवं पुष्टिपुष्टिभजनस्य फलमुक्त्वा पुष्टिमर्यादामर्यादाभजनयोः फलमाहुः ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामकः ।

फलं पुष्टिपुरुषोत्तमसायुज्यं पुष्टिमर्यादाभजनफलमित्यर्थः । चेत्यनादरे । **अधिकारो**

---

१ तस्या इति पाठ ।

रमाप्रार्थितवैकुण्ठक्षीरोदश्वेतद्वीपेषु भगवत्सेवायोग्यदेहप्राप्ति मर्यादाभजनफलमित्यर्थः । नेति । अत्र फलत्रये कालो न प्रतिबन्धक इत्यर्थ ।

विवृतौ सेवायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवौपयिकदेहो वैकुण्ठादिष्वित्यनेन नियामक इत्यन्तग्रन्थो व्याख्यात । अलौकिकसामर्थ्यमलौकिकभजनानन्दानुभवे स्वरूपयोग्यतेत्यर्थ ।

मूले सेवाया प्रतिबन्धकान्यपराण्याहु ।

उद्वेग प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

उद्वेगः श्रवणे कीर्तने भगवद्दर्शनसेवाया च जराव्याधिजनितापाटवेन स्वतो प्रवर्तमानानामिन्द्रियाणा प्रसह्य प्रवर्तनाद्विक्षेप इत्यर्थ । **प्रतिबन्धो** वेदनिन्दा म्लेच्छन लिष्ठबहिर्मुखजनितोपद्रवश्च, **साधारणो भगवत्कृतो** बाहिर्मुख्यरूपश्चेति द्विविधो पीत्यर्थ । **भोगो** रूपरसगन्धशब्दस्पर्शाना लौकिकविषयाणामत्यासक्त्या सेवनमित्यर्थ । **त्विति** । एतत्त्रय तु प्रतिबन्धक भवेदेव । कालस्तु न स्यादित्यर्थ ।

विवृतौ सेवाया प्रतिबन्धकत्रयं उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वेत्यनेन बाधकमित्यन्तग्रन्थो व्याख्यात ॥ २ ॥

मूले प्रतीकारमाहु **बाधकानामिति** ।

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येक तथा परम् ।
निष्प्रत्यूहं महान् भोग. प्रथमे विशते सदा ॥ ३ ॥

बाधकानामुद्वेगसाधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगसाधनाना परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थ । तत्र उद्वेगसाधन प्रसह्येन्द्रिययोजनम् । वेदनिन्दाया म्लेच्छकृतोपद्रवस्य बलिष्ठबहिर्मुखकृतोपद्रवस्य च जननात् साधारणप्रतिबन्धसाधन स्वस्मिन् भक्तत्वस्फूर्ति निबन्धनो हठगर्वविशेष । लौकिकभोगसाधन रूपरसगन्धस्पर्शशब्दा । तथा च तत्साधनत्रय त्यजेदित्यर्थं । लौकिकालौकिकसाधनयोर्लौकिकभोगसाधनस्य त्याग कर्तव्यो न त्वलौकिकभोगसाधनस्येत्याहु **भोग इति** । भोगे यत्साधनद्वय तत्रैकं तथा तादृश लौकिकभोगरूप प्रतिबन्धजननात् त्यक्तव्यमित्यर्थ । **परं** द्वितीय साधन पूर्वोक्तप्रेमान्तसेवारूप **निष्प्रत्यूह** निर्गत प्रत्यूह प्रतिरूपो भोगो यस्मात्तत्तथा । एवञ्च त्यागहेतो प्रतिबन्धस्याजननात त्यक्तव्यमित्यर्थं । ननु भोग प्रतिबन्ध इत्युक्तम् । तथा च तज्जननात् कथ न त्यक्तव्यमत आहु **महानिति** । पूर्वोक्तप्रेमान्तसेवालक्षण साधन कारयित्वा भगवता दत्तो दु खविशेषसुखविशेषानुभवलक्षणो 'यच्च दु ख' मित्यादिना निरूपितस्य मनोरथस्य विषयतामापन्नो भोगो महान् स्वेष्टतम एवेत्यर्थ । कथमिष्टतमत्वमत आहु **प्रथम**

१ अभक्त वसितिपाठ ।

इति । प्रथमे उत्तमफले विशते प्रविष्टो भवति । तथा च फलरूपः । अत एव न प्रतिबन्धरूप इति । तत्साधनं न त्यक्तव्यमिति भावः । रसिकानुभवाद्वैय'मान्तरं तु महाफल'मिति श्रीमदाचार्यचरणोक्तिरत्रानुसन्धेयेति दिक् । भोगेऽपीत्यपिशब्दात् प्रतिबन्धेष्वेकमेव त्यक्तव्यम् । द्वितीयस्य तु भगवत्कृतत्वेन तत्त्यागस्य शशविषाणायमानत्वादिति ध्येयम् ।

विवृतौ **त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भोगो द्विविधः । साधारणो भगवत्कृतश्च । तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्यः । अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीत्यनेन विशत** इत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । **त्रयाणां साधनेति** साधनपरित्यागान्मूलोच्छेदो भवेदतः पुनरुद्गमो न स्यादित्याशयः । तथा च यत्रैतत्त्रितयस्य त्याग उच्यते तत्र साधनसहितस्य त्यागो ज्ञेय इत्यभिप्रायः । **त्याज्य एवेति** । लौकिकभोगस्तु असन्दिग्धं त्याज्य एव, परन्तु अलौकिको न त्याज्य इत्याशयः । **तत्राद्य इति** । साधनसहितस्त्याज्यः । तथा च साधारणप्रतिबन्धसाधनस्य गर्वविशेषस्य बुद्ध्या त्यागात् ससाधनस्यापि तस्य त्याग इत्यर्थः ॥ ३ ॥

मूले भगवत्कृतप्रतिबन्धे यत् कर्तव्यं तदाहुः ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।

हि निश्चयेन **सर्वथा** सर्वप्रकारैर्**भगवतः** सर्वसमर्थस्यापि **चेदकर्तव्यं** फलदानं न चिकीर्षितं चेदित्यर्थः । ननु भगवदीयकुलोत्पन्नस्य पित्रादिशिक्षया बाल्ये कृतभगवत्सेवाकस्यानवरतमसच्छास्त्राभ्यासादाविर्भूतबाहिर्मुख्यस्यापि 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठिता'दितिवचनात् सेवामेव निर्बन्धेन हठेन कुर्वतः किं स्यादतआहुः **गतिर्न हीति** । प्रतिबन्धस्य जागरूकत्वाद्यावत्फलाभाव इत्यर्थः ।

विवृतौ **भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्, तदान्यसेवापि व्यर्थेत्यन्तेन 'नही'**त्यन्तो ग्रन्थो व्याख्यातः । तथाचोक्तं निबन्धे 'सर्वथा चेद्धरिकृपा न भविष्यति यस्य हि । तस्य सर्वमशक्यं स्यान्मार्गेऽस्मिन्सुतरामपी'ति मूलमुक्त्वा स्वयमेव व्याचचक्षिरे **'परमत्र न सर्वेषां मुख्यफलाधिकारः, किन्तु** येषु भगवत्कृपा । कृपापरिज्ञानं च **मार्गरुच्या निश्चीयत'** इत्यनेन । इत्थञ्चैतन्मार्गारुचिरेव भगवत्कृतप्रतिबन्धः । इदमेव बाहिर्मुख्यमितिविभावनीयम् । 'बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदत्वि'ति श्रीमदाचार्यचरणोक्ते'रेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषती'तिश्रुतेश्च भगवानेवासच्छास्त्रप्रवर्तनेनासुरावेशं सम्पाद्य बाहिर्मुख्यरूपं प्रतिबन्धं करोतीत्यप्यनवरतं निरन्तरमनुसन्धेयम् ।

तदान्येति । यदा बाहिर्मुख्यमाविर्भूतं तदा कृता तु व्यर्थैव । किन्त्वन्या याल्ये कृता सापि व्यर्था निःफलेत्यर्थः ।

मूले अतः परं तेन किं विधेयमत आहुः ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ४ ॥

यथा यत्प्रकारको **वा** विकल्पेन **तत्त्वनिर्धार**स्तज्जीवनिष्ठस्यासुरत्वस्य निश्चयः । तथा च आवेशासुरत्वनैसर्गिकासुरत्वयोर्यादृशासुरत्वप्रकारको निश्चयस्तस्मिन् सति **विवेको** ज्ञानं **साधनं** शोकानुत्पत्तौ कारणं **मतं** सर्वप्रमाणसम्मतमित्यर्थः । **वे**ति विकल्पवाचकमव्ययं देहलीदीपन्यायेनोभयत्रान्वेति । तथा च तत्त्वनिर्धारोपि वैकल्पिकः, साधनमपि वैकल्पिकमेव । इत्यथावेशासुरत्वप्रकारको यदि निश्चयः तदा संसृतिरेवेतिभावः । वक्ष्यन्ति चेममर्थं **द्वितीये सर्वथेत्यनेन** ।

विवृतौ **तदा आसुरोयं जीव इतिनिर्धारः । तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेतिविवेक** इत्यनेन **मत**मित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । **तदे**ति । यदा बाहिर्मुख्यमाविर्भूतं तदैवेत्यर्थः । विवेकः साधनमिति व्याचक्षते । **तदा ज्ञाने**नेति । यथावेशासुरत्वनिर्धारस्तदा **ज्ञानमार्गेण** ज्ञानजनकोपायेन **स्थातव्यं** वर्तितव्यम् । **शोकाभावाय** शोकानुत्पत्त्या इति । अस्मिन्नर्थे विवेकः साधनं भवतीत्यर्थः । तथा च सत्यलोकस्थितिरक्षरानन्दो वा नास्य फलमिति भावः । यद्यप्येवंविधदुर्भगः स्वमार्गबहिर्मुखोन्धंतमः प्रविशतां, का क्षतिः ? तथापि स्वमार्गीयमगवद्भक्तरेतोजन्तुरयमिति तदुद्धवदयार्द्रहृदयाः श्रीमदाचार्यचरणास्ताद्दशेष्पुपदिशन्तीति ध्येयम् ॥ ४ ॥

मूले लौकिकभोगस्य साधारणप्रतिबन्धस्य च त्यागे प्रयोजकं रूपमाहुः ।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ ।

सविघ्न आधिव्याधिलक्षणप्रत्यूहसहितः । **अल्प** आशुतरविनाशीत्यर्थः । **साधारण** इति । साधारणो वेदनिन्दादिः । साधारणप्रतिबन्धस्य तदाहुः **घाते**ति । **घातकः** घातजनकः । **बलात्** सामर्थ्यात् । **स्यात्** भवेत् । तथा च साधारणप्रतिबन्धो बलवद्घातकः स्यादित्यर्थः । तथा हि वेदनिन्दात्वस्य बलात् हीनेषु जन्मरूपं घातं करोति । म्लेच्छबहिर्मुखकृतोपद्रवादस्य सर्वस्वहानिं शरीरघातं च बलादेव कुरुते । अतो हेतोः साधारणप्रतिबन्धोल्पत्वात् सविघ्नत्वाच्च भोगः सदा निरन्तरमेतौ प्रतिबन्धकौ मतौ साधनसहितौ त्याज्यत्वेन सम्मताविति भावः ।

विवृतौ **साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाह सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति । सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्यः । ए गौ**

सदा प्रतिबन्धकाविसनेन मताविसन्तग्रन्थो व्याख्यातः। **साधारण** इति। साधारणो वेदनिन्दादिः साधारणप्रतिबन्धः **भोगो** लौकिकरूपरसादिसेवनं कथं कुतो हेतोरित्यर्थः। **सविघ्नत्वादिति**। द्वाभ्यामाभ्यां हेतुभ्यां भोगस्त्याज्यः। शिष्टाद् घातकत्वरूपाद्धेतोः साधारणः प्रतिबन्धस्त्याज्य इत्याशयः। ननु सविघ्नत्वमल्पत्वं च भोगापकर्षजनकम्, न तु सेवायाः। तथा साधारणप्रतिबन्धनिष्ठं घातकत्वं चतुर्वर्गस्यापकारजनकम्, न तु विशिष्यं सेवाया एवेति किमनयोः त्यागप्रयोजकं रूपमित्याशंकायामाहुः **एताविति**। प्रतिबन्धकत्वमेव त्यागप्रयोजकम्। सविघ्नत्वादिकथनं तु भोगसाधारणप्रतिबन्धस्थदोषोद्घाटनार्थम्। तथा च सेवाप्रतिबन्धकत्वात्तु त्याज्यावेव। निसर्गेदुष्टत्वादपि त्याज्यावित्याशयोऽनुसन्धेयः।

आवेशासुरस्य विवेकसाधनमिति प्रागुक्तमिदानीं नैसर्गिकासुरस्य का गतिरित्याकांक्षायामाहुः।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

अस्योत्पत्तिकाल एव भगवताऽसुरत्वसम्पादनान्नैसर्गिकासुरः। तथा च भगवान् तस्मिन् तदानीमेव स्वमार्गात् सर्वप्रामाणिकमार्गेभ्यश्च बाहिर्मुख्यलक्षणप्रतिबन्धं कृतवान्। इत्थञ्च वेदनिन्दादिसाधारणप्रतिबन्धाद् **द्वितीये** भगवत्कृते एवंविधप्रतिबन्धे निर्धारिते सतीत्यर्थः। **चिन्ता** जन्ममरणदुःखनिवृत्तिर्मम केन प्रकारेण स्यादिति विचारः **सर्वथा** सर्वप्रकारेण प्रमाणैर्युक्तिभिश्चेति यावत्। सा त्याज्या न कर्तव्या। तत्र हेतुः। **संसारनिश्चयात्**। संसृतेरवश्यंभावस्य निश्चितत्वादित्यर्थः। तथा च 'दैवी सम्पद्विमोक्षाय' 'निबन्धायासुरी मता' इत्यादिप्रमाणैः 'तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसी'त्यादिप्रामाणिकयुक्तिभिश्चाधेः समाधिः सम्पादनीय इति भावः।

विवृतौ ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थमाह **द्वितीय** इति। **द्वितीयो** भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इत्यनेन निश्चयादित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः। **ज्ञानेति**। 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा' इति भगवद्वचनात् सहजासुराणां ज्ञानमार्गेऽपि स्थितिर्न भवतीत्याशयः ॥ ५ ॥

मूले 'अलौकिकस्य दाने ही'त्यनेन भगवतः स्वरूपानन्ददित्सायां मनोरथः सफलो भवेदित्युक्तम्। यदि स न सिध्येत् तदा का गतिरित्याकांक्षायामाहुः।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

नाद्ये त्वित्यन्वयः। तथा चाद्याभावे त्वित्यर्थः। इत्थञ्च तत्फलमनोरथाभावे तु भगवतो भजनानन्ददित्सा नास्तीति भावः।

विवृतौ आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्तीति तदा सेवा नाधिदैविकीत्युक्तं भवतीत्यनेन नास्तीत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । न त्वाद्य इति मूलमाद्यफलाभाव इत्यनेन व्याख्याय दातृता नास्तीति मूलं व्याचक्षते भगवतो दातृत्वं नास्तीति । फलितार्थमाहुः तदेति । यदा फलसहितस्य मनोरथस्याभावस्तदाधिदैविकीसेवाभजनानन्दो न भवेदिति । अयमर्थो न त्वाद्ये दातृता नास्तीति मूलेन कथितोऽस्तीत्यर्थः । इत्थञ्च प्रेमान्तसेवया पुरुषोत्तमसायुज्यं भवतीति भावः ।

मूले बाधकानां परित्यागइत्यनेन तत्साधनत्यागपूर्वकस्वस्वप्रतिबन्धकतत्याग उक्तः । तत्र लौकिकभोगसाधनीभूतरूपरसगन्धस्पर्शशब्दानां त्यागे प्रतिबन्धकमाहुः तृतीये बाधकं गृहम् । भोगस्य तृतीयप्रतिबन्धकत्वात् तत्साधनमपि तृतीयं साधनं तत्परित्यागोपि तृतीयः परित्यागः । तथा च तस्मिन् गृहं प्रतिबन्धकमित्यर्थः । इत्थञ्च रूपादित्यागो गृहत्यागाधीन इति भावः ।

विवृतौ भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग इत्यनेन गृहमित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । भोगेति । भोगाभावः ससाधनभोगपरित्याग इत्यर्थः ।

मूले पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्यादामर्यादाभजनानां फलं प्रतिबन्धकं तत्प्रतीकारं चोक्त्वा व्याख्याय चेदानीं सेवांमुपदिशन्ति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ।

अवश्या स्वस्य वश्या न । तथा च स्वकृत्यसाध्या भगवदनुग्रहैकसम्पाद्येति यावत् । इयं श्रीमदाचार्याणां हृदि अनवरतमुत्पद्यमानत्वात् साक्षात्कृतस्वरूपा भावनारूपा मानसी सेवा, सदा निरन्तरं, भाव्या सम्पादनीयेत्यर्थः । तथा च स्वरूपानन्दसाधनीभूतभावविशेषसिध्यर्थमनवरत भावना कर्तव्येत्याशयः । इदमेव मनसः प्रधानं कार्यमित्याहुः सर्वमिति । मनसा यदन्यत् किञ्चित् प्रमारूपमपि कार्यं जन्यते तत् सर्वमपि भजनानन्दापर्यवसायित्वाद् भ्रम एवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

तर्हि चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः किं सम्पादनीयमित्याकांक्षायामाहुः ।

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

मनसोनुचरैश्चक्षुरादिभिरिन्द्रियैस्तत्कार्यं मनःकार्यमेव सम्पादनीयम् । तथा च श्रीमदाचार्यमार्गपक्षपातादविरतं सेव्यस्वरूपेप्वाविर्भूतस्य संकल्पप्रतिभातस्य वा भगवतो दर्शनसेवादिना स्वस्वव्यापारेण मनःकार्यरूपा भावनाख्या मानसी सेवा सम्पादनीयेतिभावः । इत्थञ्च चक्षुरादिसर्वेन्द्रियैरपि स्वस्वव्यापारे भगवति सम्पादनीयो, 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारेणेति ध्येयम् । ननु कियच्चिरमेवंकृतिरतआहुः पुष्टाविति ।

१ सर्वमिति पाठ । २ ससाधनसाध्या नेति पाठः

पुष्टिर्भावः तस्मिन् सिद्धे सति स्वरूपानन्दः सत्वरमेव भवेन्न तु विलम्बं कुर्यादित्यर्थः । तथा च भावोत्पत्तिपर्यन्तमेवंकृतिरितिभावः ।

पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इतिन्यायात् कदाचित् कमपि प्रतिबन्धकमाशंक्य तत्प्रतीकारमाहुः ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणाः प्राकृतसत्वरजस्तमांसि, तत्कृतक्षोभो मार्गान्तररुचिः, लौकिकविषयलोभैतन्मार्गारुचय इत्यर्थः । एतदेवास्मदुक्तं'भवत्येयं सदे'तिपद्यमेव द्रष्टव्यम् । तथा चैतत्पद्योक्तसाधनेनैव सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तिरितिभावः । ननु सत्सु प्राकृतगुणेषु निरन्तरक्रियमाणायामपि भावनायां भावो नोत्पत्स्यत इति चेत्? सत्यम् । यावत्कालं मनस्याविर्भूय भगवानन्तःकरणसम्बद्धो न भवति तावदविद्याया विद्यमानत्वाद् गुणा अपि सन्ति । तथा चानिशमेवंकृतौ कृपालुर्भगवानाविर्भूयान्तःकरणसम्बद्धः सन् अविद्यामेव नाशयेत्, तदा सुतरां गुणनाशः, ततो निरन्तराया भावोत्पत्तिरितिध्येयम् ॥ ७ ॥

स्वोक्तप्रमेये निःसन्दिग्धत्वेनैव स्वेयमिति स्वाःपुपदिशन्ति ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ।

कुसृष्टिः दूषणाभासः, अत्रास्मदुक्तौ, चेत्तनादरे, वस्तुतस्तु नोत्पत्स्यत एवेत्याशयः । काचिद्दुःसंगेन भगवदस्मरणनिबन्धनक्षणिकासुरभावेन वा काचिदुत्पद्येत जायेत चेद्, वै निश्चयेन, स तु भ्रम एव भ्रान्तिरेवेत्यर्थः । तथाचोत्तरक्षणोत्पत्स्यमानविशेषदर्शननाश्यत्वादकिञ्चित्करेतिभावः ॥ ७॥ ॥

इतिश्रीविट्ठलेश्वरात्मजश्रीघनश्यामतनयश्रीगोपेशगोस्वामिविरचिता सेवाफलविवृतिटिप्पणी सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीदेवकीनन्दनविरचितविवृतिटिप्पणीसमेतम् ।

करुणाचार्यचरणवरणं शरणं मम । यत्पथे सुकृधे सेवाफलं कृष्णः प्रयच्छति ॥ १ ॥

ननु स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणसेवायाः फलान्तरकथनं कथमुपपद्यत इति चेत् । इत्थम् । यावज्जीवं तथा क्रियमाणसेवया देहावसाने जीवस्य या गतिर्भवति सात्र फलपदेनोच्यते । सच फलमाधुनिकभजनानुस्यूतसर्वात्मभावप्राप्यनिरुपमभजनानन्दात्मकमेवेति न तस्य सेवातिरिक्तत्वमायाति येन फलान्तरत्वमुच्येत । 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवर'मिति भगवद्वचना'दन्ते या मतिः सा गति'रिति न्यायाच्च सेवाफलं सेवैवेति नोक्तविरोधः शंकनीयः । तत् कीदृशं किमिति जिज्ञासायामाचार्याः किमित् स्वमतसिद्धं तत् सार्धैः सप्तभिः श्लोकैर्निरूप्य सुगमत्वाय स्वयमेव विवृण्वन्ति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी सेवनेति । प्रोक्तेति । मयेत्यध्याहार्यम् । तेन स्वसिद्धान्ते यादृशी सेवना मया प्रोक्ता, तादृशी सेवना विवरणे वक्ष्यमाणफलप्रापिका भवति, न तु प्रमाणान्तरसिद्धा, मतान्तरसिद्धा वा तथा । अन्यथा तत्र तत्र कचिदुक्ता प्रसिद्धा भवेत् । अत्र तु साक्षादाचार्योक्तत्वादनुभवसाक्षिकत्वाच न काचिदसंभावनेति ज्ञाप्यते । सापि यावज्जीवमविच्छेदेन कृता, स्वफलदानं तु कियत्कालं कृत्वा, परित्यक्तापीत्याहुः **तत्सिद्धा**विति । सिद्धिरत्र यावज्जीवं निर्वाहः । तदुक्तमाचार्यचरणैः 'सेवायां वा कथायां वे'ति । फलमिति । एकवचनं त्रितयाभिप्रायेणेत्याहुः **सेवायां फलत्रयमिति** । अत्रायं भावः । भक्तिमार्गे पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन जीवेषु भगवदङ्गीकारः त्रिविधः । तेनाधिकारिभेदेन सेवा त्रिविधा, ततः फलमपि त्रिविधं क्रमेणोक्तम् । तत्रादौ पुष्टिसेवाफलमाहुः **अलौकिकसामर्थ्यमिति** । अत्रायमाशयः । श्रीमद्व्रजस्थोक्तरीत्या सर्वात्मभावैकलभ्यभजनानन्दानुभवलक्षणं फलमलौकिकमुच्यते । तस्येतरप्रमाणागोचरत्वमितरसाधनाप्राप्यत्वमलौकिकत्वम् । तदनुभवयोग्यतालक्षणोधिकारश्च सामर्थ्यपदेनोक्तः । तस्यातिगोप्यत्वाय तथोक्तिः । द्वितीयफलं **सायुज्यम्** । तदत्र पुरुषोत्तमे वेदितव्यम्, न त्वक्षरे । अक्षरसायुज्यं तु केवलमर्यादायां ज्ञानादिनापि भवतीति ततः पुष्टेर्विशेषकथनावश्यकत्वात् । सायुज्यानन्तरमपि पुष्ट्या कदाचिदयमलौकिकं फलमपि भगवान् प्रयच्छेदित्यपि ज्ञेयम् ।

अन्यथा पुष्टिसेवाफलं सायुज्यमात्रं न वदेयुः। भक्तौ तद्वासनाया अभावात्। 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति भगवन्नियमात्। तेन पुष्टिमर्यादायामादौ सायुज्यम्, मध्ये भजनानन्दानुभवः, अग्रे पुनः पूर्वसायुज्यमित्युक्तं भवति। अतो मध्यमफलत्वम्। तृतीयं फलं वैकुण्ठादिदेहः। आदिपदेन भूमावपि तथा भावनायां तादृग्देहप्राप्तिरुक्ता। तत्राप्युच्चनीचदेहभेदा बहुवचनेनोक्ताः। व्यापिवैकुण्ठस्य सायुज्यापेक्षया दुर्लभत्वेन साधारणफलत्वकथनस्या-युक्तत्वादत्र रमाप्रार्थित एव स इत्यवगम्यते। तत्र कदाचिच्चाद्यफलसंभावनेति साधारण-फलत्वम्। अत एव वैष्णवव्रतानामेकादश्यादीनां फलत्वेन स्मृतिपुराणेषु स एवोच्यते।

ननु सायुज्यवैकुण्ठयोः प्रमाणसिद्धत्वेन तदर्थं जीवप्रयत्नः संभवति, आद्यफलस्य तु लोकवेदातीतत्वेन प्रमाणागोचरत्वात्र स्वकृतिसाध्यत्वम्, यत् पुनः तत्साधनं तस्यापि तथात्वम्, अतः कथमाद्यमनोरथः सिध्येदित्यत आहुः अलौकिकस्य दान इति।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥१॥ ॥
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामकः।

अलौकिकमाद्यफलं तस्य **दाने**, अर्थाद्भगवता कृते सति तन्**मनोरथः सिध्येत्**, न त्वन्यथापीत्यर्थः। **आद्य** इति। सायुज्यवैकुण्ठमनोरथापेक्षया स **आद्य** इत्यर्थः। **अल्प** इति पाठे यद्यपि लीलामध्यपातिभक्तानुभवैकवेद्यफलसंबन्धिमनोरथो जीवस्य साधनतः स्वरूपतश्चाल्प एव। अप्यर्थे चकारः। तथा चाल्पोपि तथापि स्वतः प्रभुदानेन तत्सिद्धिः। **सिध्ये**दिति प्रार्थने लिङ्। आचार्यप्रार्थनया प्रभुः संपादयेदेवेति भावः। आद्यफलस्य स्वरूपैकसाध्यत्वे प्रसिद्धिमाह **हि**शब्दः। ननु भगवानपि तादृशाधिकाराभावे मनोरथं कथं पूरयेदित्यत आहुः **न काल** इति। अत्र फले इत्यधिकारे वा ॥ १॥ ॥

अग्रे प्रतिबन्धकत्रयोक्तिरिह साधनदशायामेव। तदुक्तं मूले **बाधकानां परित्यागे**ति।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥
बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम्।
निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ३ ॥

तद्विवरणं **त्रयाणां साधनपरित्याग** इति। साधने सति स्वरूपतः त्यक्तुम-शक्यत्वात्। **भोगेप्येक**मित्यादि **विशते सदे**त्यन्तविवरणं **भोगो द्विविध** इत्यारभ्य **प्रविशतीत्य**न्तेन। तदनुसारेण मूलमेवं योजनीयम्। त्यजेदिति क्रियापद-मध्याहार्यम्। यथा प्रतिबन्धद्वये एकस्याप्योपरो न, तथा **भोगे**पि एकं लौकिकं भोगं त्यजेदपरमलौकिकं न। यतो **निःप्रत्यूह**मनन्तरायभूतम्। तत्र हेतुः। **महा**निति। अलौ-किकभोगः स्वरूपतो लौकिकत्वादल्पोपि फलतो **महान्**, अलौकिकत्वात्। अतो न त्याज्य इति भावः। अलौकिकत्वे निमित्तमाहुः **प्रथम** इति। प्रथमे आधुनिकभजने सदा निरन्तरं विशते, भजननिर्वाहकत्वेन तदंगतां प्राप्नोतीत्यर्थः। एतदेव विवरणे स्फुटीकृतम्।

अलौकिकभोगस्तु फलानां सेवाफलांगभूतवस्तूनां मध्ये प्रथममङ्गं प्रतिबन्धाभावस्तत्र निश्चतीति न तत्त्यागः । तथा चोपपादितमेकादशस्कन्धे । 'कायेन वाचे'ति श्लोकविवरणे ॥ ३ ॥

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ४ ॥

अकर्तव्यं भगवत इति श्लोकविवरणं **भगवत्कृतश्चे**त्यारभ्य **विवेक** इत्यन्तेन । अयमर्थः । आसुरस्यापि दैवाद्भगवदीयसंगे जाते सेवायां प्रवृत्तिर्भवति । तेन केनचित्प्रकारेणानिवार्यप्रतिबन्धे जाते स भगवत्कृत इति ज्ञातव्यम् । तेनाग्रे फलाभावश्च । तेनान्यकृतापि सेवा प्रतिबन्धात् पूर्वं कृता सापि व्यर्था । तस्यासुरत्वनिर्धारश्च । तदा तज्जनितशोकाभावाय ज्ञानमार्गेण सर्वं तत्त्वं बुद्ध्वा स्थितिः विवेकः साधनम् । यद्यप्यासुरप्रसंगोऽत्र न वक्तव्यः, तथापि कश्चिदेव भगवदीयेष्वपि दृश्येत चेत्तदा तथा भावनीयम्, न तु स्वीयस्य भगवानेवं करोतीति प्रभौ दोषारोपः कर्तव्य इति ज्ञापयितुं तदुक्तिरिति ज्ञायते ॥४॥

सविघ्नोऽल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ ।
द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥
न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

सविघ्नोऽल्प इत्यस्य विवरणे **सविघ्नत्वादल्पत्वादि**ति । साधारणभोगः **सविघ्नो** विघ्नसहितः । तादृशोऽप्यल्पः, स्वरूपतः फलतश्च । सोपि न त्यज्यते चेत्तदा **घातकः** सेवाप्रतिबन्धकः स्यात् । अतः सर्वथा त्याज्यत्वाद्बलादाग्रहादपि **एतौ** साधारणभोगप्रतिबन्धकौ मतौ, त्याज्याविति शेषः । तदुक्तं विवरणे **सदा प्रतिबन्धकाविति** । **द्वितीयो भगवत्कृतः** प्रतिबन्धः । तत्र **ज्ञानमार्गेण स्थातव्यमिति** चिन्तानिवृत्तिसाधनं पूर्वमुक्तम् । तदसंभवे साधनान्तरमाहुः **द्वितीये सर्वथेति** श्लोकार्धेन । तदाभासो **ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाहेति** । तत्प्रतीकोऽग्रे **द्वितीय** इति । विवरणमाद्य**फलाभाव** इत्यादि **भवतीत्यन्तम्** । आद्यफलं जीवस्य दैवत्वं, तदभावे **भगवतो दातृता नास्ति**, तदा **आधिदैविकी** फलसम्बन्धिनी सेवापि नेत्यर्थादुक्तं भवति । तत्सर्वं द्वितीयप्रतिबन्धे जाते ज्ञात्वा सर्वथोक्तफलविषयिणी चिन्ता त्याज्या । तत्र साधारणो हेतुः । **संसारनिश्चयादिति** । 'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्' इति भगवदुक्तसंसारस्य निश्चयादन्यथा न भवतीति **सर्वथे**त्युक्तम् । **न त्वाद्य** इति । **आद्ये** पूर्वोक्तसाधारणप्रतिबन्धे **दातृता** भगवतो नास्तीति न, किन्तु वर्तते, अतः तन्निवृत्तये चिन्ता कर्तव्या, न तु द्वितीय इव सर्वथा त्याज्येति भावः । एवमाद्यद्वितीययोर्व्यवस्थामुक्त्वा तृतीयः साधारण-

भोगकृतः प्रतिबन्धस्तत्र कर्तव्यमाहुः । **तृतीये बाधकं गृहमिति** । अलौकिकभोगेन साधारणभोगपरित्याग आनुषंगिकः पूर्वमुक्तः । अन्यथा अलौकिकभोगो न स्यात् । उभयो रेकाधिकरणत्वाभावात् । यदि साधारणभोगं त्यक्तुं न शक्नुयात् तदा सेवाप्रतिबन्धकत्वेन तन्मूलभूतं गृहं त्यजेदित्याशयेन तद्विवरणं **भोगश्चाभावस्तदेत्यादि** ।

ननु त्यागतः प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रेण सेवाया असम्भवे तदधिकारिणां कथं तत्फलप्राप्तिः । तदभावे च द्वितीयतुल्यता स्यात् । जीवस्य दैवत्वमपि व्यर्थं भवेत् । तस्मादत्र त्यागोक्तितात्पर्यं किमिति न बुध्यत इति चेत्, इदमाभाति । सेवाधिकारिणां मध्ये येषां गृहमनुकूलम्, तेषामन्यतः प्रतिबन्धः साधारणः, तेन तन्निवृत्तिः कर्तुं शक्या । ततः सेवया तत्फलप्राप्तिः । भोगश्च तेषामप्रतिबन्धहेतुरलौकिकत्वादिति पूर्वमुक्तम् । येषां पुनः गृहमेव प्रतिबन्धकम्, तेषां तत्परित्यागादेव लौकिकभोगनिवृत्तिः । त्यागोपि सन्न्यासनिर्णयोक्तप्रकारेण भक्तिमार्गीयो ज्ञेयः, न तु कर्ममार्गीयो ज्ञानमार्गीयो वा । एवं सति तत्फलप्राप्तिरग्रे तेषामपीतिमनने तु नोक्तविरोधः शंकनीयः ॥ ५॥ ॥

अग्रिमश्लोकद्वयस्य विवरणाभावादेवं योजना ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥
तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।
गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥
कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

इयमुक्तरीतिः । अवश्या स्वतो भावयितुमशक्यापि मदुक्तत्वात् **सदा भाव्या** । अवश्यं भाव्येति वा । यत्र यथा दृश्येत तत्र तथा भाव्येत्यर्थः । ततः किमित्यत आहुः **सर्वमिति** । उक्तरीतितोन्यत् **सर्वं मनोभ्रम** इति ज्ञायत इत्यर्थः । सर्वैः कथमेवं नांगीक्रियत इत्याशंक्याहुः **तदीयैरिति** । भ्रमसंबन्धिभिरासुरैस्तत् **कार्यं** कर्तव्यमित्यर्थः । भक्तिमार्गीयैस्तु मदुक्तिभावनायां विलम्बो न कर्तव्य इत्याहुः **पुष्टौ नैवेति** । कदाचिदासुरस्यापि सेवाप्रतिबन्धे जातेपि भगवद्गुणश्रवणादिना प्रेमलक्षणं पुलकादि दृश्यते तत्र किं भावनीयमित्यत आहुः **गुणक्षोभेपीति** । क्षोभोश्रुपुलकादिः, स तु गुणवस्तुस्वभावादासुरस्यापि भवतीति गुणमाहात्म्यमेव । अत एतत्पूर्वोक्तमेव तत्रापि द्रष्टव्यं भावनीयमित्यर्थः । उक्तविश्वासार्थमाहुः **मे मतिरिति** । **मतिः** सम्मतिः । भ्रमस्वरूपमाहुः **कुसृष्टिरिति** ॥ ७॥ ॥

यथामति कृता सेवाफलोक्तिविवृतौ मया । टिप्पणी पर्वणीवेन्दुः प्रकाशयतु सर्वतः ॥ १ ॥
यदत्रानुचितं किंचिदलेखि मतिमान्द्यतः । क्षम्यतां तद्गृहस्थैः शिशौ धीरैरिवेप्सितम् २

इतिश्रीदेवकीनन्दनकृता सेवाफलोक्तिविवृतिटिप्पणी समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीहरिरायकृतसेवाफलोक्तिविवृतिसमेतम् ।

श्रीकृष्णं कुलदैवतं तदनु च श्रीवल्लभाख्यान् निजान् ।
आचार्यानथ विट्ठलेश्वरमहं नत्वा प्रभुं सर्वथा ॥
श्रीगोविन्दमतीयभावविवशं तातं स्वमर्यादया ।
ख्यातं मत्फलजातहेतुमधुना किंचिद्वदाम्यक्षमः ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्याः स्वीयानां बहुलग्रन्थावलोकनप्रयासमसहमानाः संक्षेपेणैव स्वमार्गीयसेवाफलप्रतिबन्धसाधनानि निरूपयन्तः प्रथमं फलं निरूपयन्ति **यादृशी सेवने**ति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी यादृक्प्रकारिका स्वतःपुरुषार्थत्वेन कालापरिच्छेदेनावश्यकर्तव्यत्वेनाकरणे प्रत्यवायजनकत्वज्ञानेनं क्रियमाणस्वसाधनभूततनुवित्तयुतसेवाद्वययुतमानससेवना भावरूपा सदानन्दसेवा मया प्रकर्षेण मुख्यतया फलरूपतया प्रोक्ता निरूपिता सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति । तस्याः सिद्धौ यावज्जीवनिर्वाहेण प्रपञ्चविस्मृतियुततदासक्त्या व्यसनरूपत्वसिद्धौ यत्फलं तदुत्पाद्यं फलत्वेनाभिमतम्, तदुच्यते निरूप्यत इत्यर्थः । ननु सेवायाः सर्वत्र ग्रन्थेषु फलरूपत्वोक्तेस्तत्फलोक्तिरनुपपन्नेत्याशंक्याहुर्विवरणे **सेवायां फलत्रयमि**ति । सेवायामेव क्रियमाणायामेतत्त्रयं भवतीति तदुत्तरमपि सेवासत्त्वेन तन्मध्यपतितया न तस्याः स्वतःपुरुषार्थत्वहानिरित्यर्थः । अत एव सेवायामित्यत्र षष्ठीमनादृत्य सप्तमी विभक्तिरुक्ता । तत्त्रयमेवाहुः **अलौकिसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्वि**ति । तत्रालौकिकसामर्थ्यं हि भगवतः कोटिसूर्याग्निरूपसात्यन्तिकफलदित्सायां सर्वलीलाविशिष्टस्य प्रभोर्हृदयप्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यम् । तच्च न शरीरान्तरे सम्भवतीति तादृशसामर्थ्यवच्छरीरप्राप्तिर्मृग्या । सा च प्रभुणैवापारकरुणेनैव सम्पाद्यत इति प्रभुसंपादितालौकिकशरीरनिष्ठस्वरूपानुभवक्षमसामर्थ्यमेव प्रमाणानुरोधिप्रमेयसाध्यं मुख्यं फलमित्यर्थः । अत एवोक्तं प्रभुभिः श्रीयमुनां प्रति प्रार्थयद्भिर्'ममास्तु तव सन्निधौ तनु नवत्व'मिति । नवत्वं च तादृक् सामर्थ्यमेव । अत एव तनुनवत्वमेवोक्तं न तु नवतनुत्वमिति । तथा च यथा व्रजरत्नानां सर्वदा लीलासुखमनु-

१ ज्ञापनेनेति पाठः ।

भवतामन्ते तादृक् सामर्थ्यमेव सम्पादितं येन स्वदत्तस्वरूपानुभवो निष्प्रत्यूहं भवति नान्यावस्था। तथान्यत्रापि तदनुग्रहत परमानुरागेण तथा फलदित्साया पूर्वदेहं स्ववियोगाग्निना शुद्धं विधाय तस्यैवालौकिकत्वं सम्पाद्य तत्र तादृक् सामर्थ्यं प्रकटयतीत्यलौकिकसामर्थ्यमेव मुख्यं फलमिति भावः।

प्रमाणानुरोधिप्रमेयसाध्यं मध्यमं फलमाहु **सायुज्यमिति**। सह युनक्तीति सयुक्, तस्य भावस्तत्त्वम्। भगवता सह सततस्थितिरेव सार्वदिकसंयोगरसानुभव इति यावत्। तथा च लक्ष्मीवदन्तर्गृहगोपिकावद्वा भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपदखिलपुण्यपापक्षयद्वारा पाञ्चभौतिकदेहं निवर्त्यालौकिकं दत्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो निष्कास्य स्वलीलानुभवं प्रभुकारितो मध्यमं फलमिति भावः मध्यमत्वं चास्य विप्रयोगरसानुभवमपेक्ष्य तदुत्कर्षस्य सहृदयानुभवसाक्षिकत्वात्।

उभयसाधारणमधिकाररूपं तृतीयं फलमाहु **सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्विति**। सेवाया क्रियमाणायामेवानुग्रहविशेषाभावात् साक्षात् सेवानुपयोगे अन्यैः तादृशसाक्षाद्रसानुभवकर्तृभिः क्रियमाणाया सेवाया उप समीपे योग, तद्रूपक्ष्या दिशरीरप्राप्तिस्तृतीयं फलमित्यर्थ। तस्य चान्तरमणानुकूलत्वात् फलत्वं, यद्वि साक्षात् सम्बन्धाभावादधिकाररूपत्वमित्यर्थ। अत एव 'प्रायो बतास्ब'त्यत्र मुनीना पक्ष्यादिशरीरप्राप्त्या स्वाधिकारानुसारेण सेवा तद्रसानुभवयोग्यता चेति निरूपितम्।

एव फलत्रयं निरूप्य आद्यफलस्य दुर्लभत्वं निरूपयन्त फलत्रैविध्ये हेतुं च समर्थयन्तो दानमात्रसाध्यत्वं प्रथमफलस्य निरूपयन्ति अलौकिकस्येति।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

अलौकिकस्य स्वविरहानुभवक्षमसामर्थ्यस्य **दाने** भगवता स्वाग्रहेण दु खानुभवरूपतया तदनिच्छायामपि तथा सम्पादने, चकारात् तद्देहेन्द्रियादिषु स्वस्वरूपस्थापने सति **आद्य**, प्रथमफलविषयक संस्काररूपसमर्पणसमयक्रियमाणो **मनोरथ**स्तापक्लेशानन्दप्राप्तिरूप **सिध्येदित्यर्थ**। **हीति** युक्तोयमर्थ। यतो लीलास्थितेष्वपि केषाञ्चिदेव रासमण्डलमण्डनायमानाना तद्दानम्। अत एवान्तर्गृहगताना प्रतिबन्ध इत्यत केवलप्रभुदानैकसाध्यत्वमिति भाव ॥ १ ॥

अत पर सायुज्यसेवोपयोगिदेहाप्तिरूपयो फलतदधिकाररूपमध्यमान्तरफलयो पूर्वफलवदनियतत्वाभावात् कदाचित् कालसाध्यत्वं ज्ञानादीनामिवाशक्येत तदभावार्थमाहु **फलं वा ह्यधिकारोवेति**।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामक ।

फल सायुज्यम्। **अधिकारः** सेवोपयोगिदेहाप्ति। अत्रेतदुभयो फलयो

कालो न नियामकः सत्यादिरूपः फलदः कलिरूपः प्रतिबन्धको वा नेत्यर्थः । एतेन कालानियम्यत्वेनैतत्फलस्य नित्यत्वमपि सूचितम् । अत एव कपिलदेवैरपि 'नो निमिषो लेढि हेतिरि'ति निरूपितम् । अत्र वाशब्दद्वयमधिकारस्यापि फलरूपतया तत्समकक्षत्वबोधनाय ।

एवं सोपपत्तिकं फलत्रयं विविच्य प्रतिबन्धकत्रयं विवेचयितुं निरूपयन्ति उद्वेग इत्यादि ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

मूले बाधकमित्येकवचनेन मिलितानामेव बाधकत्वेत्याशंक्याहुः विवरणे **सेवायां** प्रतिबन्धकत्रयमिति । उद्वेगो नाम मनसः सेवायां क्रियमाणायामुत्कृष्टो वेगः सर्वथा तत्रास्थिरता बाहिर्मुख्यमिति यावत् । स च सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकतया प्रतिबन्धकः । तस्मिन् सति क्रियमाणसेवायाः केवलकायिकीत्वान्मानसीत्वाभावेन प्रतिबन्धेनानाधिदैविकीत्वात् । एवमुद्वेगं निरूप्य प्रतिबन्धभोगौ निरूपयन्तः प्रथमं प्रतिबन्धस्यानिवार्यत्वेन पाठक्रममनपेक्ष्यार्थक्रमेण भोगं निरूपयन्ति **भोगो द्विविध** इति । भोगे द्वैविध्यं लौकिकालौकिकभेदेनेति तदाहुः **लौकिकोऽलौकिकश्चेति** । तत्र लौकिको लौकिकपदार्थानां भगवत्सम्बन्धरहितानां स्वत आसक्त्या भोगः । अलौकिकस्तु प्रभुसम्बन्धी । स तु प्रतिबन्धक एव न भवति । तस्य फलानां मुख्यमध्यमसाधारणानां मध्ये प्रथमफलेऽलौकिकसामर्थ्येन प्रभुस्वरूपानुभवरूपरसभोगे प्रवेशात्[1] । यतः सर्वेन्द्रियैस्तत्सम्बन्धिपदार्थेष्वनुभूयमानेषु तत्र तत्र स्थितो रसात्मा प्रभुरेवानुभूयत इति भावः । एवं भोगं निरूप्य प्रतिबन्धं निरूपयन्ति **प्रतिबन्धोपीति** । **साधारणः** सर्वसाधारणः, सेवायां लौकिकवैदिककार्यान्तरव्यासक्तिः । भगवत्कृतप्रतिबन्धस्यासुरमात्रविषयत्वेनासाधारणत्वादनिवर्त्यत्वेनावक्तव्यत्वाच्च त्रय एव बाधका उद्वेगलौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धा इत्यर्थः । ननु कथमेतेषां सिद्धानां त्याग इत्याशंक्याहुः **त्रयाणामिति** । उद्वेगलौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धकानां त्रयाणां साधनं तज्जननहेतुभूतं तस्य परित्यागः कर्तव्यः, हेतूच्छेदे पुरुषव्यापारात् । सिद्धस्य स्वरूपलाभे[2] त्यागानर्हत्वात् । नहि केनापि स्वसामग्रीसम्पादितं सुखदुःखादि किञ्चिदपि स्वयत्नशतेनापि त्यक्तुं शक्यते । ननु साधारणप्रतिबन्धे सेवायां लौकिकवैदिककार्यापत्तिरूपे साधनस्य लोकवेदसिद्धतयाऽशक्यत्यागत्वात् कथं तत्त्याग इत्याशंक्य तदुपायमाहुः **तत्राद्य** इति । तत्र साधारणभगवत्कृतप्रतिबन्धयोराद्यः साधारणः बुद्ध्या उपायचातुर्येण त्याज्य इत्यर्थः । बुद्धिस्तु सेवायां प्रतिबन्धत्वेन यदापतति लौकिकं वैदिकं तस्य पूर्वमेव सेवानवसरसमयमवेक्ष्य निर्धारो विधेयो यथा न सेवां प्रतिबध्नाति । तथा च पुत्रविवाहादेस्तथैव लग्नादि विधारणीयम्

१ फलेषु प्रथमफले अलौकिकसामर्थ्ये तत्प्रवेशस्य वक्तव्यत्वात् प्रवेशश्चालौकिकसामर्थ्येन प्रभुस्वरूपानुभवस्य रसभोगरूपत्वादिति पाठान्तरम् । २ लाभेनेति तृतीयान्त- पाठः ।

यथा न सेवाप्रतिबन्धः । परोपकारादेस्तु धर्मस्य गौणधर्मत्वज्ञानेन त्यागः । कालान्तरे वा करणम् । एवमन्यत्रापि सर्वत्र हरिचरणरतिप्रतिबन्धविभञ्जनी बुद्धिरनुसन्धेया । यद्वा । कदाचिदावश्यकलौकिकवैदिककार्यापाते तत्प्रयत्नसम्भवेन त्यागः कथं शक्यत इत्यत आहुः बुद्ध्येति । शरीरादिना तत्कार्यकरणेपि तत्र बुद्धिर्न स्थाप्येत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं साधारणप्रतिबन्धं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धं निरूपयन्ति ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।

अकर्तव्यमिति मूले । विवृतौ **भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध** इति । **भगवतः** सर्वसमर्थस्यापि स्वतन्त्रेच्छतया यस्मिन्न किञ्चिदपि कृतिविषयः **सर्वथा** सर्वप्रकारेण प्रार्थनायामपि तदा **गतिर्निस्तारो न** सर्वथा फलाभाव इत्यर्थः । **हीति** युक्तोयमर्थः। सर्वमार्गफलदातुः प्रभोः प्रातिकूल्ये केनापि मार्गेण फलासिद्धेः । अत्रायमाशयः । भक्तिमार्गे विशिष्टेच्छायाः कारणत्वान्न सामान्येच्छारूपमूलेच्छया मर्यादया वा फलसिद्धिः प्रतिबन्धो वा । किन्तु स्वयमर्गीकृत्य यस्मिन् जीवे प्रभुर्यदा यथेच्छति, तदा तत्र तथा करोतीति वस्तुस्थितिः । तथा च भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य निरन्तरं सेवां कुर्वतोपि कदाचिद्दुःसंगादिनाऽतिपक्षपातिप्रभुप्रियप्रद्वेषेण तद्द्रोहे प्रभोरतिक्रोधेन प्रार्थनयापि क्षमासम्भावनारहितेन तस्मिन् प्रभुः फलप्रतिबन्धं करोतीति स भगवत्कृतप्रतिबन्धः । तस्मिन् सति सर्वथा सर्वमार्गफलाभाव इत्यर्थः। ननु भगवत्कृतप्रतिबन्धेप्यन्येषां फलदातॄणां सेवया फलान्तरं भविष्यतीत्याशंक्याहुः **तदान्यसेवेति** । यदा 'फलमत उपपत्ते'रिति न्यायेन सर्वत्र फलदातुः प्रभोः प्रातिकूल्यं तदान्येषामपि तदधीनानां फलदातृत्वाभावात् तत्सेवापि फलासाधकत्वाद् व्यर्थेत्यर्थः । ननु सर्वथा फलाभाव आसुरेष्वेवेति कथं दैवस्य भगवत्कृतप्रतिबन्धे तयालमित्याहुः **तदासुरोयमिति** । जीवानां हि सृष्टयादावपि 'निबन्धायासुरी मते'ति वाक्येन भगवत्कृतप्रतिबन्धादेवासुरत्वम् । यत्र यदा प्रभुः कर्तुमिच्छति तदैव भवतीति तदा तस्मिन्नेव समयेऽयं यस्मिन्नेवंप्रतिबन्धः स जीव **आसुरः** सेवादिना दैवत्वेन प्रतीतोपि आसुर एवेति **निर्धारो** निश्चय इत्यर्थः । एतेनैतत्प्रतिबन्धस्वरूपविज्ञैः सर्वथा दुःसंगादिषु सावधानैः स्थेयमित्युक्तं भवति ।

ननु तादृशस्य पश्चात्तापे शोकोत्पत्त्या पूर्वं भक्तिमार्गीय इति तदभावार्थं तत्त्वनिर्धारोपायभूतं विवेकरूपं साधनमाहुः **यथा वेति** ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

वाशब्दोनादरे । येनैव प्रकारेण । नात्राग्रहः । एतत्तत्त्वनिर्धारस्य शोकाभावमात्रार्थत्वान्नौपनिषज्ज्ञानमपेक्षितम्, किन्तु यथाकथञ्चित् सांख्ययोगेनान्येन वा भाषाप्रबन्धादिनोपायेन तत्त्वनिर्धारं विधाय शोकाभावार्थं विवेकः सम्पादनीय इत्यर्थः । विवेकस्तु

ममैतदेव प्रभुणा कृतं सर्वं मद्यात्मकं कोऽहं किञ्च साधनं किं फलं को दाता को वा भोक्तेत्यादिरूपः । तमेव च तत्त्वनिर्धारोपायं विवृतौ विशदयन्ति **ज्ञानमार्गेणेति** । ज्ञानमार्गेण ज्ञानसाधनोपायेन स्यातव्यमित्यर्थः । किञ्च ज्ञानस्थित्यापि न तन्मार्गीया मुक्तिः, किन्तु शोकाभाव एवेत्याशयेनाहुः **शोकाभावायेति** ॥ ३ ॥

अतः परं यदर्थमेषां निरूपणं बाधकानां तत्प्रयोजनमाहुः **बाधकानामिति** ।

बाधकानां परित्यागो भोगेष्वेकं तथा परम् ।
निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

बाधकानामुद्वेगभोगप्रतिबन्धानां परित्यागः परितस्त्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । भोगस्य बाधकत्वेन त्याज्यत्वमुक्त्वाऽलौकिके तदभावमाहुः **भोगेष्वीति** । **भोगेष्वेकमलौकिक-**भोगरूपं फलप्रविष्टतया **तथा** तेनैव प्रकारेण, **परं** प्रतिबन्धयोः **परं** भगवत्कृतप्रतिबन्धलक्षणमशक्यत्यागत्वेन विहाय तथेत्यर्थः । ननु भोगयोरपि तुल्यतामाशंक्य तस्मिन्नलौकिके वैलक्षण्यमाहुः **निष्प्रत्यूहमिति** । अलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रथमफले भगवत्स्वरूपानन्दानुभवरूपे भोगे क्रियमाणे प्रत्यूहोऽन्तरायः केनापि कालादिनापि न कर्तुं शक्यत इति निष्प्रत्यूहं स एव सिध्यति । लौकिके तु सर्वथा तदभाव इति महद्वैलक्षण्यमित्यर्थः । अत एवोक्तं प्रभुभिः सन्न्यासनिर्णये **'हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोपर'** इति । केच **महानिति** । स्वरूपतः फलतः साधनतश्च **महान्** । विषयानन्दब्रह्मानन्दापेक्षया भजनानन्दस्य महत्त्वादित्यर्थः । अत एव फलेष्वपि प्रथमफल एवालौकिकसामर्थ्यरूपे तत्कर्षेण प्रविशते प्रविशतीत्यर्थः । किञ्च **सदेति** । त्रैकालिकाबाधविषयत्वादित्यर्थः ॥४॥

एवमलौकिकभोगे वैलक्षण्यं निरूप्य लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धावेकीकृत्य तद्धर्मनिरूपणपुरःसरं वैलक्षण्यं निरूपयन्ति **सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति** ।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ ।

लौकिको हि भोगः **सविघ्नो** विघ्नसहितः, कर्मकालादिभिस्तत्र विघ्नसम्भवात् । अल्पश्च । स्वरूपतः फलतः साधनतश्च परिच्छिन्नत्वादित्यर्थः । साधारणप्रतिबन्धो हि घातकः । सेवाकालोपरोधकतया तद्घातकः । **एतौ** भोगसाधारणप्रतिबन्धौ सविघ्नत्वाल्पत्वघातकत्वादिभिर्धर्मैर्हेतुभूतैस्त्यागमप्यर्हत इत्याशयेनाहुर्विवृतौ **ननु कथमित्यारभ्य घातकः स्यादित्यन्तम्** । सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगः प्रतिबन्धश्च घातकत्वाच्च त्याज्य इत्यर्थः ।

एवं लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धयोस्त्यागहेतुभूत धर्मानुक्त्वा भगवत्कृतप्रतिबन्धे त्यागासम्भवेन ज्ञानमार्गस्थित्यानधिकारिणो मन्दमतेः फलचिन्तया शोको भवतीति तदभावाय चिन्ता न कर्तव्येत्याहुः **द्वितीय इति** ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे सर्वथा सर्वप्रकारेणान्यतोपि फलसम्बन्धाभावाच्चिन्ता फलविषयिणी त्याज्येत्यर्थः । तत्र हेतुमाहुः **संसारनिश्चयादि**ति । संसारोऽहन्ता-ममतात्मा सर्वानर्थमूलं प्रवाहपथफलरूपः, तस्य निश्चयाद्भगवत्कृतप्रतिबन्धे संसार एव, न फलान्तरमितिनिश्चयादित्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रतिबन्धविचारमतिविचार्यत्वेन विधायोद्वेगरूपप्रथमप्रतिबन्धेन फलाभावे भगवतो दातृत्वाभावं हेतुत्वेन निरूपयन्ति **नन्वाद्य**इति मूले विवृतावाद्यफलेति ।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

आद्येन प्रतिबन्धेन फलाभाव इत्यर्थः । **नन्वि**ति विरोधोक्तौ । **आद्ये** उद्वेगरूपप्रतिबन्धे भगवतः सर्वसमर्थस्याप्यन्तःकरणैकसम्बन्धितया तद्विक्षेपरूपोद्वेगे क्रियमाणे सेवाया अमानसीत्वेन भगवत्सम्बन्धाभावादन्ताधिदैविकीत्वे तत्प्रयुक्तः प्रभोः फलदातृत्वाभाव इत्यर्थः । अन्यथा सर्वदोषनिवारकस्य फलदातृत्वाभावो न घटेत । एतदेव विवृतौ विशदयन्ति **तदा सेवे**त्यादि । एवमुद्वेगबाधकमुक्त्वा भोगबाधकं विवृण्वन्ति **तृतीय** इति । **तृतीये** लौकिकभोगे गृहमेव बाधकमित्यर्थः । अत्रायमाशयः । भोगो हि सर्वथा बाधकः, भगवद्वैमुख्यसम्पादकत्वादिन्द्रियादीनां वैफल्यापादकत्वाच्च । स च यावद्गृहस्थितिः, यत्नेनापि निवर्त्यमानो न निवर्तते । गृहस्य सर्वथा बाधकत्वात्तत्र स्थितावंशतोपि भोगसम्भवाद्गृहपरित्यागः । कृष्णार्थप्रयोगेण तदासक्तिपरित्यागो वा भोगाभावाय विधेय इत्यर्थः । एतदेव च विवृतौ विवृतं **भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग** इति । अत एवास्मदाचार्यैर्निबन्धे निरूपितं भगवद्वचोनुवादरूपेण 'गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते । कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचक' इति ।

एवं फलत्रयं प्रतिबन्धत्रयं च निरूप्य निजान् प्रत्येतद्विचारमेवाहर्निशं कर्तव्यत्वेन वक्तुमुपसंहरन्ति **अवश्येय**मिति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

इयं फलत्रयी प्रतिबन्धत्रयी चावश्या, न स्ववश्या । भक्तिमार्गे फलप्रतिबन्धप्राप्ति-निवृत्त्योः केवलभगवदधीनत्वात् । तथापि सदा निरन्तरं **भाव्या** कर्तव्यत्वेन विचारणीया, विचारे हि भावनायाः साधनत्वात् कदाचित् फलसिद्धिः, प्रतिबन्धतश्च सावधानतया स्थिति-सिद्धिरित्यर्थः । ननु फलान्तरं प्रतिबन्धान्तरं वा भक्तिमार्गे किञ्चिद्भविष्यतीत्याशंक्याहुः **सर्व-मन्य**दिति । एतत्फलत्रयं प्रतिबन्धत्रयं चापहायान्यत्सर्वं फलप्रतिबन्धादिकल्पनं **मनो-भ्रमः** स्वान्तभ्रान्तिरित्यर्थः । अत्रेदमुक्तं भवति । भक्तिमार्गे सेवाया उत्तममध्यमसाधारणाधि-कारक्रमेण एतत्फलत्रयमेव, न मोक्षादिः । प्रतिबन्धकं चोद्वेगादिकमेव, न पापादिकमिति ।

'स्वपादमूलं भजत' इति वाक्यात् । तथा चैतत्फलनिहिताशैरेतत्प्रतिबन्धसावधानैरन्यतो निश्चिन्तैः सर्वैः सेवैव विधेयेति भावः ॥ ६ ॥

नन्वेतत्फलप्रतिबन्धकादिनिरूपणं तदाश्रितान्प्रति घटते तदीयदेहादेरामत्वात्, तदीयानां तु देहेन्द्रियादेः साक्षात्पुरुषोत्तमसमर्पितत्वेन फलरूपप्रभुसम्बन्धात् प्राप्तफलतया तान्प्रति फलप्रतिबन्धनिरूपणं व्यर्थमित्याशंक्य आहुः **तदीयैरपीति** ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

तदीयैः कृतात्मसमर्पणैरपि तत्फलप्रतिबन्धकादिभावनं कार्यमवश्यकर्तव्यम् । पुष्टिमर्यादायामंगीकारेण फलविलम्बात्तज्जनं कारयित्वैव फलदानात् । अविलम्बस्तु केवलपुष्टावेवेत्याहुः **पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति** । **पुष्टौ** केवलपुष्टौ मर्यादाऽभावेन साक्षादंगीकाराच्च विलम्बः । साम्प्रतं तु पुष्टिमर्यादायामेवाधुनिकानामंगीकारात्तज्जनसिद्धिविलम्बसद्भावेन तावत्पर्यन्तं प्रोषितभर्तृका इव फलप्रतिबन्धभावनं सर्वदा कार्यमित्यर्थः ।

एतदेव निमित्तमन्यत्राप्यतिदिशन्ति **गुणक्षोभेपीति** ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

तदीयानां गुणक्षोभोपि विलम्बादेव निमित्ताद् देशान्तरस्थपतिकाया इव भवति । तत्राप्येतदेव फलप्रतिबन्धकादिभावनं साधनत्वेन द्रष्टव्यम् । एतद्विचारेण चित्तस्य प्रभुपरतया गुणक्षोभोपि न भविष्यतीत्यर्थः । ननु गुणक्षोभनिवर्तकानि साधनान्तराणि भविष्यन्तीत्याशंक्याहुः **मे मतिरिति** । विचारे क्रियमाणेऽस्मन्मतेरत्रैव पर्यवसानान्नान्यत्साधनमित्यर्थः ॥ ७ ॥

नन्वत्र काचित् कुसृष्टिरुत्पद्यते, तदीयत्वे नियमेन फलसम्भवात्, तदवैयर्थ्यापत्तिभिया प्रतिबन्धासम्भवाच्च, तदीयत्वे ह्युभयाभावादेवं न निरूपणमुचितमित्याशंक्याहुः **कुसृष्टिरिति** ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

अत्रास्मिन्नर्थे वाशब्दोवधारणार्थः । अत्रैव या कुसृष्टिरुत्पद्यते सा सर्वथा दोषाभावाद्भ्रम एवेत्यर्थः । अनुपपत्तिपरिहारस्तु पुरैव प्रभोः स्वतन्त्रेच्छत्वनिरूपणेन कृत इति तत एव विभावनीयमिति दिक् ॥ ७॥ ॥

इतिश्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जदासानुदासश्रीहरिरायविरचिता सेवाफलविवृतिटिप्पणी सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीवल्लभविरचितटीकासमेतम् ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

यादृशी यत्प्रकारिका 'चेतस्तत्प्रवण'मित्यारभ्य 'कृष्णमेव विचिन्तये'दित्यन्तेनोक्ता । तत्सिद्धाविति । तस्याः सेवायाः मानसीत्वरूपफलावस्थासिद्धौ फलमुच्यते फलं निरूप्यत इत्यर्थः । कुत्रेत्याकांक्षायामाहुः टीकायां सेवायामिति । फलत्रयमिति । फलतावच्छेदकत्रयमित्यर्थः । यथा स्वर्गस्य फलत्वं तदवच्छेदकं चामृतपानादिकं तथा मानससेवायाः फलत्वं तदवच्छेदकं चेदं फलत्रयम् । सेवायां फलत्रयमित्यनेन पूर्वार्धार्थ उक्तः । उत्तरार्धार्थमाहुः अलौकिकसामर्थ्यमिति । मूलेऽलौकिकस्येत्यलौकिकस्य सामर्थ्यस्य । अलौकिकसामर्थ्यं सर्वाभोग्यसुधा । तस्या दाने । आद्य इति । आद्यो मनोरथो 'भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य चे'त्यादिभिरुक्तः पूर्वोक्तसुधाभोगरूपः सिध्येत् पूर्णो भवतीत्यर्थः । अनेन शृंगाररसस्य पूर्वदलानुभव उक्तः । चकारादलौकिकसामर्थ्येनैव तदुत्तरदलानुभवोपि भवति । स तु परितो गलनरूपवर्णनेनाभिरमणात्मको ज्ञेयः । एतेन दीयमाना सुधा साधनं भुज्यमाना सुधैव तु फलमिति सूचितम् । वेणुगीते 'वर्णनायां भुक्ते समागच्छन्ती मुखमपि स्वभोगयोग्यं करोती'ति निरूपितम् । 'वर्णयन्त्योभिरेमिर' इत्युत्तरदलानुभवोपि सुधापूरणेनैव निरूपितस्तत्सम्मतिसूचनाय हिशब्दः ॥ १ ॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामकः ।

फलं वा ह्यधिकारो वेत्यस्यार्थमाहुः सायुज्यमित्यादिना । मूले फलं चेति । सायुज्यस्य सोऽश्नुतइत्यादिश्रुतौ फलत्वेनैव प्रसिद्धत्वात् फलपदं सायुज्यवाचकम् । तथा च द्वितीयं फलं सायुज्यमित्यर्थः । तृतीयं फलमाहुः अधिकार इति । एतदर्थमाहुः टीकायां सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्विति । अत्र आदिशब्देन श्रीमथुराश्रीवृन्दावनादिकं ग्राह्यम् । मूले न काल इति । अत्र सेवोपयोगिदेहे कालो न प्रेरकः । यथा लीलासृष्टिस्था आम्रवृक्षादयो न कालप्रेर्याः, किन्तु भगवदिच्छयैव पुष्प्यन्ति फलन्ति च, एवं जंगमा अपि सेवोपयोगिनो देहाः भगवदिच्छयैव अवयवादिसम्पत्तिं लभन्ते ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

उद्वेग इति । श्लोकार्थमाहुः **सेवायामिति** । **उद्वेग** इति । मनसोऽन्यपरता उद्वेगः । कायस्यान्यपरता **प्रतिबन्धः** । इन्द्रियाणामन्यपरता **भोगः** । इदं त्रयं बाधकम् । तनुवित्तजसेवायां फलजननसामर्थ्यस्य भक्तिरहस्यभजनस्य बाधजनकं विसामग्रीहेतुः प्रतिबन्धकमिति मूलार्थः ॥ २ ॥

अकर्तव्यमित्यारभ्य विशते सदेत्यन्तस्यार्थमाहुर्विवरणे **त्रयाणामित्यारभ्य विवेक** इत्यन्तेन । **त्रयाणामिति** । उद्वेगसाधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगानामित्यर्थः । **साधनेति** । एतत्त्रयाणामेव बाधकत्वात् । ननु कथमेतत्त्रयस्यैव बाधकत्वं न तु पञ्चानामित्यतो व्यवस्थामाहुः **भोग इत्यादिना** । **लौकिक इति** । अनिवेदितपदार्थानां समर्पणं विना विषयासक्त्योपभोगो लौकिको भोगः । **अलौकिक इति** । निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरलौकिको भोगः । **तत्राद्य इति** । आद्यो लोककृतः साधारणः । **बुद्ध्या इति** । विभावनयेत्यर्थः । **फलानां मध्ये इति** । यस्य फलत्रयमपि भवति तस्य सेवोपयोगिदेहरूपे प्रथमे फले प्रविशति सम्बद्धो भवतीत्यर्थः । एतद्भोगस्यैतत्फलसाधकत्वेन पूर्वं फलसम्बन्धः । तदुत्तरं च दासधर्मत्वेनैतत्करणादुत्तरं सम्बन्धः । इत्थञ्च पूर्वोत्तरमपि फले व्याप्तो भवतीति प्रोपसर्गार्थः । अयं मूले सदेत्यव्ययार्थो ज्ञेयः । **निःप्रत्यूहमिति** हेतुगर्भम् । यतोऽयमदृष्टादिकृतविघ्नाभावान्निःप्रत्यूहं सिध्यत्यतो **महा**नित्यर्थः । यद्यपि पाठक्रमेण सेवोपयोगिदेहस्य तृतीयफलत्वम्, तथाप्यनुक्रमानुरोधात् तस्य प्राथम्यमेव सिध्यति । किञ्चैतस्याधिकारत्वेन निरूपणादपि तथा । **भगवत्कृतप्रतिबन्धश्चेदिति** । श्रवणकीर्तनादिना हरिश्चेद्धृदये निविशते तदा पूजा सर्वदा निर्वहति । तस्या अभ्यासे तस्यां भक्तिरहस्यभजनरूपं सामर्थ्यं सिध्यति । क्रियमाणेऽपि श्रवणकीर्तनादौ हरिश्चेन्न निविशेत तदाभ्यासो न भवति । तेन जाता तनोरन्यपरता या स भगवत्कृतप्रतिबन्धः । तदा भगवत्कृतप्रतिबन्धे **अन्यसेवा** महापुरुषादिसेवा **व्यर्था** निःफलेत्यर्थः । अपिना भगवत्सेवापि तथेति ज्ञेयम् । क्रियमाणेऽपि श्रवणादौ चेन्न हरिनिवेशस्तदेत्यर्थः । पूर्वमेव ज्ञानादिमार्गप्रवृत्तौ तु नासुरत्वमिति बोध्यम् । नन्वासुरत्वे श्रवणादौ प्रवृत्तिरेव कथमित्यत आहुः । **जीव इति** । स जीव आसुरस्तस्यान्तःकरणं तु दैवमतः प्रवृत्तिरिति भावः । ननु तर्हि किमासुरेण कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः **तदा ज्ञानमार्गेणेति** । अन्तःकरणस्य दैवत्वे इत्यर्थः । अन्तःकरणस्यासुरत्वे तु संसारनिश्चयाच्छोकाभावं वक्ष्यन्तीति ज्ञेयम् । शोकाभावसाधककंसोपदिष्टज्ञानमार्गेणेत्यर्थः । **विवेक इति** । आद्यो बुद्ध्या त्याज्यः द्वितीये त्वासुरज्ञानमार्गेण स्थेयमिति द्वयोः प्रतिबन्धयोर्विवेकः इत्यर्थः ।

भगवत्कृतश्चेदित्यारभ्य विवेक इत्यन्तेनाकर्तव्यमित्यस्य विवरणं ज्ञेयम् । इत्थश्लोकत्रयाणामेवात्र बाधकत्वम् । अलौकिकभोगस्य प्रथमे प्रवेशान्न बाधकत्वम् । भगवत्कृतप्रतिबन्धेपि सामर्थ्यानुत्पाद एव न तु जातस्य बाधोतस्तस्यापि न बाधकत्वम् । प्रतिबन्धकत्वं तु भवत्येव । प्रतिबन्धो त्रिसामग्रीतद्धेतुः, प्रतिबन्धक इत्यत्र त्रिसामग्रीपदस्य सामग्रीबाधात्मत्वाभावोभयवाचकत्वादिति बोध्यम् ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥
बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथापरम् ।
निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

मूले श्लोकद्वययोजना । भगवतः सर्वथा सेवायां सामर्थ्यं अकर्तव्यं चेत् तदा गतिः फलं न हि न भवतीत्यर्थः । ननु तदा तस्य किं साधनं शोकाभावायेत्यत आहुः यथा वेति । येनात्मतत्त्वनिर्धारो भवति तादृशो विवेकः आत्मानात्मविवेकः शोकाभावसाधनं मतमित्यर्थः । 'तस्मादद्धे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि मानु शोचे'त्यत्र तस्य ज्ञानस्य शोकाभावहेतुत्वकथनान्मतमित्युक्तम् । भोगेप्येकमिति । जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । अपरमिति । न परमपरम्, हीनम्, बाधकत्वात्त्याज्यमित्यर्थः । ननु कथं न द्वितीयो बाधकस्तत्राहुः निःप्रत्यूहमिति । निर्विघ्नम् । हेतुगर्भमिदम् । यतो निर्विघ्नं यथा भवति तथा सिध्यति, अदृष्टादेर्बाधकत्वाभावात् । अतो महान् । एतादृशो भोगः प्रथमे फले सेवोपयोगिदेहे सदा विशते, पूर्वमुत्तरं च सम्बद्धं भवतीत्यर्थः । पाठक्रमं दृष्ट्वा अलौकिकसामर्थ्ये प्राथम्यं मन्वानस्य भ्रमनिरासाय टीकायां फलानां मध्य इत्युक्तम् । यस्य फलत्रयमपि भवति तस्य यत्प्रथमं फलं सेवोपयोगिदेह इत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ ।
द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

सविघ्न इत्यत्र टीकायां सविघ्नत्वादिति । अत्रापि सविघ्नपदं हेतुगर्भम् । तथाचायमर्थः । घातको लौकिकभोगः, यतः सविघ्नः, अतोल्पः स्यादिति हेतोस्त्याज्य इति । एताविति । साधारणभगवत्कृतौ बलाद्धेतोः सदा प्रतिबन्धकौ मतौ । मनस इन्द्रियाणां चान्यपरतारूपावुद्गमभोगौ सामर्थ्यबाधकौ । नन्वन्यपरतारूपाविमौ तु कारणस्यैव बाधकौ । तनुजसेवैवानभ्यस्ता भवत्यतो बलिष्ठत्वात् प्रतिबन्धनामकावेव जातावित्यर्थः । ज्ञानस्थित्यभाव इति । पूर्वोक्तासुस्ज्ञाने स्थित्यभावे । द्वितीय इत्नीति । द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे जाते । मूले संसारनिश्चयादिति । अत्र संसारपदं देहादिपरम्, तथा च 'विरोचनोक्तदेह एव महय्य' इत्यादिरूपनिश्चयादित्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु सेवोपयोगिदेहस्य कथमविकारत्वम्, अविकारत्वे वा कथं फलत्वमित्यत आहुः नन्वाद्य इति ।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।
अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

नन्विति कोमलामन्त्रणे । आद्ये सेवोपयोगिदेहरूपफले सति या भवति फलद्वयदातृता सा सेवोपयोगिदेहरूपाद्यफलमात्रे नास्तीत्याद्यफलसाधिकाररूपतेत्यर्थः । तथा च यस्याद्यफलमेव फलं तं प्रत्याद्यस्य फलत्वमेव । यस्य च पुनरग्रेऽपि सायुज्यादिफलं तं प्रति आद्यफलसाधिकारत्वमेवेति भावः । एतेन फलत्रये तारतम्यमपि सूचितमिति बोध्यम् । टीकायां तदा सेवेति । आद्यफलाभावेत्यर्थः । मूले तृतीय इति । लौकिकभोगरूपप्रतिबन्धके सति बाधकं गृहं सेवाप्रतिबन्धकं लौकिकभोगसञ्जकं भार्यादि त्याज्यमिति शेषः । अवश्येयमिति । इयं प्रतिबन्धकत्रयी फलत्रयी च सदा निरन्तरं भाव्या विभावनीया । भावनया प्रतिबन्धककृतप्रतिबन्धनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः । सर्वमिति । ज्ञानादीनां साधनत्वं तत्साध्यमोक्षस्यैव फलत्वमिति मनोभ्रममात्रम् ॥ ६ ॥

ननु 'तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे' इत्यनेनात्मनिवेदिनां प्रतिबन्धकभयाभावात् किं निवर्तनेनेत्यत आहुः तदीयैरपीति ।

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।
गुणक्षोभेऽपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

भगवदीयैरपि पूर्वोक्तत्रयीद्वयविभावनेन प्रतिबन्धनिवर्तनं कार्यमेव । तत्र हेतुमाहुः पुष्टाविति । तथा सति पुष्टौ मर्यादांशत्यागे भगवान् विलम्बं न कुर्यादित्यर्थः । अन्यथा तु यद्यपि निवेदनपदार्थो न नश्यति तथाप्यलौकिकदेहप्राप्तौ विलम्बो भवत्येवेति । ननु गुणैश्चित्तक्षोभे भावनाया असम्भवात् कथं तन्निवृत्तिरित्यत आहुः गुणक्षोभेऽपीति । सोऽप्येतेनैव निवर्तिष्यत इति भावः । ननु गुणक्षोभनिवृत्त्यर्थं हंसावतारेण एकादशस्कन्धे प्रकारान्तरमुक्तमित्यत आहुः इति मे मतिरिति । मन्मतिसिद्धोऽयं प्रकारः । तथाच मर्यादापुष्टिभेदेन व्यवस्थेति भावो द्रष्टव्यः ॥ ७ ॥

ननु स प्रकारो भगवदुक्तः, अयं च पौरुष इति कथं तुल्यबलत्वमित्यत आहुः कुसृष्टिरिति ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

वाशब्दोनादरे । ममापि वाक्पतित्वादत्र मद्वाक्ये पूर्वोक्ता अन्या वा काचित् कुसृष्टिः किमुत्पद्येत ? नोत्पद्येतेत्यर्थः । यदि चेदुत्पद्येत तदा तस्य तादृशं ज्ञानं भ्रम एव । तद्बोधनार्थं नास्मत्प्रवृत्तिः, किन्तु 'सात्त्विका भगवद्भक्ता' इत्युक्तानां तादृशामेव बोधनार्थमेवास्मत्प्रवृत्तिरिति भावः ॥ ७॥ ॥

इतिश्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतसेवाफलविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतसेवाफलविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

प्रणम्य श्रीमदाचार्यचरणौ तत्कृपाबलात् ।
सेवाफलोक्तिविवृतेर्विवृतिं वितनोम्यहम् ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः श्रुतिब्रह्मसूत्रगीताश्रीभागवततात्पर्यगोचरस्वसिद्धान्तस्य तनुवित्तजसेवात्मकस्य साधनस्य भगवत्प्रेमात्मकसेवासिद्धिपर्यन्ततां संक्षेपेण सिद्धान्तमुक्तावल्यां बोधसौकर्यार्थं निरूप्य सेवाफलग्रन्थे तथैव तत्फलं निरूपयितुं प्रतिजानते **यादृशीत्यादि** ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी यत्प्रकारिका **सेवना** सेवा, ण्यासश्रन्थो युजिनि युजन्तत्वाद्धारणाविनिगमनेत्यादिवत्स्त्रीत्वम्, **प्रोक्ता** सिद्धान्तमुक्तावल्यां व्युत्पादिता, **तत्सिद्धौ** तस्यास्तत्रोक्तमानसीसेवासाधकतायां सत्यां फलं यत् प्राप्यत्वेन विवक्षितं तदुच्यत इत्यर्थः । अस्य ग्रन्थस्य संक्षिप्तत्वेन दुरूहत्वात् स्वयमेव गृह्णन्तो व्याकुर्वन्ति **सेवायां** फलत्रयमित्यादि । अत्र सेवायामिति सत्यर्थया सप्तम्या साधनसाध्यरूपयोर्द्वयोरपि सेवयोः सत्ता विवक्षितेति बोध्यते । तेन साधनरूपाया आवर्तने तन्निर्वाहः, साध्यरूपायाश्च निरन्तरस्थैर्यं विवक्षितं भवतीति सूच्यते । फलत्रयमित्यनेन मूले यादृशीति सेवाविशेषणेन यत्तदोर्नित्यसम्बन्धस्मारणात् फलेऽपि तादृशमिति प्रकारबोधकं विशेषणं स्मार्यते । तथा च तत्रोत्तममध्यमजघन्यभेदेन बाह्यमानसोभयविध्यस्य सिद्धत्वादत्रापि फलत्रयमुच्यत इत्यर्थः । तर्हि किं तत्फलत्रयमित्यपेक्षायां टीकायां तत्स्वरूपं विभजन्ते **अलौकिकसामर्थ्यमित्यादि** । तत्रालौकिकसामर्थ्यं नाम परप्राप्तिविवरणश्रुत्युक्तभगवत्स्वरूपानुभवे 'प्रदीपवदावेश' इतिसूत्रोक्तरीतिकभगवदावेशजा योग्यता यया रसात्मकस्य भगवतः पूर्णस्वरूपानन्दानुभवः । श्रीदेवकीनन्दना अप्येवमाहुः । श्रीहरिरायास्तु भगवद्विरहानुभवसामर्थ्यमित्याहुः । श्रीकल्याणरायास्तु भगवता सह गानादिसामर्थ्यं मुख्यानामिवेत्याहुः । चचागोपीशास्त्वलौकिकभजनानन्दानुभवे स्वरूपयोग्यतेत्याहुः । एतत्सर्वं भगवतो नानाविधप्रवेशहेतुकत्वाद्भगवदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादुपपन्नम् ।

सायुज्यं 'भक्त्या मामभिजानाती'त्युक्तो भगवत्स्वरूपे लयः । चचा अप्येवम्, श्रीदेवकीनन्दनाश्च । श्रीहरिरायास्तु सह युनक्तीति सयुक् सयुजो भावः सायुज्यं संयोगानुभवसामर्थ्यमित्याहुः । श्रीकल्याणरायास्तु गोपानामिवेति विशेषमाहुः ।

सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठेक्षरात्मको देहेन्द्रियासुहीनः पुरुषस्त्रीपशुपक्षिवृक्षाद्याकृतिः संस्थानविशेषः । तदेतत् फलत्रयं त्रिविधसेवायां यथायथं योज्यमित्यर्थः ।

ननु 'यथाक्रतु'रिति श्रुतौ तत्क्रतुन्यायस्योक्तत्वात् संन्यासनिर्णये 'भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवे'दित्याचार्यैरपि तदंगीकारान्न्यायत एवात्रापि तादृशफलप्राप्तिसिद्धे-र्विशेषतस्तत्कथनस्य किं प्रयोजनमित्याकांक्षायां तत्र हेतुं वदन्ति मूले **अलौकिकस्य दाने** हीत्यादिपादत्रयेण ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥
फलं वा ह्यधिकारो वा,

अत्र हिर्हेतौ । चोवधारणे । यतो हेतोरलौकिकस्य सम्यग्भावाविर्भावाधिकरणोक्तरीतिकसाक्षरात्मकविग्रहस्य **दाने एव आद्य** आदौ भव उत्तमफलविषये विद्यमानो **मनोरथः** निश्चयशब्दोक्तकामचारात्मकः सिध्येत् । अदाने तु **फलं वा** हि निश्चयेन **अधिकारो वा** सिध्येदित्यनुपज्यते । तथा च 'लोकवत्तु लीला कैवल्य'मिति न्यायेन भगवता अलौकिकस्य सम्यग्भावाविर्भावसूत्रोक्तदेहस्य दाने एव तत्सम्बन्धिफललाभान्न तत्क्रतु-न्यायमात्रेण पूर्वस्य सिद्धिरित्यतस्तन्निरूपणमित्यर्थः । वाद्वयमनादरे । तेन तत्क्रतुन्यायेन कदाचित् तद्वयं भवतीति बोधितम् ।

नन्वधिकारस्य कार्यान्तरयोग्यतारूपत्वात् तस्य च साधनदशायामपि सत्त्वात् कथं फलत्वमित्यत आहुः ।

न कालोत्र नियामकः ॥ १॥ ॥ इति ।

अत्रेत्यधिकारे । तथा च कालनियम्यत्वाभावेनानावृत्त्या नित्यत्वादस्यापि फलत्वं निःप्रत्यूहमित्यर्थः । एतत्त्रये एकं दानहेतुकमन्यद्वयमपि भगवदनुग्रहैकहेतुकम् । मर्यादामार्गे निर्गुणाक्षरविद्यया तादृशतत्प्राप्तेः सगुणया सन्मनोमयदहरादिविद्यया च 'जक्षन् क्रीडन् रममाण'इत्यादिनोक्तैश्वर्यपर्यन्तप्राप्तेरेव श्रावणात् ततोधिकस्य सेवोपयोगिदेहादेस्तत्र केवलया भक्तिरहितमर्यादया वक्तुमशक्यत्वात् । तथा तदुपगमे 'यमेवैष' इत्यादि-श्रुते'र्भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इत्यादिस्मृतेश्च विरोधस्य दुष्परिहरत्वाच्च । अतस्तत्त्रयमत्रोच्यत इति भावः । अत्राद्यस्य दानेन सिद्धौ 'रुद्रादीनां वचः श्रुत्वे'त्यादिकृष्णोपनिषन्मन्त्रा वृहद्वामनीयकथा 'संकल्पो विदितः साध्व्यः' इति कुमारिकाः प्रति भगवद्वाक्यं प्रमाणत्वेन बोध्यम् । द्वितीये च 'नैकात्मतां म' इत्यारभ्य 'गतिमण्वीं प्रयुंक्त' इत्यन्तं कपिल-

वाक्यम् । तृतीये च 'को वामिहैत्य भगवत्परिचर्ययोचे'रिति जयविजयौ प्रति सनकादिवाक्यं ज्ञेयम् । तयोः पातस्तु भगवदिच्छात एवेति तत्रैव निबन्धे प्रतिपादितमिति न कश्चित्सन्देहः ॥ १॥ ॥

ननु भवत्वेवमनुग्रहत्रैविध्यात् फलत्रैविध्यम्, तथापि 'नित्यं हरौ विदधत' इति वाक्ये कामक्रोधादीनामपि भगवति नित्य विधाने तन्मयत्वस्योक्तत्वात् तन्मयत्वे च सायुज्यस्यैव युक्तत्वात् सिद्धान्तमुक्तावल्याम्'प्युभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती'त्यनेन मानस्या एव फलत्वेनोक्तत्वात् तयापि तन्मयताया सिद्धौ तस्यैव युक्तत्वात्कथं तदभावो येन तृतीयं फलमित्यत आहुः ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यादिति ।

सेवायां क्रियमाणायामिति शेषः । किं तावत्तेत्याकाङ्क्षायां तेषां स्वरूपं टीकायां विवृण्वन्ति **सेवायां प्रतिबन्ध** इत्यादि । प्रतिबन्धो नाम निःसामग्री तज्जनक प्रतिबन्धकः । तदत्रोद्वेगादित्रयम् । तत्रोद्वेगो नाम उच्चैर्भय चलनं वा । ओविजी भय चलनयोः । तत्र सेवायां क्रियमाणायां दुष्टादिना मनसो भयं वा पातादिना उद्वेगः चलनं वा । अत्र द्वितीयमदृष्टजन्यम् । एतदुभयमप्यान्तरमतो द्विविधोऽप्युद्वेगो बाह्यसेवाफलरूपाया मानसीतत्समानाधिकरणनिरुद्धसामग्रीरूपस्तत्प्रतिबन्धकः । प्रतिबन्धो नाम तदुक्षीङ्कृत्य वा तत्प्रतिकूलो वा निग्रह [illegible] क्षणे प्रतिबन्धे वा । य [illegible] ने । सोऽत्र सेवायां रुचौ सत्यामपि शरीरादिसामर्थ्य [illegible] करण [illegible] दिकरायिकादि व्यापाररूपो बाह्यसेवासामानाधिकरण्यात् तद्विरुद्धसामग्र्यात्मकस्तत्स्वरूपप्रतिबन्धकः कादाचित्कः । **भोगो नाम** सुष्ठु दृष्टसाक्षात्कारोभ्यवहाररूपः प्रसिद्धो देहेन्द्रियोभयनिष्ठत्वादुभयविधसेवानिरोधसामग्रीरूपो बलिष्ठः स्वभावतः प्राप्तः । तथा च तेषां सेवानिरुद्धकायिकवाचिकमानसिकसामग्र्युत्पादकत्वेन मानस्या जघन्य [illegible] नात् तया तन्मयताया असिद्धौ सुखेन तृतीयस्य फलस्य सिद्धिरित्यर्थः ।

ननु भवत्वेव तथापि यदत्र मुख्यं फलं तत्तु दानैकसाध्यमित्युक्तम् । दानं तु पूर्वं ज्ञातुमशक्यम् । तथा सति स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकरणे [illegible] किं फलं भविष्यतीति सन्देहः कथं निवर्तेतेत्यत आहुः ।

तु बाधकमकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि यथा वा इति ।

तुः शङ्कानिरासे । **बाधकं** पूर्वोक्तत्रयम**कर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेत्** तदा हि निश्चयेन **गतिर्न**, प्राणानां देहादुत्क्रमणं न । मनसो वा भगवद्व्यतिरिक्ते **गतिर्न**, किन्तु 'वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च'त्यधिकरणोक्तन्यायेन भगवत्येव लयः । 'तां नाविद'न्नि-

१ विगामप्युत्पादकत्वात् प्रतिबन्धकत्वमिति पाठः ।

त्युक्तरीत्या भगवदेकतानत्वं हि निश्चयेन । एतेन मुख्यफलभवनविषयकसन्देहनिवृत्तिरित्यर्थः । **यथावेति** भिन्नं वाक्यम् । अत्रापि **बाधकं भगवतः अकर्तव्यं** चेदित्यन्वेति । तथा च **यथा** येन प्रकारेण सेवा, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तथा तेन प्रकारेण बाधकं भगवतोऽकर्तव्यं चेत्तदा, **वा** फले विकल्पः, सेवा मध्यमा चेन्मध्यमम्, जघन्या चेज्जघन्यं फलमित्येवं सन्देहनिवृत्तिरित्यर्थः । अथवा । ननु सेवा हि भक्तिमार्गीयं साधनम् । भक्तिमार्गश्चानुग्रहैकलभ्यः पुष्टिप्रवाहमर्यादायां स्थापितः, निबन्धे च 'सर्वथा चेद्धरिकृपा न भविष्यति यस्य हि । तस्य सर्वमशक्यं हि मार्गेऽस्मिन् सुतरामपी'त्यनेन । एवं सत्यस्मिन् मार्गे प्रतिबन्ध एव कथं येन फलत्रैविध्यमित्यत आहुः तु **बाधकमित्यारभ्य यथा**-**वे**त्यन्तम् । अत्र त्रीणि वाक्यानि, तेषु त्रिष्वपि बाधकपदं चेत्पदं चान्वेति । तथा च **बाधकं** पूर्वोक्तं **भगवतः अकर्तव्यं** चेत्तदा प्रतिबन्धसामावाद्यतिर्मध्यमं फलं भवति । **बाधकं सर्वथा** चेत्तदा **न हि** निश्चयेन सेवाफलमेव न । **बाधकं यथा** तथा चेत्तदा **वा** विकल्पः । तथा चैवं भगवदिच्छातस्त्रैविध्यमित्यर्थः ।

तर्हि विकल्पे किं कार्यमित्यत आहुः ।

अतत्त्वनिर्धारोऽविवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥
बाधकानां परित्याग, इति ।

अत्रोक्तवाक्यद्वयस्य त्रयस्य वाऽसन्दिग्धत्वादतत्त्वनिर्धार इत्यादिकं व्याकुर्वन्ति । **त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति । त्रयाणां** पूर्वोक्तानां बाधकानां यत्साधनमतत्त्वनिर्धाराविवेकरूपं तस्य **परित्यागः** सर्वथा त्यागः कर्तव्यः । तत्प्रतियोगिभूततत्त्वनिर्धारविवेकयोरभ्यासेन तयोः प्रागभावानिवृत्तिः सम्पादनीया, ध्वंसो वा । तथा च नवीनतदुत्पादकसाधनत्यागे यथा भोजनपरित्यागे पूर्वाजीर्णस्य निवृत्तिः भाविनश्चानुत्पत्तिस्तथा तत्त्वनिर्धारे जाते बुद्धिदोषरूपस्योद्वेगस्य निवृत्त्या विवेके च जाते प्रतिबन्धभोगयोर्निवृत्त्या तयोर्निःशेषनाशः सम्पादनीय इत्यर्थः ।

ननु बाधकत्यागे कर्तव्ये भोगत्याग आगतः, तथाकृते शरीरस्थितेर्बलादेश्चासम्भवात् सेवाया एवासिद्धिः, प्रतिबन्धस्य चादृष्टजन्यत्वात् तत्त्यागस्याशक्यत्वमिति सेवासिद्धिरेव दुर्घटेत्याशंकायां तदर्थं विभागमाहुः **भोगेपीत्यादि** ।

भोगेप्येकं तथा परम् ।
निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

अपि समुच्चये । **भोगे, अपि** शब्दात् प्रतिबन्धे, **एकं** परित्याज्यमिति शेषः । **तथेति** वैधर्म्ये दृष्टान्तः । यथा भोगप्रतिबन्धयोरेकं परित्याज्यं तथा **परं** द्वितीयं **निःप्रत्यूहं** विघ्नशून्यम् । भोगस्य निःप्रत्यूहत्वे हेतुर्**महान् भोगः प्रथमे विशत** इति ।

प्रतिबन्धस्य तथात्वे हेतुः सदेति । तदेतत् सर्वं मन्दादेर्दुष्करं दुर्ज्ञेयं चेति तदर्थं गृह्णन्तो व्याकुर्वन्तः प्रतिलोमक्रममादाय प्रथमतो भोगं विभजन्ते भोग इत्यादि । भोग उक्तरूपो द्विप्रकारकः । तयोर्मध्ये लोकासक्तिजन्मा सार्वदिकत्वेन बलवद्बाधकत्वादवश्य त्यक्तव्य एवेत्यर्थः । ततो न्यूनं प्रतिबन्धं विभजन्ते प्रतिबन्धोपीत्यादि । तस्य कादाचित्कत्वेन सल्पत्वात् पूर्वं तत्यागप्रकारमाहुः तत्रेत्यादि । तयोः प्रतिबन्धयोर्मध्ये आद्यः साधारणः बुद्ध्या उपायचातुर्येण त्याज्यः । यद्यपि तत्त्वनिर्धारविवेकौ पूर्वं प्रतिबन्धनिघातकत्वेन सूचितौ तथापि न तावन्मात्रेण निवृत्तिः, किन्तु बुद्धिरपि तत्सहकारित्वेनापेक्षिता । अतस्तया त्याज्य इत्यर्थः । ननु भवत्वेव तथाप्यलौकिकभोगत्यागे किं बीजमित्याकांक्षायां तत्र बीजमाहुः अलौकिक इत्यादि । तुः शङ्कानिरासे । अलौकिको भगवद्दत्तप्रसादत्वेन क्रियमाणो भोगः फलानां मध्ये प्रथमे आद्यमनोरथात्मके प्रवेशं प्राप्नोत्यतो निःप्रत्यूहत्वान्न त्याज्य इत्यर्थः । अयमेव हेतुर्मूले महानिति पदेनोक्तो बोध्यः । द्वितीयप्रतिबन्धस्य निःप्रत्यूहत्वे यो हेतुः सदा पदेनोक्तस्तं व्युत्पादयन्ति भगवत्कृत इत्यादि । सेवाया स्वस्य रुचेः सामग्रीसम्पत्तेश्च सत्त्वेपि यदा पुनः पुनस्तद्विघटनेन तन्निर्वाहाभावः सेवायामरुच्यादिर्वा स भगवत्कृतप्रतिबन्धः । तत्रैव हि स्वस्यान्येषां च 'दैवमत्र विघातक'मिति बुद्धिरुदेति । तादृश स चेद्भवेत् तदा भगवान् फलं पूर्वोक्तं त्रिविधमपि सेवाफलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तेन सेवाप्रतिबन्धवता युक्तिभिर्विचारणीयम् । तदान्येषां गुर्वादीना सेवा चेत्तदर्थं कुर्यात्तदा सापि व्यर्था । एतत्फलरूपार्थविरहितेति मन्तव्यमिति पूर्वेण सम्बन्धः । तदाय जीव ' एव पञ्चविधं लिंग'मिति चतुर्थस्कन्धवाक्योक्तश्वेतनायुक्तत्वाधात आसुर इति निर्धारः कार्य इति प्रायपाठादायाति । तदा ज्ञानमार्गेण त्यागेनापि प्रपन्ने चाक्षरब्रह्मत्वभावनपरेणाक्षरशूलादिसदायुपासनपरेण वा स्थातव्य शोकाभावाय । आत्मज्ञानस्य शोकनाशकत्वश्रावणात्तथा स्थितौ तस्मिन् सर्वाते निवृत्ते एतत्साक्षरसायुज्य वा तत्र स्थितिर्वा भवतीति विवेकः सेवाफलात् पृथक्करणमित्यर्थः ।

अनेतद्ग्रन्थदर्शनेन ममेदं प्रतिभाति । आसुरजीवा हि पुष्टिप्रवाहमर्यादायां 'जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे प्रवृत्तिं चेति वर्णिता' इत्युक्तलक्षणका अज्ञदुर्ज्ञभेदेन द्विविधा निरूपिताः । ते तु नोपदेशार्हाः । 'सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिण । भवान्तसम्भवा दैवात् तेषामर्थे निरूप्यत' इति प्रतिज्ञावाक्येन तथा निश्चयात् । अत एव 'प्रवाहेपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते । सोपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः' इत्युक्तोवशिष्यते । यथा अलीशानादिः । अतस्ताद्दृश तद्देश प्रति वायमुपदेश इति ॥ ४ ॥

एवमलौकिकभोगभगवत्कृतप्रतिबन्धयोस्त्यागानर्हत्वे बीजं व्याख्याय साधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगयोस्त्याज्यत्वे बीजं वक्तुमवतारयन्ति ।

सविघ्नोऽल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ ।
द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

साधारण इत्यादि । कथमिति हेतुरूपप्रकारबोधकम् । तथा चैतयोस्त्यक्तव्यताप्रयोजकः प्रकारः क इत्यर्थः । अन्यथा त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति पूर्वग्रन्थविरोध आपद्येतेति । व्याकुर्वन्ति सविघ्नत्वादित्यादि । कालादिकृतविघ्नसाहित्यात् स्वरूपतः साधनतः फलतश्चाल्पत्वात् तथेत्यर्थः । एवं भोगे त्याज्यत्वबीजद्वये व्याख्याते शिष्टो घातकत्वरूपो हेतुः साधारणप्रतिबन्धनिष्ठ इत्यर्थादेव बोधितम् ।

ननु प्रतिबन्धकत्यागप्रकारस्य पूर्वमुक्तत्वात्पुनस्तत्कथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः बलादेताविति । व्याकुर्वन्ति एताविति । यत एतौ लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ सदा क्षणे क्षणे प्रतिबन्धकावतो बुद्ध्या उपायचातुर्येण बलाद् हठात् त्याज्यौ । यथाधिकं भुक्तं चेन्ममेदानीन्तना सेवा गता, मया गानाद्यासक्त्या जागरः कृतश्चेदिदानीं निद्रायाति, तस्मादेवं न विधेयमित्येवं बुद्ध्योपायचातुर्येण सर्वथा त्यक्तव्याविति तदर्थं पुनः कथनमित्यर्थः । द्वितीये सर्वथेति व्याकुर्वन्ति । द्वितीय इत्यादि । पूर्वं भोगप्रतिबन्धयोरुभयोरुक्तत्वात् कोऽत्र द्वितीय इति शङ्कानिरासायैतदुक्तम् । ननु भगवत्कृते प्रतिबन्धे यादृशी स्थितिरपेक्षिता सा तु पूर्वं विवृतैवेति पुनस्तदुक्तेः किं प्रयोजनमत आहुः ज्ञानेत्यादि । तथा च पूर्वोक्तादपि यो हीन· सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'भक्त्यभावे तु'ति कारिकयोक्तस्तस्य ससारेत्यन्ताभिनिवेशनिवृत्त्यर्थमिदमित्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु पूर्वमुद्वेगादित्रय ससाधन त्याज्यत्वेनोक्त्वाग्रे तत् त्याज्यत्वात्याज्यत्वविभागं च कृत्वा पश्चाद्द्वयोरेवावश्यं त्याज्यत्वं यन्निरूपित न तूद्वेगस्यापि, तत् कुत इत्याकांक्षायामाहुः ।

न त्याज्ये दातृता नास्तीति,

अत्र प्राञ्चः पाठं द्विधाभङ्गीकुर्वन्ति केचिन्नन्विति । केचिच्च न त्वेति । तत्रापि नु इति भिन्नं पदं निश्चयार्थकमिति मम प्रतिभाति । आद्ये उद्वेगे । तुः शंकानिरासे । नु निश्चयेन वा न, चिन्ता फलसाधननिषयिणी न त्याज्या । तत्र हेतु । दातृता नास्तीति । अदातृता नास्तीति वा । तदेतद्व्याकुर्वन्ति । आद्यफलेत्यादि । आद्यं यत् फलमलौकिकसामर्थ्यरूप, तस्माभावे अप्राप्तौ, भगवतो दातृत्वं नास्ति, तदा तस्मिन् दानसमये सेवा अनाधिदैविकी ।

उद्वेगो हि मानसो, मानसा एव विरुद्धसामग्रीजनकः, सा दानसमये 'चेतस्तत्प्रवण' 'ता नाविदन्' इतिवद्भगवति लीन न करोति, तेन सा सेवा अनाधिदैविकीत्युक्त भवति । अत उद्वेगे तन्निवृत्त्यर्था चिन्ता भगवद्भावनरूपा न त्याज्या, किन्तु

१ त्यागहनुर्नानि पाठ ।

सदा कर्तव्यैव। द्वितीयपक्षे उद्वेगेन कृत्वा फलाभावे मुख्यफलाप्राप्तौ भगवतोऽदातृत्वं नास्ति किन्तु तदोद्वेगदशायां सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवति। अतस्तस्या आधिदैविकीत्वसम्पादनायोद्वेगनिवृत्त्यर्था चिन्ता न त्याज्या किन्तु कार्यैव। तथा चोद्वेगस्य मुख्यफलातिरिक्तफलाप्रतिबन्धकत्वाद् मुख्यफलस्य केवलं दानमात्रसाध्यत्वाद् दित्सायाश्च 'अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुंक्त' इतिवाक्येन 'कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति वाक्येन च ज्ञातुमशक्यत्वान्नोक्तमित्यर्थः। अत्रानाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति कथनेन सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकत्वरूपमुद्वेगत्याज्यताबीजमप्युक्तं ज्ञेयम्।

ननु तत्त्वनिर्धारविवेकाभ्यां प्रतिबन्धत्यागे यतमानस्यापि त्रयाणां त्याज्यबीजं जानतोपि यदा न प्रतिबन्धनिवृत्तिः तदानेन किं कार्यमित्यत आहुः।

तृतीये बाधकं गृहमिति।

तदेतद्विवृण्वन्ति **भोगाभाव** इत्यादि। उद्विग्नः साधारणप्रतिबद्धोपि निरुपधि यथाकथञ्चन भक्तिमान् सेवेत तदापि तृतीयं फलं भक्तिमत्त्वाद्भवति तस्मिन्नपि भोगो लौकिकः प्रतिबन्धं करोति। अतस्तृतीये भोगरूपे प्रतिबन्धेऽशक्यत्यागे सति भगवता गृहत्याग एवानेन प्रकारेण बोध्यत इत्यनुसन्धाय बाधकभूतं गृहं त्याज्यम्। यतो **भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः**। तथा च तदानीमयमेवोपायो नेतर इत्यर्थः। अयं त्यागो न भक्तिमार्गीयसंन्यासरूपः, अधिकाराभावात्, किन्तु 'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशन'मित्यादि भक्तिवर्धिन्युक्तभक्तिसाधनसम्पादनार्थं इति ज्ञातव्यम्। एवमत्र यावान् कठिनांशः सोत्र स्वय व्याख्यातः।

अतःपरं य एवं गृहत्यागमपि न कर्तुं शक्नुयात् तदर्थं मूले उपायमुपदिशन्ति।

अवश्येयं सदा भाव्येत्यादि।

इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी च **अवश्या,** यथायं भगवदनुग्रहैकलभ्यत्वाद्भगवद्विचारमात्रसाध्यत्वाद् **अवश्या,** न स्वकृतसाधनाधायत्ता। अतः **सदा भाव्या** प्रतिबन्धोपस्थितावावश्यत्वेनैव स्वदैन्याय तदा तदा विचारणीया। अत्र सदापदेनेदमेव बोध्यते, न तु कालनैरन्तर्यम्। '**निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वदे**'त्यादीनां विरोधापत्तेः।

सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

फलस्य स्वकृतसाधनायत्तत्वभावनं प्रतिबन्धस्य स्वकृतसाधनान्तरनाश्यत्वभावनं च मनोभ्रमश्चित्तबहिर्मुख्यसम्पादकं चाञ्चल्यमात्रम्, भगवदिच्छां विना कथमपि केनापि किञ्चिदपि कर्तुमशक्यत्वात्। 'एष उ एव साधु कर्म कारयती'त्यादिश्रुत्या तथा बोधनात्। 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मा'मिति वाक्ये तादृशां योगक्षेमवहनस्य स्वकर्तव्यताया उक्तत्वाद्प्रतिबन्धनिवृत्त्यादियोगक्षेमस्यापि भगवतैव कर्तव्यत्वादेकादशस्य विंशेध्याये 'जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु। वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेप्यनीश्वरः ॥ ततो

भजेत मां भक्त्या श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः । जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्' इत्यन्तेन तथा करणस्याज्ञापनाच्च ॥ ६ ॥

ननु यद्येवं तदा भावनस्यापि किं प्रयोजनम् । नहि जीवकृतया भावनया सत्यसंकल्पो भगवान् स्वविचारितादन्यथा किमपि करोति । तथा सति किं भावनोपदेशेनेत्यत आहुः तदीयैरपीत्यादि ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

एते हि तदीयाः, सर्वसमर्पणात् सर्वप्रकारेण भगवत एव भावनाच्च भगवदीयाः, तैरपि तदुक्तं भावनं कार्यम् । तत्र हेतुः । पुष्टौ अनुग्रहविषये, भगवान्नैव विलम्बयेत् । एतत्कृत्वा विलम्बं न कारयेत्, न कुर्याद्वा । रामो राज्यमचीकरदितिवत् स्वार्थे णिच् । तथा च पुष्टिमर्यादायां स्वयमेव साधनानामुपदेशादस्मात् साधनद्वारा वोद्दिधीर्षति, तानि विना वा न वेति न ज्ञातुं शक्यते, अतो विलम्बाभावायायमुपदेश इत्यर्थः ।

ननु 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे । चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यत' इत्येकादशस्कन्धे भगवद्वाक्यात् चित्तजा गुणाः कालकर्मस्वभाववशात् क्षुभ्यमाणाः प्रतिबध्नन्त्येव तदा किं कार्यमित्यत आहुः गुणक्षोभेपीत्यादि ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणक्षोभेपि परंपरया भगवदिच्छाधीन इति तत्रापि एतदेव भगवत्कृतं विलम्बनमेव कारणत्वेन द्रष्टव्यम् । इति मे मतिः । इदमस्माभिरेवोच्यते । अत्र नान्यस्य सम्मतिरित्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्र हेतुः कुसृष्टिरित्यादि ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

शास्त्रे तदर्थं साधनान्तरोपदेशादर्शनादिरुद्धयुक्तिसृष्टिरत्र वा विकल्पेनोत्पद्येत, परं स विकल्पोधिकारभेदानवधानाद् वै निश्चयेन भ्रमः । भगवता 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इति गुणमूलनिवृत्तये स्वप्रपत्तिमात्रस्यैव साधनस्योक्तत्वात् । साधनान्तरकरणे च निःशेषतन्निवृत्त्यभावात् । भगवत्कृतविलम्बभावने तु भगवानेव शरणमिति बुद्ध्युत्पत्तेः । अतोस्माभिरिदं भगवदभिप्रेतमेवोच्यत इति तथेत्यर्थः ॥ ७॥ ॥

इति तत्प्रेरणप्राप्तबुद्धिस्तु पुरुषोत्तमः ।
सेवाफलोक्तिविवृतेर्विवृतिं चैवमुज्जगौ ॥ १ ॥

इतिश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीपीताम्बरात्मजस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य कृतौ सेवाफलविवृतिप्रकाशः सम्पूर्णः ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

विवृतिविवरणसमेतम् ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् विट्ठलेशान् निजान् गुरून् ।
सेवाफलस्य विवृतिव्याख्यानं वितनोम्यहम् ॥ १ ॥

अथ दैवोद्धारप्रयत्नात्मानः श्रीमदाचार्या निजानां सुखेन सिद्धान्तमुक्तावल्युक्तसेवायाः सिद्धये तत्फलप्रतिबन्धसाधनानि निरूपयन्तः प्रतिज्ञां कुर्वन्ति यादृशी सेवनेति । एतद्ग्रन्थस्यातिसंक्षिप्तत्वेन दुर्बोध्यत्वात् स्वयमेव विवृतिं रचयन्तः सेवाया निजग्रन्थेषु फलत्वांगीकारेण तत्फलेष्वन्येषूच्यमानेषु सेवायाः साधनतामाशंक्य साधनताभ्रमं वारयन्तः फलनामान्याहुः सेवायामिति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

सेवायां फलत्रयम्, अलौकिकसामर्थ्यम्, सायुज्यम्, सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु । सर्वत्र साधनान्ते फलम् । फले लब्धे साधनत्यागः । अत्र सेवासाधकसेवायां क्रियमाणायामित्युक्त्या न तद्भ्रमस्यावकाशः । यादृशी सिद्धान्तमुक्तावल्यां कथिता मानसी सेवा, तत्सिद्धौ मानसीत्वे सिद्धे, तस्यां यत्फलत्रयमलौकिकादि, तदुच्यते । आद्यफलस्यालौकिकसामर्थ्यस्य प्रभुणा दाने कृते, चकारात्तद्देहेन्द्रियादिषु स्वरूपे स्थापिते, आदौ उत्तमफले जातो मनोरथः सिध्येत्, तस्यादाने फलं सायुज्यं वा सिध्येत्, अधिकारः सेवोपयोगिदेहो वा सिध्येदित्यग्रिमेणान्वयः । हि युक्तोयमर्थः । अत्र द्वौ वाशब्दौ पूर्वफलतुल्यत्वबोधकौ ॥ १ ॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामकः ।
उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा । सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्, परमानुग्रहैकलभ्यत्वात् । एवं चाद्यस्य दानैकहेतुत्वम् । फलमिति । आद्यफलमनियतम्, फलद्वयस्य साधारणानुग्रहहेतुत्वम् । नन्वधिकारस्य सेवापूर्वकाले स्थितत्वात्कथं फलत्वमित्यत आहुः **न काल** इति । अस्मिन्नधिकारे सत्ययुगादिरूपः कालो नियामको न । अतः कालानियम्यत्वात्फलताधिकारस्य । एवं सोपपत्तिकं फलत्रयमुक्त्वा प्रतिबन्धकत्रयमाहुः **उद्वेग** इति, विवृतौ **सेवायामिति** । उदधिको वेगः भयम्, अपराधादिना मनःक्षोभः, मूले उद्वेग इति, विवृतौ सेवायामिति । प्रतिबन्धश्च सेवायां रुचौ चाञ्चल्यं वा पापादिना । स च सेवाऽरुचिसम्पादनेन बाधकः ।

सत्यामपि तत्समये लौकिकवैदिककायिकादिकार्यासक्तिरूपः । स च तत्समयरोधनेन बाधकः । भोगश्च शरीरवृत्त्यनुसारेणाम्यवहारशयनादिरूपः । सोपि पूर्ववद्बाधकः ॥ २ ॥

ननु फलानामनुग्रहलभ्यतयानुग्रहस्य च भगवदिच्छाधीनत्वात्सेवायां क्रियमाणायां मम फलं भविष्यति न वेति सन्देहः कथमपेयादतस्तन्निवारणाय तु बाधकमित्यारभ्य यथा वेत्यन्तमाहुः ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।
यथा वाऽतत्त्वनिर्धारोऽविवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

बाधकानां परित्यागः,

त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भगवतो बाधकत्रय न करणीयं चेत् तर्हि मनस अन्यत्र गमनं न, फल तु **यथा वा ।** येन प्रकारेण सेवा तथा तेन प्रकारेण फलमिति सन्देहाभावः । यद्वा भक्तिमार्गो भगवदनुग्रहलभ्यः । तस्मिन् कथं प्रतिबन्धकनयमित्यतस्तु बाधकमित्यादि यथा वेत्यन्तमाहुः । वाक्यत्रयमत्र । बाधक पूर्वोक्त भगवतोकर्तव्यं चेत्तदा गतिर्नाम सेवायां सायुज्यम् ॥ १ ॥ बाधक चेत् सर्वथा तदा न हि फलाभाव इत्यर्थः ॥ २ ॥ यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद्यथा बाधक तथा चेत्तदा वा नाम फले विकल्पः ॥ ३ ॥ तथा चैवं भगवदिच्छयानुग्रहस्य त्रैविध्यात् फले त्रैविध्यम् । तथा च यस्य जीवस्य यादृशोधिकारः स तादृशीं सेवां करिष्यति, तस्य स्वाधिकारयोग्यं फलं च भविष्यतीति सन्देहाभावः । एवं फलविकल्पे प्राप्ते किं कार्यमत आहुः **अतत्त्वनिर्धारं** इत्यारभ्य **बाधकानां परित्याग** इत्यन्तम् । निवृत्तौ **त्रयाणामिति ।** त्रयाणामुद्वेगादीनां साधनस्यातत्त्वनिर्धारस्याविवेकस्य च तत्त्वनिर्धारस्य विवेकयोरभ्यासेन सर्वतस्त्यागः कर्तव्यः । ननु तत्त्वनिर्धारविवेकौ किंरूपौ तथा हि, तत्त्व लोकवेदप्रसिद्धस्य पुरुषोत्तमस्य भगवत्त्वम्, तस्य निर्धारणं निर्धारः । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,' 'स हैतावानास,' 'अखण्ड कृष्णव'दित्यादिभिः सर्वत्र भगवद्भानम् । विवेकस्तु 'हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यती'ति सर्वत्र भगवत्कृतिः । ननु बाधकानां मध्ये भोगस्यापि त्यागे जाते त विना शरीरस्थितेरसम्भवात् सेवाया असिद्धिमाशङ्क्य त्यागे व्यवस्थामाहुः भोगेपीति ।

भोगेप्येकं तथा परम् ।
निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

भोगो हि द्विविधः, लौकिकोऽलौकिकश्च । तत्र लौकिकस्त्याज्य एव । प्रतिबन्धोपि द्विविधः, साधारणो भगवत्कृतश्चेति । तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्यः । अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशति । भगवत्कृतश्चेत्प्रतिबन्धस्तदा भगवान्फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदान्यथापि व्यर्था। तदासुरोयं जीव इति निर्धारः। तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं

शोकाभावायेति विवेकः । भोगप्रतिबन्धयोरेकैकं परित्याज्यम् । अपिशब्देन प्रतिबन्धस्य ग्रहणम् । तथा परं द्वितीयं निष्प्रत्यूहं विघ्नरहितम्, तत्र हेतुः, महान्भोगः । एवं प्रतिबन्धरूपं वस्त्वपि निष्प्रत्यूहम् । तत्र हेतुः, सदेति । एतत्सर्वं मनसि कृत्वा विवृतौ तात्पर्यमाहुः सूचिकटाहन्यायेन । पूर्वं भोगद्वैविध्यमाहुः **भोग** इति । लौकिकालौकिकभेदेन भोगो द्विधा । तत्र **अलौकिको भोगो** लौकिकासक्तिरूपत्वात् सेवासमयरोधकत्वात्त्याज्यः । एवं लौकिकभोगं निरूप्य हेतुसहितमलौकिकभोगं निरूपयन्ति तथेति । विवृतौ **अलौकिकेति** । अलौकिको यो भोगः स तु फलत्रये यदाद्यमलौकिकसामर्थ्यं तस्मिन् सति भगवद्दत्तप्रसादेन भवतीति तत्प्रवेश उक्तः । एवं च तस्यात्याज्यत्वे बीजमुक्तम् । एवं द्विप्रकारकं भोगं निरूप्य द्वितीयप्रतिबन्धस्य निर्विघ्नत्वे यो हेतुर्मूले सदापदेनोक्तस्तं विवृतौ भगवत्कृत इत्यादिना विशदयन्ति । सेवायां प्रवृत्तस्य यदा दुःसङ्गादिना भगवदीयद्रोहे कृते प्रभुः स्वयं प्रतिबन्धं करोति, तदा सेवायामरुचिर्भवति, तदा सर्वथा फलाभावः, तदा तदुपायार्थमन्यसेवनं न कर्तव्यम्, व्यर्थत्वात्, तदायं जीव आसुर एव । दैवजीवे सर्वथा फलाभावाभावात् । तदा एतादृशे प्रतिबन्धे चिन्तानिवृत्त्यै आदिसृष्टौ भगवान् जीवं यथा विचारितवांस्तथैव निजेच्छया करिष्यतीत्यादिरूपेण ज्ञानमार्गेण स्थातव्यम् । एवमलौकिकभोगभगवत्कृतप्रतिबन्धयोरत्याज्यतामुक्त्वा साधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगयोस्त्यक्तव्यत्वे विवृतौ बीजमवतारयन्ति **साधारण** इति । **साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकाङ्क्षायामाह सविघ्नोऽल्पो घातकः स्यादिति** । ननु लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ केन हेतुना केन प्रकारेण च त्यक्तव्यावितिति व्याकुर्वन्ति **सविघ्न** इति । लौकिको भोगः सविघ्नत्वाल्पत्वाभ्यां हेतुभ्यां [illegible] । घातकत्वेन हेतुना साधारणः प्रतिबन्धस्त्याज्यः । नन्वेतत्त्यागप्रकारस्तत्त्वनिर्धारनिरूपकरूपः पूर्वमुक्त इति पुनः किमर्थमुच्यते ? सत्यम् । पूर्वं यदुक्तः स तु नवीनतदुत्पादकसाधनत्यागरूपः । अयं तूत्पन्नयोस्त्यागप्रकारोऽत उच्यते ।

सविघ्नोऽल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ ।

सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्यः । **एतौ सदा प्रतिबन्धकौ** । बलादिति । यत एतौ **सदा** क्षणेक्षणे सेवासमयरोधकत्वेन **मतौ** ज्ञातौ । अतो बलाद्धठाद्बुद्ध्योपायचातुर्येण त्याज्यौ । तत्स्वरूपं श्रीपुरुषोत्तमा आहुः । तथाहि, 'यथाधिक भुक्तं चेन्ममेदानींतना सेवा गता, मया गानाद्यासक्त्या जागरः कृतश्चेदिदानीं निद्रायाति, तस्मादेव न निषेव्य'मिति । प्रकृतमनुसरामः । अतःपर ज्ञानस्थित्ययोग्यानां भगवत्कृतप्रतिबन्धे स्थितिप्रकारमाहुः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्याऽसंसारनिश्चयात् ॥ ८ ॥

द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः । ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाह द्वितीय इति । द्वितीय इति भगवत्कृतप्रतिबन्धे ज्ञानस्थितावपि पुष्टिमार्गीयफलविषयिणी चिन्ता सर्वथाऽ-

त्याज्या । कुतः ? असंसारनिश्चयात् । अत्रायमर्थः । 'अस्मिन्पातमयं नास्ति मोचकः सर्वथा यत' इति वाक्येन अलौकिकादिरिव जन्मान्तरे उद्धरिष्यति ।

एवं भोगप्रतिबन्धौ त्याज्यत्वेन विचार्य उद्वेगत्यागे बीजं वदन्ति नन्विति ।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

आयफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति तदा सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवति । अत्र पाठद्वयम् । **नन्विति, न त्विति** । नु निश्चयेन, आद्ये उद्वेगे सति फलविषयिणी चिन्ता न त्याज्या । तत्र हेतुमाहुः **भगवतो दातृता नास्ति** । एतदेव विवृतावाद्येत्यादिनोक्तम् । एवं च सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकत्वादुद्वेगोपि त्याज्यः, यदिच्छाकृतो यस्तूद्वेगः, स एवैनं निवारयिष्यतीतिविचारेण त्याज्यः । एवं जानतोपि यथाकथंचित्सेवायां प्रवृत्तस्य यदा लौकिकभोगः प्रतिबन्धं करोति तदा कर्तव्यमाहुः **तृतीय** इति । विवृतौ तदपि भोगेत्यादिना व्याचक्षते । **भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः** । तृतीये भोगरूपे प्रतिबन्धे गृहमेव त्यजेत्, कृष्णार्थमेव गृहं प्रयुञ्जीत । तथा कृते भोगस्यालौकिकत्वं सिध्येदिति लौकिकभोगस्त्यक्त एव ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ।

एवं कठिनांशं स्वयं व्याकृत्य गृहत्यागेऽसमर्थानां यत्कर्तव्यं तदाहुः **अवश्येति** । इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी चावस्था, अतो बाधकानामुपस्थितौ स्वदैन्यसिद्धये सदा विचारणीया । अन्यत्सर्वमिदं साध्वसाधु वा मत्कृतमित्यादिरूपं मनोभ्रमः चित्तबाहिर्मुख्यमेवेति ज्ञेयम् । ननु भगवान् सत्यप्रतिज्ञः, यथा पूर्वं विचारितवांस्तथैव करिष्यतीति किमेतेनेत्याशंक्याहुः **तदीयैरिति** । एते हि समर्पणेन तदीयाः । स्वकीयानां सर्वचिन्तनं भगवत एव करणीयम् । अतो भगवदीयैरपि तदुक्तभावनं कार्यम् । एतेनानन्यशरणान् ज्ञात्वा पुष्टावनुग्रहे भगवान् बाधकेषु सत्स्वपि नैव विलम्बयेत्, फलं दद्यादेव । ननु चित्तजानां गुणानां क्षोभे विचारे क्रियमाणेपि प्रतिबन्धो भवेदेव तदा यत्कार्यं तदाहुः **गुणेति** । सत्त्वादिगुणेषु क्षुभ्यमाणेष्वपि भगवत्कृतः प्रतिबन्ध एव कारणमिति द्रष्टव्यम् । तदापि भगवदिच्छाविचारणमेवोपायो नान्यः । मम मतेरत्रैव पर्यवसानम् । सर्वमन्यन्मनोभ्रम इति **पूर्वमुक्तत्वात्** । अत्रास्मिन्विषये काचित्कुसृष्टिः कुबुद्धियुक्तिः भगवत्कृतप्रतिबन्धस्य निवारणे अन्योप्युपायोस्तीतिरूपा मनसि जायेत तदा सापि भ्रमरूपैवेतिज्ञेयम् । एतेनानन्यभावनपूर्वकं भगवदीयैः सेव्यम् ॥ ६ ॥ ७॥ ॥

इतिश्रीसेवाफलविवृतिव्याख्यानं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

लालूभट्टोपनामश्रीवालकृष्णदीक्षितविरचितटिप्पणीसमेतम् ।

श्रीराधावदनेन्दुश्रीपानमत्तचकोरकम् ।
गोवर्धनधरं वन्दे व्रजराजकिशोरकम् ॥ १ ॥
श्रीमदाचार्यवर्यश्रीविट्ठलेशकृपाबलात् ।
सेवाफलस्य विवृतेर्विवृतिं वितनोम्यहम् ॥ २ ॥

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

सेवायां फलत्रयमिति । सेवायां सिद्धायां सत्यामित्यर्थः । मूले **यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यत** इत्यत्र सिद्धाविति कथनात् सिद्धस्यैव सर्वत्र फलसाधकत्वात् । तथा च यादृशी सेवना तृतीयस्कन्धे देवहूतिं प्रति कपिलदेवेन 'देवानां गुणलिंगानामानुश्रविककर्मणाम् । सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥ अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'त्यनेन भक्तिशब्देनोक्ता, तस्याः सिद्धौ मुख्यमध्यमहीनाधिकारभेदेन फलत्रय ज्ञेयम् । तदेव फलत्रयमाहुः **अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवौपयिकदेहो वैकुण्ठादिष्विति** । **अलौकिकसामर्थ्यं** तु साक्षात् श्रीवृन्दावनादौ श्रीकृष्णस्वरूपदर्शनस्पर्शनादिकृतिक्षमत्वम् । 'पश्यन्ति ते मे रुचिरावतसप्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि । रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ती'तिवाक्यादिह 'पश्यन्ति त' इति तच्छब्देन 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहा.' इति पूर्वश्लोके उक्ता मोक्षाभिलाषिणो गृह्यन्ते । तेषा मोक्षान्तपुमर्थानभिलाषात् स्वतन्त्रसेवैकाकांक्षया **अलौकिकसामर्थ्यं** भवति । तेषां पूर्वोक्तभक्त्या प्राकृतलिंगशरीर नश्यति । 'जरयत्याशु या कोश'मितिवाक्यात् । ततो लिंगशरीरनाशे सति भगवद्दर्शनाद्यभावे प्रसक्ते सायुज्ययोग्यतायां यदि भगवान् कृपयति तदा दिव्यान्यलौकिकेन्द्रियाणि सम्पादयति, ततस्तैर्भगवद्दत्तैरप्राकृतेन्द्रियैः 'पश्यन्ति ते मे' इति श्लोकोक्त दर्शनादि सिध्यति । तदेतदुक्तं मूले ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

अर्थस्तु **अलौकिकस्यें**न्द्रियवर्गस्य **दाने** भगवता कृते सति **आद्यः** 'पश्यन्ती'त्यादिश्लोकत्रयोक्तेषु त्रिषु फलेषु प्रथमो **मनोरथो** भगवद्दर्शनादिविषयकः सिध्येत्, 'अक्षण्वतां फलमिद'मितिश्रुतिफलपर्यवसायी भवतीति भगवद्दर्शनादेः परमफलत्वम् ।

रूपगोपिकावाक्यात् । अक्षण्वतामिन्द्रियवतामित्यर्थः । तस्मादलौकिकेन्द्रियदानं भगवत्कर्तृकमपेक्षितम्, अन्यथा पूर्वोक्तभक्त्या 'जरयत्याशु या कोश'मितिवाक्याल्लिंगशरीरभंगे दर्शनादिकं न सिध्येदिति भावः । न च मास्तु दर्शनादि, सायुज्यमेवास्त्वितिवाच्यम् । 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि'दितिवाक्येन तेषां तदनभिलापात् । इह एकात्मतां न स्पृहयन्ति, अपि तु दर्शनादिकमेव स्पृहयन्तीत्यर्थादायाति । 'मत्पादसेवाभिरता' इति वाक्यात् । अत एव मूले स्पृहापदपर्यायः मनोरथशब्दः उक्तः । अत एव वृत्रासुरेणोक्तं 'न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य कांक्षे' इति । अर्थस्तु अपुनर्भवं मोक्षमपि त्वां विरहय्य न कांक्षे अपि तु त्वामेव फलत्वेन कांक्ष इति । एतदेव श्रीव्रजसुन्दरीभिरुक्तं 'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम' इति । परो मोक्षः सायुज्यादिरिति सुबोधिन्यां व्याख्यातं च । अत इन्द्रियवतामिदमेव रसात्मकं पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलम् । 'भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य चे'ति सुबोधिन्यां सर्वेन्द्रियभोग्यत्वेन कथनात् । अत एवाक्षण्वतामित्यस्य सुबोधिन्या'मात्मलाभान्न परं विद्यते'तिश्रुतेर्मोक्षस्यैव पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलम्, तद्रहितानां तु मोक्ष एव फलमिति व्यवस्थापितम् । पुष्टिभक्तास्तु भगवद्दत्तेन्द्रियाणि लब्ध्वा सकलेन्द्रियैः रसात्मकं स्वरूपमनुभवन्ति । न ह्येतादृक्त्वं सायुज्यादाविति । 'ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा। संघातस्य विलीनत्वा'दितिनिबन्धात् । अत एव 'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना' इत्यनेन सालोक्यादीनामग्रहणमुक्तम् । न च मोक्षसुखाज्ञानान्न गृह्णन्तीतिवाच्यम् । 'मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम् । नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोन्यत्कालविप्लुत'मितिवाक्ये सेवया पूर्णा इत्युक्त्या तेषां भगवता सभाजनात्, अन्यथा अज्ञत्वान्न गृह्णन्तीति भगवान् तेषां निन्दामेव कुर्यान्न स्तुतिम् । अतो ज्ञायते भगवत्सेवायां मोक्षादप्यधिकरसोस्तीति । 'मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु'रिति वाक्याच्च । अतः फलदशायामाधिदैविकवृन्दावनादौ या फलरूपा भगवत्सेवा सा मोक्षादप्युत्कृष्टा । अतः सा भगवता परमानुग्रहभाजनाय तादृशाधिकारिणे पुष्टिभक्ताय दीयते, न तु सर्वेभ्यः भक्तेभ्य इति ज्ञेयम् । 'अस्त्वेवमंग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति शुकवाक्यात् । इह भक्तियोगमित्यस्य फलरूपपुष्टिभक्तियोगमित्यर्थो ज्ञेयः । एतस्मिन् श्लोके मुक्तिं ददाति भक्तिं न ददातीत्युक्त्या भगवत्कर्तृकदानं विना तादृशी भक्तिर्न प्राप्यत इत्युक्तं भवति । अत एवात्रापि मूले **अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथ** इत्यनेन दानमेवोक्तम् ।

तथा च सिद्धमेतत् । **अलौकिकसामर्थ्यरूपं** फलं पुष्टिमार्गीयसेवायामेव, फलद्वयं तु मर्यादाभक्तानाम् । ननु तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्ये 'देवानां गुणलिंगाना'मित्यत्र भक्तेर्लक्षणमुक्त्वा 'पश्यन्ति ते मे' इत्यादिना भक्तिफलत्वेन फलत्रयमुक्तम् । तत् कथ-

१ पुष्टियोगमिति पाठः ।

मुच्यते **सेवायां** फलत्रयमिति चेत् । न । भक्तिशब्देन सेवाया एवाभिधानात् । भज सेवायामितिधात्वर्थात् । 'लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्,' 'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे,' 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः' 'स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत' इत्यत्रादौ भक्तिपदमुक्त्वा, मध्ये सेवनपदं पठित्वा अग्रे स एव भक्तियोगाख्य इति भक्तिपदमुक्तम् । अतोपि ज्ञायते भक्तिशब्देन सेवैव । 'देवानां गुणलिंगाना'मितिलक्षणमुक्त्वा 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहा' इत्यत्र 'सेवाभिरता' इत्यनेन सेवैवाभिहिता, अतोपि भक्तिशब्देन सेवैव । तदुक्तं निबन्धे सर्वनिर्णये, 'भक्तिशब्दस्य धात्वर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेमे'ति । तथा च प्रेमसेवा भक्तिशब्दार्थः । इयमेव प्रेमसेवा मानसी सेवेत्युच्यते 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति सिद्धान्तमुक्तावल्यां मनोवृत्तेः सेवात्वकथनादत्रापि 'मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु ये'त्यनेन मनोवृत्तेर्भक्तित्वकथनात् । अतो '**यादृशी सेवना प्रोक्ते**'त्यत्र **सेवना**शब्देन मानसी सेवोच्यते । तस्याः सिद्धौ **अलौकिकसामर्थ्यरूपं फलं** भवति, तस्मात्तारतम्ये गौणं फलद्वयमुक्तम् । अतो भक्तिशब्देन मुख्यतया मानसी सेवाभिधीयते ।

इदं त्ववधेयम् । 'देवानां गुणलिंगाना'मिति भक्तेः स्वरूपलक्षणमुक्त्वा, 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरतामदीहा' इत्यनेन भक्तेः कार्यलक्षणमुक्तम् । तथा च मोक्षान्तपुमर्थस्पृहाराहित्यसम्पादकत्वं तादृग्भक्तित्वमिति भक्तेः कार्यलक्षणम् । एवं सति सर्वपुमर्थान् भक्ता न स्पृहयन्तीत्युक्ते भगवत्स्वरूपमात्रं स्पृहयन्तीति सिध्यति । एवं सकलपुरुषार्थाभिलाषशून्ये पुरुषोत्तमस्वरूपमात्रफलाभिलाषिणि भक्ते परमानुग्रहपरवशो भगवान् स्वरूपात्मकफलप्राप्तये तत्फलप्राप्त्यनुकूलमलौकिकसंघातं सम्पाद्य स्वयं फलरूपेण सर्वेन्द्रियविषयो भवति । तदेतदुक्तम् । **अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः** इति मूले, **अलौकिकसामर्थ्य**मित्यनेन टीकायां विवृतं च । ननु तृतीयस्कन्धे अलौकिकविग्रहप्राप्तिर्नोक्तेति कथमत्राचार्यैरलौकिकसामर्थ्यं फलत्वेनोक्तम् । तत्किंप्रमाणकमिति चेत्, श्रूयताम् । 'पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंस प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानी'त्यनेन भगवद्दर्शनादीनां फलत्वेनोक्तिरत्र मानम् । अन्यथा तादृशमलौकिकसंघातं विना 'पश्यन्ति ते म' इत्यत्रोक्ता दर्शनाद्युक्तिर्विरुध्येत । लौकिकेन्द्रियवर्गस्य निवृत्तत्वात् । 'जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथे'तिवाक्यात् । अतो दर्शनाद्यन्यथानुपपत्त्या अलौकिकदेहेन्द्रियप्राप्तिराक्षिप्यते । सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिः । तथा च सिद्धमलौकिकसामर्थ्यरूपमुत्तम फलमुत्तमानाम् ॥ १ ॥

एवमुत्तमाधिकारिणामुत्तमफलमुक्त्वा मध्यमाधिकारिणां फलमाहुः **सायुज्यमिति**। 'मद्भक्तिं लभते परां' 'भक्त्या मामभिजानाती'त्युक्त्वा 'विशते तदनन्तर'मित्यत्रोक्तं सायु-

ज्यमित्यर्थः । इदं मध्यम फलम्, अलौकिकसामर्थ्यापेक्षया हीनम्, सेवौपयिकदेहापेक्षयो-त्तमम् । अतो मध्यमम् । अलौकिकेन्द्रियवर्गस्य दानसापेक्षत्वान्मध्यमानां तदलाभे सायुज्य भवति । तदुक्तं मूले, फलं चेति ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामकः ।

फलशब्देन सायुज्यम् । साधारणमर्यादया सर्वेषां भक्तिमतां तत्प्राप्तेः । 'हतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुंक्त' इति तृतीयस्कन्धवाक्यात् । न चात्र वाक्ये 'अनिच्छत' इतिपदेन मोक्षेच्छाशून्यानां पुष्टिमक्तानां ग्रहणात्तेषामेव सायुज्य-लाभोऽस्तीतिवाच्यम्। मोक्षस्पृहयैव तैर्भगवद्भक्तेः कृतत्वात्। अनिच्छाकथनं तु भक्तिमहिम्ना कदाचित्तादृशभावोदयात् । न ह्यय भावस्तेषां सार्वदिकः । अतो भगवति प्रेमाप्येतेषां सोपाधि । मोक्षदातृत्वेन भगवति जातत्वात् । अत एतेषां सायुज्यप्राप्तिर्भवति । एतच्च तृतीयाध्यायमाध्ये स्फुटम् । पूर्वोक्तालौकिकसामर्थ्यरूपफलाधिकारिणां तु भगवति निरुपाधिक प्रेम। सायुज्यादिपुमर्थस्य स्पृहाराहित्येनैवोत्पन्नत्वात् । अतो भगवत्स्वरूपस्य सकलेन्द्रियास्वाद्यत्वेन तेषामपेक्षितत्वादलौकिकसपातं दत्वा सर्वेन्द्रियास्वाद्यो भवति, येषां मोक्षदातृत्वेन सोपाधिक हरौ प्रेम तेषां सायुज्यमितिविवेकः ।

एव मध्यमानां फलमुक्त्वा हीनाना फलमाह: सेवौपयिकदेहो वेति । व्यापिवैकुण्ठादौ पार्षदादिदेहप्राप्तिरित्यर्थः । 'अथो विभूतिं मम मायाविनस्तामैश्वर्यमष्टांगमनुप्रवृत्तम्। श्रिय भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके' इतिकपिलवाक्यात् । एतदाभासे 'सालोक्यादिरूप फलमाहे'ति सुबोधिन्यामुक्तत्वात् ।

अत्र केचिद्वैकुण्ठशब्देन व्यापिवैकुण्ठेतरवैकुण्ठाना ग्रहणमिति वदन्ति । तन्न । 'व्यापिवैकुण्ठे सर्वमैश्वर्यादिकमश्नुवत इत्यर्थ' इति सुबोधिन्यामुक्तत्वात् । न चालौकिक-सामर्थ्ये मुख्यफले तादृशविग्रहप्राप्तिरुक्ता, एव तृतीयेपि सेवौपयिकदेहस्याप्राकृतस्य प्राप्ति-रुच्यते, अत प्रथमतृतीययोः साम्यमापतितमिति वाच्यम् । प्रथमफले भगवतः सर्वेन्द्रिय-भोग्यत्वेन तद्भोगानुगुणदेहलाभः, तृतीये तु सेवामात्रयोग्यदेहलाभ इति विशेषेणैलक्षण्यात् ।

इदमत्र ज्ञेयम् । अलौकिकसामर्थ्यरूप फल व्यापिवैकुण्ठान्तर्वर्तिनि आधिदैविके वृन्दावनवृहद्वनादौ प्राप्यते । 'पश्यन्ति ते मे रुचिरावतसे'त्यस्य व्याख्याने वृन्दावनादौ भगवत्साक्षात्कारे भवतीति सुबोधिन्यामुक्तत्वान्मूले अधिकारशब्देन सेवौपयिकदेहो गृह्यते, तादृशदेहस्य सेवाधिकाररूपत्वात् ।

एव फलत्रयमुक्तम् । तत्रालौकिकसामर्थ्यरूप फल पुष्टिभक्तानाम् । सायुज्यं सेवौ-पयिकदेहो मर्यादाभक्तानाम् । अत एव नवमनिबन्धे 'देहमाने दद्दे तु स्याद्भक्तानां कृष्णदासता । सायुज्य चान्यथा तस्मिन गगातीरे न संशयः' इत्यनेन गंगायामेवातः सायुज्य-सेवौपयिकदेहप्राप्तिरुक्ता । सिद्धान्तमुक्तावल्या 'मर्यादाभ्यस्तु गंगायां श्रीभागवततत्पर'

इत्यनेन मर्यादास्थस्य तु गंगासेवनमुक्तम् । अत एव 'मर्यादाभक्तिमार्गस्य काष्ठा गंगा परा मते'ति निबन्धे उक्तम् । अत एव मर्यादाभक्तेः सायुज्यादिफलम् । पुष्टिभक्तेस्तु नित्यलीलाप्रवेशरूपं फलमिति स्पष्टमेव तृतीयचतुर्थाध्यायभाष्ये निरूपितमिति दिक् ।

न कालोऽत्र नियामकः । अत्र फलत्रयेपि कालो न नियामकः । फलत्रयं कालपरिच्छेद्यं न भवतीत्यर्थः । 'न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मे निमिषो लेढि हेति'रिति कपिलवाक्यात्, 'मत्परा न नंक्ष्यन्ती'त्युक्त्या मत्परशब्देन फलत्रयप्राप्तानां ग्रहणात् ॥ १॥ ॥

कार्यमात्रप्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणताखीकारात् सेवासिद्ध्यर्थं सेवाप्रतिबन्धा दूरीकर्तव्या इति तदर्थं प्रतिबन्धकान्निरूपयन्ति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम् ।

सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्, उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा । उद्वेगो भगवत्सेवासमये चित्तक्लेशप्रदश्चाञ्चल्यविशेषः । स च भगवत्सेवां प्रतिबध्नाति । भोगः सुखसाधकतया विषयासक्तिसम्पादकत्वेन भगवदासक्तिविरोधात् सेवाविरोधी । एतत्प्रतिबन्धकद्वय दुःखसुखसाधक प्रतिबन्धरूपम् । 'प्रतिबन्धक तूदासीन दुःखसुखे प्रयच्छती'त्यस्य न नामान्तरेण निर्देशः, किन्तु प्रतिबन्धशब्दवाच्यत्वैव । 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावा'दित्यत्र वाङ्मनसोर्विशिष्टकार्यमादाय इन्द्रियेभ्य. पृथक्तया गणनात् । एवमुद्वेगभोगयोरपि दु.खसुखप्रदत्वेन विशिष्टत्वात् पृथङ्निर्देश. । अन्यथा प्रतिबन्धकशब्देनैव उद्वेगभोगयोर्ग्रहणसम्भवात् पृथङ्नामनिर्देशो व्यर्थः स्यात् । त्रयाणामिति । उद्वेगप्रतिबन्धभोगानां यानि साधनानि हेतवस्तेषा परित्यागः कर्तव्यः । साधनपरित्यागे प्रतिबन्धानामनुत्पत्ते' । मूले बाधकानां परित्याग इत्यस्य तेषां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति व्याख्यान टीकायाम् । भोगो प्रतिबन्धकेषु भोगशब्देन लौकिको भोगो ग्राह्यो न त्वलौकिक इत्याहुः भोगो द्विविध इत्यारभ्य लौकिकस्त्याज्य एवेति व्याख्यान टीकायाम् । मूलार्थस्तु भोगे लौकिकालौकिकभोगे एकं लौकिकभोगात्मकं परं प्रतिबन्धकमिति । तत्राद्य इति । साधारणप्रतिबन्धभगवत्कृतप्रतिबन्धयोर्मध्ये आद्यः साधारणप्रतिबन्ध इत्यर्थ । तस्य स्वरूप तु सुखदु.खजनकत्वेन सेवाप्रतिबन्धकत्वम् । यथा सेवासमये उदासीनेन वागादिव्यवहार क्रियते स सेवां प्रतिबध्नाति, उद्वेगभोगौ तु दु.खसुखजनकौ, सेवाप्रतिबन्धकाविति विवेक. । बुद्ध्या त्याज्य इति । चातुर्येणेत्यर्थः । तथा च व्यवहारचातुर्येण सेवावसरे लौकिक कार्यं तथा कर्तव्य यथा सेवावसरे तादृश वागादिव्यवहारकार्यमेव न पतेदित्यर्थ । अथवा साधारणप्रतिबन्धो वेदनिन्दारूपः पापरूपश्च । स

तु बुद्ध्या त्याज्य, बुद्धिपूर्वक तस्य त्याग कर्तव्य इत्यर्थ । अलौकिकभोगस्त्विति । भगवत्सेवार्थं मुखदुर्वासनादिदोषनिवृत्तये ताम्बूलभक्षणादिरूप, भगवद्धामित्वादलौकिक । 'मन्निष्ठ निर्गुण स्मृत मिति'वाक्यात् । 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा' इति श्लोके भगवदर्थ कृतस्य दन्तधावनादेरपि भगवद्धर्मत्वस्य नवयोगिप्रसगे कविनोक्तत्वात् । 'धर्मान् भागवतान् ब्रूते'ति प्रश्नोपक्रमात् । श्रीमत्प्रभुचरणै स्वतन्त्रे तथा व्याख्यानाच्च । फलाना मध्ये प्रथमे प्रविशतीति । साधनत्वेन प्रविशतीत्यर्थ । अलौकिकसामर्थ्यरूपफलसाधको भवतीति यावत् । अतोयमलौकिकभोगो न त्याज्य । तदुक्त मूले ।

निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ।

अर्थस्तु **महान् भोगः** पूज्यो भोगो भगवत्सेवार्थमगरागलेपादिरूप **निष्प्रत्यूहं** निर्विघ्न यथा स्यात्तथा प्रथमेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे फले प्रविशति, तत्फलसाधको भवतीति यावत् । साधारणप्रतिबन्धस्य बुद्ध्या त्याज्य इत्यनेन निवृत्त्युपाय उक्त ॥२॥३॥

एव भगवत्कृतप्रतिबन्धकस्यापि निवृत्त्युपायो वक्तव्य इत्याशक्य नास्य कश्चिन्निवृत्त्युपाय इत्याहु **भगवत्कृतश्चे**दित्यारभ्य **विवेक** इत्यन्तेन । **तदा भगवान् फल न दास्यतीति** । सेवाफल मुक्तिरूप न दास्यतीत्यर्थ । **तदान्यसेवापीति** । मुक्तिप्राप्त्यर्थ मन्यस्य तीर्थादेरित्यर्थ । तत्र हेतु । **तदाऽसुरोयमिति** । आसुरस्य तु 'निबन्धायासुरी मते'ति भगवद्वाक्यात् तस्य मुक्तिर्न भवतीति तीर्थादिसेवापि व्यर्थेति भाव । तदुक्त मूले ।

अकर्तव्य भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हीति ।

ननु यस्य भगवत्कृत प्रतिबन्ध स आसुर, तस्य सर्वथा मुक्तिर्नास्तीति निरूपितम्, तर्हि फलाशाराहित्यजनितक्लेश स्यात्, तत्क्लेशनिवृत्ति कथ स्यादित्याशङ्क्य क्लेशनिवृत्त्युपायमाहु **तदा ज्ञानमार्गे**णेति । येनाहमुत्पादित तेन परमेश्वरेण यद्विचारित तथैव भविष्यतीति मया तु प्र त्याज्यमित्यादिज्ञानरूपेण साधनेन नैश्चिन्त्येन स्थेयमित्यर्थ । तदुक्त मूले ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेक साधन मतम् ।

साधनमिति शोकाभावसाधनमित्यर्थ । एव साधारणप्रतिबन्धो बुद्ध्या त्याज्य इत्युक्त्वा भगवत्कृतप्रतिबन्धस्याशक्यत्यागत्वात् तज्जन्यशोकनिवृत्तये ज्ञानमार्गेण स्थेयमित्युक्तम् ॥ ४ ॥

अत पर भोगरूपप्रतिबन्धनिवृत्त्युपायमाहु **साधारणो भोग**. कथमित्यारभ्य **त्याज्य** इत्यन्तेन । भोगस्य सुखहेतुत्वेन त्याज्यत्व न मनस्यायातीत्याशक्याहु ।

सविघ्नोल्पोघातक. स्यादिति ।

सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्य त्याज्यत्वम् । भोगस्य सविघ्नत्वमल्पत्व च मुहुर्मुहुर्विचार्य त्याग कार्य इति भाव । साधारणप्रतिबन्धस्य तु घातकत्वात्त्याज्यत्वम् । साधारण-

१ असाधारणप्रतिबन्धस्यापीत्यपि पाठ ।

प्रतिबन्धश्च वेदनिन्दारूपः पापरूपश्च । स च महादोपरूपत्वात् सेवासिद्धेर्घातको भवति । अत एव वेदनिन्दायाः पापानां च जन्मान्तरसम्पादकत्वं निबन्धे सेवाप्रकरणे उक्तम् । 'अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथा । नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायत' इति । एतस्य सर्वेषु सेवाधिकारिषु सम्भवात् साधारणत्वम्, सकलसत्कार्यमात्रप्रतिबन्धकत्वाच्च साधारणत्वम् । भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तु असुरमात्रविषयकत्वादसाधारण इति विशेषो ज्ञेयः । **एतौ सदा प्रतिबन्धकाविति**। लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ सदा सेवाप्रतिबन्धकौ । लौकिकभोगस्य वेदनिन्दारूपपापरूपसाधारणप्रतिबन्धस्य च सर्वदा सम्भवात् सर्वदा प्रतिबन्धकत्वमित्यर्थः । तदुक्तं मूले ।

बलादेतौ सदा मतौ ।

सदा प्रतिबन्धकौ **मता**वित्यर्थः । भगवत्कृतप्रतिबन्धस्याशक्यत्यागत्वादनिवार्यत्वेन आसुरजीवस्य सेवाफलाभाव इति निरूप्य तत्कृतशोकनिवृत्तये ज्ञानमार्गेण स्थितिः कार्येति पूर्वं निरूपितम् ।

अतःपरं येन ज्ञानमार्गोपि नाश्रयितुं शक्यस्तस्यासुरस्य चित्तस्वास्थ्यप्रकारमाहुः **ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थमाहे**ति । यस्यासुरस्य ज्ञानस्थित्यभावस्तस्य चिन्ताऽभावसम्पादनार्थमित्यर्थः । **द्वितीय इ**तीति । भगवत्कृतप्रतिबन्ध इत्यर्थः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

अर्थस्तु प्रतिबन्धयोर्मध्ये **द्वितीये** भगवत्कृतप्रतिबन्धे **चिन्ता** न कर्तव्या । तत्र हेतुः । **संसारनिश्चया**दिति । मम संसार एव फलं परमेश्वरेण विचारितं न मुक्तिः । अत आशैव न रक्षणीया । 'नियन्त्यायासुरी मता' इति वाक्यात् । एवं च चिन्तापि न कार्येति । एवं प्रकारेण स्वास्थ्यं मनसि सम्पादनीयमितिभावः ।

एवमासुरस्य भेदद्वयम् । तत्र 'ज्ञानमार्गेण स्थातव्य'मित्येकः प्रकारः पूर्वं टीकायामुक्तः । मूले **अकर्तव्यं भगवत** इत्यारभ्य **विवेकः साधनं मत**मित्यन्तेनोक्तः । द्वितीयप्रकारस्तु 'ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थमाहे'त्यनेन टीकायामुक्तः । मूले **द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चया**दित्यनेनोक्तः । एवं द्विविधस्याप्यासुरस्य सेवाफलाभावो निरूपितः, शोकाभावप्रकारश्चोक्तः ॥ ५ ॥

अतः परमुद्वेगरूपप्रतिबन्धे किं कार्यमित्याकांक्षायामाहुः **न त्वाद्ये दातृता** नास्तीति ।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

आद्ये त्रिषु बाधकेषु आद्ये उद्वेगरूपे प्रतिबन्धे तु चिन्ता न त्याज्येति पूर्वस्थाभ्यां

---

१ सेवासिद्धेरिति पाठ ।

चिन्तापदस्याव्यपदाग्यामन्वयः । तथा चोद्वेगरूपप्रतिवन्धस्य निवारयितुं शक्यत्वेन तन्निवृत्त्युपायचिन्तां कृत्वा उद्वेगो निवर्तनीय इत्यर्थः । असाध्ये हि चिन्तात्यागो विधेयः । 'तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसी'ति वाक्यात् । साध्ये तु चिन्ता रक्षणीयैव । यद्युद्वेगरूपप्रतिवन्धनिवृत्तिर्न स्यात्तदा किं स्यादित्याकांक्षायामाहुः । **आद्यफलाभाव** इति आद्येन फलाभाव इति तृतीयातत्पुरुषः । आद्यशब्देन प्रतिवन्धेषु आद्य उद्वेगरूपस्तेन कृते फलाभावे **भगवतो दातृत्वं नास्ति**, भगवान् सेवाफलं न दास्यतीत्यर्थः । तत्र हेतुः । **तदा सेवा नाधिदैविकीत्युक्तं भवति** । 'मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या । अनिमित्ता भागवती भक्तिर्मुक्तेर्गरीयसी'ति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यात् सेवाया भगवत्परमनोवृत्तिरूपत्वेन तत्र चित्तस्थैर्यस्यापेक्षणादुद्वेगे च चित्तस्थैर्यनाशात् सेवाया आधिदैविकीत्वं न स्यात्, अत उद्वेगनिवृत्तिः कर्तव्येति तात्पर्यम् । पूर्वं **त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य** इत्युक्तं टीकायाम्, **बाधकानां परित्याग** इत्युक्तं मूले । ततश्चोद्वेगत्यागः प्रतिवन्धत्यागो भोगत्यागश्चेति त्यागत्रयमनुगतं भवति । तेषु तृतीयस्य भोगत्यागस्योपायमाहुः **'भोगाभावस्तदैवे'**त्यादिना । मूले **तृतीये बाधकं गृहमित्युक्तम्** । अर्थस्तु **तृतीये भोगत्यागे गृहं बाधकम्** । गृहस्थस्य सर्वात्मना भोगत्यागासम्भवादिति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ।

अर्थस्तु इयमुद्वेगादित्रिप्रतिवन्धकत्रयी **अवश्या** स्ववश्या न भवति । अतः **सदा भाव्या** विचारणीया, एतत्प्रतिवन्धकत्रय्या साधनपरित्यागो विचार्यः । एतत्प्रतिवन्धकत्रयात् सावधानतया स्थेयमिति तात्पर्यम् । ननु तर्हि प्रतिवन्धकत्रयसम्भवात् सोपायं सेवामार्गं त्यक्त्वा ज्ञानादिमार्ग एवानुष्ठेय इत्याशङ्कामपनुदन्तो ज्ञानादिमार्गेण सेवासाध्यं फलं न भवतीत्याहुः **सर्वमन्यन्मनोभ्रम** इति । सेवातिरिक्तज्ञानादिरूपं साधनं तु न सेवासाध्यफलसाधकम् । अतोऽत्र पूर्वनिरूपितफलत्रयाकाङ्क्षिभिरन्यत्साधनं कार्यमितिज्ञानं भ्रममात्रमित्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु पुष्टिमार्गीयस्य भगवदनुग्रहपात्रस्य भगवत्पुष्टिस्वभावात् सेवाफलं सर्वथा भविष्यत्येव प्रतिवन्धकत्रयी त्वप्रयोजिकेति किमर्थं तद्विचारः कर्तव्य इत्याशङ्क्य तादृशस्यापि एतत्प्रतिवन्धकत्रयी विचारणीयेत्याहुः **तदीयैरपि तत्कार्यमिति** ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

तदीयैः पुष्टिमार्गीयैरपि **तत्कार्यम्** । प्रतिवन्धकत्रयीमार्जनं कार्यम् । किमर्थं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः **पुष्टौ नैव विलम्बयेत्** । यद्यपि पुष्टौ फलाभावो नास्ति, तथापि फलविलम्बस्तु प्रतिवन्धकत्रयेण भवेदत **पुष्टौ** पुष्टिमार्गे न विलम्बयेद्विलम्बं न कार-

येत्, प्रतिबन्धकत्रयादसावधानश्चेत् स्यात्तदा विलम्बो भवेत्, अतः प्रतिबन्धकत्रयीभावनं मुहुर्मुहुः कृत्वा त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । सोपि शीघ्रमेव, न विलम्बेन । एतद्विलम्बे फलविलम्बो भवेदितिभावः ।

ननु प्रतिबन्धकत्रयसाधनपरित्यागेपि सर्वत्र गीताभागवतादौ प्रकृतिगुणानां सत्वरजस्तमसां प्राबल्यस्योक्तत्वात्तत्क्षोभकृतः सेवाप्रतिबन्धो भवेत्तदर्थं किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः गुणक्षोभेपीति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणानां क्षोभेपि एतदेव मदुक्तमेव द्रष्टव्यं विचारणीयमिति । एतद्विचारे साधनपरित्याग एवोपायत्वेन स्फुरेत् । गुणक्षोभसाधनं तु सगुणवस्तुसंगः । सगुणं वस्तु भगवतैकादशे निरूपितं पञ्चविंशाध्याये । एवं सति सगुणवस्तुस्वरूपं ज्ञात्वा तत्संगस्त्यागः कर्तव्यः । व्यवहारनिर्वाहस्तु 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृत'मित्यादिवाक्याद्भगवत्सम्बन्धिपदार्थस्य निर्गुणत्वाद्भगवदुपभुक्तशिष्टपदार्थैः कर्तव्यः । तथा सति गुणक्षोभदोषोपि न भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु भगवदीयाः पदार्था निर्गुणाः, तैः सम्बन्धदोषपरिहार उक्तः, स च न सम्भवति, सर्वस्यापि पदार्थस्य गुणत्रयात्मकत्वमितिसांख्यसिद्धान्तादित्याशंक्याहुः ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

भगवच्छास्त्रविरुद्धत्वात् सांख्यसिद्धान्तोक्तप्रमेयकथनं कुसृष्टिः । अतस्तादृशज्ञानं भ्रम एव । यद्यपि सर्वपदार्थस्य सगुणत्वं, तथापि भगवत्सम्बन्धिपदार्थस्य निर्गुणत्वमेव । 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्' 'मन्निकेतं तु निर्गुणम्' 'निर्गुणं मदपाश्रय' मित्यादिवाक्येभ्य इति भावः ।

सेवां पुष्टिपथप्रोक्तां कारयित्वा निजां फलम् ।
ददातु प्रथमं देवो बालकृष्णो मदीश्वरः ॥ १ ॥

इतिश्रीमद्गोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामबालकृष्णदीक्षितेन विरचिता सेवाफलविवृतिटिप्पणी समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

मठपतिश्रीजयगोपालभट्टकृतविवरणसमेतम् ।

बार्हचर्हलसन्मौलि वेणुवादविशारदम् ।
दुःखं दलयतादुच्चैस्त्रिभंगललितं महः ॥ १ ॥
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यांस्तत्सुतान् विट्ठलेश्वरान् ।
विवृत्या सहितं सेवाफलं व्याख्यायते मया ॥ २ ॥
गीताभागवतादावप्युक्तं पण्डितबुद्धिगम् ।
पुष्टिसेवाफलं ज्ञात्वा विचारे त्वक्षमान् निजान् ॥ ३ ॥
विबोधयिषवश्चक्रुर्ग्रन्थं सेवाफलाभिधम् ।
सम्यग्विवरणोपेतं श्रीमदाचार्यपण्डिताः ॥ ४ ॥
षड्गुणाः सप्तमो धर्मी सर्वधर्म्यधिको व्रजे ।
यथा विराजते नित्यं तत्सेवायाः फलं तथा ॥ ५ ॥
सर्वसेवाफलेभ्योऽत्र ज्ञाप्यतामधिकं पुनः ।
इति ज्ञापयितुं सार्धसप्तपद्यैर्निरूपितम् ॥ ६ ॥

अथ श्रीभगवद्गीताश्रीभागवताणुभाष्यभागवततत्त्वप्रदीपसुबोधिन्यादिसमाकलनासमर्थैः कैश्चिदतिकृपाभाजनैः स्वीयभगवदीयैः पृष्टाः श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वमार्गीयसेवाफलं निरूपयन्ति यादृशी सेवना प्रोक्तेत्यादि सार्धपद्येन ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामकः ।

एतस्य विवरणं तु सेवायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयिकदेहो वा वैकुण्ठादिष्विति । अत्र सेवायामिति तु यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धावित्यस्य विवरणम् । फलत्रयमिति तु फलमुच्यत इत्यस्य विवरणम् । अलौकिकसामर्थ्यमित्यादि अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथ इत्यारभ्य अधिकारो वेत्येतदन्तस्य च विवरणं बोध्यम् ।

अथ व्याख्या । **यादृशी** '**कृष्णसेवा सदा** कार्या मानसी सा परा मता,
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धौ तनुवित्तजे' त्यादिना स्वतनुजस्ववित्तजसेवया प्रेम्णि
जाते आसक्तिस्वरूपतत्प्रवणचेतस्त्वरूपा फलरूपा मानसी सेवेति सिद्धान्तमुक्तावल्युक्त-
प्रकारा सेवना सेवा मया प्रोक्ता तस्याः **सिद्धौ** पूर्णतयाविर्भावे सति यत्फलं
भवति तदुच्यते कथ्यत इत्यर्थः । ननु सिद्धान्तमुक्तावल्यां तु स्वतनुजस्ववित्तज-
सेवोत्तरं प्रेमोत्पत्तिः कण्ठरवेण नोक्तेति कथं भवतोच्यत इति चेत्? अत्रोच्यते ।
'यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् तथोपायो निरूप्यते, बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवण-
कीर्तना'दित्युपक्रम्य 'बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, अव्यावृत्तो भजे-
त्कृष्णं पूजया श्रवणादिभि'रित्यादिना स्वतनुजस्ववित्तजसाधनरूपसेवामुक्त्वा 'ततः
प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेदि'त्यनेन साधनरूपसेवोत्तरं प्रेमोत्पत्तिरुक्ता,
तदनन्तरमासक्तिरुक्ता, तदनन्तरं व्यसनं चोक्तं श्रीमदाचार्यवर्यैर्भक्तिवर्धिन्यामिति ।
एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽपरत्रापि प्रवर्तत इति न्यायं मनसिकृत्यास्मत्प्रभुभिः सिद्धान्त-
मुक्तावलीविवृतावुक्त'मेतेन निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि
जाते सा भवती'ति मयाप्युक्तमित्यवेहि । तत्किं फलमित्याकांक्षायामिदमिदं फलमिति
फलत्रयं विवक्षव आद्यं फलमाहुर्मूले **अलौकिकस्य दाने हीति** । एतद्विवरणं
त्वलौकिकसामर्थ्यमिति । अत्र द्वितीयातत्पुरुषस्त्वसम्भव्येव, तृतीयापञ्चमीषष्ठी-
तत्पुरुषाणां सम्भवित्वेपि क्लिष्टार्थता सम्भवतीत्यलौकिकाय सामर्थ्यमिति चतुर्थीतत्पुरुषा-
श्रयणादलौकिके सामर्थ्यमलौकिकसामर्थ्यमिति सप्तमीतत्पुरुषाश्रयणाद्वा अलौकिकविषयक-
सामर्थ्यं यावदलौकिकसम्बन्धजनितसुखदुःखानुभवविषयकशक्ततेति यावदित्यर्थो ज्ञेयः ।
एवं च सति 'निःप्रत्यूहो महान्भोगः प्रथमे विशते सदे'ति मूले, तथा च 'अलौकिक-
भोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीति तद्विवरणे चोक्तो ह्यलौकिकभोगस्य प्रथमफले
प्रवेश उपपन्नो भवेत्, तस्याप्यलौकिकपदेन संग्रहात् । कर्मधारयाश्रयणे तु सामर्थ्यमात्र-
स्यैवालौकिकत्वात्तदतिरिक्तालौकिकभोगादेरलौकिकसामर्थ्यरूपत्वाभावादलौकिकपदेनासंग्र-
हादलौकिकसामर्थ्यरूपप्रथमफले प्रवेशोक्तिरसंगता स्यात् । तस्माच्चतुर्थीतत्पुरुषः सप्तमी-
तत्पुरुष एव वात्र साधुतरो न कर्मधारय इति बोध्यम् । यद्वा । न लौकिकमलौकि-
कम्, अलौकिकं च तत्सामर्थ्यं चेति कर्मधारय एवास्तु । न च पूर्वोक्तदूषणापत्तिरिति
वाच्यम् । अलौकिकभोगस्त्वलौकिकसुखदुःखसाक्षात्कारस्तु फलानां मध्ये प्रथमे फलेऽ-
लौकिकसामर्थ्येऽधिकरणरूपे प्रविशति प्रविष्टो भवति, तदर्थमेवालौकिकसामर्थ्यस्य भग-
वता दानात् । एवं च न पूर्वोक्तदूषणापत्तिरिति दिक् । एवं च विवरणे मूलस्यालौकिक-
पदस्यालौकिकविषयकसामर्थ्यपरत्वेनालौकिकसामर्थ्यपरत्वेन वा व्याख्यानात् कस्यचि-
देतत्संघाते कस्यचिच्चैतद्देहपातोत्तरं वृन्दावनादिष्वलौकिकसंघात एव वा ह्यलौकिक-

विषयकसामर्थ्यरूपस्यालौकिकसामर्थ्यरूपस्य वा फलस्य **दाने** वितरणे स आद्यः प्राथमिकः सत्संगादिनेदं प्रथमतयोत्पन्नः प्रियतमभगवत्संगमविषयको भक्तस्य मनोरथः स हि निश्चयेन **सिध्येन्मनोरथ**विषयीभूतपदार्थप्राप्त्या पूर्णो भवेत्, तददाने तु न पूर्णो भवेदित्यर्थः । तथा च मनोरथविषयीभूतप्रियसंगमसाधकं प्राथमिकं फलमलौकिकविषयकसामर्थ्यप्राप्तिरिति बोध्यम् । **अल्पः सिध्येन्मनोरथ** इति पाठे स्वलौकिकस्यालौकिकविषयकसामर्थ्यस्यालौकिकसामर्थ्यस्य वा **अदाने हि** निश्चयेन विप्रयोगोद्रेके सति कदाचित् कदाचिन्मनसि जायमानत्वादल्पः स्वल्पो **मनोरथः** प्रियसंगमविषयकः सिध्येदित्यर्थो ज्ञेयः । चकारेणैतद्दान एवान्योपि मनोरथः सिध्येदिति व्याख्येयम् । अत्रैवं ज्ञेयम् । प्रथमतो मूलेच्छया 'यमेवे'ति श्रुतेर्निरुपधिरसरूपसपरिकरभगवत्कृपया शुद्धपुष्टिमार्गीयं वरणम्, तदनु सत्संगादिना प्राथमिको भगवत्संगममनोरथः, तदनु शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयः, तदनु भगवत्प्राप्तिजनकतिरोहिततापक्लेशानन्दाविर्भावाय शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यकृतं निवेदनम्, ततस्तदुपदिष्टेऽस्मिन्मार्गे गोपिकानामेव गुरुत्वमिति फलप्रकरणीयसिद्धान्ता 'दश च गोपीभावेन ये भक्ता' इत्याद्यादिपुराणवाक्याच्च मूलरूपशुद्धपुष्टिमार्गाचार्याणां व्रजभक्तानां यो भावस्तत्सजातीयभावभावनापूर्वकं स्वतनुजस्ववित्तजसाधनरूपसेवाकरणेन दृढतरकथाश्रवणादिना वा कस्यचिद्दिनैव प्रेमोत्पत्तिं देहपाते 'स्वयं समुत्तीर्ये'ति श्लोके 'सदनुग्रहो भवा'नित्युक्तत्वात् प्रेमवदाचार्यस्य भगवदनुग्रहबलेन प्राप्तालौकिकदेहे रसमार्गीयत्वात् पूर्वानुरागमारभ्य सकलप्रेमावस्थाविर्भावः । कस्यचित्तु भगवदिच्छया प्रेमासत्त्यनन्तरमेव पूर्वानुरागजविरहेणैव व्यसनं विनैव देहपाते प्राप्तालौकिकदेहे व्यसनाद्यवस्थाविर्भावः । कस्यचित्त्वत्रैव प्राकृतदेहे प्रेम्णि जाते तदप्राप्त्या पूर्वानुरागजविरहाविर्भावः, ततः स्वसेव्यस्वरूपे वा स्वप्नादौ वातिभाग्येन साक्षादपि वा प्रभुदर्शने 'चक्षुःप्रीतिः स्मृता तत्रातीवादरनिरीक्षण'मिति लक्षणानुसाराद्भगवद्विषयकः परमादरपूर्वकनिरीक्षणरूपचक्षूरागरूपप्रथमप्रेमावस्थाविर्भावः । तत'श्चित्तासङ्गः प्रियतमे नित्यं चित्तस्य विश्रम' इति लक्षणानुसारात् 'ततः प्रेम तथासक्ति'रित्युक्तत्वात् प्रेमोत्तरोत्पन्नासक्तिस्वरूपतत्परचेतस्त्वरूपचित्तासंगरूपद्वितीयप्रेमावस्थाविर्भावः । इयमेवास्या सेवापदवाच्या । 'अथावस्था निरूप्यन्ते रसानन्दानसूचिकाः । बीजांकुरः पल्लवश्च वृद्धिर्निर्भर एव च । अवस्था द्वितयेन स्याच्चक्षूरागादिषु क्रमात् । चक्षूरागो मनःसंगः संकल्पो जागरस्तथा । तनुता विषयद्वेषो लज्जात्यागस्ततःपरम् । उन्मादमूर्छामरणान्येता दश दशाः स्मृता' इत्युक्त्वाचक्षूरागचित्तासंगाभ्यां बीजरूपप्रथमप्रेमावस्थोक्ता । ततः 'संकल्पस्तु मनोरथ' इति लक्षणानुसारात्कदा प्रियसंगमे एवमेवं भविष्यतीत्यादिमनोरथरूपसंकल्पस्वरूपतृतीयप्रेमावस्थाविर्भावः । एतावता किञ्चिदुल्लसितः पूर्वानुरागजन्यो विरहः । अथायमलौकिकविषयत्वादलौकिको विरहः प्रत्यानन्ददायिदुःसहो भातीति लौकिक-

सामर्थ्यवता शरीरेण मनसा च सोढुमशक्यो देवकृतसम्भोगो मानुषजात्या स्त्रियैवेति भगवता तापक्लेशविशिष्टलौकिकविरहरसभोगसामर्थ्यं प्रथमतो दीयते । तदनूच्छ्वासनिश्वासस्तृत्याद्यनुभावविशिष्टो 'निद्राच्छेदस्तु निद्राया अभावः परिकीर्तितः' इति लक्षणानुसारान्निद्राच्छेदरूपश्चतुर्थप्रेमावस्थाविर्भावः । आभ्यां संकल्पनिद्राच्छेदाभ्यामंकुरावस्थोक्ता । तत 'स्तनुता निखिलांगानां दौर्बल्यं परिकीर्तित'मिति लक्षणानुसारात् पाण्डुत्वाद्यनुभावविशिष्टतनुतास्वरूपपञ्चमप्रेमावस्थाविर्भावः । ततो 'विषयेभ्यो निवृत्तत्वमरतिर्विषयान्तरे' इति लक्षणानुसाराच्चक्षुर्निमीलनासहनशीलताद्यनुभावविशिष्टविषयनिवृत्तिरूपषष्ठप्रेमावस्थाविर्भावः । आभ्यां तनुताविषयनिवृत्तिभ्यां पल्लवावस्थोक्ता । एतावत्पर्यन्तमासक्तिकार्यमेव । अत एव 'स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचि'रित्यनेन गृहारुच्युपलक्षिता विषयनिवृत्तिरुक्ता श्रीमदाचार्यैर्भक्तिवर्धिन्याम् । ततो 'दैहिकान्सकलान् भावान् निजां व्रीडां च दैहिकीम् । परित्यज्य हरिप्राप्त्यै यदेव स्यात्तदेव हि । लौकिकं वैदिकं चापि तत्कर्ता व्यसनी मत' इति दशमस्कन्धीयभागवततत्त्वदीपसिद्धान्तसिद्धलौकिकवैदिकप्रियप्राप्तिसाधनकरणरूपव्यसनाविर्भावः । ततः पुनः प्रियप्राप्तिदुर्घटत्वज्ञानेन 'उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं समबोचते'ति दशमस्कन्धपद्यव्याख्यानसुबोधिन्युक्ताप्रतीकार्यदुःखस्वरूपव्यसनान्तराविर्भावः । येन विना प्रियतमांगसंगं क्षणमात्रमपि स्थातुं न शक्नोति, तेन प्रियतमांगसंगं च प्राप्नोत्येव । अत एव 'यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव ही'त्यनेन तत्रैवानुपदमेवोक्तं व्यसनोत्तरमेव कृतार्थत्वमप्रतीकार्यदुःखरूपव्यसनपदवाच्यान्यव्यसनप्राप्त्या । अत एव व्रतरूपव्यसने जाते प्रियप्राप्तिरेव जाता श्रीमतीनां कुमारीणाम्, तदनन्तरं चाप्रतीकार्यदुःखरूपे व्यसने जाते एव च प्रियतमांगसंगो जात इति श्रीभागवते स्पष्टमेव । अत्र कृष्ण इति विषयसप्तमी निमित्तसप्तमी वा, 'चर्मणि द्वीपिन'मित्यत्रेव । तथा च कृष्णविषयकं कृष्णनिमित्तं वा यदा प्रथमव्यसनोत्तरमप्रतीकार्यं तापसहितं दुःखरूपं क्लेशापरपर्यायं द्वितीयं व्यसनं स्यात्तदा 'लज्जात्यागोतिवैवश्यात् त्रपानाशोभिधीयत' इति लक्षणानुसारादाकस्मिकहसनरोदनाद्यनुभावविशिष्टत्रपानाशस्वरूपसप्तमप्रेमावस्थाविर्भावः । तद'न्वचेतनेषु प्रश्नादिरुन्मादः परिकीर्तित' इति लक्षणानुसारादाकाशालिंगनाद्यनुभावविशिष्टोन्मादरूपाष्टमप्रेमावस्थाविर्भावः । आभ्यां त्रपानाशोन्मादाभ्यां वृद्धावस्थोक्ता । ततः 'प्रलयो रागदुःखादेरिन्द्रियास्तमयो मत' इति लक्षणानुसारान्निश्चेष्टत्वाद्यनुभावविशिष्टमूर्छापरपर्यायप्रलयरूपनवमप्रेमावस्थाविर्भावः । ततः 'प्राणत्यागोतिदुःखेन मृतिस्तु परिकीर्तिते'तिलक्षणानुसारान्मृतिरूपदशमप्रेमावस्थाविर्भावः । आभ्यां मूर्छामृतिभ्यां विस्तरावस्थोक्ता । तथा चैतादृशानुभावविशिष्टव्यसनोत्तरं प्राकृतदेहपाते सच्चिदानन्दस्वरूपालौकिकदेहलाभे च सति भगवत्स्वरूपानन्दप्राप्त्या कृतार्थः स्यादित्यर्थः । अत एवेदमप्रतीकार्यदुःखमेव प्रार्थितं निरोधलक्षणाख्ये ग्रन्थे श्रीमदाचार्यचरणै'र्यच्च दुःखं यशोदाया नन्दा-

दीनां च गोकुले । गोपिकानां च यद्दुःखं तद्दुस्सानमम क्वचिदि'त्यादिना । अत्रेदमपि ज्ञेयम् । येषां त्वलौकिक शरीरं तेषां तु व्यसनानन्तर प्रभुसगम एव, न दशमदशाप्राकट्यम् यथा रासमण्डलमण्डनानाम् । येषां तु लौकिक शरीरम्, तेषां तु व्यसनानन्तरं दशमदशो दयो भवत्येव, यथान्तर्गृहगतानाम् । इदमेव ज्ञापयितुमन्तर्गृहगतानां लीला । अन्यथा व्रजस्थानां सर्वेषामप्यलौकिकशरीरमिति तासामप्यलौकिकशरीरवत्त्वात्तथाकृतिर्व्यर्था नीरसा च स्यादितिदिक्। 'नन्वन्ते या मतिः सा गति'रिति प्रेमवदाचार्यानुग्रहबलेनात्यसह्येन पूर्वानुरागजभगवद्विरहेण वा तत्क्षणमेव देहपाते प्रियसगमो भविष्यत्येव । अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादा भज्येतेति किमर्थमलौकिकसामर्थ्यदानं किमर्थं वा न तत्तद्दशानुभावनमिति चेत् । अत्र वदामः । 'रसो वै स' इति श्रुतेः प्रभो रसरूपत्वाद्रसमर्यादयैव स्वस्वरूपदानमित्यलौकिकसामर्थ्यदान तत्तद्दशानुभावनं चेति जानीहि । अपि च, तत्क्षणमेव देहपाते चक्षूरागादिक्रमेणावस्थानुभावाभावदर्शने रसमार्गीयभगवदीयानां सन्देहः स्यात्को वेद रसस्वरूपभगवत्प्राप्तिरेतस्याथवान्यस्वरूपभगवत्प्राप्तिरिति । तदर्थमेव कस्यचिदलौकिकसर्वावस्थानुभवोऽपि कार्यते प्रभुणा । तथा सति तत्तदवस्थानुभवस्य प्रत्यक्षतो दृश्यमानत्वेन सर्वेषां रसस्वरूपप्राप्तेर्निश्चयादेतन्मार्गीया प्रवृत्तिरपि निःप्रत्यूहा भवेत्, तदर्थमेवालौकिकसामर्थ्यदानं तत्तद्दशानुभावनं चेत्यलं पल्लवितेन । एवमेवालौकिकसामर्थ्यं साक्षाद्वृन्दावनादिष्वपि दीयत इत्यग्रे व्यक्तीभविष्यति । यद्वा, योऽस्मिन्मार्गे समायाति तस्य तु 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः । अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः । व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत् सदा । ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेदि'ति भक्तिवर्धिन्यां तत्तज्जनितजसेवाकरणे प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्तीत्युक्तत्वात्तदनन्तर तत्र 'यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव ही'त्युक्तत्वाच्च व्यसनप्राप्तेः कृतार्थीकरणस्वभावात् प्राथमिको मनोरथो व्यसनप्राप्तिविषयको भवति । तत्र व्यसनाविर्भावे महातापोदयात्तत्सहनं लौकिकसामर्थ्येन कर्तुमशक्यमतिदुःसहत्वादिति भगवता व्यसनाविर्भावादव्यवहितपूर्वं तत्समकालमेव वानालौकिकसामर्थ्यं दीयते व्यसनसहनार्थम् । एवं चालौकिकस्य दाने हि । हि निश्चयेनालौकिकस्यालौकिकसामर्थ्यस्य दाने आद्यः प्राथमिको मनोरथो व्यसनप्राप्तिविषयकः सिध्येन्निष्पन्नो भवेत्, व्यसनप्राप्तिः स्यादिति यावत्, तद्दाने स न निष्पद्यत इत्यर्थः । तथा च शुद्धपुष्टिमार्गीयस्य प्रेमासक्तिरूपायां सेवायां सिद्धायां प्रथमफलमलौकिकसामर्थ्यप्राप्तिरिति श्रीमदाचार्यैरेतस्य प्रथमफलत्वमुक्तमिति भावः ।

अथैतादृशविप्रयोगजनितदेहपातोत्तर तु बाह्याभ्यन्तरभेदेनेदानीं तु देहस्य लौकिकत्वात्स्थायिभावात्मकभगवद्रसम्बन्धेनान्तःकरणस्यालौकिकत्वाचान्तरेव च भाति परमकाष्ठापन्नं फलत्रयेऽपि मुख्यफलरूपं द्वितीय फलमाहुः 'फलं वे'ति । अत्र विवरणे फलत्रयस्य

सायुज्यत्वेन व्याख्यानाद्द्वितीयं फलं **सायुज्यरूपं वा** भवेत् । अत्र वाशब्दो निक-
स्वार्थः । यद्यतिकृपाविशिष्टमूलाचार्यरूपश्रीमद्वल्लभक्तेङ्गितविशिष्टा प्रभोस्तादृङ्मूलेच्छा
स्यात् । अत्र सायुज्यं शुद्धपुष्टिमार्गीयमेव विवक्षितम्, न त्वन्यत् । शुद्धपुष्टिमार्गीय-
सेवाफलस्यैव निरूपणात् । ननु सायुज्यमेकविधमेव शास्त्रान्तरेषु श्रूयते, न त्वन्यप्रकारक-
मतो न त्वन्यदिति निषेधो नोपपद्यत इति चेत् । अत्र वदामः । द्विविधं तावत्सायुज्यं
स्थूलतया । तत्रैकमभेदसम्बन्धघटितम्, द्वितीयं तु भेदसम्बन्धघटितम् । तत्राद्यं 'ब्रह्म
वेद ब्रह्मैव भवती'त्यादिश्रुतिप्रमाणसिद्धम्, साधारणानुग्रहात् केवलमर्यादारूपमेकविधमेव ।
द्वितीयं तु त्रिविधम् । तत्रैकं 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे'त्यादिगीतावाक्यसिद्धम् । ब्रह्मभावो-
त्तरसामयिकोत्तमाकस्मिककृपाजनितपरमभक्तिलाभजन्यभगवद्दानोत्तरसामयिकभगवत्प्रवेश-
रूपगृहादिप्रवेशवत् । प्रवेशस्य भेद एव सम्भवाद्भेदघटितत्वं ज्ञेयम् । द्वितीयं तु
'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यादिश्रुतिसिद्धम् । ब्रह्मभावोत्तरसामयिकाकस्मिकोत्तमतरकृपाजनितभक्ति-
लाभजन्यभगवत्प्रवेशरूपसायुज्योत्तरं तत्सहभानविशिष्टसर्वकामभोगरूपम् । भोगोत्तरं
स्वस्मिन्प्रवेशश्च मर्यादासंवलितत्वात् । तृतीयं तु 'केवलेन हि भावेने'ति वाक्येन 'न
ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति वाक्येन चात्युत्तमतमकृपया ब्रह्मभाव-
ज्ञानवैराग्यादिनिरपेक्षप्रेमासक्तिव्यसनरूपकेवलभावजनितभगवत्सद्भावविशिष्टसार्वकालिक-
सर्वकामभोगरूपं च । तत्र गीतोक्तप्रवेशरूपसायुज्ये पुरुषोत्तमप्रवेशमात्रमेव फलम्, विशेष-
कृपाऽभावात् । न चाक्षरज्ञानमार्गसायुज्यात् को विशेष इति वाच्यम् । अक्षरज्ञानमार्गे
त्वभेदेन गणितानन्दाक्षरसायुज्यम् । पुरुषोत्तमज्ञानमार्गे तु भेदेनागणितानन्दपुरुषोत्तम-
सायुज्यम्, भेदेनानुभूयमानमिति विशेषस्य जागरूकत्वात् । अत एवाचार्याश्चतुर्थस्कन्ध-
निबन्धे 'सायुज्ये तु रसाधिक्यं भेदेनानुभवात्सत' इत्युक्तवन्तः । किञ्चाक्षरस्य धर्मरूप-
त्वाद्धर्मसायुज्यम् । पुरुषोत्तमस्य तु धर्मित्वादेतत्सायुज्यस्य धर्मिसायुज्यरूपत्वाच्चास्या-
धिक्यस्यैव विशेषरूपत्वाच्च । ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगरूपसायुज्ये तु मर्यादा-
रूपब्रह्मभावोत्तरं सर्वकामभोगस्य मर्यादापुष्टिरूपत्वात् प्रमाणानुरोधिपुरुषोत्तमेन सहो-
त्सर्गतो मर्यादापुष्टिरूपमहिषीसजातीयसर्वकामभोग एव । न तु शुद्धपुष्टिमार्गीयो व्रज-
भक्तसजातीयसर्वकामभोगः । न च 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यत्र ब्रह्मभावोत्तरं सर्वकाम-
भोग एव श्रूयते, न तु परमभक्तिलाभ इति ब्रह्मभावोत्तरसामयिकभक्तिलाभोत्तरं
सर्वकामभोगः कथं भवतोच्यत इति वाच्यम् । 'सह ब्रह्मणे'त्यत्राप्रधानतृतीया-
निर्देशात् । तत्राप्रधानत्वं तु 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विजे'त्यादिप्रमाणैर्भक्त-
विषय एव भगवतो, नान्यविषय इति मध्ये परमभक्तिर्भवतीति तथोक्तत्वात् ।
ननु श्रुतिबलेन ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगेऽपि विनैव भक्तिं परब्रह्मणोऽप्रधानत्व-
मङ्गीक्रियतामिति चेत् ? न । 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहये'दिति वाक्या-

दितिहासपुराणादिषु कुत्रापि भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गे ब्रह्मणोऽप्रधानत्वस्याश्रूयमाणत्वात् । अपरञ्च, यदि ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगो निनैव भक्तिं स्यात्तदा त्वदुक्तं घटेतापि, न तु तथा । यतस्तादृशसर्वकामभोगस्य पुरुषोत्तमज्ञानजन्यभगवत्प्रवेशरूपसायुज्यसाध्यत्वात् । तत्र पुरुषोत्तमज्ञानं च भक्तिसाध्यम् । 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे'त्यारभ्य 'विशते तदनन्तर'मित्यन्तेन ग्रन्थेन भगवता पुष्टिमर्यादामार्गे एवमेव सिद्धान्तितत्वात् । अन्यथा सर्वेषामेव ब्रह्मभावापन्नानां सर्वकामभोगः प्रसज्येत, नियामकाभावात् । अतो ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगस्य भक्तिं विना जायमानत्वाभावादप्रधानत्वं परब्रह्मणो भक्तिकृतमेव, न तु भक्तिं विना कुत्रापीति मदुक्तमेव साधीय इति दिक् । अत एवाख्यातश्यभिया 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति भगवतो भक्तियोगदानाभावः श्रूयते यस्य कस्यचिदिति दिक् । तृतीये सायुज्ये तु वेदमर्यादास्खलनाभावात् प्रमाणातीतस्वरूपेण प्रमाणातीतभक्तानां प्रमाणातीतसर्वकामभोगः । एवञ्च चतुर्विधसायुज्यस्यापि प्रमाणसिद्धत्वेन प्रकृते सायुज्यपदेन भेदघटितसायुज्येषु तृतीयमेव सायुज्य विवक्षितम् । इदमेव च शुद्धपुष्टिमार्गीय सायुज्यमिति । अत्र 'प्राप्नोति सायुज्यं सलोकतामाप्नोती'त्यादिश्रुतिप्रयोगाद्युजिर् योग इति धातो'र्बहुलं छन्दसी'ति बाहुलकात्क्वचे क्विपा युक्शब्दसिद्धिः, ततः सहशब्देन समासः, ततो वोपसर्जनस्येति सहशब्दस्य सादेशः, ततो भावे ष्यञ्प्रत्ययश्च । यद्वा । सद्युनक्तीति सयुक् क्विप्चेतिसूत्रेण कर्तरि क्विप्, सयुजो भावः सायुज्य सद्भाव इति ज्ञेयम् । अत्रेदं तत्त्वम् । कदाचिदतिकृपायां पुरुषोत्तमप्रवेशमात्रलक्षणसायुज्यवतो ब्रह्मभावजनितप्रवेशोत्तर सर्वकामभोगरूपसायुज्ययोग्यतावत्त्वेऽपि शुद्धपुष्टिफलप्राप्तिः केषाञ्चिद्भवति, मुक्तोपसृप्यव्यपदेशादिति न्यायात्, न तु सर्वेषाम् । अन्यथा मार्गभेदकरणवैयर्थ्यापात इत्यवधातव्यम् । नन्वेतादृशशुद्धपुष्टिफलप्राप्तिश्चेत्केषाञ्चिद्भवति तर्हि तत्सायुज्य किमर्थं दत्तमिति चेत् ? स्वस्य स्वतन्त्रेच्छत्वादि ज्ञापयितुमिति गृहाणेति सर्वं चतुरस्रम् ।

अथ यस्मिन् जीवे यादृशी कृपा तस्मिंस्तादृशफलदानौपयिकभावप्राकट्यपूर्वकसेवया तादृग्भगवद्रूपं फलमिति सिद्धान्त, तथा च यस्मिन् व्रजभक्तरङ्गितविशिष्टा भगवत्कृपा देहपातोत्तरक्षण एव साक्षाद्रसगविषयिणी तस्य तु पूर्वोक्तप्रणाल्यैतद्देहे तत्क्षण एव मनसि स्वभावो वैतद्देहपातोत्तर तु वृन्दावनादौ चाविलम्बेन साक्षाद्रसग एव भवति । यस्मिंस्तु देहपातोत्तरक्षण एव न साक्षाद्रसगविषयिणी कृपा, किन्तु विलम्बेन, तस्यापि प्रेमोत्पत्त्यभाव एव वा प्रेमासक्त्यनन्तरमेव भगवदिच्छया वा देहपाते प्राप्तालौकिकदेहे प्रेमाद्यवस्थाविर्भावेन व्यसनाद्यवस्थाविर्भावेन वा विलम्बेन च साक्षाद्रसग एव भवति । यस्मिंस्तु दास्यसख्यत्वाद्यधिकारविषयिणी कृपा तस्य तु तादृग्भावपूर्वकसेवया पूर्वोक्तप्रणाल्यैतद्देहपातोत्तर वृन्दावनादौ दास्यसख्यत्वाद्यधिकारविशिष्टालौकिकदेहप्राप्तिरूप

तृतीय फल भवतीत्याहु **अधिकारो वेति** । सायुज्यरूपफलदानेनाधिकारविशिष्टदेह-प्राप्तिर्वा भवतीत्यर्थ । अत्र **सेवौपयिकदेहो वा वैकुण्ठादिष्विति** विवरणोक्त-वैकुण्ठपदेन 'गोकुल वनवैकुण्ठ'मिति कृष्णोपनिषदुक्ते प्रपञ्चातीतभगवन्निवासस्थान व्यापिवैकुण्ठान्तर्गत वृहद्वन नन्दीश्वर चोच्यते । आदिपदेन श्रीवृन्दावनश्रीमद्गोवर्धनादि च । तत्र सायुज्यरूपफलादानेऽधिकार सेवौपयिकदेहरूपो वाधवा भवतीत्यर्थ । वेकुण्ठा-न्तरस शुद्धपुष्टिमार्गीयफलरूपभगवल्लोकत्वाभावाद् गोकुलस्यैव तादृग्भगवल्लोकत्वाद्वैकुण्ठ-पदेन श्रीगोकुलम्, **आदिपदेन** वृन्दावनादिक चाभिप्रेतमिति बोध्यम् । **अत्रालौकिक सामर्थ्यं** यथावान्तरफलरूपम्, मुख्यफल तु मुख्यसायुज्यमेव, एवमेवाधिकारिदेह-प्राप्तिरूप तृतीय फलमप्यवान्तरफलरूपमेव, मुख्य फल स्वधिकारिदेहद्वारैवात्रापि मुख्य सायुज्यमेव । मदत्ततादृगधिकारिदेहकृत'त्वत्पृष्टप्रियवार्ताकथन च महायज्ञोस्त्वि'त्यादिरूप-प्रियतमसेवामनुष्ठश्रीमद्व्रजभक्तरत्नानुग्रहेणैवेति बुध्यस्व । अत **एवालौकिकस्य दाने हीत्यत्राधिकारो** वेत्यत्र च फलपदाप्रयोग **सायुज्य एव च** फलपदप्रयोगश्च । अनातिरहस्यत्वाच्छ्रीमदाचार्यैरत्र**लौकिकसामर्थ्यसायुज्यवैकुण्ठादिपदानि** परोक्ष वादत्वेनैव प्रयुक्तानीति ज्ञेयम् । ननु यत्र परमुरामशचीपतिविरिञ्चिवदलौकिकसामर्थ्य भोगाधिकारा दृष्टास्तत्र न सर्वदा दृष्टा इति सामर्थ्यभोगत्वाधिकारत्वसामान्यादेतेपामपि नाश स्यादिति न परमफलत्वमेतेपामित्याशङ्क्याहु **न कालोत्र नियामक इति** । अनालौकिकसामर्थ्यभोगाधिकारेषु सर्वोत्तमप्रभुप्रीत्याधायकत्वात् **काल** आधिभौतिक आध्यात्मिक आधिदैविको वा **नियामको न** भवति, भगवन्नियम्यत्वादित्यर्थ । दृश्यते लोकेपि प्रभुदत्तसामर्थ्ये भोगेधिकारे वाधिकारिणो नियामकत्वाभाव । अत एवोक्त सगुणमेव कालाधीनत्वम्, न गुणातीतस्येति 'मन्निष्ठ निर्गुण स्मृत'मित्यादिना प्रभुणै कादशे । तस्मात्तेपा कालाधीनत्वमिति त्रयाणा फलत्व नि प्रत्यूहमित्याशया तावत् ।

यद्वा, **अलौकिकस्यालौकिकविषयसामर्थ्यस्य दाने हि** निश्चयेन जातो य आद्यः शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयात्पूर्वमेवैतन्मार्गीयसत्सङ्गादिनेद प्रथमतयोत्पन्नो **मनोरथः सिध्येत्** सिद्धो भवेदित्यर्थ । स आद्यो मनोरथ क इत्याकाङ्क्षायामाहु **फल वा साधिकारो वेति** । फलरूपो वाधिकाररूपो वा । नात्र सन्देह इति भाव । अत्र फल विषयकोधिकारविषयको मनोरथोपि फलवदधिकारवदेव सुखजनक इति ज्ञापयितु रूप केण निरूपणमिति दिक् । तथा च व्रजभक्तभावसजातीयभावे शुद्धपुष्टिमार्गे भजन कर्तव्यमिति सिद्धान्त सम्पन्न । तत्र व्रजभक्तेषु 'नन्दगोपसुत देवि पतिं मे कुरु ते नम' इति वाक्यादनन्यपूर्वा कुमार्या भगवति पतिभावयुक्ता । अन्तर्गृहगतारूपा अन्यपूर्वास्तु 'जारधर्मेण सुस्नेह सुदृढ सर्वतोधिकम् । मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे'ति वृद्धामनपुराणादथ च 'तमेव परमात्मान जारबुद्ध्यापि सगता, मत्कामा रमण जार

मत्स्वरूपविदोबलाः । अवापुः मां परमं प्रापुः संगाच्छतसहस्रशः' इति दशमस्कन्धीयैकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्येभ्यो भगवत्युपाधिरूपजारभावयुक्ताः । अप्रतिबन्धेन प्रभुसमीपं गता अन्यपूर्वास्तु सर्वभावप्रपत्तिपूर्वकनिरुपधिप्रियत्वभावयुक्ताश्च भगवति । तत्र परकीयायामेव रसस्य परमा काष्ठेति रसशास्त्रसिद्धान्तादनन्यपूर्वाणां नन्दाधीनानां भगवति पतिभावयुक्तानां कुमारीणामथ च निरुपधिप्रियत्वभावयुक्तानां नित्यसिद्धानां जारभावयुक्तानां च श्रुतिरूपाणां चान्यपूर्वाणां परकीयात्वात् परकीयात्वधर्मविशिष्टत्वेनैव परमकाष्ठापन्नरसरूपभगवत्प्राप्तिः । न तु कुमारीणां स्वीयात्वेनान्यपूर्वाणां तु परकीयात्वेनेति भेदः । तथा सति विवाहितानामेव स्वीयात्वात् श्रीभागवते कुमारीभिर्भगवतो विवाह उक्तो भवेत् । अन्यपुराणादिषु मूलमाधवमाहात्म्ये रुक्मिणीविवाहात्पूर्वं कुमारीणां भगवता सम विवाहः श्रुतो यद्यपि तथापि स कल्पान्तरीयांशावताररूपश्रीकृष्णविषयकः । तत्कल्पीयश्रीकृष्णस्वरूपस्यांशत्वात् तस्यापि स्वरूपस्य पूर्णत्वेनैव व्यासचित्तप्रसादो जातः स्यात् । तस्मात्सारस्वतादिकल्पान्यकल्पीयावतारा अंशावतारा एवेति जानीहि । निरूपितं चैतत्सविस्तरं मत्कृतबहिर्मुखमुखमर्दनाख्ये ग्रन्थ इति तत्रैवावलोकनीयम् । ननु यदि भगवति पतिभाव एव कुमारीणां तदा महिषीप्राप्यप्रमाणानुरोधिभगवत्स्वरूपप्राप्तिः स्यान्न तु लोकवेदातीतप्रमाणाननुरोधिस्वरूपप्राप्तिः स्यादथ च तदनुरोधेनाश्रुतोपि विवाहः कल्पनीयः स्यादिति चेत् । अत्र ब्रूमः । 'कात्यायनि महाभागे महायोगिन्यधीश्वरि । नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ।' 'भूयान्नन्दसुतः पति'रितिमन्त्रयोर्नन्दसुत एव पतित्वप्रार्थना भावना च । स श्रीमान्नन्दसुतस्तु व्रजे 'एकादशसमास्तत्र गूढार्चिः सबलोवस'दिति तृतीयस्कन्धीयश्रीमदुद्धववाक्यादेकादशवर्षपर्यन्तमेव स्थितः । तदुत्तरं तु मथुरायामेव गतः । यज्ञोपवीतं च वैश्यानां द्वादशे वर्षे, यज्ञोपवीतं विना च न विवाहः । स विवाहोपि तज्जातीयानामासुरपैशाचगान्धर्वभेदेन त्रिविधः । तत्रापि वैश्यस्यासुरो मुख्यः । तत्र द्रव्यादानादासुरः, छलेन कन्याहरणात्पैशाचः, गान्धर्वस्त्वन्योन्यानुरागेण 'त्वं मे भार्या त्वं मे पति'रितिसमयरूपः । एवं चात्र यज्ञोपवीतकालाभावेन प्रभोर्यज्ञोपवीताभावादेकादशवर्षाभ्यन्तर एव च कुमारीणां भगवत्सम्बन्धात्र कोपि विवाहो नात्र वक्तुं शक्यः । तया च विवाहजनितपतित्वाभावान्न महिषीप्राप्यस्वरूपप्राप्तिर्न वा विवाहकल्पनेति बुध्यस्व । न च 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादाभङ्ग इति वाच्यम् । भगवत्सकाशात् प्रमाणातीतफलप्राप्त्या तासां पतित्वप्रार्थनैव जाता, न तु विवाहजनितपतित्वप्रार्थनेत्युन्नयनात् । अन्यथा 'नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नम' इत्यत्र विवाहोल्लेखोपि कृतः स्यात् । तस्मादन्याधीनतानिवारणार्थं निःशङ्कतया सर्वदा मिलनार्थं च 'स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं समन्ततः पाति भयातुरं जन'मित्युक्तलक्षणपतित्वमेव प्रार्थितं ताभिर्न तु विवाहजनितपतित्वमिति । अत एव प्रमाणातीतायां रासलीलायामेव तासामागाकारणम् । गतश्च

न विवाहितपतिभावना प्रभावत एव च न तासामन्यपूर्वाभिः सह लीलायामीर्ष्यादिकं जातम्। विवाहितपतित्वे सति त्वीर्ष्यादिकं कासाश्चिदपि सर्वदावश्यमुद्भवेदेव, सत्यभामादिवत्। न च 'तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्, यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुंक्तेऽच्युताधर'मित्यत्रेर्ष्या तासामपि श्रूयत एवेति वाच्यम्। नेयमीर्ष्या सहभोगेपि लेकैव भुंक्ते इत्यस्मिन्नंशे ईर्ष्या। तथा च समानशीलव्यसनरूपा सखी भूत्वा प्रियविप्रयोगजनितास्मद्दुःखास्मद्विप्रयोगजनितं दुःखं ज्ञात्वापि यदस्मान् विहाय भुंक्ते तत् क्षोभं जनयतीति सखीत्वप्रयुक्ततत्स्नेहजनितेर्ष्या, न तु सपत्निभावजनितेति निर्णयात्। अत एव 'ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखी'मित्यग्रे तस्यास्तासां च सखीभाव उक्तः। अत एवाग्रे तत्सहभावेन रासलीला, अन्यथा तया सहान्याभिः सह वा रासलीलायामर्यादरसो न स्यात्। तस्मादस्मदुक्ताभिप्राय एवात्र। विवाहितपतिना सपत्नीसहभावकृतलीलायां तु यद्विरीर्ष्यादिभावादर्शनेप्यन्तरीर्ष्यासंवलनं तिष्ठत्येव लोके राजमहिषीणाम्। अत एव वासरदाननियमोपि तत्र, अत्र तु सर्वदा सर्वसंवलितत्वेनैव लीलाकरणादिति महद्वैलक्षण्यमित्यास्तां तावत्प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तया। एवं चैतादृशपतिभावेनानन्यपूर्वाणां कुमारीणां जारभावेनान्तर्गृहगतानां निरुपधिप्रियत्वभावेन च रासमण्डलमण्डनानां च परमकाष्ठापन्नरसरूपभगवत्प्राप्तिः, तथा च 'गोपीभावेन ये भक्ता' इत्यादिपुराणवाक्यात् तादृशभावसजातीयभावेनैवाधुनिकानामपि तादृशभगवत्प्राप्तिरिति सिद्धम्। तत्रायं रसोपरिच्छिन्न इत्यपरिच्छिन्नस्वरूपसर्वभावप्रपत्त्यैकलभ्यः। तत्र जारभावो न सर्वभावप्रपत्तिरूपः कामैकमात्रपूरकत्वेनैव तस्योद्भवात्, परिच्छिन्नस्वरूपत्वात्। अत एव तेन भावेनास्य रसस्य न प्राप्तिरिति तासां प्रतिबन्धोपि जातः। तस्य देहस्य च सगुणभावाश्रयत्वेन सगुणत्वादेव तत्त्यागानन्तरमेव सर्वभावप्रपत्त्या निर्गुणतादृशस्वरूपप्रियप्राप्तिस्तासामजनि, अन्यथा तद्भावस्य सर्वभावप्रपत्तिरूपत्वेन निर्गुणत्वे तच्छरीरस्य च निर्गुणत्वे तेनैव शरीरेण प्रियप्राप्तिः स्याद्रासमण्डलमण्डनानामिव। अत्राधिकपूर्वपक्षसमाधानानि तु फलप्रकरणीयसुबोधिन्यामवलोकनीयानि। तथात्यातिप्रतिकूलद्वेषादिभावेनापि चेत् प्रभुर्योगीन्द्रप्रार्थ्यां मुक्तिं ददाति तदातिप्रेमसंवलितजारभावेन कथं न गुणातीतरसरूपस्वरूपं दद्यात्। परन्त्वेतद्देहपातानन्तरमेव सर्वभावप्रपत्तिमुत्पाद्यैव दास्यति। एतादृशस्वरूपस्य सर्वभावप्रपत्त्यैकलभ्यत्वात्। एवं च सति यद्येतदनन्तरमपि सर्वभावप्रपत्तिरेव भाविनी, तर्हि भगवति सर्वभावप्रपत्तिरेव कार्या, न तु जारभावः। 'प्रक्षालनाद्धि पंकस्ये'ति न्यायात्। यदि कुत्रापि सर्वोपमर्देन जारभाव एवोदेति तदा भगवदिच्छैव तथा, परन्तु सर्वभावप्रपत्तिमुत्पाद्यैव तत्रापि फलं दास्यतीति ज्ञेयम्। न च 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति प्रतिज्ञाविरोध इति वाच्यम्। सर्वभावप्रपत्तिलभ्यप्रभुरूपप्राप्तौ जारभावजन्यकामपूर्तिरूपफलस्याप्यन्तर्भूतत्वात् प्रतिज्ञाविरोधाभावात्, तस्माज्जारभावेन भगवद्भजनं न कर्तव्यमेव।

अत एव सर्वभावप्रपत्तिसहितानां रासमण्डलमण्डनानामपि कामपूर्तिरूपफलमपि दत्तं प्रभुणा, अन्यथा तन्न दत्तं स्यात्, ततो ज्ञायते सर्वभावप्रपत्तिलभ्ये फले तदप्यन्तर्भूतमिति । न च पतिभावेपि न सर्वभावप्रपत्तिः, पतित्वभावस्यापि परिच्छिन्नत्वादिति शंकनीयम् । पतिव्रतानां पत्यौ भगवदाज्ञानपूर्वकभजनस्य विहितत्वात् सर्वत्र सर्वदा सर्वसमयेषु च मम पतिरेव गतिरिति सर्वभावप्रपत्तेः सत्त्वात् । एवं च सति यत्र विवाहिते लौकिकेपीयं रीतिस्तत्रालौकिके साक्षाद्भगवति पतिभावे सर्वभावप्रपत्तिरिति किं वक्तव्यमिति । न च तर्हि महिषीणां कुतो न सर्वभावप्रपत्तिजनितं फलं जातमिति वाच्यम् । विवाहरूपसंस्कारस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वादिति दिक् । तथा चानन्यपूर्वकुमार्यभिप्रेतकुमारीसजातीयपतिभावेनान्यपूर्वव्रजसीमन्तिनीनिष्ठनिरुपधिप्रियत्वभावेन वा भजनं कर्तव्यमिति निष्कर्षः । तत्रेदं भजनं श्रीमद्व्रजभक्तभजनोपेक्षया स्वातन्त्र्येण न कर्तव्यम्, यत एतादृग्भावेन भजने 'मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् । जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति मर्मणी'त्यादि पुराणेऽर्जुनं प्रति भगवता स्वसपर्यां गोपिका एव जानन्तीत्युक्तत्वाद्व्रजभक्ता एव गुरवः । तथा च तत्समकक्षतया स्वातन्त्र्येण भजने गुरुहेलनरूपापराधः प्रसज्येत । तथा च भगवान् फलं न दद्या'दाचार्यं मां विजानीया'दिति वाक्यात् । किञ्च, 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः । या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलां संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुने'त्यादिफलप्रकरणीयप्रभुवाक्यादयं प्रभुरेतदधीन एव सर्वदा क्रीतजनवन्न स्वन्याधीनः, अतोपि न तदुपेक्षया भजने फलप्राप्तिः । न च 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज । साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः । नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना । श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा । ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे । मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः । वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथे'त्यादिनाम्बरीषादिभक्ताधीनत्वमपि श्रूयते, न त्वम्बरीषादेरेतत्स्वरूपप्राप्तिरिति वाच्यम् । 'भक्तिभेदो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते । स्वभावगुणभेदेन पुंसां भावो विभिद्यत' इतिवाक्याद्भक्तिमार्गोनेकविधः, तेषु च भक्तिभेदेष्वेतासां भक्तिरत्युत्तमा, परमकाष्ठापन्नस्वरूपलाभात् । अत एव'नैताः परं तनुभृतो ननु गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः । वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य' । अनैता गोपवधूः परमतिशयेन तनुभृत इत्यनेनान्ये भक्ता अतिशयेन तनुभृतो न भवन्तीत्युच्यते । नन्वत्र किं कारणमित्याकांक्षायामाहुः गोविन्द एवेति । गोविन्द एव निरूढभावाः, न त्वन्यस्मिन् । निरूढः वक्तुमशक्यो भावो यासां ताः । यथा निरूढशब्दे व्युत्पत्तिर्न कर्तव्या तादृगर्थभावात्तथैतासां भावेपीति भावः । गोगोकुलेन्द्रवाचकेन गोविन्दपदेन च धर्मिमात्रपरता तासां निरूपिता । नन्वन्यभावभक्ता अपि महिष्यादयो धर्मिपरा एवेत्याशंकायामाह निखिलात्मनीति ।

निखिलानामन्येषां धर्मिणा धर्माणामप्यात्मा मूलरूपधर्मीत्यर्थ । तादृशत्व श्रीयशोदा-नन्दने श्रीकृष्ण एव, 'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मना'मिति वाक्यात् । तथा चान्ये धर्मिपरा अपि न निखिलात्मस्वरूपश्रीकृष्णरूपधर्मिपरा इति भाव । नन्वेव किमित्यय भाव स्तूयते, भिन्नरुचिर्हि लोक इति न्यायाद्यस्य यद्रोचते स तमेव भाव तमेव स्वरूपं च सर्वोत्कृष्ट जानातीति चेत्तनाह वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनय इति । पूर्वं ससार-भयेन मुनय· मननशीला भूत्वा प्राप्तज्ञाना निवृत्ताविद्या शुकादयोपि यद्यस्मात्कारणात् वाञ्छन्ति य भावम् । तथा च येन नि शेषाविद्याभानवन्तस्त एवान्यप्रकारक भावमन्यप्रकारक भगवत्स्वरूप च सर्वोत्कृष्टत्वेन परमकाष्ठापन्न जानन्तीति भाव । किञ्च, वयमपि वैश्या पेक्षयोत्कृष्टा क्षत्रिया लौकिका अपि वाञ्छाम । यतोनुभावदर्शन विना नोत्कृष्ट मन्यते कोपि कमपि । तस्मादत्र लौकिकालौकिकाना वाञ्छास्वभावस्तत्स्वरूपमेव तदासक्ताश्च सर्वोपरि विराजमाना इति किं वाच्यमेतत्भावस्यैतत्स्वरूपस्य तन्निष्ठानामासा सर्वाधिकत्व इति निगर्व । अत कारणादनन्ता कथा यस्यासावनन्तकथ श्रीकृष्णस्तस्मिन् यो रसोद्बोधाभानवान् तस्य ब्रह्मजन्मभि सहस्रमुखचतुर्मुखादिजन्मभि किम् ? न किमपी त्यर्थ । यद्वा, जन्मभि पुन पुनर्जन्मभिरनन्तकथारसस्य तस्य किं ब्रह्म अक्षरस्वरूपम् ? न किमपि । नैषा मनसि ब्रह्मस्वरूपमप्रयोजक भासत इत्यर्थ । तथा चानन्तकथारस-निष्ठत्वे जन्मैव वरम्, न तु मुक्तिरिति । तथा चैतन्मार्ग एतासामेव गुरुत्वेनान्यस्वरूपस्या न्याधीनत्वेप्येतासा भावस्य सर्वोत्तमत्वात् परमकाष्ठापन्नरसरूपभगवत्स्वरूपमेतदधीन मेवेत्यपि विचार्यासामेवातिदैन्येन दास्यकरणे तत्स्वरूपप्राप्तिस्तदनुग्रहेण, न तु स्वातन्त्र्ये णेति ज्ञेयम् । अपर च 'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्या वृन्दावने किमपि गुल्मलतौ-षधीनाम् । या दुस्त्यज स्वजनमार्यपथ च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवी श्रुतिभिर्विमृग्याम्', 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणा पादरेणुमभीक्ष्णश । यासा हरिकथोद्गीत पुनाति भुवनत्रय'मित्या दिना व्रजभक्ता स्वजनस्यार्यपथस्य च परमकाष्ठापन्नस्य त्यागेन मुकुन्दस्य मोक्षदातुरपि पदवी येन मार्गेण भगवान् गच्छति त मार्गमेव तच्चरणरेणुसवलित भेजुर्न तु मुक्तिम् । तथा च मुक्त्यपेक्षयापि भगवच्चरणरेणुरेव सर्वोत्कृष्ट इति सिद्धम् । एव चैतादृक्चरणरेणोरेता दृशानुभावज्ञापने व्रजसीमन्तिन्य एव गुरव इत्येतासामनुवृत्त्यैव भगवच्चरणरेणुप्राप्तिरिति श्रीव्रजभक्तचरणरेणुसम्बन्धि गुल्मलतौषधिजन्मापि प्रार्थितमतिदीनतया श्रीमदुद्धवैर्वन्दन च तच्चरणरेणोरेव च कृतमन्यथा गुर्ववज्ञाकृतघताजनितापराधेन न भगवच्चरणरेणुप्राप्ति-र्नितरां प्राप्तिर्नैवैतादृशभगवत्प्राप्तिर्नो- रिति दिक् । तस्मादेतासा गुरुत्वादेतदधीनत्वाच्च तच्चरणरेणुदास्येनैवैतादृशभगवत्प्राप्तिर्ना-न्यथेति नि श्चयूहम् ।

स्यादेतत् । अथ सर्वापि यत्नो रसरूपप्रभुस्वरूपफलप्राप्त्यर्थमेव । 'रसो वै स, रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवती'ति श्रुत्या रसरूपभगवत्प्राप्तेरेव परमफलत्वात् । सा —

प्राप्ति'स्तेनैव सर्वभावेन परमानन्दमश्नुते' इति नादबिन्दूपनिषच्छ्रुत्या 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति तैत्तिरीयोपनिषच्छ्रुतेश्च सर्वभावप्रपत्तिलभ्यसर्वकामभोगरूपा। स च पूर्णसर्वकामभोगोपि तेषां व्रजसीमन्तिनीसदृशभावेनैव, नान्यभक्तभावसजातीयभावेन। एतदतिरिक्तस्थले प्रभुरूपेणैव, न तु पूर्णस्वरूपेणेति। तथा च तत्कामनया भजने क्रियमाणे व्रजसीमन्तिनीदासत्वकरणेपि मनसि तत्समताभावनासत्त्वात् कापट्यसिद्धौ तासां गुरुरूपत्वेन सकपटभजने फलसिद्धेरभावस्तत्समकक्षता च स्यादिति चेत्, अत्र ब्रूमः। परमकाष्ठापन्नरसस्वरूपो भगवान् हि लोकेतिरहस्यतमां पुष्टिलीलां यत् प्रकटितवान् तत्किमर्थमिति पृच्छामः। न च 'आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते। कल्पे सारस्वते प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ। पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले। वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान् वो रासमण्डले। जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोधिकम्। मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे'ति बृहद्वामनपुराणोक्ते श्रुतीनामनुग्रहार्थमिति वाच्यम्। अनुग्रहस्य श्रुतिनिमित्तप्रदर्शितप्रकृत्यतीतलोकेपि कर्तुं शक्यत्वात्। न च 'पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्। ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूतास्तु गोकुले। हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवादि'ति। 'अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे। भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम्। कृष्णस्य रमणार्थं हि सहस्राणि च षोडश। गोप्यो रूपाणि चक्रुश्च तनाक्रीडन्त केशव'मित्यादि पद्मपुराणोत्तरखण्डमहाकौर्मादिवाराहपुराणादिवचनविद्धदण्डकारण्यवास्तव्यमहर्षीणामनुग्रहार्थमित्यपि वाच्यम्। दण्डकारण्यस्थमहर्षीणामपि तत्रैव स्त्रीदेहं सम्पाद्य रामरूपेणैव न रमणं कृतम्, किन्तु तद्देहपातानन्तरं स्त्रीदेहं सम्पाद्य ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिवृन्दावन एव श्रीकृष्णरूपेणैव रमणं कृतम्। एवं च तद्देहपातानन्तरमलौकिकदेहं सम्पाद्य श्रुतिप्रदर्शितवृन्दावन एव कुतो नानुग्रहं कृतवानिति प्रश्ने तवोत्तराभावात्, न च स्वतत्रेच्छो भगवानिति वाच्यम्। 'अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः। भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेदि'ति फलप्रकरणीयवाक्याद्भक्तानुग्रहार्थमेवैतादृशलीलाविशिष्टप्रभुप्राकट्यात्। प्रपञ्चे निःप्रयोजनकप्राकट्यस्याशुक्तत्वाच्च। न चानुग्रहं विना नैतादृशफलप्राप्तिरित्यनुग्रहेण प्रापञ्चिकजीवानामप्येतद्देहपातोत्तरं तादृशफलदानं तत्रैव स्थित्वा कुतो न करोतीति वाच्यम्। भगवान् हि रसरूपस्वरूपः प्रापञ्चिकजीवानामपि केषाञ्चिदातु विचारितानां स्वमुख्यभक्तेच्छापूर्वकस्वेच्छया। तत्र रसरूपभगवत्प्राप्तिस्तु रसरूपभावेनैव योग्या, नान्यादृशभावेन, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति वाक्यात्। तत्र रसरूपभावस्वरूपं साधनं वेदादिषु कुत्रापि नोक्तमतः प्रपञ्चे वृन्दावनं रसरूपस्वस्वरूपं रसरूपं परिकरं च तत्प्राप्त्यनुगुणं रसरूपं साधनं च प्रकट्य कृत्वा तादृशसाधनेन तादृशस्वरूपप्राप्तिं महर्ष्यादीनां कृतवान् प्रभुः, तदनन्तरं तादृशसाधनस्याविर्भावादतिभाग्यवतां जीवानां तदनुष्ठाने तत्स्वरूप-

प्राप्तेर्नि·प्रत्यूहत्वमिति तथाकरणाभावात् । न च रसरूपभावमनादत्यानुग्रहेणैव कुतो न तादृक्फलदानमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रेच्छेन भगवतैव 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मित्युक्तत्वात् तादृक्प्रतिपत्तिं विना तादृशानुग्रहाभावात् तादृशफलदानाभावात् प्रपत्तेरपि तन्नैव दानेन प्राकट्यवैयर्थ्यमिति पूर्वमेवोक्तम् । न च 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति मुण्डकोपनिषद्वाक्याद् विनापि साधनं भगवत्प्राप्तिरिति वाच्यम् । एतद्वाक्यानुपदोक्त 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो, न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्, एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधामे'तिवाक्य 'एतैरुपायैर्यतत' इत्युक्ते पूर्ववाक्येन मर्यादाङ्गसाधनमात्रनिषेध एव, न तु एतैर्मन्मनसि स्थितैरुपायैर्व्रजभक्तसजातीयभावादिभि यः कश्चन यतते तस्य भगवद्वशीकारकसर्वात्मभावरूपबललाभादेष आत्मा ब्रह्मरूपं हृदये प्रकटं धाम विशते प्रविष्टो भवतीत्यर्थात्र मर्यादातीतसाधननिषेध इति स्वदुक्तेरनवकाशात् । अन्यथा फलत्वव्याहतिः । यत्किञ्चित्साधनसाध्यस्यैव फलत्वात् । तस्मादतिभाग्यवतरां जीवानामेतादृशसाधनेनैवैतादृशफलप्राप्त्यर्थमेतादृशोऽवतार इति । एवं च व्रजभक्तसमानभावेनाभजने तत्फलप्राप्ते· कस्याप्यभावादेतादृशमार्गप्राकट्यवैयर्थ्यापात· स्यात् । अत एव 'स्त्रियो वा पुरुषो वापि भर्तृभावेन केशवम् । हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशय' इति वृद्धवामनपुराणे । 'येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा सुहृदो दैवमिष्ट'मित्यादिना श्रीभागवते चोक्तम् । अन्यथैतादृग्वाक्यं व्यर्थं स्यात् । तस्माद्व्रजभक्तसजातीयभावेनैव भजनं कर्तव्यम् । परन्तु व्रजभक्तदास्यपूर्वकमेव, न तु स्वातन्त्र्येण, व्रजभक्तानामेतन्मार्गगुरुत्वात्प्रभोस्तदधीनत्वाच्चेति निष्कर्ष इति सर्वं समञ्जसम् । न च प्रभोर्व्रजभक्ताधीनत्वेन तद्दास्यकरणेऽपि यदि ता प्रतिबन्धं कुर्युः प्रभो स्वस्वरूपदाने स्त्रीस्वभावसिद्धप्रचुरैर्ष्यया तदा कथमेतादृशफलप्राप्तिरिति वाच्यम् । रसरूपप्रभोरेव फलत्वात् रसस्य च विभावानुभावव्यभिचारिसमूहरूपत्वात् तत्र विभावत्वेन व्रजभक्तानां रसरूपप्रभुत्वात् तेषामप्यनुमत्यैवैतादृग्मार्गप्राकट्यस्य जातत्वेन तत्कृतेर्ष्यया प्रतिबन्धाभावात् । किञ्च, यत्रैव लौकिको नायकोऽनेकनायिकानामेककालावच्छेदेन रसदानं कर्तुं न शक्नोति तत्रैवेर्ष्यापि सम्भवति । अत्र तु प्रभोरलौकिकत्वात् 'कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषित । रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलये'त्यनेनानन्तरूपैर्न सर्वेषां रसदानकरणसमर्थत्वात् केर्ष्यावकाश , यत्र सर्वैरेव सर्वानुभवनीय एव प्रभुः सर्वदा विराजते । ननु प्रभू रसरूपस्तदन्तर्गताश्च व्रजभक्ता विभावत्वेनास्मदादिप्रपत्तिश्च व्रजभक्तदास्यविशिष्टभगवद्विषयक सर्वात्मभावेन । एवं च भगवद्रूपरसानुभवं सिद्धे सत्यस्मयं तासां दास्यं व्यास्यति । न च तदुत्तरमेतासां दास्यं मास्त्विति शङ्कनीयम् । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति मर्यादाभावापत्तेरिति चेन्न, अलौकिकरससम्भोगानुकूलसामर्थ्यस्य याभ्यां रसरूपभगवद्भोगस्य व्रजभक्तदास

भोगस्य चैककालावच्छेदेनैव सम्भवेन 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति मर्यादाया अभंगात् । न 'चाचार्यं मां विजानीयाद्'इत्यनेनाचार्यस्य भगवत्त्वेन तद्दास्यपूर्वकमेव जीवैर्भगवद्दास्यं क्रियते साधनदशायाम्, फलदशायां तु भगवद्दास्यमेव तिष्ठति, न त्वाचार्यदास्यम्, तत्र क्वेयं मर्यादा, तथात्रापि भविष्यतीति वाच्यम् । सर्वेषां भगवद्रूपाणां नित्यत्वेनाचार्यरूपस्य भगवद्रसानुगुणभगवल्लीलान्तर्गतत्वात् स्वरूपस्य चालौकिकसामर्थ्येन तद्दास्यकरणस्यापि सम्भवात् । एवमेव सर्वभावप्रपत्त्या भजनमिति प्रभुदत्तालौकिकविषयकसामर्थ्येन सर्वविधलीलास्वप्येतस्य भजनकर्तुः सान्निध्यं सिद्धम् । किं बहुनांशावतारादिलीलायामप्यंशेनैव च भक्तोपि तत्तल्लीलानुभवं करोतीति न कस्यामपि लीलायामेतादृशभक्तासहभावो भगवतः । न चैवं श्रीनारायणादिभक्तस्यापि श्रीनारायणे सर्वभावप्रपत्तेः सत्त्वात् सर्वत्र तत्सहभावप्राप्तौ पुरुषोत्तमसहभावोपि स्यादिति वाच्यम् । 'ये यथा मा'मितिपद्ये मामिति पदेन पुरुषोत्तमस्वेनांगुल्या स्वस्वरूपप्रदर्शनपूर्वकमुक्तत्वादेतस्याः प्रतिज्ञायाः पूर्णपुरुषोत्तममात्रसम्बन्धित्वात्, अन्यथा दण्डकारण्यस्थर्षीणामपि तेनैव स्वरूपेण रसदानं कृतं स्यात् कोसलेन्द्रकुमारेण । किञ्चैतस्याः प्रतिज्ञायाः सर्वभगवत्स्वरूपसम्बन्धित्वे पूर्णत्वांशत्वादिविभागोपि न स्यात् । न चेष्टापत्तिः, तदान्यस्वरूपाणामंशरूपश्रीकृष्णस्वरूपाणामपि श्रीमता व्यासेनोक्तत्वेन चित्ताप्रसादो न स्यादिति सर्वमनवद्यम् । एवञ्चैकभक्तसम्बन्धिन्या अपि लीलाया न परिच्छेदस्तर्हि सर्वभक्तसम्बन्धिन्या लीलायाः परिच्छेदः केन कर्तुं शक्यतेति किं वाङ्मनसागोचरमाहात्म्येषु प्रभुतत्परिकरतद्भक्तेषु विचारचातुर्येण । किञ्च 'त्रैलोक्ये भगवद्भक्ताः के त्वां जानन्ति मर्मणि । केषु वा त्वं सदायत्तः केषु प्रेम तवातुलमि'ति श्रीमदर्जुनेन पृष्टे भगवानुवाच 'न तथा मे प्रियतमो ब्रह्मा रुद्रश्च पार्थिव । न च लक्ष्मीर्न चात्मा च यथा गोपीजनो मम । भक्ता ममानुरक्ताश्च कति सन्ति न भूतले । किन्तु गोपीजनः प्राणाधिकप्रियतमो मम । न मां जानन्ति मुनयो योगिनश्च परन्तप । न च रुद्रादयो देवा यथा गोप्यो विदन्ति माम् । न तपोभिर्न वेदैश्च नाचारैर्न च विद्यया । वशोस्मि केवलं प्रेम्णा प्रमाणं तत्र गोपिकाः । मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् । जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति मर्मणि । निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते । ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम् । मम भक्तास्तु ये पार्थ न मे भक्तास्तु ते मताः । मम भक्तस्य ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मता' इत्यादिपुराणप्रघट्टकान्मद्भक्तपूजाभ्यधिकेति श्रीभागवताद्व्रजभक्तानां भक्तशिरोभूषणत्वात् प्रभोरतिप्रियत्वाचापि एतासां दास्यं कर्तव्यम् । एवञ्च सति एतद्दास्यकरणे प्रभोरत्यानन्दाविर्भावेन तासामत्यानन्दाविर्भावान्मनसि सन्तोषेण तदनुग्रहात् तत्पूर्वोक्तं फलं भगवान् ददातीत्यपि तद्दास्यकरणम् । तथा चैतासां गुरुत्वात् प्रभोरेतदधीनत्वाद्भक्तशिरोभूषणत्वादतिप्रियत्वाच्च सर्वथैतद्दास्यकरणपूर्वकमेव प्रभुदास्यकरणमिति सिद्धम् ।

अथ श्रीमत्स्वामिन्यादीनां सर्वासां समतयैव दास्यं कर्तव्यमथवा न्यूनाधिकभावेनेति पृच्छसि चेत् । अत्रोच्यते । 'यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा । सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभे'ति पद्मपुराणवचनात् । अथ च 'त्रैलोक्ये पृथिवी धन्या तत्र वृन्दावनं पुनः । तत्रापि गोपिकाः पार्थ तत्र राधाभिधा मम'त्यादिपुराणवचनात् । 'सर्वश्रेष्ठा गान्धर्व्युवाचे'ति गोपालतापिन्युपनिषच्छ्रुतेश्च गान्धर्व्यपरनामिकायां श्रीस्वामिन्यामेव सर्वापेक्षया भगवतो ममतातिशयात् तत्रैव निजदास्यं मुख्यतया स्थापयित्वाऽन्यासु व्रजसीमन्तिनीषु 'मोहितां दुःखितां सखीमि'त्यादिना सखीत्वोक्तेः सख्याश्च समानशीलव्यसनवत्त्वात् तासां स्वामिनीसमानशीलव्यसनवत्त्वात् तासां श्रीमत्स्वामिन्या अतिप्रियतमानां दास्यमपि स्वामिन्यनुग्रहाकांक्षया स्वामिनीदास्यांगत्वेन स्वामिनीवदेव कर्तव्यम् । तासां समानशीलसखीत्वात्तद्दास्यकरणे श्रीस्वामिन्यत्यन्तमनुगृह्णाति । स्वामिन्यनुग्रहे च ता अनुगृह्णन्ति । तदनुग्रहे च व्रजराजकिशोरानुग्रह इति न कदापि कुत्रापि केनाप्यंशेन फलविच्छेदः । अत एव कैश्चिद्भगवदीयैः सिद्धान्तितं श्रीमच्चन्द्रावल्यादिषु स्वामिनीप्रतिपक्षात्वमपि न सम्भवति, सखित्वोक्तिविरोधात् । अत एव 'यदैव श्रीराधे मिलति रहसि त्वां मधुपतिस्तदैवाकार्याहं निजचरणदास्येतिगदिता । मुदा चन्द्रावल्ये'ति पद्ये अस्मत्प्रभुभिः सखीत्वमेव स्फुटीकृतम्, न तु प्रतिपक्षात्वम् । अत एवास्मत्सर्वस्वायिताः प्रभुचरणाः श्रीमत्स्वामिन्यष्टकतद्द्वादशकपद्यपद्यादौ तद्दास्यमेव सविस्तरं प्रार्थयन्तो 'यावन्ति पदपद्मानी'त्यादिनाऽन्यासामपि दास्यं प्रार्थितवन्तः । अन्यथा श्रीस्वामिन्या इवान्यासामपि पृथक्तया दास्यं प्रार्थयेयुर्न तु तद्दास्यप्रार्थनाप्रसंगे । सर्वासामपि समप्राधान्यात् । तस्मादन्यासां दास्यमंगत्वेनैवेत्यस्मद्गुरूणा एव पन्थाः । ननु एवं चेत् सर्वास्वपि सखीत्वं तदा रसान्तर्गतमानखण्डिताकलहान्तरितादिलीला नोपपद्येतेति चेत्, अत्र वदामः । हृदयादिस्थिताभरणमणिगणप्रतिबिम्बितदृष्टनिजरूपे प्रतिनायिकाभ्रमात् संकेतस्थलानागमनाद्वा मानोदयात् । एवमेव वन्यविशेषाकस्मिकललाटसंक्रान्तस्वचरणतललाक्षारसे सुरतसमयसमुद्भूतनिजदन्तनखक्षतादिषु च कदाचिदतिविस्मरणेन रासस्थनिखिलव्रजभक्तातिरिक्तपरकीयाकृतत्वभ्रान्त्या मानखण्डिताकलहान्तरितादिलीलानां सम्भवात् । न च लाक्षारसदन्तनखक्षतादिषु स्वयूथकृतत्वभ्रान्तिरेव कुतो न जायत इति वाच्यम् । तथा भ्रान्ततायामपि तासु परस्परं दृढतरसखीत्वजनितातिप्रेम्णा ईर्ष्यानुदयेन तथालीलासम्भवात् । किञ्च 'योगमायामुपाश्रित' इत्यनेन रसलीलायां योगमायामाश्रितो भगवान् । एवञ्च योगमाया यथा यथा येषां येषां पदार्थानामुपयोगो रसलीलायाम्, तथा तथा करोतीति परकीयासम्भोगादिदर्शनजमानादिरसानुभवार्थं परकीयासम्भोगादि प्रदर्श्य मानादिरसानुभवं कारयतीत्यनेनापि प्रकारेण मानादिलीलानां सम्भवाच्च । यदि चात्यन्तमाग्रहो भवतां यच्चन्द्रावल्यादिसम्भोगदर्शनेन मानादिरेताभ्येव च प्रतिपक्षात्वं तदा तत्सर्वं कल्पान्तरीयांश-

रूपकृष्णावतारीयरमलीलायामेव, न सारस्वतकल्पीयपूर्णावतारसम्बन्धिरमलीलायामिति बुध्यताम् । यदि सारस्वतकल्पे भवदुक्तप्रकारः स्यात्तदा श्रीभागवते स्फुटमुपलभ्येत । उपलभ्यते तु सखीत्वमेव परस्परं फलप्रकरण इति सर्वं चतुरस्रमिति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तया । अत्रेदं ज्ञेयम् । अत्र फलत्रये फलद्वयमेतद्देहेऽपि भवति परन्तु मनसैव स्वरूपभगवत्सम्बन्धेन मनसोऽलौकिकत्वाभावात् । सेवौपयिकदेहरूपतृतीयं फलं त्वेतद्देहपातोत्तर एव भवति सर्वथा । सर्वत्र लौकिकदेहपातोत्तर एवालौकिकदेहसम्बन्धसम्भवादिति दिक् ॥ १॥ ॥

अथ प्रकृतमनुसरामः । ननु साधके सति कार्यानुदयाद्बाधकाभावस्य सर्वत्र कारणत्वेऽत्र यद्बाधकं तनुजवित्तजरूपसाधनसेवायाम्, तद्वक्तव्यम्, यदभावं सम्पाद्य मानससेवारूपं तत्कार्यं सम्पाद्यतामित्याकांक्षायां तनुजवित्तजरूपसाधनसेवाबाधकमाहुः उद्वेगः प्रतिबन्धो वेति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

एतस्य विवरणं तु सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् । **उद्वेगो वा प्रतिबन्धो वा भोगो वा । त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य** इत्यन्तम् । तत्र तनुजवित्तजरूपसाधनसेवायां येन क्रियमाणेन उद्वेगप्रतिबन्धभोगा भवन्ति तस्य परित्यागः कर्तव्यः । तत्परित्यागे तत्साध्योद्वेगाद्यनुदयात्तनुजवित्तजरूपसाधनसेवासम्पत्तौ सत्यां मानससेवासिद्धिर्भवतीति भावः । तत्रोद्वेगः शोकदुःखादिजनितो भवति, तेषु शोकादिषु जातेषु 'चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत् करिष्यति तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजे'दिति नवरत्नोक्तेर्भगवल्लीला यथा सर्वा तथेयमप्येका भगवल्लीला भगवतः सुखाधायिकेति ज्ञात्वा शोकादित्यागः कर्तव्यो, न तु शोकादिदूरीकरणार्थं यत्नः कर्तव्य इति । अन्यथा यद्यपि भविष्यति तदेव यत्प्रभुणा विचारितमस्त्यतः तस्य स्वरूपेण विघटनं तु न कर्तुं शक्यम्, तथापि प्रभुसुखाधायकलीलातदर्थविघटनेच्छायामपि स्वामिद्रोहो भवेदतः प्रभिवेच्छां ज्ञात्वा तादृशशोकदुःखादिकेषु सत्स्वपि सत्सूद्वेगकारणाभावादुद्वेगाभावस्य जायमानत्वादुद्वेगसाधनपरित्यागः कर्तव्यः । यद्वा, बलिष्ठम्लेच्छबलिष्ठवैदिकाद्यजनितोपद्रवेण साधनरूपसेवायामुद्वेगो भवति तदभावाय तत्सान्निध्यरूपसाधनपरित्यागः कर्तव्य इत्येतदर्थं साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तम् ॥ २ ॥

तत्रोद्वेगकारणानामनन्तत्वात्तज्जन्योद्वेगानामप्यनन्तत्वात् परिगणना कर्तुमशक्येति सर्वविधमप्युद्वेगमुद्वेगत्वेनैकविधमेव निरूप्य द्वितीयं प्रतिबन्धरूपं तनुजवित्तजसेवायां बाधकमाहुः **अकर्तव्यमिति** ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

एतस विवरण तु **प्रतिबन्धोपि द्विविधः, साधारणो भगवत्कृतश्च,**
तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्य । भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं
न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदान्यसेवापि व्यर्था । तदासुरोयं जीव
इति निर्धारः । तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेति विवेक
इत्यन्तम् । अत्र **भगवतः सर्वथा चेदकर्तव्यं** भगवत्कृतप्रतिबन्ध इति यावत्, तदा
गतिः तदभावसम्पादकसाधन किमपि नास्तीति मूलार्थ । अत्र **उद्वेगः प्रतिबन्धो**
वा भोगो वा स्यात्तु बाधकमित्यनेन पूर्व सेवाया बाधकत्रय यदुक्त तत्तु तत्त्रया-
भावसम्पादनार्थमेव । अत एव त्रयाणा साधने त्यक्ते तदभाव सम्पद्यत इति त्रयाणा
साधनपरित्याग कर्तव्य इति निवृतौ स्फुटीकृतम् । न च बाधकत्रयत्याग एव कुतो
नोक्त, तत्साधनपरित्याग किमर्थमुक्त इति वाच्यम् । जाते उद्वेगे जाते च प्रतिबन्धे जाते
च भोगे सेवाभावस्तत्समयावच्छेदेन सिद्ध एव जाते तत्त्याग कर्तुमशक्योप्युत्तरसमये
तन्नाशोपि स्वयमेव भविष्यतीति व्यर्थस्तत्परित्याग कर्तव्य इति पुरुषप्रयत्नोपदेश इति
मनसिकृत्य सेवाविषये बाधकत्रय न यथोत्पद्यत एव तथा कर्तव्य पुरुषेणेत्येतदर्थ त्रयाणा
साधनपरित्याग कर्तव्य इत्युक्तत्वात् । एव च सति **अकर्तव्य भगवत सर्वथा**
चेद्गतिर्नेति इत्यनेन भगवत्कृतप्रतिबन्धाभावसम्पादनार्थ गतिर्नास्तीत्युक्तत्वादन्यकृतप्रति
बन्धाभावसम्पादने गतिरस्तीत्यर्थत सिद्धत्वाद्द्विविध प्रतिबन्धकमागतमेवेति कण्ठरवेण
मूलेनुक्त्वा विवरणे प्रतिबन्धकरूपसेवाबाधकद्वैविध्यमाहु **प्रतिबन्धोपि द्विविधः ।**
साधारणो भगवत्कृतश्चेति । तत्र भगवत्कृतप्रतिबन्धाभाव सम्पादयितुमशक्य,
साधारणस्तु शक्य इति विवरणे आहु **तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्य** इति । तत्र प्रति
बन्धकरूपसेवाबाधकभेदद्वये **आद्यः साधारण** प्रतिबन्धो भगवद्विमुखभार्यादिकृत
प्रतिबन्धस्तत्र साधनपरित्यागस्योक्तत्वात् तत्साधनरूपो यो भार्यादि स त्याज्यस्त्यक्तु
शक्य । तत्त्यागेन प्रतिबन्धाभावरूपबाधकाभाव सम्पादयितु शक्य इत्यर्थो ज्ञेय ।
अत एवोक्त 'भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वय कुर्यात् प्रति-
कूले गृह त्यजे'दिति भागवततत्त्वदीपे ।

अथ भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तु न केनापि त्यक्तु शक्य इत्याहु **भगवत्कृतश्चेत्**
प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फल न दास्यतीति मन्तव्यमिति विवरणे अर्थ
स्पष्ट । ननु भगवत्कृत प्रतिबन्ध कस्य फलाभावसम्पादक ? किं कायवाङ्मनोभिर्भजन
कुर्वत पुरुषस्याहोस्विद्भजनेच्छावतो वा ? तत्र नाद्य । 'इति निश्चित्य मनसा कृष्ण
परिचरेत्सदे'ति भागवततत्त्वदीपकारिकाव्याख्याने 'एकापि सकृत्कृता परिचर्या परम
पुरुषार्थदेति । पर विद्यमानदेहस्य नि कृत्यर्थ सदा परिचरे'दित्याचार्यै सिद्धान्तितत्वात्
किञ्चित्कालिकभजनोत्तर यावज्जीव कयाचिद्भगवदिच्छया भगवत्कृतसेवाप्रतिबन्धेपि परम

पुरुषार्थलाभस्य सिद्धत्वादत्र भगवान् फलं न दास्यतीति निषेधस्य विरुद्धत्वात् । अत एव 'न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपी'ति एकादशस्कन्धीयप्रभुवचनं 'यानास्थाये'ति वचनं 'सकृदिष्टादिपुरुषं पुरुषो याति साम्यतां संवत्सरं किञ्चिदूनं दिला यद्धरिरर्चित' इति षष्ठस्कन्धीयाष्टाध्यायीयशुकवचनं च । न द्वितीयः, विना भगवत्कृपां भजनेच्छानुदयात्, तदुदये च भजनस्य भविष्यत्त्वनिश्चयेनापि निषेधस्य वैयर्थ्यापातात् । तथाचायं निषेधो भगवत्कृतप्रतिबन्धे कालविलम्बेन फलदानेच्छामेव व्यनक्ति, न तु तद्दानेच्छामिति भावः । अन्यथा भजनेच्छानुकूलकृपावैयर्थ्यं प्रसज्जेतेति । न च विनैवानुग्रहं भजनेच्छोदय इति वाच्यम् । अवतारदशायां स्वरूपदर्शनेनैवेच्छोदयसम्भवेप्यनवतारदशायां सत्सङ्गश्रीभागवतादिश्रवणं विना शुद्धपुष्टिभजनेच्छोदयस्यादृष्टत्वादश्रुतत्वाच्च । यदि पुनर्विनादर्शनश्रवणादिकमपि शुद्धपुष्टिमार्गीयभजनेच्छोदयः स्यात् तदा पुरुषोत्तमावतारोपि न स्यात् । अत एव 'अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रित' इत्युपक्रम्य 'विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोनुशृणुयादथ वर्णयेद्य' इत्यत्र य इतिपदेन यस्य कस्यापि श्रवणवर्णनाभ्यां भक्तिं परामित्यनेन भक्तिलाभ उक्तः, स चेच्छोत्पादनपूर्वक एव । तस्माद् व्यर्थं भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इत्यादिनिरूपणमिति चेत्, अत्र वदामः । पुत्रादिजन्माद्युत्तरं केनापि प्रतिबन्धेनाकृतपुत्रादिनिवेदनस्य कस्यचिन्महत्तमस्य पुरुषस्य तदनन्तरं मतिकृपया पुत्रादिस्नेहेन वा कदाचित् तदनिवेदनस्मरणे मनसि स्यान्मम पुत्रादिः शुद्धपुष्टिभजनेन भगवन्तं प्राप्नोत्विति मयास्मै नामनिवेदने दत्ते भगवत्सेवा कारणीया तदा त्वं सेवां कुरु मत्तो नामनिवेदनं गृहीत्वेति कथने यदि तस्य हृदयल्पोप्युत्साहो न दृश्यते कदापि प्रत्युत द्वेषः तदोन्नेयमिदम्, यदस्य भगवत्कृतः प्रतिबन्धोस्ति भगवान् फलं न दास्यतीत्यस्मै नोपदेष्टव्यं किमपीति ज्ञापनार्थत्वेन भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इत्यादिनिरूपणस्य सार्थकत्वात् । ननु तदा शुद्धपुष्टिमार्गीयपूर्णस्वरूपसेवाफलं मा भवत्वंशस्वरूपसेवाफलं तु भविष्यतीत्यंशसेवोपदेश एव कर्तव्यस्तेनेति चेदित्याशङ्क्याहु **तदान्यसेवापि व्यर्थेति** । अंशांशिनोरभेदादंशस्यांश्यधीनत्वादंशिकृतप्रतिबन्धेंशस्य फलदानासमर्थत्वान्महाराजकृते प्रतिबन्धे सचिवादेरिवेत्यर्थः । नन्वंशिनो न स्वस्वरूपपरमफलदानेच्छा किन्तु स्वल्पफलदानेच्छांशद्वारा तदंशेन फलदानं कर्तव्यमेव, महाराजस्य महाफलदानेच्छाभावेपि सचिवादिद्वारा स्वल्पफलदानेच्छया सचिवादिनेवेति चेत्, सत्यम्, यत्रांश्यविरोधेनांशभजनं तत्रैवांशेन फलदानं महाराजाविरोधेन सचिवादिभजने सचिवादिनेव, न तु तद्विरोधेन भजने । तथा चैतस्य भगवत्सेवाकर्तव्यत्वकथनेपि कदाप्युत्साहाभावात् प्रत्युत द्वेषोद्भवान्नाशेनापि फलदानमित्यन्यसेवावैयर्थ्यात् सापि नोपदेष्टव्येति सूक्तं **तदान्यसेवापि व्यर्थेति** । किञ्च, तदैतादृशस्य यत्स्वरूपं तस्य निर्धारोपि भवतीत्याहु **तदा आसुरोयं जीव इति निर्धार इति** । **आसुर** आसुरावेशी आसुरभाववान्

वा सहजासुरो वेति निर्धारो निश्चय इत्यर्थः । अत्र कदाचिद्भक्तसन्निधौ यस्य मनसि भगवति सद्भाव उत्पद्यते द्वितीयक्षणे तदसन्निधौ तु नश्यति स आसुरावेशी आसुरभाववान् वा ज्ञेयः । यस्य तु सत्संगेपि भगवति न सद्भावः कदापि स तु सहजासुर इति ज्ञेयः । ननु तर्हि महत्तमकृपावैयर्थ्यप्रसंग इत्याशंक्याहुः **यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्** इति । वा अथवा **यथा** आसुरस्य **तत्त्वनिर्धार** उक्तस्तथा **विवेको** विचारो ज्ञानमिति यावत् । तत्साधनमासुरस्य शोकाभावरूपफलाय **मतं** सम्मतमित्यर्थः । अत्रैवं ज्ञेयम् । 'मायेत्यसुरा' इति श्रुतेरसुराणां माया सेव्या, सैवेश्वरः, तत्कृतत्वाज्जगन्मायिकम्, तेषां मुक्तिश्चा'न्धन्तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासत' इति श्रुतेर्दैवेष्वनाविष्टानां सहजासुराणां कामनाभावपूर्वकं सम्भूत्युपासकानां तदुपासनारूपसाधनबलेनासुरज्ञानमार्गप्रवेशे सति शोकाभावरूपावान्तरफले जाते सुखदुःखात्यन्ताभावस्वरूपपुनरावृत्तिरहितप्रकृतिलयरूपान्धन्तमःप्रवेशरूपा मुक्तिः । आसुराविष्टानां दैवजीवानां तु निरुपधिकृपया भगवता हतानां मध्ये दैवस्य दैवज्ञानाभावात् स्वरूपबलेनाक्षरब्रह्मणि लयरूपा मुक्तिः, तदाविष्टासुरस्य त्वासुरज्ञानाभावात् स्वरूपबलेनैवापुनरावृत्तिरहितान्धन्तमःप्रवेशापरपर्यायप्रकृतिलयरूपा मुक्तिः । अन्येषां सकामानां सहजासुराणामासुराविष्टदैवजीवानां च 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्त्यविद्वांसोबुधा जनाः', 'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् क्षिपाम्यजस्रमसुरानासुरीष्वेव योनिष्वि'ति श्रुतिभगवद्वाक्याभ्यामन्धन्तमोवृतकेवलदुःखात्मकलोकरूपनरकप्राप्तिस्तद्भोगानन्तरं पुनरासुरयोनिप्राप्तिरेवेति कृतं पल्लवितेन ।

एवं च सर्वं मायिकमेकोस्मदाद्यात्मा स एव परमार्थो मायैवेश्वरो नान्य ईश्वरः कोप्येवं तत्त्वनिर्धाररूपो विवेकः सोस्य **साधनं मतं सम्मतं** यावज्जीवं शोकाद्यभावाय, तदनन्तरं तादृशमुक्तये चेतिशेषः । तथा च तादृशपुत्रभार्यादेः संसाराविष्टत्वान्महत्तमकृपया तेषां संसाराभावेन शोकाद्यभावपूर्वकतादृशमुक्तिनिमित्तमासुरज्ञानमार्गमुपदिशेदिति भावः । अत एव श्रीमद्वसुदेवैरासुरज्ञानमार्ग एव कंसस्य श्रीमद्देवकीवधोद्यतस्योपदिष्टो न तु दैव इति ज्ञेयम् । इदमेवाहुर्विवरणे **तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेति विवेक इति । तदा** तेष्वासुरावेश्यासुरभाववत्सहजासुरजीवत्वनिर्धारे सत्येतैरासुरज्ञानमार्गेण स्थातव्यमित्ययं **विवेको** विचारः सिद्धान्तभूत इत्यर्थः । तथा च तान् प्रत्यासुरज्ञानमार्ग उपदेष्टव्य इति भावः । यद्वा पूर्वमासुरोयं जीव इति निर्धार इत्युक्तं तर्हि तेन किं साधनमनुष्ठेयमित्याकांक्षायां तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यमि-

१ आवेशजीवास्ते सर्वे दैवानां वपुषि स्थिताः, आवेशेन विना ये च मूलदैत्या इति स्मृताः, तेषां तमश्च सम्प्रोक्तं नान्ये देवाशिनस्तथा, देवाः स्थानं च स्वर्गादि तत्तत्कर्मवशानुगुरिति पद्मपुराणोत्तरखण्डीयवाक्येभ्य आसुरावेशिनां मुक्तेरासुराणामन्धन्तमोरूपनरकप्राप्तेरुक्तत्वात् ।

त्यासुरस्यैव साधनमुपदिशन्ति तदा ज्ञानेत्यादिना । एवं च ज्ञानमार्गपदेनासुरज्ञानमार्ग एवायातीति तथा व्याख्यातमिति ज्ञेयम् । न ह्यासुरस्य सर्वे ब्रह्मेत्यक्षरज्ञानमार्गे पुरुषोत्तमज्ञानमार्गे वाधिकारः, तस्य तामसत्वात् । अत एवेश्वरत्वेनाभिमततामसमायाशक्त्युपासकास्तेषु सत्त्वाभावात् सत्त्वजनितज्ञानाभावे'नोर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था' इत्युक्ता नोर्ध्वगतिः, किन्तु तामसशक्त्युपासनाजनितज्ञानस्य तमोगुणजनितत्वेन तामसत्वा'दधो गच्छन्ति तामसा' इत्यधोगतिरूपनिरयान्धन्तमोरूपप्रकृतिलयान्यतरप्रवेश एव, 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति वाक्यात् । अत्र अधःपदेनाधममेव विवक्षितम्, न तु नीचस्थानम्, निरयाणां नीचस्थानत्वेपि अन्धन्तमःप्रवेशरूपासुरमुक्तेः सुखदुःखाभावरूपत्वेन नीचस्थानत्वाभावात्, सर्वं ब्रह्मेत्यक्षरब्रह्मज्ञानमार्गे तु 'दैवी सम्पद्विमोक्षाये'ति वाक्याद्दैवसम्पद्युक्तजीवानामेवाधिकारः । अत एव 'जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः । सात्त्विकः स तु विज्ञेयो भवेन्मोक्षायाधिष्ठित' इतिमोक्षधर्मीयनारायणीयवाक्यान्मोक्षाधिकारिणां सात्त्विकत्वेन 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञान'मित्युक्तसत्त्वगुणजनितज्ञाने'नोर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था' इति वाक्योक्तोर्ध्वगमनरूपा स्वर्गमुक्त्यन्तरप्राप्तिर्भवतीति । अत्रोर्ध्वपदस्योत्तममित्यर्थो न तूच्चस्थानम्, स्वर्गलोकस्योर्ध्वलोकत्वेपि 'यन्न दुःखेन सम्भिन्न'मित्यादिवाक्योक्तस्वर्गसुखस्य मुक्तेश्चोर्ध्वलोकत्वाभावात् । तस्मादूर्ध्वपदेनोत्तमत्वमेव विवक्षितमिति ज्ञेयमिति दिक् ॥ २ ॥

तथा च यस्माद्बाधकेषु सत्सु न सेवासिद्धिरतस्तत्र तत्साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्याहुः बाधकानां परित्याग इति । एवं द्विविधमपि प्रतिबन्धरूपं सेवाबाधकमुक्त्वा लौकिकभोगरूपं सेवाबाधकं वदन्तो द्विविधं भोगमाहुः भोगेप्येकं तथा परम् । निःप्रत्यूहम् । एतद्विवरणे तु भोगो द्विविधो, लौकिकोऽलौकिकश्च । तत्र लौकिकस्त्याज्य एव । अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविष्टातीत्यन्तम् । अत्र यथा प्रतिबन्धे साधारणस्त्याज्यो, भगवत्कृतस्तु फलविघ्नमेव जनयेत्, तथा भोगेपि सुखदुःखसाक्षात्काररूपभोगरूपवस्तुन्यपि एकं साधारणं लौकिकमिति यावत्, तत् तथा त्याज्यम्, तत्साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । परं द्वितीयं साधारणाद्भिन्नमलौकिकमिति यावत्, तादृशभोगरूपं वस्तु निष्प्रत्यूहं निर्गतः फलप्राप्तौ विघ्नो यस्मात्तत्फलप्रतिबन्धकमिति यावदेतादृशमित्यर्थः । तथा च तत्फलानुकूलमेवेत्यर्थ इति भावः । एवं द्विविधोपि भोगो मूले कण्ठरवेणोक्तो यन्मेव भोगं विवरणे भोगोपि द्विविधो लौकिकोऽलौकिकश्चेत्यादिना स्फुटीकृत्य तत्र लौकिकस्त्याज्य एवेत्यनेन लौकिकभोगस्यापि तत्साधनपरित्यागेन त्याज्यत्वमुक्तम् । ननु कथमलौकिकस्य द्वितीयस्य भोगस्य फलाप्रतिबन्धकत्वमित्याशंकायामाहुः महान् भोगः प्रथमे विशति स्वदेनि । महानलौकिको भोगस्तु प्रथमे अलौकिकभोप-

भोगसामर्थ्यरूपे पूर्वोक्तफले विषयत्वेन प्रविशतीत्यर्थः । नन्वलौकिकभोगस्तु नेह भवति किन्त्वेतद्देहपातोत्तरं साक्षाद्भगवत्सम्बन्धे सति भवति । तथा चात्रालौकिकभोगप्रसक्तेरेवाभावात् तद्भोगप्रसक्तौ सत्यामेव लौकिकभोगवदस्यापि त्यागाशंकायां प्राप्तायामेतस्य प्रथमफले प्रवेशवचनं सार्थकं स्यात्तस्मान्महान्भोगः प्रथमे विशते सदेति वचनं व्यर्थमिति चेत्, अत्र वदामः । अलौकिकभोगस्तत्रापि मनोमात्रस्य स्थायिभावात्मकभगवत्सम्बन्धेनालौकिकत्वान्मनोमात्रे त्वात्मनि द्वारा भवति, तत्सहनार्थमेवालौकिकसामर्थ्यं भगवता दीयते, अत एवालौकिकभोगस्य प्रथमफलान्तरभावोक्तिः संगता भवति । अन्यथा प्रथमफलान्तरभावोक्तिरसंगता स्यात् । तस्माद्यदा तनुजवित्तजसेवया प्रेमोत्पत्तिस्तदनन्तरमलौकिकभोगरूपे अपूर्वानुरागरूपविरहजदुःखसाक्षात्कारे विषयत्वेन प्रविष्टस्य दुःखस्य तापविशिष्टस्य सहनार्थमलौकिकसामर्थ्ये भगवता दत्ते स्वसेव्यश्रीविग्रहे स्वप्नादिषु वा स्पर्शादिजनितविलक्षणसुखभोगप्राप्तिरत्रापि भवति तदाचार्यैर्भोगः प्रतिबन्धकत्वेनोक्तोऽतोय भोगोपि मम प्रतिबन्धकः स्यादिति कदाचित् कस्यचिन्मनसि भवेत्, प्रेमभरेण च स भोगस्त्यक्तुमशक्यस्तदा व्याकुलतया महान्खेद उत्पद्येत, तेन च विरहानुभवप्रतिबन्धः स्यादिति तत्खेदनिवारणार्थं **महान्भोगः प्रथमे विशते सदेति** मूले, **अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीत्येतद्विवरणे** चालौकिकभोगस्य प्रथमफले प्रवेश उक्त इति तथोक्तेः सार्थकत्वस्य सिद्धत्वात् त्वदुक्तस्यवकाशः कथमपीति बुध्यस्व । ननु लौकिको भोगो न तनुजवित्तजसेवायाः प्रतिबन्धकः किन्तु 'ता नानिद' इत्याद्युक्तप्रकारकचेतस्तत्प्रवणत्वतद्रूपायां मानससेवायां प्रतिबन्धकः । यदि तनुजवित्तजसेवाप्रतिबन्धकस्तदा लौकिकसुखसाक्षात्काररूपभोगाभावे देहस्थितेरभावात् तनुजवित्तजसेवाश्रवणकीर्तनादीनां चाभावे सिद्धे कारणाभावेन प्रेमोत्पत्तेरभावान्मानससेवासिद्ध्यभावात् परमफलप्राप्तिर्न भवेदेव कस्यापीति न कोप्यस्मिन्मार्गे प्रवर्तेतेति मार्ग एवायमुच्छिद्येत, तस्मात्तत्प्रतिबन्धको लौकिको भोग. । सति च लौकिके भोगे 'विषयाविष्टचित्तानां नावेशः सर्वदा हरे' रितिवचनात्तत्कारणविषयावेशेन भगवद्विषयकतनुजवित्तजसेवाभावे कथं पूर्वोक्तं फलं स्यादिति चेत्, अत्र वदाम. । लौकिकविषयभोगो द्विविध., एकः केवलेन्द्रियपोषको, द्वितीयो भगवत्तनुजवित्तजसेवोपयोगी । तत्र केवलेन्द्रियमात्रपोषकविषयभोगो न कर्तव्य , किन्तु प्रभुसेवोपयोगित्वबुद्ध्या अथ च स्वस्य दासत्वेन दासधर्मत्वबुद्ध्या च लौकिकभगवन्निवेदितविषयभोग. कर्तव्यः । एवं च 'तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम् । तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जना. । त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिताः । उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि' इत्यादिवचनानि च धर्मभगवत्सेवोपयोगित्वेन दासधर्मत्वेन बन्धकमायाजयसाधकत्वेनानर्थनिवारकत्वेन च भगवन्निवेदितलौकिकविषयजभोगस्य विहितत्वात् । तस्मात्केवलेन्द्रियमात्रपोषकलौकिकभगवद-

निवेदितविषयजभोग एव त्याज्यत्वेनोक्तोत्र, स तु तनुजवित्तजसेवाबाधक एवेति स एव त्याज्यो न तु भगवत्सेवौपयिकत्वेन दासधर्मत्वेन च प्राप्तो विषयजभोग इति बाधकत्वाभावेन पूर्वोक्तफलस्य निःप्रत्यूहत्वात् । अत एव 'बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभि'रित्यादिना भक्तिवर्धिन्यां तनुजवित्तजसेवाकारणे गृहस्थितिरुक्ता । प्रेमासक्त्यनन्तरमेव च 'बाधसम्भावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते' इत्यनेन, 'त्याज्यत्वात्' इत्यादिना सततं गेहस्थानं विनाशकम् । त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः । लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां परा'मित्यनेन भगवद्भजनान्यविषयकव्यासंगजनकत्वेन सर्वविधस्यापि गृहस्य त्याग उक्तः सर्वविधभोगाभावसाधकत्वेनेति कृतं पल्लवितेन ॥ ४ ॥

ननु भगवता साक्षात्सम्बन्धेपि यदि सुखदुःखसाक्षात्काररूपो भोग एव भवति तदा लौकिकभोगः किमर्थं त्याज्यत्वेनोच्यत इत्यनतिपण्डिताशंकां परिहरन्त आहुः ।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ ।

एतद्विवरणं तु **साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाह सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति । सविघ्नत्वादल्पत्वाच्च भोगस्त्याज्यः । एतौ सदा प्रतिबन्धकाविल्यन्तम् ।** लौकिकसुखभोगसुखभोगसाधनानां नाशास्य-विघ्नो, अथ च लौकिकभोगः किंचित्कालिकत्वात् परिछिन्न इत्यल्पश्च । अथ च परमफल-बाधक इति घातकः । एवमेव लौकिकदुःखभोगस्तु यद्विषयक उत्पद्यते तद्विषयस्य कस्यचिदेव प्राप्तिर्न सर्वस्येति सविघ्नो, अथ च लौकिकविषयस्य तुच्छत्वात् तुच्छविषयक इति अल्पस्तुच्छश्च । अथ च परम्परया मानससेवाप्रतिबन्धकत्वात् फलप्रतिघातकश्चेति मूले हेतुगर्भविशेषणानि । अत एवात्र भावप्रधानो निर्देश इति ज्ञेयमिति मनसिकृत्याचार्याः सविघ्नत्वादल्पत्वाद्घातकत्वाच्चेति हेतुत्वेनैव विवरणे व्याख्यातवन्तो भोगविशेषणानि । अत एव एतौ भगवत्कृतप्रतिबन्धसाधारणभोगौ बलाद्धेतोः सदा बाधकाविति भावः । नन्वत्रैको भोगः एवोक्तः पूर्वमव्यवहितः, तथा सति सदायं प्रतिबन्धक इत्येकवचनेनैव वक्तव्यम्, न त्वेताविति द्विवचनमित्याशंकायामाहुः **द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति ।** द्विवचनाकान्तैतच्छब्दे द्वितीयो द्वित्वसंख्यापूरको भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति तात्पर्यात् द्विवचनस्य सार्थक्यमिति भावः ।

ननु भगवत्प्रतिबन्धे ज्ञाते संसाराभावायातिकृपया तस्यासुरज्ञानमार्ग उपदेष्टव्य इति पूर्वमुक्तम्, तत्रापि तस्य चेन्न स्थिरता तदा मद्वत्तैः किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः **द्वितीय इति ॥ ५ ॥**

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ६ ॥

एतद्विवरणं तु **ज्ञानस्थिरभावे चिन्ताभावार्थमाह द्वितीय इत्यन्तम् ।** द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे आसुरज्ञानोपदेशपर्यन्तं चिन्ता कर्तव्या मद्वत्तैरतिकृपया ।

यदासुरज्ञानेपि भार्यादेः स्थितिर्न दृश्यते किन्तु 'कामोपभोगपरमा' इति वचनसिद्धकामोपभोगमात्रपरत्वं दृष्टम्, तदास्यासुरमुक्तिरपि न देया भगवता किन्तु मरणानन्तरं 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधा जना' इति श्रुत्युक्तान्धन्तमोवृतकेवलदुःखात्मकलोकप्राप्तिपूर्वकं 'तानहं द्विषतः क्रूरानि'त्यादिवाक्योक्तः संसार एव देयोस्येति संसारनिश्चयं प्राप्य सर्वथैव चिन्ता त्याज्या । तादृशपुत्रादिरुपेक्ष्य इति भावः ॥ ५ ॥

एवं प्रसंगादासुरस्य पुत्रादेरुद्धारोपायस्य कर्तव्याकर्तव्यत्वं निरूप्य प्रकृतं विचारयन्ति । ननु यथासुरस्यासुरमुक्तिसंसारयोर्निश्चयः कृतः कामोपभोगपरत्वापरत्वादिलिङ्गैस्तथा शुद्धपुष्टिमार्गीयेष्वेतस्य शीघ्रं फलमेतस्य विलम्बेनेति केन लिङ्गेन ज्ञेयमित्याकांक्षायामाहुः ।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति ।

तुशब्द आसुरप्रसङ्गनिवारणार्थः । आद्ये अलौकिकसामर्थ्यरूपे फले जाते सति भगवतः दातृत्वं नास्तीति न, किन्तु दातृत्वं वर्तत इति ज्ञेयम् । नन्वाद्य इति पाठे तु निश्चयेन दातृता नास्तीति न, किन्तु वर्तत एवेत्यर्थो ज्ञेयः । एतद्देहे मनसि एतद्देहपातोत्तर चालौकिकसंघात एव फलं भविष्यतीति भावः । अथ मूलार्थः स्पष्ट एवेति मत्वाद्ये दातृता नास्तीत्येतस्यार्थमनुक्त्वा आद्यफलाभावे एतद्देहे मनसि एतद्देहपातोत्तरं च भगवतो दातृता नास्तीति शिरश्चालनेनोक्त्या किन्तु विलम्बेन दातृता वर्तत इत्यर्थतः सिद्धमर्थमाहुर्विवरणे **आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति तदा सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवतीत्यन्तेन** । यतश्चायमार्थिकोर्थ उक्तोत एव इत्युक्त भवतीत्युक्तं न त्वित्यर्थ इति । यद्वा आद्यफलाभावे तनुजनितजसेवाजनितप्रेमासक्त्यनन्तरमलौकिकसामर्थ्यदानाभावे भगवतो दातृत्वाभावो नास्ति किन्तु विलम्बेन दातृत्व वर्तत इत्यकारप्रश्लेषेण व्याख्येयम् । नन्वाद्यफलाभावे दातृत्वं कुतो नास्तीत्याकाङ्क्षायामाहुर्विवरणे **तदा सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति** । व्यसनपर्यन्त स्वतन्त्रच्छत्वेन प्रेमावस्थानामासेवाया आधिदैविकत्वाभावादिति निर्मात्यत्वाभावात् पूर्णप्रेमानिर्माणाभावाद्रसरूपताभावात्सेवाया आधिदैविकत्वाभावादिति हेतोर्दातृत्व नास्ति, यत आधिदैविकसेवयैवाधिदैविकस्वरूपप्राप्तिर्'ये यथा मा प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति वाक्यादित्यर्थः हि । रसरूपस्यैवाधिदैविकत्वे 'रसो वै स' इतिश्रुतिस्थैव शब्दः प्रमाण परमकाष्ठापन्नस्यैव पर्यन्ततः परमकाष्ठापन्नब्रह्मस्वरूपनिश्चयवाचकैवडत्यव्ययशब्द. प्रमाण परमकाष्ठापन्नस्यैव पर्यन्ततः सर्वाधिदैविकत्वात् । एव चाद्यफले जाते फल शीघ्रं भविष्यति तदभावे भगवदिच्छाभावेन कस्यचिद्विलम्बेन भविष्यतीत्याद्यफलोत्पत्त्यनुत्पत्तिरूपलिङ्गाभ्यां शुद्धपुष्टिमार्गीयस्यापि भक्तस्य शीघ्रफलोत्पत्त्यनुत्पत्ती ज्ञेये इति दिक् ।

अथ उद्वेगाभावप्रतिबन्धाभावभोगाभावानां बाधकाभावत्वेन पूर्वं कारणत्वमुक्तम् । तत्र सर्वस्यापि भगवल्लीलात्वेन ज्ञानादुद्वेगाभाव. सिद्धस्तत्र न गृहत्यागः । सेवाप्रतिबन्धका-

सुरपुनादेस्त्यागात्प्रतिबन्धाभावसिद्धेश्च तत्र पाक्षिको गृहत्यागः । दैवपुत्रादिषु सत्सु गृहत्यागाभावात् । भोगाभावस्तु लौकिकभोगत्वावच्छेदकावच्छिन्नाभावः । स तु लौकिकगृहत्वावच्छेदकावच्छिन्नत्यागेनैवेत्याहुः ।

तृतीये बाधकं गृहम् ।

तृतीये बाधकाभावत्वेन कारणे लौकिकभोगाभावे लौकिकं गृहं बाधकम् । तादृशगृहे सति तादृशभोगाभावाभावात्, सर्वेन्द्रियाणां लोकवेदसंकोचेनापि स्वस्वविषये प्रवृत्तिसम्भवादिति भावः । एतद्विवरणे इदमेवाहुः **भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग इति** । अत्र पर्युपसर्गो वेदमस्तीतत्रस्वपुत्रादिवाचको ज्ञेयः । अन्योर्थः स्पष्टः ।

ननु एतादृशसेवनातिदुर्लभेत्याशङ्कायामाहुरवश्येयं सदा भाव्येति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

अत्र विवरणाभावादस्माभिरेव व्याख्यायते । इयमव्यवहितक्षण एवोक्ता बुद्धिस्था मानसी सेवना 'न रोधयती'त्यादिवाक्येभ्यः कस्यापि कर्मज्ञानादेरवश्याधीना यद्यपि न भवति, व्रजभक्तरूपसाधुकृपामात्राधीनत्वात्, तथापि श्रीप्रभुव्रजभक्तदास्यपूर्वकं **भाव्या** चिन्तनीया । एतादृशीं सेवनां कदास्मत्प्रभुरस्मत्स्वामिन्योस्मभ्यं दास्यन्ति, कदा भगवति चक्षूरागः, कदा वा चित्तासंगः, कदा वा 'भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च । आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः । अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा । तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वतः । तदन्तिकगतिर्नित्य'मित्यादिः संकल्पः, कदा निद्राच्छेदः, कदा तनुतनुता, कदा विषयनिवृत्तिः, कदा त्रपानाशः, कदोन्मादमूर्छामृतय इत्याद्युक्तप्रकारेण **सदा** देहपातपर्यन्तं **भाव्या**, भावनया मनसि स्थापनीया । अतिदीनतया ज्ञानविषयत्वमापादनीयेति यावत् । यद्वा इयं मानसी सेवा सदा **भाव्या**, प्रेमाद्यभावेपि प्रेमाद्यवस्थाद्यनुकरणकरणेन च चिन्तनीया । तथा च मनसेतादृशभावनापूर्वकं तनुजवित्तजसेवाकरणे 'तं यथा यथोपासते तथैव भवती'ति श्रुते'र्ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति गीतास्थभगवद्वाक्यादश्च 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'त्यादिवचनाच्चैतद्देहपातोत्तरमलौकिकदेहप्राप्तौ वा कस्यचित्कस्यचित्तु जन्मान्तरे वा बहुतरभगवत्कृपायामस्मिन् जन्मन्यपि वा 'ता नाविद'न्नित्याद्युक्तप्रकारा फलरूपा सेवना सिद्धा भविष्यतीति भावः । अथवा इयं रसरूपा प्रेमाभक्तिव्यसनात्मिका सेवा **सदा सर्वदा** अतः भगवान् **वश्यो** यस्यां सा **भाव्या** ज्ञेया । एतादृशज्ञानेनापि फलसिद्धिरित्यर्थः । तथा चान्यप्रकारकसेवायां न सर्वदा भगवान् वश्यो भवति, न वा तज्ज्ञानमात्रेण च फलसिद्धिरिति भावः । ननु ज्ञानादिमार्गप्रकारेणापि भगवत्प्रभुं स्मरते वश्यति प्रभुसेवान्तर्भावादित्याशंक्याहुः **सर्वमन्यन्मनोभ्रम** इति । अन्यत् सर्वं मनोभ्रमरूपमेव । तथा च भगवन्मायामोहितानामेवाय

सिद्धान्तो यदन्यत्रापि मार्गे प्रभुर्वश्यो भवतीति। अत एवास्मिन्मार्गे मार्गान्तराच्छ्रैष्ठ्यम्। अत एव च 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति वचनं चेति दिक् ॥६॥

एवं मानससेवाभावनाया माहात्म्यमुक्त्वा पूर्वोक्तसेवाबाधकत्यागस्यावश्यकतामाहुः **तदीयैरपि तत्कार्यमिति।**

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

बालबोधग्रन्थे 'समर्पणादात्मनो हि तदीयत्वं भवेद्ध्रुव'मित्युक्त्वा 'देव धर्मैर्मनुष्याणा'मित्यादिभगवद्वाक्याच्च **पुष्टौ** पुष्टिमार्गे **तदीयैरपि** आत्मसमर्पणं कृतवद्भिरपि **तत्** पूर्वोक्तं बाधकत्रितयत्यागरूपं यत् **तत् कार्यं** कर्तव्यम्, न तु मयात्मसमर्पणं कृतं तदीयं च सर्वं जातमतः परं प्रभुर्यथा ज्ञास्यति तथा करिष्यति मम का चिन्तेति निश्चिन्ततया स्थेयम्। तथा सति भगवति भरदाने पुष्टिमार्गस्य प्रेमात्मकत्वात् प्रेममार्गनिरोध आपद्येत। सर्वथा स्वाशक्येर्थे हि भगवति भरदानम्, न तु स्वशक्येपि, स्वशक्येर्थेपि तत्र भरदाने स्वामिन्यादीनां स्वप्राणप्रियस्यायासदर्शनेन महान् खेद उत्पद्येत, तेन तदधीनस्वारफलस्य तत्फलदाने भगवतो विलम्बस्तत्खेददानजनितः स्वामिनीष्वापद्येतेति। अत एवाग्रे आहुः **पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति।** पुष्टाविति देहलीदीपन्यायेनात्रापि सम्बध्यते। अन्यमार्गस्थस्तु कृतात्मसमर्पणो विक्रीतपश्वादिवत् स्वदेहभरणपोषणादिचिन्तारहितो विलम्बं कुर्यादपि, **पुष्टौ** शुद्धपुष्टिमार्गे तु तन्मार्गस्थो **नैव विलम्बयेत्** विलम्बं कुर्याद्बाधकत्रयापनोद इत्यर्थः। यद्वा स्वयमेवात्मसमर्पिणा बाधकत्रयापनोदे कृते स्वप्राणप्रियस्यायासादर्शनात् स्वामिन्यादीनां खेदाभावात् तदधीनफलदाने प्रभुर्न विलम्बयेत् विलम्बं कुर्यादिति वार्थः। अत एव 'मदर्थेर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च'त्येकादशस्कन्धीयं प्रभुवचनमात्मसमर्पिणो भोगादित्यागमुपदिशति, न तु स्वस्मिन् भरदानेन निश्चिन्ततयावस्थानम्। अन्यथा तासां खेदे सति तनुजवित्तजसेवाया प्रतिबन्धे जाते सति फलरूपसेवाप्राप्त्याशा दूरापास्ता। तथा च यत्र तनुजवित्तजसेवायामपि बाधकत्वं जातं तत्र फलरूपसेवासिद्धौ सत्यां प्रभ्वायासस्फुरणाद्विलम्बं न कुर्यादेवेत्यर्थः। 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दित्युपदेशे भजनप्रतिबन्धकत्वेतावज्ज्ञेयम्। साधनरूपसेवाया भजनानुकूलस्यापि गृहस्य गृहस्यैव त्यागो, न भजनानुकूलगृहस्य। फलरूपसेवाया तु भजनानुकूलस्यापि गृहस्य त्याग इति। एतद्यथा तथा मत्कृतभक्तिवर्धिनीटीकायां 'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशक'मितिश्लोके द्रष्टव्यम्।

अथ तनुजवित्तजसेवया प्राप्यमानसमेवस्य व्यसने जाते दशावस्थासु महादुःखानुभवादतितापेन कदाचिदतिनिष्ठुरः प्रियो यदेतावत्पर्यन्तमपि न मिलति, मया स्वेतावद्दुःखमनुभूयते तदर्थमित्यादिको दोषारोपो भगवति भगवदीयस्य स्यात् सोपि बाधक एवेत्याहुः **गुणक्षोभेपीति।**

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणैः रसावस्थारूपैर्निद्राछेदादिभिर्मनःक्षोभेपि प्रियदोषारोपेपि एतदेव भगवद्प्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वमेव द्रष्टव्य दोषारोपस्य । तथा च तादृशावस्थायामपि प्रिये दोषारोपो न कर्तव्यः । यत. प्रियस्य निर्दोषपूर्णगुणवत्त्वात्तत्र दोषारोपे स्वामिन्यादीनां रोपे फलप्राप्ति-विलम्ब. स्यात् । किन्तु धन्योहं यत्प्रियार्थमेतादृशावस्थामनुभवामीतिगुणारोप एव कर्तव्य इति भावः । इद प्रपानाशावस्थापर्यन्तमेव कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते । उन्मादावस्था-प्रादुर्भावे तु देहानुसन्धानाभावान्न तत्र दोषो दोषारोपेपीति ज्ञेयम् । अत एवोद्धवद्वारा व्रजसीमन्तिनीना ज्ञानोपदेशो दोषाभावार्थमेव कृतः प्रभुणा ॥ ७ ॥

नन्विद सर्वं प्राकृततुल्यमेवेति किमेतादृशावस्थाप्राप्त्याप्युत्कर्ष इत्याशंक्याहुः ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

अत्र या काचित् कुसृष्टिरुत्पद्येत सा भ्रमो ज्ञेयः । यतो 'रसो वै स' इति श्रुते रसरूपो भगवान् सिद्धस्तदा सर्वा अपि रसावस्था भगवद्रूपा एव, रसस्य विभावा-नुभावव्यभिचारिभावसमूहालम्बनरूपत्वादिति सिद्धः सर्वोत्कर्षोस्य मार्गस्यास्य फलस्य चेति सर्वं चतुरस्रम् ॥ ७॥ ॥

अत्र केचिदस्मच्छ्रीमदाचार्यमार्गीया भगवदीया **यादृशी सेवनेति** मूले **सेवायां** फलत्रयमिति तद्विवरणे च पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदभिन्नमार्गसम्बन्धित्रिविध-सेवानां क्रमेण फलत्रयमुक्तमिति व्याचक्षते । तच्चिन्त्यम् । एव सति मूले **यादृशी सेवनेत्यत्र** तद्विवरणे च सेवायामित्यत्र नैकवचन श्रीमदाचार्यैर्न दत्त स्यात् । मूले कदाचिच्छन्दोनुरोधेनैकवचनदानेपि विवरणे सेवासु फलत्रयमिति बहुवचनमेवोक्त स्यात्, विवरणस्य मूलाभिप्रायप्रकटनार्थमेव क्रियमाणत्वात् । अतो मूलविवरणयोरेकवचनदाना-न्यथानुपपत्त्या तत्रत्यैकवचनाभ्या शुद्धपुष्टिमार्गसेवाफलमाननिरूपणमेवात्र श्रीमदाचार्य-चरणानामभिप्रेत स्वीयमानेभ्यो ज्ञापनार्थमिति ज्ञायत इति सारम् । अन्ये त्वेतन्मार्गीया भगवदीया मूलविवरणोक्तैकवचनानुरोधेन शुद्धपुष्टिसेवाफलत्रयमेवात्र श्रीमदाचार्याणाम-भिप्रेतमधिकारभेदेनोत्तमत्वमध्यमत्वसाधारणत्वभेदभिन्नम् । तत्रोत्तम फलमलौकिक-सामर्थ्यम्, तच्च सेवाया क्रियमाणायामेव प्रभुसम्पादितालौकिकशरीरनिष्ठस्वरूपानुभव-सामर्थ्यं प्रमाणानतुरोधिप्रमेयसाध्यम्, यथा रासमण्डलमण्डनायमानानाम्, मध्यम फल तु सायुज्यम् । तच्च सह युनक्तीति सहयुक्, सेवाया क्रियमाणायामेव भगवता सह सतत-स्थिति सार्वदिकसंयोगरसानुभव इति यावत् । तथा च भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपद-

१ इत परं 'इति श्रीवल्लभनन्दनचरणविट्ठलनाथाङ्घ्रिरेणुस्वरूपेण । जयगोपाल कृतवान्' इति प्रथम लिखित, हरिनाथेन प्रकाशितम् । अत परं विवरणमिति श्रीनाथ पाठान्तर, ग्रन्थकृता स्वयमेव लिखित, सद्धर्मार्थमालिखितं श्री अनिमाषि । एत तो न तु परमानन्दाणन्द समर्पणदीकरणम् ।

खिलपुण्यपापक्षयद्वारा पाञ्चभौतिकं देहं निवर्त्यालौकिकं दत्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय
ततो निष्कास्य प्रभुकारितस्वलीलानुभवरूपं प्रमाणानुरोधिप्रमेयसाध्यम्, यथा लक्ष्म्या
अन्तर्गृहगतगोपिकानां वा । अत्र मध्यमत्वं चास्य फलस्य विप्रयोगरसानुभवाभावाज्ज्ञेयम् ।
साधारणफलं तु **सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु** । तत्तु सेवायां क्रियमाणायामे-
वानुग्रहविशेषाभावात् साक्षात्सेवानुपयोगेन्यैस्त्वाद्यसाक्षाद्रसानुभवकर्तृभिः क्रियमाणायाः
सेवाया उप समीपे **योगः** सम्बन्धस्तद्वच्छरीरप्राप्तिस्तद्रूपम्, यथा वृन्दावनस्थपक्ष्या-
दीनाम् । तस्य चान्तररमणानुकूलत्वात्फलत्वम्, बहिःसाक्षात्सम्बन्धाभावादधिकाररूपत्वं
च ज्ञेयमिति वदन्ति । तत्रान्तर्गृहगतानां मध्यमं फलमिति त्वस्मदाचार्यचरणसिद्धान्त-
विरुद्धम् । तथा हि । यद्यस्मदाचार्याणामेवमेवाभिप्रायः स्यात्तदा कुत्रापि दशमस्कन्धसुबो-
धिन्यां श्रीमदाचार्यैस्तट्टिप्पण्यां च तत्तनुजवरैः स्फुटीकृतः स्यात् । न 'चान्तर्गृहगताः
काश्चि'दित्यस्याभासे 'यासां कालः प्रतिबन्धकः, पूर्वमेव भक्तियुक्तास्ता भजनानन्दमनतु-
भूयैव प्रतिबद्धा एव भगवत्सायुज्यं प्राप्तवत्य इत्यादि'त्यत्रत्यसायुज्यपदेन, पुनरेतस्यैव
पदस्य व्याख्यानान्ते 'ततो मुक्ता जाता' इत्यारभ्य 'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि
सङ्गता' इति पद्यव्याख्यानान्तप्रयुक्तैर्मुक्तापदैश्च मुख्यफलापेक्षया मुक्तिरूपफलस्यैव प्राप्ति-
कथनेनायमेवाभिप्रायः स्फुटीकृतः श्रीमदाचार्यचरणैरिति वाच्यम् । अत्रत्यसायुज्यपद-
मुक्तापदानां परोक्षवादरूपत्वमिति सायुज्यपदस्य भगवत्सहभावपरत्वेन मुक्तापदानां
'जहुर्गुणमयं देह'मित्यत्रोक्तगुणमयदेहत्यागोत्तरप्राप्तगुणातीतसञ्जातनिष्ठभगवद्रसानन्दानुभव-
विशिष्टत्वपरत्वेन च प्रयुक्तत्वात् । न च पूर्वोक्तानां पदानां परोक्षवादत्वे प्रमाणाभावः ।
'लक्षणां नैव वक्ष्यामि न न्यूनादन्यपूरणम् । आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामि परोक्षकथनादृत'
इति प्रथमस्कन्धीयसुबोधिनीप्रारंभप्रघट्टकपद्यस्य 'परोक्षकथनादृत' इति श्रीमदाचार्यप्रति-
ज्ञाया एव प्रमाणत्वात् । अस्यार्थः । अहं श्रीभागवते कुत्रापि लक्षणां नैव वक्ष्यामि,
न कथयिष्यामि । लक्षणा हि मुख्यार्थबाधे भवति, तत्रात्र प्रतिपाद्यस्य भगवतः सर्व-
शक्तिमत्त्वेन सर्वभवनसमर्थत्वेन मुख्यार्थबाधाभावात् । 'पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेद-
श्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि युक्तिभि'रिति गौतमस्मृतिवचनेन
पुराणेषु लक्षणावृत्त्याश्रयणस्य निषिद्धत्वाच्च । अथ च न्यूनात्पुराणान्तरकथया न्यूनत्वं
प्राप्य भावप्रधानो निर्देशो, ल्यब्लोपे पञ्चमी । यद्वा, न्यूनात्पुराणान्तरकथया न्यूनाद्न्यूनं
प्रमेयं प्राप्यान्यपूरणमन्येन पुराणान्तरेण पुराणान्तरकथयेति यावत्तेन पूरणं श्रीभागवतस्य
भगवदीयान्तरकृतश्रीभागवतव्याख्यान इव न वक्ष्यामि । यदि सा कथैतत्कल्पीया स्यात्
तदा व्यासचरणैरेव निबद्धा स्यादतो न वक्ष्यामीति भावः । केचित्तु न्यूनाच्छब्दादर्था-
द्वान्यस्य तस्य पूरणं नेत्यर्थः, अध्याहारं शब्दस्य वार्थस्य वा न करिष्यामीत्याहुः । तत्र
'जन्माद्यस्ये'ति प्रथमस्कन्धीयाद्यश्लोक एव 'धीमहि' इति तिङ्वाच्यकारकवाचिनो-

स्वच्छन्दस्य चाध्याहारदर्शनात् सोक्तिश्चिन्त्या, किन्त्वार्थिकं वाच्यार्थसिद्धमेवार्थं प्रवक्ष्यामि प्रकृष्टत्वेन वक्ष्यामि । अगोप्यत्वादिति भावः । परन्तु परोक्षकथनादृते परोक्षकथनमप्रत्यक्षकथनं वाचकशब्देतरशब्देन कथनं गोप्यकथनमिति यावत् तद्विहायेत्यर्थः । तथा च परोक्षकथनेनानधिकारिभ्यो गोपनार्थं लक्षणां लक्षणावृत्तिविशिष्टशब्दानथ च न्यूनं प्रमेयं प्राप्यान्येन पुराणान्तरेण पूरणं च वक्ष्यामि परन्तु तात्पर्यग्राहकलिङ्गादिसिद्धमेव, न तु तदसिद्धमपीत्येतावदधिकं बोध्यम् । तथैव सुबोधिन्यां दृश्यमानत्वात् । तादृक्कथायाः कल्पान्तरीयत्वात् । एतत्कल्पीयत्वे तु 'गोप्यः संस्पृष्टसलिला अङ्गेषु करयोः पृथक् । न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजन्यासमकुर्वत' 'इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः' इत्यादिमन्त्रद्रष्टृत्वादिरूपलिङ्गं कुमारिकानामग्निकुमारत्वे, अथ च 'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः' इत्यत्रत्यजारबुद्धिरूपं लिङ्गमन्तर्गृहगतानां 'जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोधिकं । मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे'ति बृहद्वामनोक्तभगवद्वरदानविशिष्टश्रुतित्वे च यथोक्तं तथोक्तमेव स्यादतो ज्ञायते तन्नैतत्कल्पीयमिति तादृशपुराणान्तरकथया पूरणं न करिष्यामीति ज्ञेयम् । अथ च परोक्षकथने वाच्यार्थसिद्धमेवार्थं न प्रकृष्टत्वेन वक्ष्यामि किन्तु गोप्यत्वात् प्रकटतया न कथितमीदृशं तात्पर्यवृत्त्या सिद्धमप्यर्थं वक्ष्यामीति भावो ज्ञेयः । एवञ्च फलप्रकरणीयलीलायामतिगोप्यत्वादुपक्रमे फलप्रकरणीयसुबोधिनीस्थसायुज्यमुक्तापदा'न्युक्तं पुरस्ता'दित्यारभ्य 'यत एतद्विमुच्यते' इत्यन्तं मध्ये प्रयुक्तानि मुक्तिमुच्यतइत्यादिपदानि, अथ च रासलीलोपसंहारे च 'ब्रह्मरात्र उपावृत्ते' इतिपद्यव्याख्याने 'यतो भगवान् मोक्षदाता ताश्चेदासन्ध्यमन्तःस्मरणं करिष्यन्ति तदा मोक्षाधिकारिण्यो भविष्यन्तीति वासुदेवानुमोदिता' इत्यत्रत्यमोक्षपदं च न लोकप्रसिद्धलयरूपसायुज्यपरत्वेन लयरूपमुक्तिविशिष्टत्वपरत्वेन लयरूपमोक्षपरत्वेन च न प्रयुक्तानि, किन्तु परोक्षवादेन भगवत्सहस्थितिपरत्वेन गुणमयदेहत्यागोत्तरप्राप्तालौकिकदेहनिष्ठभगवद्रसानुभवविशिष्टत्वपरत्वेन विप्रयोगोत्तरप्राप्तभगवद्दर्शनानन्दपरत्वेन च प्रयुक्तानीति ज्ञेयम् । पञ्चाध्यायीव्याख्यानस्थसायुज्यमुक्तामुक्तिमोक्षपदानि परोक्षवादरूपाणीति ज्ञापयितुमेव पञ्चाध्यायीसमाप्तिश्लोकव्याख्यानीयश्रीमदाचार्यतनुजरत्नकृतफलप्रकरणीयसुबोधिनीटिप्पण्यां व्याख्यातं 'दिवा विप्रयोगजार्तौ सत्यां दिनान्ते प्रियसङ्गमे य आनन्दो, न स सर्वदा दर्शन इति सोत्र मोक्षपदेनोच्यत' इति मोक्षपदस्य तादृगानन्दपरत्वमेव । एवञ्च सायुज्यमुक्तामुक्तिमोक्षपदानां परोक्षवादत्वं सिद्धम् । अन्यथा 'न चैव विस्मय' इति पद्यव्याख्याने 'एतत्परिदृश्यमानं जगत् सर्वमेव यतो विमुक्तिं यास्यति, मानवया गोकुले स्थित आह, ज्ञानदृष्ट्या चे'त्यत्र विमुक्तिपदस्योपसंहारश्लोकव्याख्यानं श्रीमदाचार्यचरणैर्मोक्षपदस्य चोक्तब्रह्मामण्डलमण्डनायमानानां च लोकप्रसिद्धमोक्षप्राप्तिविशाप्त्यायै यत्नपर्वाप्रसङ्गीये 'तत्रैका विधृता मर्मे'तिपद्यव्याख्यानसुबोधिन्या'मतस्तस्या मुक्तिः सिद्धे'त्युक्तरा-

द्विप्रभार्यास्या अपि मोक्षप्राप्तिरंगीक्रियताम् । तस्मात् परोक्षवादरूपाण्येवात्र सायुज्यादि-पदानीति न लोकप्रसिद्धमोक्षरूपमध्यमफलप्राप्तिरन्तर्गृहगतानामिति बोध्यम् ।

ननु मुक्तिवाचकपदैरेवात्रपरोक्षवादकरणे किं बीजमिति चेत्? श्रीभागवतमेव बीजमिति गृहाण । तथाहि । 'न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यज' इतिपद्येऽग्रे 'यत एतद्विमुच्यत' इतिपदमुच्यते, तेन च सर्वस्यापि गोकुलस्य मुक्तिः प्रतिपाद्यते, न हि भवतापि सर्वस्य गोकुलस्य मुक्तिरंगीक्रियते लोकप्रसिद्धा । एवं च विमुच्यतइतिपदं परोक्षवादरूपमेव । तथा सति श्रीव्यासचरणैरत्र प्रकरणे मुक्तिवाचकपदेनैव परोक्षवादः कृत इति श्रीमदाचार्यैरपि मुक्तिवाचकपदैरेव परोक्षवादः कृत इति सुष्ठूक्तं श्रीभागवत-मेव बीजमिति । ननु न वयमेवंरूपं मध्यमं फलं तासां वदामः, किन्तु प्रकारान्तरेण मध्यमफलं वदामः । तत्तु भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपदखिलपापपुण्यक्षयद्वारा पाञ्च-भौतिकं देहं निवर्त्य तदनन्तरं चालौकिकदेहं दत्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो निष्कास्य प्रभुः संयोगरसलीलानुभवमेव कारयति, न तु विप्रयोगरसलीलानुभवम्, एवं च रसरूपभगवत एकदलानुभवरूपं फलं मध्यममेव, द्वितीयदलानुभवाभावात् । मुख्यानां तु दलद्वयानुभवस्यापि जायमानत्वान्मुख्यं फलमिति चेन्, अत्र पृच्छामः । अलौकिकदेह-प्राप्त्यनन्तरं भगवत्कृता स्वस्मिन् स्थितिस्तासां केन रूपेण, सार्वदिकलयरूपेण वा, रस-व्यभिचारिभावलयरूपेण वा, 'सायुज्ये तु रसाधिक्यं भेदेनानुभवात् ततः' इति श्रीमदा-चार्यसिद्धान्तितभेदविशिष्टसायुज्यरूपेण वा, सर्वदा कण्ठलग्नत्वेन वा, 'चैतन्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे, कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यज' इत्यत्रोक्तानां स्वाङ्गीकृतात्मनां तत्त्वरूपकण्ठस्थितकौस्तुभे लयरूपेण वा, लक्ष्मीवद्वक्षःस्थलस्थितिरूपेण वा, शिवोमा-वदर्धनारीश्वररूपेण वा, पूतनासुपानसमानीतभगवदुदरस्थितपूतनाभक्षिताशिकुमाररूप-कुमारीपुंस्त्वधर्मरूपबालकवद्वा । तत्र नाद्यः । पुरुषोत्तमे सार्वदिकलयरूपेण स्थितिस्तु केवलजीवात्मनामेव, सा त्वेतासामसम्भाविताेवालौकिकदेहप्राप्तिप्रविष्टत्वात्, न हि शरीर-विशिष्टानां लयः कुत्रापि वेदादौ श्रुतोऽस्ति । पुरुषोत्तमे लयस्य पुरुषोत्तमविपक्ष-मर्यादाभक्तिफलत्वाच्च । भवद्भिस्त्वेतासां शुद्धपुष्टिमार्गीयमध्यमफलविशिष्टत्व सिद्धान्ति-तमस्ति । न द्वितीयः । एतादृशलयस्यास्माभिरप्यत्राङ्गीक्रियमाणत्वात् । न च तर्हि मध्यम-फलप्रसक्तिः । एतादृशलयस्य रासमण्डलमण्डनायमानास्वप्यसावहमित्यादौ दृष्टत्वेन तत्समकक्षत्वान्मध्यमफलत्वाभावात् । न तृतीयः । तादृशसायुज्यस्य मर्यादापुष्टिफल-त्वात् । न चतुर्थः । सर्वदा कण्ठलग्नत्वेन स्थिते रसाभासरूपत्वात् । न पञ्चमः । देह-विशिष्टत्वेन तत्रापि लयासम्भवात् । न षष्ठसप्तमौ । तत्र प्रमाणाभावात् । शिवोमयोरर्ध-नारीश्वररूपेण स्थितौ च निखिलपुराणेतिहासादीनां प्रमाणत्वान्न तथात्र प्रमाणमस्ति । न चार्धनारीश्वरवदेतासां स्थितौ 'त्वर्धं शोणमथार्धमम्बुदनिभं पद्मं ललाटे स्रजा बर्हो-

कल्पतया विलाससदनं स्त्रीपुंमयं वाङ्मयम् । हस्तैर्वेणुवराभयानि दधतं लावण्यवारांनिधिम् । ध्यायामि स्मितशोभितास्यकमलं गोपालचूडामणि'मितिसुन्दरीगोपालमन्त्रसम्बन्धिध्यानप्रतिपादकागम एव प्रमाणमिति वाच्यम् । 'अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी'ति श्रुतौ यज्ञसम्बन्धयुक्तायाः स्वविवाहिताया एवार्धत्वमुक्तमिति लक्ष्म्या एवार्धनारीत्वेन स्थितिरागमेन प्रतिपाद्यते न स्वेतासाम्, स्वविवाहितत्वाभावेन पत्नीत्वाभावादित्यस्या अपि भवदुक्तेरनवकाशात् । नाप्यष्टमः । तेषामपि केवलजीवरूपाणामेव स्वोदरे पूतनया समानयनम्, न तु बालकदेहसहितानाम्, तदनन्तरं भगवतापि तदसुपानद्वारा तादृशानामेव स्वोदरे समानयनम्, पश्चाद्वयस्यैरागतस्तत्रैत्यत्र घृतचर्याप्रसङ्गे त्वलौकिकदेहं दत्वा तल्लीलाप्रदर्शनं कारितवानिति निश्चयस्य दृढतरत्वेनास्यापि दृष्टान्तत्वाभावात् । शरीरविशिष्टानामेव तेषां स्वोदरानयनमित्यस्य कण्ठरवेणाश्रूयमाणत्वात्, प्रत्युत पञ्चदशस्कन्धीयाध्यायसुबोधिन्यां 'तया स्वस्मिन्नानीता ये बालकानां जीवास्ते स्वजीवमर्मस्थाने स्थापिताः सन्तीति तान् स्वस्मिन्नानेतुं भगवांस्तन्निष्पीडनमेव कृतवानित्यभिप्रेतोऽर्थ' इत्यनेन केवलजीवानामेवानयनस्य श्रीमदाचार्यैरुक्तत्वाच्च । न च लालनमृद्भक्षणलीलाप्रदर्शितस्वमुखस्थसर्वव्रजे भगवति देहसहितानामपि स्थितिरस्त्येव, एवं चालौकिकदेहसहितानामप्येतासां स्थितिर्नोसम्भावितेति वाच्यम् । स्वमुखारविन्दप्रदर्शितसर्वव्रजे रासमण्डलमण्डनायमानानामपि स्थितत्वात् तासामपि मध्यमफलप्राप्तेर्वक्तुं शक्यत्वादिति न किञ्चिदेतत् । अथ यद्यपि भगवतोऽचिन्त्यशक्तित्वात् केनापि प्रकारेणैतासां भगवति स्थितिः सम्भवेदपि, तथापि यद्येतासां मध्यमफलं स्यात् तदाऽचिन्त्यशक्तिमत्त्वपर्यन्तं धावता समञ्जसा स्यात्, तदेव तु खपुष्पायमाणम्, यत एतासां सगुणदेहत्यागोत्तरं निर्गुणदेहप्राप्त्यनन्तरं तु सर्वभावप्रपत्तिरूपसाधनस्य सर्वभावप्रपत्तिलभ्यस्यैव च फलस्य प्राप्तिः श्रीमदाचार्यैः सिद्धान्तितास्ति । तथाहि 'कृष्णं विदुः परं कान्त'मितिपद्यश्लोकीसुबोधिन्यां प्रथमव्याख्यानाभिप्रायविशदीकारकद्वितीयव्याख्याने 'उक्तं पुरस्ता'दितिपद्यव्याख्यायां 'यथा भगवति गुणातीत एव परिनिष्ठबुद्धित्वेपि द्वेषस्य तत्र प्रयोजकत्वात् सगुणत्वमेवेति लक्ष्यते, अयं च रसः सर्वभावप्रपत्तिलभ्यः । नहि जारत्वबुद्धौ सर्वभावप्रपत्तिः । कामपूरकत्वेनैव तत्सम्भवात्, अत्र च सगुणत्वस्य प्रतिबन्धकत्वाधया चैद्यादीनां स्वाधिकारानुसारेण तादृशशरीरनाशे तत्पदप्राप्तिः स्वाधिकारानुसारेण, तथैतासामपि स्वाधिकारानुसारेण तयात्वं सगुणत्वोपरमेण सर्वभावप्रपत्यैव, ततो निजपतिभजनमिति सर्वमवदातम्, अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति मर्यादा भज्येते'त्युक्त्या, अथ च ननु तथापि तादृशप्रपत्तेरेव मूलत्वात् कथं सर्वभावप्रपत्तिसाध्यं फलं भविष्यतीत्याशङ्कां दत्वा 'द्विषन्नपी'त्यादिप्रतीकव्याख्याने 'मोक्षसुखानभीप्सुत्वादिरूढद्वेषकर्ता च चैद्यस्तस्मै यथा ज्ञानिनामपि दुर्लभां मुक्तिं दत्तवानेवं तादृक्प्रपत्तिमूलानामप्येतासां तादृशं

फलं दत्तवा'नित्युक्त्या, तदनु किञ्चाग्रे 'यदि सर्वभावप्रपत्तिलभ्यफलमेव दित्सितं भगवतस्तदा पूर्वमेव स एव भावः किमिति नोत्पादित इति चे'दिति पूर्वपक्षीकृत्य 'अत्र वदामो, यासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्तासां सर्वासामेव रासमण्डलमण्डनायमानानां शरीरमपि गुणातीतमेवेति ज्ञापयितुं भगवानेव कतिपयगोपीः सगुणदेहाः स्थापयित्वा पूर्वोक्तानां भावोपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासां सगुणभावमुत्पाद्यैतन्निवर्तकोपि स्वयमेव नान्य इति ज्ञापयितुं तन्निवृत्तिं विधायाग्रे भाविस्वविरहजदुःखस्वसङ्गमजसुखयोः कर्माजन्यत्वमपि ज्ञापयितुं कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्तिं विधाय मत्प्राप्त्यैव सर्वं कृतवा'नित्युक्त्या च सर्वभावप्रपत्तिरूपं साधनं सर्वभावप्रपत्तिलभ्यमेव च फलमेतासामिति दृढीकृतं श्रीमदाचार्यचरणैरिति तद्विरुद्धा भवद्व्याख्यानपद्धतिर्नादरपदवीमारोहति । तस्मान्नान्तर्गृहगतानां सर्वदा संयोगरसानुभवमात्ररूपं मध्यमं फलम्, किन्तु पूर्णसंयोगविप्रयोगरसात्मकमुत्तमफलमेव । उचितं चैवमेव यत्सर्वभावप्रपत्तिर्नाम सर्वांशेन प्रपत्तिः, तस्यां सत्यां सर्वांशेनैव प्रभुणा फलदानं कर्तव्यम्, न तु केनाप्यंशेन न्यूनफलदानं सम्भवति, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मितिमर्यादा यतोस्तीति दिक् ।

अपरञ्च । 'या मया क्रीडता रात्र्यां वनेस्मिन् व्रज आस्थिताः । अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तये'तिभ्रमरगीतस्थपद्यव्याख्याने 'भवत्यः समागता अन्तर्गृहगतास्तु गृह एव स्थितास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न तु भवत्योनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्य' इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम् । तत्र सर्वप्रकारेण भगवत्प्राप्तिरन्तर्गृहगतानां न तु केनाप्यंशेन न्यूनप्रकारेणेत्युक्तत्वात् सार्वदिकसंयोगरसमात्रानुभव एवैतासामिति भवदुक्तिः कथं सङ्गच्छताम् । भगवतो रसरूपत्वाद्रसस्य द्विदलत्वाद्भवन्मते विप्रयोगप्रकारेण प्राप्त्यभावादिति कृतं पल्लवितेन । अत्र तदैवेतिपदमेव न तु भवत्य इत्यत्रापि सम्बध्यते । तथा च तदैव तत्क्षण एव तासां मत्प्राप्तिः सर्वप्रकारेण जाता । भवतीनां तु तत्क्षण एव न जाता क्रमेणैव मद्विषयकदोषारोपरूपदोषनिवृत्तौ सत्यां भविष्यति, तासां तु मयि दोषारोपो नासीदिति निर्दोषत्वात्तदैव जाता । अन्यथा तदैवेति पदस्यात्रानुषङ्गाभावे तासां सर्वप्रकारेण मत्प्राप्तिर्भवतीनां सर्वप्रकारेण न जातेत्येवमर्थे सम्पन्नेन्तर्गृहगतानामेव रासमण्डलमण्डनायमानाभ्योधिकत्वमापद्येत । तदैवेतिपदस्य त्वत्रानुषञ्जने तासां तदैव जाता, भवतीनां तु दोषनिवृत्तौ क्रमेण भविष्यतीति न न्यूनता रासफले प्राप्नोतीति ज्ञेयम् । ननु साधारणानामपि भक्तानां दोषान् भगवान्न गणयति, रासमण्डलमण्डनायमाना'स्त्वेताः परं तनुभृतो ननु गोपवध्वः', 'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्,' 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णश' इत्यादिप्रकारेण श्रीमदुद्धवैः स्तुतानां प्रणतपादरेणूनामथ च तद्दोषस्य विप्रयोगरसावस्थारूपत्वेन निर्दोषाणां च तादृशं भावं दोषत्वेन किमर्थं भगवानगणयदिति चेत् । अत्र वदामः । केषाञ्चिदतिकृपाविषयाणां

(अत्र एकं पत्रं त्रुटितमिति प्रतिभाति)———ग्रानामन्तर्गृहगतानां रासानुभवोत्तरं भवन्मते कुत्र स्थितिर्भवतोच्यते, अस्मन्मते तूक्तस्थानान्यतमस्थाने लयाद्भगवता सह व्रज एव समागमनम्, पुना रासलीलासमये भगवता सह तत्र गमनम्, तदा त्वलौकिकदेहप्राप्त्या रमणम्, पुनरपि तत्रैव लय इति चेत्, अत्र ब्रूमः । यावद्व्रजीयैरलक्षितत्वेन केवलप्रपञ्चमानाविर्भावितलीलादर्शनाभावविशिष्टत्वेन चास्मिन्नेव व्रजेन्तर्गृहगतानां स्थितिः । न च विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव व्रजे तासां स्थितौ किं मानमिति वाच्यम् । 'या मया क्रीडता रा‍त्र्या'मिति भ्रमरगीतपद्यसुबोधिनीस्थश्रीमदाचार्यकृतव्याख्यानस्यैव प्रमाणत्वात् । तथा हि, यदि व्रजीयैरन्तर्गृहगतानां सगुणदेहस्यागोत्तरप्राप्तनिर्गुणदेहसम्बन्धिनी लीला दृश्येत तदा रासमण्डलमण्डनायमानाः प्रति त्वन्तर्गृहगताविषयकस्वकृतक्रीडाव्रजस्थितिकथनपूर्वकं किमिति स्वप्राप्तिसाधनं बोधयेत्, स्वप्राप्तिसाधनमात्रमेव तु बोधयेत्, स्वाकृतक्रीडाव्रजस्थित्योस्तु ताभिर्दृश्यमानत्वादतो नैतासां तल्लीलादर्शनमिति भगवत्तासां स्वक्रीडाव्रजस्थिती अपि बोध्येते इति यावद्व्रजीयैरलक्षितत्वं सिद्धम् । अथ च भवत्यः समागताः अन्तर्गृहगता गृह एव स्थितास्तास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न तु भवत्यः । अनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्यस्तस्मान्मदर्थं जीवनस्थापनमिति पक्षो निरर्थक । अन्यथा समागतानां भवतीनां पुनः क्लेशो न भवेदनुभवसिद्धश्च क्लेशः । ननु ताः प्रतिबन्धेन तथाभूताः कथं त्वया इत्याशङ्क्याह कल्याण्य इति । तासां महद्भाग्यमस्तीत्यवश्यप्रतिबन्धरूपं दुरितं दृष्ट्वोपक्षीणमिति कण्टकेन कण्टकोद्धारवद् देहनिराकरण एवोपक्षीणम्, भवतीनां तु तद्दुरितमिमामवस्थां प्रापितवत्, अतो मदुक्तप्रकारेण दोषं परित्यज्य तामवस्थां प्राप्य मां प्राप्स्यथेति भाव इति श्रीमदाचार्यव्याख्यानपर्यालोचनेन्तर्गृहगतानां नाक्रूरागमनरूपमथुरोद्देश्यकभगवद्गमनरूपप्रपञ्चभानाविर्भावितलीलादर्शनमस्ति । यदि तद्दर्शनं स्यात् तदा भवतीनां तु तद्दुरितमिमामवस्थां प्रापितवत्, तास्तु महाभाग्यवत्यस्तासामवश्यप्रतिबन्धरूपं दुरितं सगुणदेहनिवृत्तावेवोपक्षीणमतस्ता इमामवस्थां न प्रापितवदिति भगवान्न कथयेदेव । अक्रूरागमनभगवद्गमनदर्शनजक्लेशस्यैतासामप्यवश्यसिद्धत्वात् । तस्मादन्तर्गृहगतानां न प्रपञ्चमानाविर्भूतलीलादर्शनमित्यपि सिद्धम् । उचितं चैवमेव यतः श्रुतिरूपाभिरन्तर्गृहगताभिर्'यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः । भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षां जनितां तथे'त्यनेन प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मस्थव्यापिवैकुण्ठान्तर्गतव्रजान्तःस्थप्रपञ्चानन्तर्गतवृन्दावने तत्रस्थनानागररसोन्मत्तगोपीकदम्बकभावसजातीयभावेन भगवता सह रमणं प्रार्थितम्, तद्यदि तासां प्रापञ्चिकपदार्थदर्शनं स्यात्, तदा प्रपञ्चानन्तर्गतवृन्दावने तादृशभावेन भगवता सह रमणं न प्राप्तमेव स्यात्, एवं च 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति मर्यादाभङ्गः स्यादिति न तासां प्रपञ्चमानाविर्भूतलीलादर्शनमिति साधीयसी पूर्वोक्तोक्तिः । एवमेवास्मिन्नेव व्रजे ता आस्थिता इति

भवतीनामपि निर्बन्धेनैवात्र स्थापनमित्यनेनास्मिन् व्रज आस्थिता इत्यस्य व्याख्याने-नास्मिन्नेव व्रजे स्थितत्वमपि सिद्धम् । इदमेवाभिप्रेत्य पूर्वमेवोक्तं यज्ञपत्नीप्रसंगे त्रिंशाध्याये, 'तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम् । हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धन'-मितिपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यां भगवत्सङ्गतायाः स्थानान्तरं न रम्यम्, तच्छक्तीनामिव । अत्र यत्र भगवांस्तत्र तच्छक्तयः स्यादयो गोप्यादयो वेत्यर्थो ज्ञेयः । एवं चात्र भगवान् व्रजे तिष्ठतीति ता अपि व्रजे एव चेति व्रजे स्थितत्वमायात्येवेति दिक् । एवं च सिद्धा विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव व्रजे स्थितिरन्तर्गृहगतानाम् । तथा च गोपसाहित्येन गोचारणलीलार्थं भगवतो गमने रासलीलानन्तरं भगवतो गृहगमने च दिवा विप्रयोगरसानुभवः, सायंसमये परावृत्य भगवदागमने रात्रौ च वृन्दावन एव महानन्दसन्दोहानुभवश्चैतासामपीति संयोगरसमात्रानुभव एवैतासामिति कथं वक्तुं शक्यत इति कृतं विस्तरेणेति सर्वं चतुरस्रम् ।

स्यादेतत् । वयमन्तर्गृहगतानां यन्मध्यमं फलं वदामो न तूत्तमफलम्, तत्र यतोऽन्तर्हिते भगवतीति फलप्रकरणीयद्वितीयाध्यायस्यप्रारम्भव्याख्यानसुबोधिन्यां सन्ति च सिंहास्तथात्र काल इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम् । व्याख्यातं चैतत् तत्तनुजरत्नैः स्वकृतत्तट्टिप्पण्यामवतारसम्पूर्तिकाल इत्यर्थ इति, तत्रापूर्णविप्रयोगसंयोगात्मकः पूर्वावतारः समाप्त इदानीं पूर्णविप्रयोगात्मकपूर्णसंयोगात्मकपुरुषोत्तमावतारो जात इत्युच्यते, तत्रान्तर्हिते भगवतीत्यनेन पूर्णविप्रयोगात्मकस्तदनन्तरं 'तासामाविरभू'दित्यनेनैकोनत्रिंशाध्याये पूर्णसंयोगात्मकपुरुषोत्तमावतार उक्तः । एवं च पूर्वस्वरूपाद्भिन्नमेवेदं भगवत्स्वरूपं परमकाष्ठापन्नम्, एतत्तु अन्तर्गृहगताः प्रति न प्रकटमेव, अतस्तासां नैतादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिः, किन्तु न्यूनसंयोगविप्रयोगरसात्मकत्वेनासम्पूर्णत्वात् तादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिरेवेति न सम्पूर्णफलप्राप्तिरिति तासां मध्यमफलप्राप्तिरित्युच्यते । न चेद स्वरूपं पूर्वं न प्रकटमिदानीमेवाविर्भूतमित्यत्र किं प्रमाणमिति वाच्यम्, 'गायन्त्य उच्चै'रितिपद्यव्याख्यानसुबोधिनीस्थशब्दो हि धूमवल्लोक इति श्रीमदाचार्यतनुजरत्नकृतश्रीमदाचार्यकारिकाटिप्पण्यां 'अत्रेदमाकूतम्, एतावत्कालपर्यन्तं भगवता स्वरूपानन्दो न प्रकटितः । तस्य स्वरूपात्मकत्वेन तत्प्राकट्यं विना तदनुभवासम्भवात्, 'तथा परमहंसाना'मिति वाक्यायादृशेन भक्तियोगेन तत्प्राप्तिस्ताद्दृक् तत्प्रकटनायाधुनैव पुरुषोत्तमावतारादित्यादितत्तनुजरत्नप्रतिपादनान्तर्गतैतावत्कालाधुनापदवाच्यान्तर्धानकालतदधिकरणकपुरुषोत्तमावतारोक्तेरेव प्रमाणत्वादिति चेत्, अत्र वदामः । आगामिविरिञ्चिप्रयुक्तविरिञ्चिदिनरूपसारस्वतकल्पे भवन्तो व्रजे गोप्यो भविष्यथ तत्र पृथिवीस्थभारतक्षेत्रान्तर्गतमाथुरमण्डलान्तर्गतवृन्दावनेऽहं भवतां श्रेयान्रासमण्डले भविष्यामीति प्रकृतलीलाक्षरसक्षान्तःस्थानन्दमयव्यापिवैकुण्ठलोकस्थशुद्धपुष्टिस्थानरूपश्रीमद्गोवर्धनयमुनासहितनानारासरसोन्मत्तगोपीकदम्बकविशिष्टकेवल-

जीवानां शुद्धपुष्टिमार्गफलं दित्सुर्भगवान् प्रपञ्चे लीलासहित आविर्भवति । अन्यथा सर्वभावप्रपत्तिरूपसाधनस्य सर्वभावप्रपत्तिलभ्यफलस्य चाज्ञायमानत्वात् कथमेतन्मार्गप्रवृत्तिहेतुभूतफलज्ञानं स्यात्, कथं वा एतन्मार्गीयं साधनं च ज्ञातं स्यात् । तत्रैतन्मार्गीयं फलं तु व्रजभक्तसजातीयभावेन भजने भवतीति तद्भावानुसारेण भजने क्रियमाणे भगवत्ताज्ञानेपि तासां दोषारोपो न बाधको जातः, एवं ममापि न भविष्यतीति कदाचिच्छीघ्रं भगवता फलादाने तनुजवित्तजसेवाकरणसमय एव भगवति दोषारोपं कुर्यादन्मया लेतावद्दुःखमनुभूयते सेवाकरणे, भगवांस्त्वतिनिष्ठुर एतावत्पर्यन्तमपि प्रेमासक्त्यादिकं नाविर्भावयति येन फलं स्यात्तदा भगवतो निर्दोषपूर्णगुणत्वेन तत्र दोषारोपे तस्य फलप्राप्तौ विलम्बः स्यादतो भगवति कस्यामप्यवस्थायां दोषारोपो न कर्तव्य इति ज्ञापयितुं यथान्तर्गृहगतानां जारभावोत्पादनेन रासमण्डलमण्डनायमानानामपि शरीरादि निर्गुणमिति ज्ञापयितुं तासां जारभावमुत्पादितवानेवमेव रासमण्डलमण्डनायमानानामपि तादृशरसावस्थारूपमपि दोषारोपरूपं भावं दोषत्वेनाख्यापयच्छ्रीमदुद्धवमुखेनेति सर्वं सुस्थम् । तस्मादन्तर्गृहगतानामपि मुख्यमेव फलमिति सिद्धम् । अन्यच्च 'जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोधिकं मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे'ति श्रुतीः प्रति भगवदुक्तेस्तद्भावज्ञापकजारबुद्ध्यापि सङ्गता इति फलप्रकरणीयवचनस्थजारबुद्धिसङ्गतत्वोक्त्या च श्रुतिरूपा एता अन्तर्गृहगता इति ज्ञायते । एवं च श्रुतिकृतस्तुतिसन्तुष्टप्रकृत्यतीताक्षरमध्यस्थेन श्रीवृन्दावनगोवर्धनयमुनानानारासरसोन्मत्तगोपीकदम्बकविशिष्टेन किशोराकृतिना भगवता किं करवाणीत्युक्ते 'कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः । कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयम् । यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः । भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षा जनिता तथे'त्यादिना श्रुतिभिः स्वस्य कामिनीभावपूर्वकः स्मरक्षोभ उक्तस्तत्र मा कदाचिद्भगवानेवं जानातु यदेतासां लौकिककामाभिलाष इति शङ्कां वारयितुं यथा त्वल्लोकवासत्व्या गोपिकाः कामतत्त्वेन कामस्य तत्त्वं परमकाष्ठापन्नं रूपमाधिदैविकमिति यावत् तादृशकामाधिदैविकेन रूपेण रमणं रमणकर्तारं मत्वा त्वां भजन्ति तथा भजनेऽस्माकं चिकीर्षा जनितोत्पादिता त्वद्रूपदर्शनेनेति श्रुतिभिः प्रार्थितम् । तत्र भगवल्लोकस्थनित्यसिद्धगोपिकाभावसजातीयभावेन भजनचिकीर्षैतासाम् । तत्र भगवल्लोकस्थनित्यसिद्धगोपिकानां न भगवति जारभावः किन्तु सर्वभावप्रपत्तिरूपो भावः । एवं च यद्येतासां मध्यमं फलं भगवान् दद्यात् तदा 'ये यथा मा'मिति मर्यादा भज्येत । तस्मादपि न तासां मध्यमं फलं किन्तूत्तमेव । अग्रेपि 'दुर्लभो दुर्घटश्चैष युष्माकं सुमनोरथः । मयानुमोदितः सम्यक् सत्यो भवितुमर्हती'त्यत्र मनोरथस्य दुर्लभत्वं दुर्घटत्वं चोक्तम्, सुमनोरथ इत्यनेन मनोरथस्य शुद्धत्वं चोक्तम् । यदि जारभावेन भजन एव मनोरथः स्यात् तदा दुर्लभत्वं दुर्घटत्वं च नोक्तं स्यात् । कदाचित् तदानीं श्रुतीनां विवाहितपतेरभावात् स्वस्मिन्

जारभावो दुर्घटोत एव दुर्लभश्चेति दुर्लभत्वदुर्घटत्वोक्तिः सङ्गच्छेतापि, परन्तु सुमनोरथ इत्यत्र मनोरथे सुष्ठुत्व तु न सङ्गच्छेत, जारभावेन भजनमनोरथस्य दुष्टत्वेन सुष्ठुत्वाभावात् । तस्मात् सुमनोरथपदेन सर्वभावप्रपत्तिपूर्वकभगवल्लोकवास्तव्यगोपिकाभावसजातीयभावमनोरथ एवोक्तोनेति निश्चितम् । अत एवाग्रे मयानुमोदित इत्यनेन पूर्व मल्लोकवासिगोपीभिर्मोदितो अनु पश्चान्मया मोदितो अत एव सम्यक समीचीनः सत्यो भवितु योग्यो भवति । ममैतदधीनत्वादेतासा मोदन विना न सत्यो भवितु योग्य स्यादिति भाव । अन्यथा तासा मोदन नापेक्ष्येत, निकृष्टमनोरथस्य सत्त्वात् । एतदग्रे तु 'आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते । कल्प सारस्वत प्राप्ते व्रजे गोप्यो भविष्यथ । पृथिव्या भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले । वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान्वो रासमण्डले, जारधर्मेण सुस्नेह सुदृढ सर्वतोधिकम् । मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे'त्यनेन प्रपद्दकैनैताभिरप्रार्थित किञ्चित्कार्यार्थ जारभावो भगवतैव दत्त इति प्रतीयते स्फुटमेव । तत्राय भगवदभिप्राय । मया त्वागामिविरिञ्चिदिनरूपसारस्वतकल्पे पृथिवीस्थभारतक्षेत्रस्थमाथुरमण्डलान्तर्गतवृन्दावने सर्वभावप्रपत्तिस्तत्फल च प्रकटनीय जीवविशेषोद्धारार्थम् । तत्र सर्वभावप्रपत्तिर्निर्गुणा, तद्भाववता देहादिक च निर्गुणम्, तादृशीना भगवत्सङ्गमविरहजन्य सुख दुःख च निर्गुणमिति ज्ञापनीयम्, अन्यथा रासमण्डलमण्डनायमानाना भावादिषु सगुणत्वबुद्ध्या सर्वेषा प्रवृत्तिर्न स्यात्, तथा च मदवतारोपि व्यर्थ स्यादत एता एव श्रुतीरस्मिन्कल्पे अवतारयित्वैतासा भावादिक च सगुण विधाय सगुणभाववता सगुणदेह सुखदुःखादिक च कर्मजन्यमिति ज्ञापनीयम् । एव सत्येतासा तद्भाववद्देहादिनाशे लौकिकभिन्नशरीरप्राप्तौ सर्वभावप्रपत्तिरूप साधन तल्लभ्य फल भविष्यति, मुख्याना भावादेर्निर्गुणत्व च ज्ञापित भविष्यतीत्युभयमपि कार्य सेत्स्यति । अन्यथा तज्ज्ञापनार्थ प्रयत्नान्तरकरणमापद्येतेति जारभावो भगवतैव दत्तो, न तु तासा जारभावप्रपत्ति साधननिकीति बोध्यम् । एव च बृहद्वामनपुराणीयकथाविचारेणापि नैतासा मध्यमफलमायातिकिन्तूत्तमफलप्राप्तिरेवेति कृतमधिकतराभिनिवेशेन । अत एव सुबोधिन्यामुक्त पुरस्तादित्यस्य द्वितीयव्याख्याने श्रीमदाचार्यैरुक्त 'यासा साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्तासा सर्वासामेव रासमण्डलमण्डनायमानाना शरीरमपि गुणातीतमेवेति ज्ञापयितु भगवानेव कतिपय गोपी सगुणदेहा स्थापयित्वा पूर्वोक्ताना भावोपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासा सगुणभावमुत्पाद्य तन्निवर्तकोपि स्वयमेव नान्य इति ज्ञापयितु तन्निवृत्ति विधायाग्रे भाविस्वविरहजदुःखस्वसङ्गमसुखयो कर्माजन्यत्वमपि ज्ञापयितु कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्ति विधाय मत्स्वाम्येव सर्व कृतवानिति निगर्व । अत्र पुष्टिमार्गाधिकारान्मर्यादामार्गाया अनुपपत्तयोनवसरपराहता इति सर्वमनवद्य'मिति । न च तासा यदा सगुणदेहनाशस्तदैव भगवति सर्वजीवतत्त्वरूपभगवत्कौस्तुभे वा 'मणिधर क्वचिदागणयन्गा' इत्यनोक्तगोपि-

(अत्र एकं पत्रं त्रुटितमिति प्रतिभाति)———एतासामन्तर्गृहगतानां रासानुभवोत्तरं भवन्मते कुत्र स्थितिर्भवतोच्यते, अस्मन्मते तूक्तस्थानान्यतमस्थाने स्वयाद्भगवता सह व्रज एव समागमनम्, पुना रासलीलासमये भगवता सह तत्र गमनम्, तदा त्वलौकिकदेहप्राप्त्या रमणम्, पुनरपि तत्रैव लय इति चेत्, अत्र ब्रूमः । यावद्व्रजीयैरलक्षितत्वेन केवलप्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनाभावविशिष्टत्वेन चास्मिन्नेव व्रजेऽन्तर्गृहगतानां स्थितिः । न च विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव व्रजे तासां स्थितौ किं मानमिति वाच्यम् । 'या मया क्रीडता रात्र्या'मिति भ्रमरगीतपद्यसुबोधिनीस्थश्रीमदाचार्यकृतव्याख्यानस्यैव प्रमाणत्वात् । तथा हि, यदि व्रजीयैरन्तर्गृहगतानां सगुणदेहस्यागोचरप्राप्तनिर्गुणदेहसम्बन्धिनी लीला दृश्येत तदा रासमण्डलमण्डनायमानाः प्रति स्वान्तर्गृहगताविषयकस्वकृतक्रीडाव्रजस्थितिकथनपूर्वकं किमिति स्वप्राप्तिसाधनं बोधयेत्, स्वप्राप्तिसाधनमात्रमेव तु बोधयेत्, स्वकृतक्रीडाव्रजस्थित्योस्तु ताभिर्दृश्यमानत्वादतो नैतासां तल्लीलादर्शनमिति भगवतासां स्वक्रीडाव्रजस्थिती अपि बोध्येते इति यावद्व्रजीयैरलक्षितत्वं सिद्धम् । अथ च भवत्यः समागताः अन्तर्गृहगता गृह एव स्थितास्तास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न तु भवत्यः। अनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्यस्तस्मान्मदर्थं जीवनस्थापनमिति पक्षो निरर्थकः। अन्यथा समागतानां भवतीनां पुनः क्लेशो न भवेदनुभवसिद्धश्च क्लेशः । ननु ताः प्रतिबन्धेन तथाभूताः कथं स्तुत्या इत्याशंक्याह कल्याण्य इति । तासां महद्भाग्यमस्तीत्यवश्यप्रतिबन्धरूपं दुरितं दृष्ट्वैवोपक्षीणमिति कण्टकेन कण्टकोद्धारवद् देहनिराकरण एवोपक्षीणम्, भवतीनां तु तद्दुरितमिमामवस्थां प्रापितवत्, अतो मदुक्तप्रकारेण दोषं परित्यज्य तामवस्थां प्राप्य मां प्राप्स्यथेति भाव इति श्रीमदाचार्यव्याख्यानपर्यालोचनेनान्तर्गृहगतानां नाक्रूरागमनरूपमथुरोद्देश्यकभगवद्गमनरूपप्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनमस्ति । यदि तद्दर्शनं स्यात् तदा भवतीनां तु तद्दुरितमिमामवस्थां प्रापितवत्, तास्तु महाभाग्यवत्यस्तासामवश्यप्रतिबन्धरूपं दुरितं सगुणदेहनिवृत्त्यैवोपक्षीणमतस्ता इमामवस्थां न प्रापितवदिति भगवान्न कथयेदेव । अक्रूरागमनभगवद्गमनदर्शनजक्लेशस्यैतासामप्यवश्यसिद्धत्वात् । तस्मादन्तर्गृहगतानां न प्रपञ्चमात्रनिर्भूतलीलादर्शनमित्यपि सिद्धम् । उचितं चैवमेव यतः श्रुतिरूपाभिरन्तर्गृहगताभिर्'यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः । भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षा जनितास्तथे'त्यनेन प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मव्यापिवैकुण्ठान्तर्गतव्रजान्तस्थप्रपञ्चानन्तर्गतवृन्दावने तत्रस्थनानागमरमोन्मत्तगोपीकदम्बकभावगजातीयभावेन भगवता सह रमणं प्रार्थितम्, तद्यदि तासां प्रापञ्चिकपदार्थदर्शनं स्यात्, तदा प्रपञ्चानन्तर्गतवृन्दावने तादृशभावेन भगवता सह रमणं न प्राप्तमेव स्यात्, एवं च 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति मर्यादाभंगः स्यादिति न तासां प्रपञ्चमात्राविर्भूतलीलादर्शनमिति सार्धीयसी पूर्वोक्तोक्तिः । एवमेवास्मिन्नेव व्रजे ता आसिता इति

भवतीनामपि निर्बन्धेनैवात्र स्थापनमित्यनेनास्मिन् व्रज आस्थिता इत्यस्य व्याख्यानेनास्मिन्नेव व्रजे स्थितत्वमपि सिद्धम् । इदमेवाभिप्रेत्य पूर्वमेवोक्तं यज्ञपत्नीप्रसंगे त्रिंशाध्याये, 'तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम् । हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धन'मितिपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यां भगवत्सङ्गतायाः स्थानान्तरं न मृग्यम्, तच्छक्तीनामिव । अत्र यत्र भगवांस्तत्र तच्छक्तयः श्र्यादयो गोप्यादयो वेत्यर्थो ज्ञेयः । एवं चात्र भगवान् व्रजे तिष्ठतीति ता अपि व्रजे एव चेति व्रजे स्थितत्वमायात्येवेति दिक् । एवं च सिद्धा विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव व्रजे स्थितिरन्तर्गृहगतानाम् । तथा च गोपसाहित्येन गोचारणलीलार्थं भगवतो गमने रासलीलानन्तरं भगवतो गृहगमने च दिवा विप्रयोगरसानुभवः, सायंसमये परावृत्य भगवदागमने रात्रौ च वृन्दावन एव महानन्दसन्दोहानुभवश्चैतासामपीति संयोगरसमात्रानुभव एवैतासामिति कथं वक्तुं शक्यत इति कृतं विस्तरेणेति सर्वं चतुरस्रम् ।

स्यादेतत् । वयमन्तर्गृहगतानां यन्मध्यमं फलं वदामो न तूत्तमफलम्, तत्र यतोऽन्तर्हिते भगवतीति फलप्रकरणीयद्वितीयाध्यायस्यप्रारम्भ.वव्याख्यानसुबोधिन्यां सन्ति च सिंहास्तथात्र काल इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम् । व्याख्यातं चैतत् तत्तनुजरत्नैः स्वकृततट्टिप्पण्यामवतारसम्पूर्तिकाल इत्यर्थं इति, तत्रापूर्णविप्रयोगसंयोगात्मकः पूर्वावतारः समाप्त इदानीं पूर्णविप्रयोगात्मकपूर्णसंयोगात्मकपुरुषोत्तमावतारो जात इत्युच्यते, तत्रान्तर्हिते भगवतीत्यनेन पूर्णविप्रयोगात्मकस्तदनन्तरं 'तासामाविरभू'दित्यनेनैकोनत्रिंशाध्याये पूर्णसंयोगात्मकपुरुषोत्तमावतार उक्तः । एवं च पूर्वस्वरूपाद्भिन्नमेवेदं भगवत्स्वरूपं परमकाष्ठापन्नम्, एतत्तु अन्तर्गृहगताः प्रति न प्रकटमेव, अतस्तासां नैतादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिः, किन्तु न्यूनसंयोगविप्रयोगरसात्मकत्वेनासम्पूर्णत्वात् तादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिरेवेति न सम्पूर्णफलप्राप्तिरिति तासां मध्यमफलप्राप्तिरित्युच्यते । न चेद् स्वरूपं पूर्वं न प्रकटमिदानीमेवाविर्भूतमित्यत्र किं प्रमाणमिति वाच्यम्, 'गायन्त्य उच्चै'रितिपद्यव्याख्यानसुबोधिनीस्थशब्दो हि धूमवल्लोक इति श्रीमदाचार्यतनुजरत्नकृतश्रीमदाचार्यकारिकाटिप्पण्यां 'अत्रेदमाकूतम्, एतावत्कालपर्यन्तं भगवता स्वरूपानन्दो न प्रकटितः । तस्य स्वरूपात्मकत्वेन तत्प्राकट्यं विना तदनुभवासम्भवात्, 'तथा परमहंसाना'मिति वाक्याद्यादृशेन भक्तियोगेन तत्प्राप्तिस्तादृक् तत्प्रकटनायाधुनैव पुरुषोत्तमावतारादित्यादितत्तनुजरत्नप्रतिपादनान्तर्गतैतावत्कालाधुनापदवाच्यान्तर्धानकालतदधिकरणकपुरुषोत्तमावतारोक्तेरेव प्रमाणत्वादिति चेत्, अत्र वदामः । आगामिविरिञ्चिसप्तचतुर्युगतविरिञ्चिदिनरूपसारस्वतकल्पे भवन्त्यो व्रजे गोप्यो भविष्यथ तत्र पृथिवीस्थभारतक्षेत्रान्तर्गतमाथुरमण्डलान्तर्गतवृन्दावनेऽहं भवतां प्रेयान्रासमण्डले भविष्यामीति प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मान्तःस्थानन्दमयव्यापिवैकुण्ठलोकस्थशुद्धपुष्टिस्थानरूपश्रीमद्गोवर्धनयमुनासहितनानारासरसोन्मत्तगोपीकदम्बकविशिष्टकेवल-

शृंगाररसानन्दमयेन सारस्वतकल्पानुसारिश्रीभागवतीयकृष्णस्तु भगवान् स्वयमितिवचनसिद्धपरमकाष्ठापन्नत्वेन भगवता वेदान् प्रति वरो दत्तः। एवं च ब्रह्मकल्पादारभ्य सारस्वतकल्पपर्यन्तं न पूर्णपुरुषोत्तमावतारो जातः, सारस्वतकल्प एव च जात इति सिद्धम्। एवं चेदं प्रघट्टकमेव मनसिकृत्यैतावत्कालाधुनापदे उक्ते। तथा चैतावत्कालपर्यन्तपदस्य ब्रह्मकल्पादारभ्य सारस्वतकल्पपर्यन्तमित्यर्थोऽधुनापदस्य च सारस्वतकल्पे इत्यर्थः सम्पन्नः। तथा च बाल्यमारभ्य कृता लीला सर्वापि रसात्मतामापद्यते। भवदुक्तप्रकारे त्वेतदवतारपूर्वसामयिकी सर्वापि लीला स्वरूपान्तरसहभावेन कृतत्वाद्रसाभासतामाविष्करोति। किञ्च। रासमण्डलमण्डनाभिः कृतं 'कस्याश्चित् पूतनायन्त्या' इत्यादिलीलानुकरणमपि न सङ्गच्छते। इदानीमाविर्भूतविप्रयोगसंयोगात्मकस्वरूपेण तत्तल्लीलाया अकृतत्वात्। स्वप्रियकृतलीलानुकरणस्यैव लीलाहावरूपत्वमिति रसशास्त्रसिद्धान्तात्। अपरञ्च। विचयनसामयिकनन्दसूनुर्गतो हत्वा रामानुजो मानिनीनां, गोविन्दचरणप्रिये इत्यादिषु नन्दसुतबलमदानुजगोकुलेन्द्रादिनामकथनस्याथ च 'विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसा'दित्याद्युक्तकालीयादिभयरक्षितत्वगोचारणगमनकर्तृत्वादिकथनस्य तत्समयप्रकटस्वरूपे सम्भवाभावेन भ्रमरूपत्वापातात्। न चास्तु भ्रमरूपत्वमिति वाच्यम्। तथा सति रासमण्डलमण्डनायमानानां भावानुसारेणेदानीन्तनभजनकर्तृभिरेतादृशभवत्सिद्धान्तस्य ज्ञायमानत्वेन नन्दसून्वादिनामाग्रहणस्य बाललीलामारभ्य रासलीलाप्रारम्भपर्यन्तकृतलीलानामभावनाप्रसक्तेः। अन्यच्च। श्रीमन्नवनीतप्रियश्रीमद्गोवर्धनोद्धरणस्वरूपभजनाप्रसक्तेश्च महाननर्थः प्रसज्येत। न च तदन्तर्गतमिदमपि स्वरूपं वर्तत एवेति वाच्यम्। तथा सति तत्तल्लीलाविशिष्टस्वरूपाणां तत्तल्लीलाश्रवणादीनां तत्तत्स्वरूपभजनस्य च गौणलीलात्वगौणश्रवणादित्वगौणस्वरूपभजनत्वापत्तेश्च। अपरञ्च। 'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम्। तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधा' इतिपद्येन श्रीमदाचार्यैर्यशोदोत्सङ्गलालितस्य सिद्धान्तितायाः परमतत्त्वताया भङ्गप्रसङ्गश्च। न हीदानीमाविर्भूते स्वरूपे यशोदोत्सङ्गलालितत्वमस्तीति तद्विरुद्धा भवद्राद्धान्तपद्धतिः कथं मन्यतामुपेयात्। अथ च 'सखि कापि सापि सम्प्रति वरिवर्ति किमु व्रजाधिपप्राणा। या नन्दसूनुमुरलीतरलं चेतः *समादध्या'दिति तत्तद्व्रजराजोक्ता स्वस्य तरलचेतस्त्वे नन्दसूनुमुरल्या हेतुत्वोक्तिरपि कथं* सगच्छता स्यात्। श्रीमदाचार्यरत्नानां तत्तद्व्रजराजानां च व्रजमक्तभावात्मकभगवत्स्वरूप एव निष्ठावत्त्वात्। ननु तर्ह्यवतारसम्पूर्तिकाल इत्यस्यासत्प्रभुकृततयात्र काल इत्यत्रत्यकालपदव्याख्यानस्य का गतिरिति चेत्। अत्रोच्यते। पृ पालनपूरणयोरितिधात्वर्थानुसारात् सम्पूर्तिशब्दस्य सम्पूर्णता ह्यर्थः, सा च केनचित् प्रकारेण न्यूनस्य भवति। तत्रास्मदाचार्योक्तमार्गो हि फलमार्गः। तत्र फलरूपो भगवानेव साधनम्, फलरूपो भगवानेव च फलम्। तत्र परमकाष्ठापन्नस्य फलरूपभगवतो 'रसो वै स' इति श्रुते

रसरूपत्वात् स्वप्नादिसंयोगविशिष्टप्रेमासक्तिव्यसनपर्यन्तावस्थासंवलितपूर्वानुरागजविप्रयोगरूपेण साधनता । तदनन्तराविर्भूतपरस्परपोष्यपोषकभावविशिष्टविप्रयोगातिपुष्टपूर्णपूर्णतरपूर्णतमसंयोगतादृशसंयोगातिपुष्टपूर्णपूर्णतरपूर्णतमविप्रयोगपरम्परारूपेण च फलता । तत्रापि परम्परायां परमफलता तु संयोगरूपस्यैव । इदं यथा तथानुपदमेव प्रतिपादयिष्यते । एवं च बाल्यमारभ्य पौगण्डान्तं पूर्वोक्तप्रकारकपूर्वानुरागजविप्रयोगरूपसाधनविशिष्टत्वमेव व्रजभक्तानाम् । तत्र फलात् साधनं न्यूनमेवेत्यनुभवसिद्धम् । अन्यथा साधने प्राप्ते फलाकाङ्क्षा न स्यात् । तथा चैतासां पूर्वानुरागविशिष्टस्वप्नादिसंयोगसुखे प्राप्तेपि बाह्यसंयोगसुखस्याभिलषितस्याजातत्वादेतावत्पर्यन्तं साधनरूपत्वमात्रेणैव भगवत आविर्भावात् पुरुषोत्तमावतारो न्यून एव स्थितः । अतःपरं तु 'बाहुप्रसारपरिरम्भे'त्याद्युक्तेन तदभिलषितपूर्णबाह्यसंयोगसुखरूपेण, तदनन्तरमेतत्संयोगसुखपोषार्थमुक्तसंयोगषु 'ह्यन्तर्हिते भगवती'त्याद्युक्तेन पूर्णविप्रयोगस्वरूपेण, तदनन्तरं 'तासामाविरभू'दित्याद्युक्तेन रासावसानपर्यन्तं पूर्वपूर्णसंयोगसुखस्वरूपादपि कोटिगुणेन पूर्णविप्रयोगपुष्टेन पूर्णतरसंयोगसुखरूपेण, तदनन्तरं च गोप्यः कृष्णे वनं यात इत्याद्युक्तेन पूर्वोक्तपूर्णतरसंयोगसुखपुष्टेन परार्धगुणभाविसंयोगसुखपोषार्थं पूर्णतरविप्रयोगस्वरूपेण, ततः पुनः पूर्वोक्तपूर्णतरविप्रयोगपुष्टेन गोचारणपरावृत्तिजनितबहुपरार्धगुणपूर्णतमसंयोगसुखरूपेणाविर्भूतः, ततः पुनरप्यक्रूरकृतमथुरानयनजनितेन पूर्णतमसंयोगसुखपुष्टेन पूर्णतमविप्रयोगरूपेण पुनरपि भावभरेणानन्तगुणान्तरबाह्यसंयोगसुखस्वरूपेण चेत्येवं संयोगपरम्परारूपेणाविर्भविष्यति भगवान् । एवं चेदानीमेव रसरूपावतारस्य पूर्वं बाहुप्रसारेत्यादिना एकदलरूपसंयोगावतार उक्तः, इदानी'मन्तर्हिते भगवती'त्यादिना द्वितीयदलरूपविप्रयोगावतार उच्यते इति सम्पूर्णता जायत इत्यवतारसम्पूर्तिकाल इत्यत्रत्यसम्पूर्तिशब्देन सम्पूर्णतोक्ता, न तु पूर्वावतारसमाप्तिर्जातेत्युच्यते । समाप्तिरूपार्थस्यैव विवक्षितत्वेवतारसमाप्तिकाल इत्येवोक्तं स्यात् । तस्मादवतारसम्पूर्तिकाल इत्यस्यावतारसम्पूर्णताकाल इत्यर्थः सम्पन्न इति नन्वित्यादिभवत्प्रश्नोत्तरस्य सिद्धेरिति सर्वं भव्यम् । यत्पुनर्विप्रयोगस्यैव फलत्वम्, न संयोगस्य, संयोगस्तु तडिल्लतावत् किञ्चित् कालं मध्ये मध्ये जायमानो भक्तानां देहस्थित्यर्थमुपयुक्तो भवति । भगवद्विषयकविप्रयोगस्यातिदुःसहत्वात् । अत एव भगवतो मथुरातः परावृत्त्यानागमनम्, संयोगस्यैव फलत्वे मथुरातः परावृत्त्यागमनमेव स्यात् । नन्वत्र किं प्रमाणमिति चेत् । 'भवतीनां वियोग' इति पद्यव्याख्यानसुबोधिन्यामयदेहभावेनात्मा गौण इति देहेन सह वियोग आविर्भूतस्योच्येत । तदपि न घटते । समवायिकारणत्वेन तेषु वर्तत इति । अन्यथा देहा निःस्वभावाः स्युः । आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारी । अन्यथा स्वरूपनाश एव स्यात् । यथाग्निकाष्ठयोः । पूर्वसम्बन्धेनैवैता अर्धदग्धाः, पुनः सम्बन्धेन सर्वदाह एव स्यात् । सुखानुभवस्तु स्वान्तःस्थिताग्न्यभिव्यक्तिवत् स्वान्तःस्थितभगवदभिव्यक्त्या । सर्वयामि-

व्यक्तौ काष्ठांशो ज्वलिष्यतीति न सम्बध्यते, यतो भगवान् प्रलयकर्तृत्वादिप्रघट्टकपर्यालोचने काष्ठान्तःस्थिताग्नेरभिव्यक्तिर्यथा बाह्योपाधिसम्बन्धाभावे किञ्चित्कालिकी, एवं स्वान्तःस्थितभगवदभिव्यक्तिरपि तडिल्लतावद्भगवत्संयोगाद्विप्रयोगस्यैव सार्वकालिकत्वाद्विप्रयोगस्यैव फलत्वं न संयोगस्येति श्रीमदाचार्यचरणोक्तेरेव प्रमाणत्वात्, आविर्भूतेन वियोगस्त्वित्यादेरयमर्थः । यद्याविर्भूतस्वरूपेण संयोगः स्यात् तदा मथुरात आगमनज्ञानेऽस्मान् विहाय गत इति निश्चयजनितमहादुःखेन देहपातः स्यात्, तदेवोक्तमन्यथेत्यादिना सदृष्टान्तमतोऽयं वियोगो हितकारीति भावः । पूर्वसम्बन्धेनेत्यादेरयमर्थः । राससामयिकवियोगोत्तरसञ्जातसम्बन्धेनैवैताः स्वत्यागजनितमहादुःखेन स्मरणपथगतेनार्धदग्धाः, अतःपरमिदानीन्तनसम्बन्धे मथुराविषयकगमनज्ञानेन कोटिगुणे दुःखे जाते सर्वदाहः स्यादिति ज्ञेयाग्रे स्पष्टोऽर्थ इति वदन्ति । तत्रापि वदामः । भगवद्रूपरसो ह्यग्निरूपः । तत्र यथाग्निस्तापजनकः शीतलताजनकश्चेति द्विविधः । तत्रान्नादिपरिपाकजनकोऽग्निस्तु तापजनकः । हिमादिरूपोऽग्निस्तु शीतलताजनकः । तत्र यावत्पर्यन्तं देहादिषु तापस्तावत्पर्यन्तं हिमरूपोऽग्निः स्वसम्बन्धेन देहादिस्थितिकारकः । सर्वथा स्वसम्बन्धेन देहादिनिष्ठतापनिवृत्तौ शीतलतागुणेन देहादिनाशकश्च । एवं रसरूपो भगवद्रूपोऽग्निरपि विप्रयोगसंयोगरूपेण द्विधः । तत्र विप्रयोगात्मको रसरूपो वह्निस्तापकारकः, संयोगरूपो वह्निस्तु शीतलताकारकः । तत्र यावत्पर्यन्तं देहे विप्रयोगजनितस्तापसम्बन्धस्तावत्पर्यन्तं तापनिवर्तकस्वशीतलतागुणेन देहजीवात्मनोः स्थितिकारकः । स्वसम्बन्धेन सर्वथा तापनिवृत्तौ संयोगरूपो वह्निस्तु जीवलयसम्पादकस्वभावत्वात् स्वसम्बन्धेन सर्वथा जीवस्य लये सम्पन्ने स्थितोऽपि भक्तिमार्गीयजीवात्मा रसानुभवाभावान्नष्ट एव भवतीति तन्नाशकारकः । अस्मिन् पक्षे श्रीमदाचार्योक्तसर्वदाह एव स्यादित्यत्रत्यदाहपदेन स्वरूपनाश एव स्यादित्यत्राप्याचार्योक्तनाशपदेनापि लय एव ज्ञेयः । जीवस्याविकृतत्वान्नित्यत्वात् काष्ठादिदाहवद्दाहस्य देहादिनाशवन्नाशस्य चाऽसम्भवात् । एवं च सति यदि भगवानेताभिः सह संयुज्येत तदा पूर्वानुभूतानन्दात् कोटिगुणानन्दप्रादुर्भावे सर्वथा तापनिवृत्तौ भक्तात्मनां लय एव भवेद्, एवं च रसमार्गीयफलाभावः सम्पद्येतेत्याविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारीत्युक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः । न च लयसम्भावनायामेव पुनरपि विप्रयोगाविर्भावे पूर्वोक्तफलसम्भव इति वाच्यम् । यदि पुनरपि बहिराविर्भूतस्वरूपविप्रयोगाविर्भावावश्यकत्वम्, तदैतेनैव विप्रयोगेण चारितार्थ्यात् पिष्टपेषणन्यायप्रसक्तेः । न च सुखानुभवार्थं बहिराविर्भूतस्वरूपेण संयोगो देय एवेति वाच्यम् । अन्तःस्थिताग्न्यभिव्यक्तिवदन्तःस्थितभगवदभिव्यक्त्या सुखानुभवसिद्धिरिति श्रीमदाचार्यैरेवोक्तत्वाद्बहिराविर्भूतस्वरूपसंयोगस्य निःप्रयोजनकत्वादिति दिक् । यद्वा । बहिराविर्भूतस्वरूपेण वियोगस्तु हितकारीत्यस्यायमर्थः । प्रथमप्रादुर्भूतमथुरागतभगवत्सम्बन्धे महासुखानुभवे जाते पुनरपि रसरूपभगवत्स्वभावाद्विप्रयोगे जाते यथा यथा

संयोगानन्दाधिक्यम्, तथा तथा विप्रयोगे तापाधिक्यम्, यथा यथा विप्रयोगे तु दुःखाधिक्यम्, तथा तथा संयोगे आनन्दाधिक्यम्, इत्यनुभवान्मधुरागतस्वरूपेण विप्रयोगे पूर्वतापादपि कोटिगुणे तापे जाते देहनाश एव स्यात्, एतत्तापस्य प्रलयाग्नितापादपि प्रबलत्वात् । यथा वाह्याग्निकाष्ठसम्बन्धे काष्ठनाशः । अस्मिन् पक्षे पूर्वसम्बन्धेनैवैता अर्धदग्धाः, पुनः सम्बन्धे सर्वदाह एव स्यादित्यत्रलपूर्वसम्बन्धेनेत्यस्य पूर्वविप्रयोगसम्बन्धेनेति पुनः सम्बन्धे इत्यस्य च पुनर्विप्रयोगसम्बन्धे इति चार्थो बोध्यः । तस्माद्बहिराविर्भूतस्वरूपेण भगवान्न सम्बध्यते । सुखानुभवस्त्वन्तरनुसन्धानेन्तःस्थितात्मभिव्यक्तिवदन्तःस्थितभगवत्स्वरूपाविर्भावेनान्तर्बहिरनुसन्धाने भगवत्सङ्गमाकाङ्क्षायामप्यन्तःस्थितस्य बाह्यप्राकट्यादेव बहिरपि भविष्यत्येवेति बहिराविर्भूतस्वरूपेण वियोगो हितकारीत्युक्तं श्रीमदाचार्यैः । न चान्तःस्थस्वरूपप्राकट्येन तत्सम्बन्धजनितसुखातिशयोत्तरसञ्जातविप्रयोगादपि देहनाशप्रसक्तिर्भविष्यत्येवेति वाच्यम् । बाह्यतृणतूलरूपोपाधिसम्बन्धाभावे मथनाविर्भूतकाष्ठान्तःस्थवह्निर्न काष्ठदहनसमर्थः, तथात्र बाह्योपाधिरूपसर्वमुक्तिदानसम्बन्धाभावे बहिराविर्भूतस्वरूपमप्यग्नित्वान्न देहनाशकरम्, किन्तु प्रपञ्चातीततापक्लेशनाशरूपरसधर्मपुरस्कारेणैव प्रकटमिति तदेव करोतीति भवदुक्त्यप्रसक्तेः । यद्वा । आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारीत्यादेरयमभिप्रायः । प्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपं हि सर्वमुक्तिदानाय प्रकटम्, तत्र सर्वमध्ये गोपिकानामपि सत्त्वादेतासामपि लयरूपमुक्तिमेव प्रतिक्षणं ददाति भगवान्, परं तस्मात् पृथक्कृत्य भजनानन्दमनुभावयति । 'ये यथा मा'मिति प्रतिज्ञातः । अत्रोपष्टम्भकरूपा 'यत एतद्विमुच्यत' इतिफलप्रकरणीयपञ्चाध्यायीपद्यव्याख्यानसुबोधिनी द्रष्टव्या । एवञ्च तस्मात् पृथक्करणक्लेशः प्रतिक्षणं प्रभोर्भवतीति प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्येति न्यायाद्बहिःप्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपेण भगवान् न सम्बध्यते, तेन गोपिकानां लयनिवृत्तिर्हितं भवतीति प्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपेण वियोगो हितकारीत्याचार्यैरुक्तम् । बाह्यानुसन्धानेनुसन्धाने वा भावभरेणान्तर्बहिःप्रकटरसरूपस्यसंयोगं तु करोत्येव प्रभुः । तासामभिलषितत्वाद्रसमार्गीयपरमफलरूपत्वाच्च । तस्मान्न विप्रयोगस्य परमफलत्वम्, किन्तु संयोगस्यैव । संयोगसाधनत्वात् पूर्वानुरागजनितविप्रयोगस्य संयोगपोषकत्वात् संयोगानन्तराविर्भूतस्य विप्रयोगस्य च परमफलत्वमुच्यते । अन्यथा भगवत्संयोगोस्माकं भवत्विति इच्छेदयवद्व्रजभक्तानां भगवद्विप्रयोगोस्माकं भवत्विति इच्छेदयोपि श्रीभागवते श्रुतः स्यात् । इदानीन्तनानां भगवद्विप्रयोगेच्छोदयस्तु भगवत्संयोगसाधकत्वपोषकत्वज्ञानादेव भवतीति न काप्यनुपपत्तिः । यद्यपि भगवतो रसरूपत्वात् संयोगविप्रयोगात्मकत्वाद्रसरूपभगवत्प्राप्तौ विप्रयोगोप्याम्रादिफले त्वग्बीजादिवदन्तर्गतोभवति तथापि त्वग्बीजादिप्राप्त्या यथाम्रफलरसाकाङ्क्षा भवत्येव, तद्रसप्राप्त्या तु त्वग्बीजाद्याकाङ्क्षा न भवति, तथा विप्रयोगप्राप्त्या संयोगाकाङ्क्षा भवत्येव, संयोगप्राप्त्या तु विप्रयोगाकाङ्क्षा तु न भवतीति संयोगस्यैव परम-

फलत्वं वक्तुं शक्यते। ज्ञाते सति स्वप्रवृत्तितयेष्यमाणस्यैव फलत्वात्। न त्विदं विप्रयोग इति न विप्रयोगस्य फलत्वम्। अत एव फलप्रकरणीयप्रथमाध्यायसुबोधिनीप्रारम्भस्थाया- 'मतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशम्। बाह्याभ्यन्तरभेदेन ह्यान्तरं तु महाफल'-मितिकारिकायां रमणपदवाच्यबाह्याभ्यन्तरसंयोगस्यैव फलत्वं महाफलत्वं च क्रमेणैवोक्तम्। एवमेव 'स्वानन्दस्थापनार्थाय लीला भगवता कृता। स बाह्यो जनितः पुष्टो यथान्तर्निर्विशेत्पुनः। तदर्थं भगवांस्तासु लीलया सहितोविश'दित्येतद्द्वितीयाध्यायसुबोधिनीप्रारम्भकारिकायां विप्रयोगस्य संयोगपोषकत्वमेव, फलत्वं तु संयोगस्यैव श्रीमदाचार्यवर्यैरुक्तम्। अत एव 'मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठ' इति भ्रमरगीतपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यामपि फलसाधकत्वाद्भक्तिमार्गे विरह एव पुरुषार्थ इति किमिति निराक्रियते तत्राहेत्वाभासे विप्रयोगस्य फलसाधकत्वमेवोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैर्न तु फलत्वमिति भवत्सिद्धान्तिता विप्रयोगस्यैव परमफलरूपता कथं सङ्गच्छेततराम्। अतःपरं विप्रयोगान्तर्गतभगवत्स्वरूपप्राकट्यं तदिच्छतावत् किञ्चित्कालिकमेव भवति, अन्यथा देहनाशः स्यादिति यदुक्तम्, तदपि न विचारक्षमम्। ताभिः किञ्चित्कालिकसंयोगस्यानाकाङ्क्षितत्वात्, बहुकालिकसंयोगस्यैव तदाकाङ्क्षाविषयत्वात्। इदं तु दशमस्कन्धीयपड्त्रिंशाध्याये 'अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः। तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकं विचेष्टितं तेऽर्भकचेष्टितं यथे'-त्यारभ्य श्लोकचतुष्टये 'निवारयामः समुपेत्य माधवं किन्नो करिष्यन्कुलवृद्धबान्धवाः। मुकुन्दसङ्गान्निमिषार्धदुस्त्यजाद्दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम्, यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्रलीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम्। नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्त'मितिश्लोकद्वये च प्रकटमेव। एवमपि सति यदि किञ्चित्कालिकमेव संयोगं दद्यात् तदा 'ये यथा मा'मिति भगवत्प्रतिज्ञाहानिः स्यात्। तदिच्छतावदेतासां संयोगो भवतीत्यादिप्रकारस्य श्रीमदाचार्यैस्तत्तनुजरत्नैश्च कण्ठरवेण कुत्राप्यनुक्तत्वाच्च। तस्मादन्तर्बहिर्दिवा रात्रौ चातृप्तिसंयोगरूपेण प्रकटः, पुनस्तत्संयोगपोषार्थं विप्रयोगरूपेण च प्रकटः, पुनः पूर्वप्रकारसंयोगरूपेण पुनर्विप्रयोगरूपेणेति परम्परया गोपिकाभिः सह क्रीडति भगवानिति कृतं विस्तरेण। ननु तथापि नान्तर्गृहगतानामेवंविधसम्पूर्णरसरूपभगवत्प्राप्तिरेतासां मुक्त्यनन्तरमेवैतादृशरसलीलाप्राकट्यादिति तत्प्राप्तफलस्य मध्यमफलत्वमस्माभिरुच्यत इति चेत्, अत्रोच्यते। सगुणशरीरत्यागोत्तरतत्क्षणप्राप्तगुणातीतदेहेन भगवन्निकटगतानामन्तर्गृहगतानामपि 'ताभिः समेताभिरुदारचेष्टित' इत्यादिलीलासौभगजन्यमदमानलीलाप्राप्युत्तरसामयिकान्तर्धानलीलामारभ्य 'वामबाहुकृतवामकपोले'त्याद्युक्तयुगलगीतलीलान्तसर्वलीलानामपि प्राप्तिरेतासामिति श्रीमदाचार्यतत्तनुजरत्नानां हि सिद्धान्तः। अत एव 'ता इत्थान्तिकमायाता' इतिफलप्रकरणीयपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यां 'यास्तु समाहूताः समागतास्ता न निवार्यन्ते, याः पुनः सगुणा

अन्यसम्बन्धिन्यस्ताः शब्दश्रवणात् समागता इति शब्देन निवारणीयाः, अन्यशेषतया भजनमयुक्तमिति। करिष्यमाणलीला तु सर्वभावप्रपत्तिसाध्या, अतो निवारणार्थं यत्नमाहे'ति श्रीमदाचार्यैर्व्याख्यातम्। विवृतं चैतत् तत्तनुजरत्नैः स्वकृतटिप्पण्यां 'यदन्तर्गृहगता अनाकारिता एव नादं श्रुत्वोद्युक्ता इति प्रतिबन्धोभूदिति शङ्कानिरासायाहुः याः पूर्वोक्तास्ता अप्याहूताः, तत्रोपपत्तिमाहुः समागता इति। अन्यथा तथा न स्यादिति भावः। गेहस्य देहसम्बन्धित्वात् तस्य च नष्टत्वे नैतासां गृहाभावात् तत्र गमनं बाधितमिति न निवार्यन्ते' इति। एवं चान्तर्गृहगता न निवार्यन्त इति स्फुटमेव प्रतीयते, तत्र तन्निवारणं च भगवन्निकटप्राप्तौ सति सम्भवति। भवदभिमतसिद्धान्ते त्वेतासामिदानीं लय इति तन्निवारणप्राप्तेरभावाच्छ्रीमदाचार्योक्तिस्तत्तनुजरत्नोक्तिश्चासमञ्जसा स्यात्। तस्मादन्तर्गृहगतानां गुणातीतदेहप्राप्त्या भगवन्निकटगमनं सिद्धम्, तदा तन्निवारणप्रसञ्जनं च सिद्धम्। एवं च तदुत्तरसामयिकी सर्वापि लीलैतासु सिद्धेति न मध्यमफलत्वमेतस्फलस्य, किन्तूत्तमफलत्वमेवेति व्यर्थ एवैतासां मध्यमफलप्राप्तिरिति सिद्धान्ताभिमानः केषाञ्चिदिति सर्वमवदातम्।

श्रीवल्लभतत्सुतवरविठ्ठलनाथाङ्घ्रिरेणुलवबलतः।
जयगोपालः कृतवान् सविवृतिसेवाफलव्याख्याम्॥ १॥
मूर्ध्न्यञ्जलिं ननु निधाय निधाय भूयो
भूयः कृपालुषु महत्सु निवेदयामि।
यत्किञ्चिदत्र लिखितं मयका भवद्भिः
तत् पुष्टिमार्गपथिकैः परिशोधनीयम्॥ २॥

इतिश्रीवल्लभाचार्यचरणकमलैकतानमानसश्रीमन्महाप्रभुश्रीविठ्ठलेश्वरकृपाकटाक्षोद्बुद्धबुद्धिना सुबुद्धिना मठपतिजयगोपालेन विरचिता सविवृतिसेवाफलटिप्पणी समाप्ता॥
॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥

---

१ इदं पद्यं जयगोपालकृतबहिर्मुखमुखध्वंसान्तेऽपि विद्यते। आरम्भस्थं 'बर्हिबर्हलसन्निति'पद्यं तत्कृततैत्तिरीयभाष्यस्थम्। इदं पद्यद्वयं तत उद्धृत्यास्यां टीकायां ग्रन्थकृता पश्चान्निवेशितमिति प्रतिभाति।

श्रीकृष्णाय नमः।

सेवाफलम्।

मठेशश्रीलक्ष्मणभट्टविरचितसेवाफलविवृतिविवरणसमेतम्।

विचार्य श्रीमदाचार्यप्रोक्तं सेवाफलाभिधम्।
ग्रन्थं तद्विवृतिं चापि विवृणोमि यथामति ॥ १ ॥
सांख्ययोगावभेदार्थौ भक्तिर्भेदकरी हरौ।
स्नेहासक्तिव्यसनिनी तत्सिद्धौ स्वाङ्गवित्तजा ॥ २ ॥
व्यसनं मानसी सेवा माहात्म्यज्ञानभक्तितः ॥ ३ ॥

अथातः श्रीवल्लभाचार्याः स्वसिद्धान्तमुक्तावल्यां 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'त्यादिना ब्रह्मवादसिद्धान्ततः सत्ये जगति कृष्णस्य सेवाभक्तिं निरूप्य तत्सिद्धौ मुख्यं फलं सपरिकरं निरूपयितुकामाः सेवाफलनिर्णयग्रन्थं सविवरणमाहुः।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

सेवना च प्रागुक्ता त्रिविधा, अत्यन्तरङ्गा अन्तरङ्गा बहिरङ्गा चेति प्रशब्देन सूच्यते, या नित्यश्रीस्वामिन्यन्तरङ्गस्य स्वस्वामिनः पुरुषोत्तमस्य 'प्रतिकृतिरूपस्य' काश्मीरचन्दनसुगन्धतैलाभ्यङ्गस्नापनपूर्वकशृङ्गारादिज्ञानक्रियारूपा साक्षादङ्गेषु मृदु संस्पृश्य लोकवत् सस्नेहं क्रियमाणा सैषा प्रथमा। मन्दिरपात्रसम्मार्जनोपलेपनचित्रकरणपूर्वकसिंहासनादिशय्यास्तरणक्रीडनोपस्करणपीठखण्डाक्षिभृङ्गारादियोजनान्नादिपयःपाकसामग्रीसाधनज्ञानक्रियारूपा परिचर्या द्वितीया। पुष्पगन्धताम्बूलफलकन्दमूलशाकामान्नरससंशोधनधनवसनभूषणसम्पादनज्ञानक्रियारूपा परिचर्या बहिरङ्गा तृतीयेति यादृशपदस्यार्थः। सैव स्वतनुवित्तजेति तत्रोक्ता। तत्सिद्धौ 'तत्र प्रेमासक्तिव्यसनात्मना परिणतायां मानस्यां सत्यां' सेवकस्य यादृक् फलं तदुच्यते। यद्यपि तत्र 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधन'मिति फलमुक्तं तथापि तदवान्तरमेवेति मुख्यं फलमुच्यत इत्यर्थः।

तदपि त्रिविधमिति सविवरणं निरूपयितुमाहुः।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामकः।

विवरणमत्र सेवायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिष्विति। अलौकिकसामर्थ्यं प्रथमायाः फलम्।

---

१ हानेरिति पाठः। २ बाधति पाठः।

सायुज्यं द्वितीयायाः । **सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु** 'अधिकृतः' तृतीयायाः । तथालौकिकस्य भगवत इवालौकिकमेव ज्ञानक्रियाभ्यां सामर्थ्यं जगद्व्यापारवर्जं यत् तत्तथा । स्वेच्छया देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणैरेव सदा सेवापरैः सहितस्तत्स्वात्मनो जीवनशक्तत्वं 'श्रुति'कुमारिकाणामिव, तत्परिस्वजने च स्वेच्छयाशक्तत्वमितैहिकमन्तर्गृहगतानामिव । तान्कादाचित्कीस्वेच्छया'गुन' भगवल्लोकगमनशक्तत्वमित्यामुष्मिकं ध्रुवादेरिव तत्तथा । 'मृत्योः कृत्वैव मूर्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोह हरेः पदं'मितिवाक्यात् स्पर्शमणिन्यायेन तेषामप्राकृतत्वेन त्यागासम्भवात् भगवदानन्दानुभवसामर्थ्यं यत् तस्यालौकिकस्य **दानेनाथो मनोरथः** उत्पन्नः प्रमाणानतुरोधी प्रमेयैकसाध्यो **मनोरथः** स्वामिलषितरूपो 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु'रितिवाक्यात् तद्भजनानन्दानुभवश्च **सिध्येत्** । एतेन कालकर्मप्रकृत्यनधीनत्व द्योतितम् । द्वितीयायाः फलं सायुज्यम्, तदपि द्विविधम्, रूढार्थकं यौगिकार्थकं च । तत्राद्य ज्ञानमिश्रितानामैक्यरूपम्, अभेदरूपं भेदात्यन्ताभावरूपमात्मनैक्यमित्यर्थः । 'युज्' भक्तानामपरम्, सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यम्, तद्भक्तानां भेदतस्तद्रसनरसिकतस्तदानन्दानुभवात्, पूर्वं देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि विहायेद स्वात्मनैव केवलेन तदानन्दानुभवः, अपरन सदैव तैः स इति सार्थकतैषामन्यन नेति तारतम्यम् । तय स्पष्टमेव पार्षदानामसुरावेशिनां ज्ञानयोगिनां चोक्तम् । तृतीयायाः फलं **सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु** । अप्राकृतभूतभौतिकतृणलतौषधिवृक्षपशुपक्ष्यादिदेहः अधिकारात्मा, तन सेवोपयोगी मोच्यः । पूर्वनापरोक्षमेवात्र च परोक्षमिति भेदः । वैकुण्ठे मुख्येऽमुख्ये च । आदिपदेन स्वर्गादिषु विष्णोः स्थानेष्वपि तथेति निरूपितम् । वेति चार्थे ज्ञेयः । अत्र फलत्रयेपि **न कालो नियामकः** । काल इत्युपलक्षणम्, कर्मप्रकृत्योरपि न नियामकतेत्यर्थः । अत एव श्रीमागवते द्वितीये 'न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान् प्रधानं,' तृतीये 'न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे' इति, कपिलेनोक्तं च 'नङ्क्ष्यन्ति नो निमिषो लेढि हेति'रित्यादि१॥

तत्र सेवायां प्रतिबन्धकाभावः कारणमिति प्रासङ्गिकं प्रतिबन्धमपि त्याज्यत्वेन निरूपयन्ति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

अत्र बाधकमित्येकवचनेन मिलितानामेव बाधकतेत्याशङ्क्य विवृण्वन्ति, **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमिति** । अत्रोद्वेगः साधारणः स त्याज्य एव । एवमुद्वेगं निरूप्य प्रतिबन्धभोगौ निरूपयन्तोऽनुरोधरूपस्य प्रतिबन्धस्यानिवार्यत्वेन पाठक्रममनपेक्ष्यार्थक्रमतो भोगं विवृण्वन्ति **भोगो द्विविध इति** । **लौकिकोऽलौकिकश्च** । तत्र **लौकिकस्त्याज्य एव, अलौकिकस्तु न,** तस्य फलानां मुख्यमध्यमसाधारणानां प्रथमे प्रविशतीति प्रथमे फलेऽलौकिकसामर्थ्येन प्रभुस्वरूपानन्दानुभवभोगे प्रवेशात् ।

एवं भोगं निरूप्य प्रतिबन्धं निरूपयन्ति **प्रतिबन्धोपीति** । स च साधारणोऽसाधारणश्च । साधारणः सेवासमये लौकिकवैदिककर्मानुरोधरूपस्त्याज्य एव, स्वाधीनत्वात् । असाधारणो भगवत्कृतः, स सह्य एवेति भावः । ननु कथमेतेषां सिद्धानां त्याग इत्याशङ्क्याहुः **त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य** इति । साधनमत्र तज्जननहेतुभूतं यत् तत्परित्याग इत्यर्थः । नन्वावश्यकस्य लोकवेदसिद्धतया अशक्यत्यागत्वात् कथं त्याग इत्याशङ्क्य तदुपायं विवृण्वन्ति **तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्य** इति । सेवाया अवसरे त्याज्यः, अनवसरे विधेय इति चातुर्येणेत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं साधारणप्रतिबन्धं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धं निरूपयन्ति ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

प्रभोरेव अकर्तव्यं स्वसेवाकारणमचिकीर्षितं चेत् तदा स्वस्य **गतिर्न** **हीति** निश्चयः । **तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेति** । वक्ष्यन्ति चाग्रे **तदान्यसेवापि व्यर्थेति** भावः । नन्वासुरेष्वेवं न तु दैवे तथेत्याशङ्क्याहुः **तदा आसुरोऽयमिति** । एवंविधप्रतिबन्धरूपलिङ्गेन स्वस्यासुरत्वमनुमेयमितिभावः । तत्रासुरत्वमागन्तुकं वा साहजिकमिति निर्धारार्थं विवेकः, सांख्यज्ञानमिति केचित् । तेन शोकाभावमात्रं न तु मोक्षः ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तमेव निगमयन्ति ।

बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथा परम् ।

भोगयोरपि पूर्वसमतामाशङ्क्य वैलक्षण्येनाहुः ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

प्रथमे अलौकिकसामर्थ्ये **भोगो** भजनानन्दानुभवरूपो **महान्** **सदा** स्वरूपतः साधनतः फलतश्चेत्यर्थः । पाठान्तरे अल्पो भोगः सविघ्नः सप्रतिबन्धः ॥ ४ ॥

सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति ।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ ।

अत एवैताविति विवृतौ । भगवत्कृतप्रतिबन्धे अन्यफलचिन्तया शोकः कदाचित् तस्य स्यादिति तदभावार्थं चिन्ता न कार्येत्याशयेनाहुः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

भगवत्कृतप्रतिबन्धे । तत्र हेतुः । स्वस्य **संसारनिश्चयादिति** । संसारोऽहंममतया जन्मकर्मप्रवाहमार्गस्वरूपः, तस्य निर्धारणादित्यर्थः ॥ ५ ॥

एवं प्रतिबन्धं विचार्य उद्वेगरूपप्रथमं प्रतिबन्धेन फलाभावे भगवतो दातृत्वाभावं हेतुत्वेन निरूपयन्ति ।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

अत्र आद्यफलाभाव इति विवृतम् । आद्येन वा प्रतिबन्धेन फलाभाव इत्यर्थः । नन्विति विरोधोक्तौ । आद्ये उद्वेगरूपप्रतिबन्धे, भगवतः सर्वसमर्थस्यापि सेवाया अमानसीत्वेन अनाधिदैविकीत्वे तत्प्रयुक्तः प्रभोः फलदातृत्वाभाव इत्यर्थः । एतदेव विवृण्वन्ति तदा सेवा नाधिदैविकीत्यादि । तृतीये लौकिकभोगे गृहमेव बाधकम् । गृहमत्र पत्न्यादिकं विष्णुबहिर्मुखमेव त्याज्यम् । अत एवोक्तमाचार्यैर्निबन्धे 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मित्यादि ।

एवं फलत्रयं प्रतिबन्धकत्रयं च प्रासङ्गिकं निरूप्य एतद्विचारमावश्यकत्वेन वक्तुमुपसंहरन्ति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

(इयं दातृता हरेः यद्वा भक्तिः मदुक्तिर्वा) । सेवा पूर्वोक्ता तत्रयी वा विचिन्त्येत्यर्थः । एतदतिरिक्तं सर्वं मनोभ्रमः । भक्तिमार्गे त्रिविधसेवाया एव पूर्वोक्तं फलत्रयं नान्यत्, प्रतिबन्धकं चोद्वेगादिकमेव न पापादिकं । 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्ये'ति भागवतवाक्यादिति भावः ॥ ६ ॥

ननु भगवदीयैर्नैयं भाव्येत्युच्यतां किन्त्वन्यैरेवेत्याशङ्क्याहुः तदीयैरपि तदित्यादि।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

कलौ देशादीनामसाधकत्वात् तथा । पुष्टौ स्थितः प्रभुस्तु नैव विलम्बयेत् । मध्यस्थैरेवेह तथेति भावः ।

एतदेव निमित्तमन्यत्राप्युपदिशन्ति ।

गुणक्षोभेऽपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

एतद्भावनेन मनसो भगवत्तत्त्वपरतायां गुणक्षोभोऽपि न भवितेति भावः । अत्र स्वसंमतिरेव मानमाहुः इति मे मतिरिति ॥ ७ ॥

नन्वत्र काचित् कुतर्ककल्पना उत्पद्येत तदा कथं विचारणीयेत्याशङ्कायामाहुः ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

स्पष्टार्थः ॥ ७॥ ॥

इति श्रीआचार्यवर्यमतमार्गानुवर्तिना ।
सेवाफलं सविवृति विवृतं च यथामति ॥ १ ॥

इतिमठेशश्रीनाथभट्टात्मजगोपीनाथसुतलक्ष्मणभट्टविरचितं सेवाफलविवृतिविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः।

सेवाफलम्।

विवरणटिप्पणीसमेतम्।

श्रीमदाचार्यचरणान् सेवारसफलप्रदान्।
नमामि तद्रजोलेशलवस्पर्शसमीहया ॥ १ ॥
श्रीमदाचार्यचरणैस्त्रिधा सेवा फलत्रयम्।
निर्णीतं तत्र मे बोधस्तथाहि कृपयोच्यते ॥ २ ॥

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

यादृशी सेवनेत्यस्य विवरणे सेवायां फलत्रयमिति। अयं भावः। भक्तिमार्गे पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन जीवेषु भगवदङ्गीकारस्त्रिधा। तत्रापि पुष्टिमार्गफलार्थं यद्वरणं तत्पुष्टौ मर्यादायामेव, न तु प्रवाहमार्गेपीति विवरणे स्फुटीकरिष्यत इति। तेषां साधनरूपा सेवापि त्रिधा प्रोक्ता। अतस्तादृशतत्प्रकारकसेवासिद्धौ फलमुच्यते। तत्किमित्या-काङ्क्षायामुक्तमलौकिकसामर्थ्यमित्यादि। तत्र पुष्टिमार्गाङ्गीकृतस्य साधनदशाया-माचार्योक्तप्रकारेण सेवाकरणे मानसीतत्सिद्धौ फलं साक्षाद्भगवत्सम्बन्धरूपं भवेदिति। तस्येदमेव अलौकिकसामर्थ्यं यदाधुनिकजीवस्य तादृशपूर्णालौकिकैश्वर्यवीर्यादिगुण-वता समं साम्येन रतिः रसोद्बोधश्च भवतीति तथोक्तं विवरणे, न हि साधारणस्य तादृशेन महता सममेतत् कर्तुं शक्यम्, रसाभासहेतुत्वात्।

ननु पूर्वं मानससेवायाः सिद्धिः कथं तत्राहुः अलौकिकस्येति।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

'मानसी सा परा मते'त्युक्त्या सा सेवा स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपेत्यलौकिकस्य प्रभो-र्दाने परमकाष्ठापन्नस्वरूपसम्बन्धाभिलाषरूपभावदाने सः **आद्यः** पुष्टिफलरूपः सर्वो-त्कृष्टो **मनोरथः** सिध्येत्। मनोरथपदेन प्रेमासक्तिव्यसनसंकल्पादिरूपः सन् सिद्धिं प्राप्नोति, फलसम्मुखो भवतीत्यर्थः। अत एव मनोरथपदमुक्तम्। इयमेव मानसीतत्सिद्धिः। तदुक्तं 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति। यद्यपि मानससेवासिद्ध्यै तनुजा वित्तजा च द्वे अङ्गे, तथापि मुख्यमङ्गं दानम्, यतस्तत्करणेपि यदा दानं भवति, तदैव तादृशी सा भवति, अन्यथा मर्यादामार्गीयभक्तानामपि निरन्तरं तत्करणे पुष्टिरूपायां तस्यां को विशेष इति

१ यद्यप्येतद्विवरणकृता नाम न ज्ञायते तथापि जयगोपालभट्टकृततट्टिप्पण्यासादस्य प्राचीनत्वं निर्धार्यते।

तद्भावोदये नैव सा भवेदित्यर्थः । तेन तत्करणेपि दानेनैव तादृशभावः सिध्येन्नान्यथेति ज्ञेयम्, परन्तु तत्कृतिस्तु सर्वदा कर्तव्या, अकरणे भावः क उद्भवेद्, विषयाभावाद्, अत एवाङ्गमूले ते उक्ते ॥ १ ॥

ततः किमित्यत आहुः **फलमिति ।**

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

तादृशप्रचुरभावे सति फलं स्वरूपसम्बन्धरूपम्, **अधिकारः** अलौकिकदेहवयोगुणादिकं भवेत्, तत्राहुः **न काल** इति । अत्र **कालः** वयोवस्थादिसमयरूपः **नियामको न,** भगवदिच्छयैव सर्वं लीलोपयोगि तदैव भवेत्, न कालापेक्षा । तादृशं प्रति भगवतोपि विलम्बासहिष्णुत्वात् ।

एवं पुष्टिफलं निरूप्य मर्यादाफलं निरूपयन्ति । तथा हि, मर्यादामार्गाङ्गीकृतस्य माहात्म्यज्ञानपूर्वकसेवाकरणे भगवति माहात्म्यभावसहितस्नेहेन तदात्मतया **सायुज्यं** साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूपे भवेत्र स्वक्षरे । तत्र तदालौकिकदानेच्छाऽभावात् स्वरूपसम्बन्धात्मकं फलं न भवेदित्यर्थः । यदा पुनः भगवान् कदाचिद् दातुमिच्छति तदा स्वस्वरूपात् पृथक्कृत्य तादृशं प्रचुरभावदानं कृत्वा फलं प्रयच्छति, यतोस्मिन्मार्गेपि दातृत्वाभिप्रायेणैव वरणकार्यत्वात् । एवं भक्तिहंसे स्फुटीकृतं श्रीमत्प्रभुचरणैः'भक्तिमार्गीयभक्तकृतेत्यारभ्य, अनापवर्गवर्त्मनी'त्यन्तम् ।

प्रवाहभक्तिमार्गलक्षणकथनेन व्यापिवैकुण्ठस्य लोकत्वेनाक्षरात्मकत्वादक्षरमुक्तिरेव फले, न तु पुरुषोत्तमसायुज्यम् । अक्षरमुक्तौ तु आद्यफलदानेच्छाऽभावात्तदर्थं वरणमेव नास्तीति नाद्यफलसम्भावनेति मर्यादातो हीनत्वमुक्तम् । पुरुषोत्तमसायुज्ये तत्सम्भावना वर्तेत इति प्रवाहभक्तिमार्गसेवाफलादुत्कृष्टत्वम् । यत एतत्फलदानेच्छया यद्वरणं तन्मार्गद्वये एव, न तु प्रवाहमार्गे, तदप्युक्तं भक्तिहंसे 'विवरणे चास्ति प्रकारद्वय'मिति ।

एवं सेवास्वरूपं साधनफलसहितं मार्गत्रयेपि निरूपितमिदानीं तादृशसेवासिद्धौ प्रतिबन्धकत्रयं निरूपयन्ति **उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो** वेति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

श्लोकविवरणे सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमित्यादि । एतत्त्रितयनिवारणे **त्रयाणां साधनपरित्याग** इति विवरणे विवृतम् । तत्रोद्वेगसाधनं लौकिकशोकदुःखादिकम् । तस्य भगवदिच्छाधीनत्वं ज्ञात्वा तत्त्यागेन तन्मात्रस्य त्यागो भवत्येवेति । 'चित्तोद्वेग'मित्युक्तत्वादत्र न निक्षिपतो विवृतम् । तथा अपरः **प्रतिबन्धः ।** स च **द्विविधः । साधारणो भगवत्कृतश्च ।** साधारणो बुद्ध्या त्याज्यः । बुद्धिस्तु यस्मिन्कृते सेवाप्रतिबन्धोऽभूत्तेत् स न कर्तव्य इति विचाररूपबुद्ध्या त्याज्य । भगवत्कृतमग्रे वदिष्यन्ति । लौकिकभोगस्तु विषयरूपत्वात् बाधक इति तत्साधनवस्तुमात्रत्यागादेव तत्त्याग इति तदेव त्याज्यमित्यर्थः । एवं त्रयं त्याज्यमित्युक्तम् ॥ २ ॥

बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथापरम् ।

एतत्त्रयाणां साधनपरित्यागेनैव **बाधकानां परित्यागो** भवतीति शेषः । ननु सेवायां वस्तुमात्रोपयोगात्तत्त्यागे कथं तन्निर्वाह इत्याशङ्कायामाहुः **भोग** इति । तत्रापि **भोगे एकं** लौकिकं त्यजेदपरं नेति शेषः । यतस्तेषां स्वार्थमुपयोगे लौकिकत्वम्, भगवदर्थमुपयोगे अलौकिकत्वम्, अतः स्वार्थं ते त्याज्याः, भगवदर्थमुपयोज्या इति भावः ।

तदनन्तरमबाधकत्वमाहुः **निःप्रत्यूहमिति** ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ३ ॥

निःप्रत्यूहमिति प्रतिबन्धरहितं प्रत्युत साधकम् ॥ ३ ॥

एवं बाधकानां परित्यागे निर्विघ्नसेवासम्भवे तस्यैव भोगस्य प्रतिबन्धत्यागे च हेतुं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धे हेतुं निरूपयन्ति **अकर्तव्यं भगवत** इति ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ४ ॥

अस्य विवरणे भगवत्कृतश्चेत्यादि विवेक इत्यन्तम्[1] । अस्यायमर्थः । यदि **भगवतः** तत्फलदानं न **कर्तव्यं** भवेत् तदा तादृशसेवायां **सर्वथा** सर्वप्रकारेणापि **गति**र्न भवति । तत्र यथा तथा प्रतिबन्धकमेव भवेत्, न तु निर्वाहः । ननु स्वमार्गीयसेवायां तस्य भगवान् प्रतिबन्धं करोतु, परन्तु अन्यमार्गीयसेवायां न करिष्यतीति चेत्, तत्रोक्तं विवरणे **तदा अन्यसेवापि कृता व्यर्थेति** । प्रवाहादिमार्गेषु कृतापि व्यर्था । यतः सकलमार्गेषु फलदाता भगवानेव । तस्य त्वकर्तव्यमेवेतीति तथा । यदा यत्ने कृतेऽपि प्रतिबन्धकं भवेत् तदा **यथा तत्त्वनिर्धारो** भवेत् तथा कर्तव्यम् । तत्त्वनिर्धारः कथमित्याकाङ्क्षायां विवरणे विवृतम् । **आसुरोऽयं जीव** इति । एवं तस्य विवेकेन ज्ञानस्थितिरूपमेव **साधनं मतम्**, यतः पूर्वमासुर एव जीवः । यथासुरदेहयुक्तम्लेच्छादिषु कस्यचिद्दैवजीवत्वात् भगवत्परता दृश्यते, तथासुरजीवस्यापि कदाचिद्दैववशाद्भगवद्भक्तसङ्गेन सेवायां प्रवृत्तिर्भवति, परन्तु आसुरे भगवतो दातृत्वाभावात्तत्र प्रतिबन्धकमेव जायते । यतस्तेषामन्यदेव फलम् । तदे'वासुरी योनिमापन्ना' इत्यादिनोक्तम् । तथापि भगवद्भक्तसङ्गानुभावात् ज्ञानमार्गेऽपि स्थितिरुक्ता ॥ ४ ॥

तत्रापि चेत् स्थितिर्न भवेत्तदा तत्पूर्वोक्तफलविषयिणी चिन्तापि सर्वथा त्याज्येत्याहुः **द्वितीय** इति ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

विवरणे **ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थं द्वितीय** इति । तत्र हेतुः । **संसारनिश्चयादिति** । स्वस्य पूर्वोक्तसंसाररूपस्य फलस्यैव निश्चयात् सा न कार्या, पुनस्तदाशोच्छेद एवेति सर्वथेत्युक्तम् ॥ ५ ॥

---

1 सविंशतिश्लोकार्थो विवरणकृद्भिर्विस्मृतः, अथवा विवरणभागस्त्रुटित इति प्रतिभाति ।

ननु यथा द्वितीयप्रतिबन्धे पूर्वोक्तप्रकारेण आसुरजीवस्य सर्वथा फलविषयिणी चिन्ता त्याज्या, तथा साधारणप्रतिबन्धेऽपि सा त्याज्या, अन्यथा सा कथं भवेदित्याशङ्का-निरासायाहुः **न त्वाद्ये** इति ।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

आद्ये साधारणप्रतिबन्धे **दातृता भगवतो नास्तीति न** किन्तु वर्तते, परन्तु फलस्य कियज्जन्मानन्तरभावित्वात् तद् भवति । तदपि प्रतिबन्धकं साधारणं निवारयितुं शक्यम् । तेन भगवत्कृत एव तस्मिन् दातृत्वाभावो, न साधारण इति ज्ञेयम् । अतो यस्य आद्यफलदानार्थं मर्यादयाङ्गीकारः तस्य तथैव सेवाकरणे साधारणप्रतिबन्धश्चेद् भवेत्, तदा तन्निवारणेन सेवानिर्वाहात् पूर्वं सायुज्यफलं तदनन्तरं तत्फलं भविष्यतीति सा चिन्ता न त्याज्येति भावः । यस्य पुष्टौ अङ्गीकारस्तस्य तन्निवारणेन तादृशतत्सिद्धौ तत्फलं भवेदिति सा तथेत्यर्थः । एवं सति प्रवाहमार्गसेवायामपि सेवायाः साधनद्वयमानत्वात् साधारणप्रतिबन्धे दातृत्वं भविष्यतीति शङ्कानिरासाय **आद्यफलाभाव** इति विवृतम् । आद्यफलस्याभावो यत्रैतादृशे प्रवाहमार्गे तदर्थमङ्गीकार एव नास्तीति नाद्यफलसम्भावना-पीति न दातृत्वम् । सा सेवापि नाधिदैविकी, तत्र पूज्यस्वरूपेऽपि नाधिदैविकत्वम्, किन्तु विभूतिरूपत्वमिति महद्वैलक्षण्यात् कुतः साम्यमिति ज्ञेयम् ।

एवं साधारणप्रतिबन्धस्य व्यवस्थामुक्त्वा प्रथमवृत्तौ सर्वथा लौकिकभोगत्यागा-सम्भवात्, तत्रापि भगवतो दातृत्वाभावमाशङ्क्य तन्निवारणाय तद्व्यवस्थामाहुः, **तृतीय** इति । **तृतीये** लौकिकभोगेऽपि दातृता नेति न, यत एतन्मार्गे द्वये तादृश एवाङ्गीकारः, किन्तु तत्र मूलभूतं साधनं यद्गृहं तद्बाधकमिति तत् त्याज्यमिति शेषः । तत्त्यागे सर्वथा भोगाभावात् प्रतिबन्धकाभावेन तादृशभगवद्भक्तसङ्गेन सेवानिर्वाहात् तत्फलमपि भवेदिति भावः । एतदेव विवरणे विवृतं **भोगाभावस्तदैवेति** ।

अत्र कश्चित्पूर्वपक्षी शङ्कते । तथा हि । स्वमार्गीयपरित्यागस्तु प्रेमासक्तिव्यसनात्मक-भक्तौ सत्यां कर्तव्यो, न तु साधनभक्तौ । तदुक्तं सन्न्यासनिर्णये 'सन्न्यासवरणं भक्तौ' 'अतोत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः' इति च । तत्र करणे विपरीतफलमपि भवेदि-त्यपि । प्रकृते तु तत्पूर्वमेव भोगाभावार्थं सेवानिर्वाहार्थं च त्याग उच्यत इति कथमेक-वाक्यतायां विरोध इव प्रतिभाति ?

तत्रोच्यते । प्रथमं स्वमार्गीयभक्तिसिद्धौ मुख्यं कारणं सेवा । सा सेवा 'गृहे स्थित्वा अव्यावृत्त्या गृहव्यावृत्त्यभावे न, प्रत्युत पुत्रकलत्रादीनां भगवदर्थमुपयोगेन स्वधर्मतः करणे सिध्येत्, तच्चेदनुकूलं भवेत्, नो चेत् भजनप्रतिबन्धकत्वेन सर्वात्मना तस्य त्याग एवोचितः । अन्यथा तत्सङ्गेन पुत्रकलत्राद्युपभोगे स्वस्य भजनासम्भवे शरणगतिर्भज्येत, तदा सेवाऽभावे प्रेमासक्तिव्यसनात्मिका भक्तिरपि न भवेत्, तदभावे तन्मार्गीयपरि-त्यागोऽपि न, तदभावे फलाभाव एव च स्यादिति मार्ग एवोच्छिद्येत इति । तद्भोगाभा-

सिद्ध्यर्थं तथा तत्सेवासिद्ध्यर्थं च कथनम्, तदनुकूलतद्ग्रहणाभिप्रायेणैवेति, न तत्राश्रमस्वीकार, सेवाभावानुपपत्ते, साधनभक्तौ निषेधाच्च । एतदेवोक्त तत्त्वार्थदीपेपि 'प्रतिकूले गृह त्यजे'दित्यनुकूलतत्त्यागाभावाभिप्रायेणान्ते प्रेम्णि जाते अङ्गेपि यत्किञ्चित् भोगस्यापि बन्धकत्वात् तेनैव तन्नाशे सति ततो यथा साधारणप्रतिबन्धनिवारणेन सेवाकरण तद्दान च, तथा लौकिकभोगत्यागेनापि निर्विघ्नसेवाकरणे सति तत्फल भवेदिति ज्ञेयम् । तत्र पुष्टिमर्यादाया भगवति लीलामाहात्म्यगुणादिभावेनैव प्रेम भवेत्, न पुष्टिरीत्येति तादृशस्य तादृशप्रेम्णा क्रमेण सर्वविषयत्यागे, ततो तत्तभावेन तदात्मकतया श्रीकृष्णे सायुज्य भवेत्, ततो यदा दानेच्छा तदा स्वरूपात् पृथक्कृत्य तद्धानदाने तत्तत्फलानुभव कारयिष्यतीति मर्यादाङ्गीकारे आद्यफलदानप्रकार उक्त । तदुक्त तत्त्वार्थदीपे 'सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे सायुज्य कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुव फल'मिति सायुज्यानन्तर ध्रुव फल तदेवेतिभावार्थ । यस्य शुद्धपुष्ट्यवगीकारस्तस्य तदात्म्यैन पूर्वोक्तभोगादिप्रतिकूलगृहत्यागेनानुकूलगृहे स्थित्वा सेवाकरणे भावात्मिकैव प्रवृत्तिर्भवेत्, ततो यदा प्रेमासक्तिव्यसनानि भावात्मकतया पुष्टानि भवेयु, तदा तत्र स्थितो यत्किञ्चिद्भोगसम्बन्धेनापि भावनाश इति तदभावेन तद्विगाढभावपोषादिना पूर्णविरहानुभवार्थ सन्यासनिर्णयोक्तप्रकारेण परित्याग सन्यास आवश्यक उक्त । अन्यथा क्षणमात्र भावान्तरसम्बन्धे भावशैथिल्याद् विरहानुभवाभावात् फलाभाव इति । ततस्तत्पूर्णानुभवे दशमावस्थया प्रतिबन्धकदेहनिवृत्तौ अलौकिकतत्प्राप्त्या तत्फलानुभवो भवतीति पुष्टिमार्गाङ्गीकारे फलदानप्रकार उक्त । अत एव मर्यादाया 'मदर्थेऽर्थपरित्याग' इत्यादिना भोगाभावार्थं भगवत्प्राप्त्यर्थं च सर्वसमर्पणरूप एव त्याग उक्त, न तु सन्यासप्रकार । यत सन्यासे तस्य पुष्टभावादत्तोपि तादृशैरेव सम्भोगे भवतीत्युक्तबाधकत्वात् । अत कलौ स सन्यास पश्चात्तापाय इति निषेधोप्युक्तसिद्ध एव । अग्रेपि स्वयोपभुक्तेपि विरोधो भवतीति । सन्यासस्तु तादृशभक्तावेवेत्युक्तम्, 'सन्यासवरण भक्ता'विति मार्गद्वयभेदेन परित्यागस्य भिन्नत्वान्न कोपि विरोध इति ज्ञापितम् ।

एव मार्गत्रयसेवाफलभेद त्यागभेद च निरूप्योपसहरन्ति अवश्येयमिति ।

अवश्येय सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रम. ॥ ६ ॥

इयं पूर्वोक्ता त्यागपूर्वनिरूपिका मदुक्ति अवश्या भाव्या, सर्वथा सदा, भाव्या कर्तव्या । अथवा अवश्या यद्यपि स्ववशेन कर्तुं न शक्यापि तथापि भाव्या, भावयितु मनसि चिन्तयितु योग्या । तत एव सर्व भविष्यतीति सर्वथा कर्तृत्वमुक्तम् । आवश्यककरणे हेतु एतदन्यत् सर्व मनोभ्रम एव न तु फलम् । मदुक्तप्रकारातिरिक्तकरणे सर्वोत्कृष्टफलाभावो न, प्रत्युत मनसो भ्रम एवेत्यर्थ ।

नतु कथ भ्रम ? सर्वस्तदेव म्रियते तनाहु तदीयैरपीति ।

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥
कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

तदीयैः पुष्टिमार्गातिरिक्तजीवैः भ्रमसम्बन्धिभिरपि कार्यं तदेव, सर्वत्यागपूर्वकं मदुक्तरीत्यैव भजनं कार्यम्। न क्रियते चेत् तदा अज्ञानाद्भ्रम एव, न तु फलम्। यदि तदीयैरपि तदेव कार्यं तदा यः पुष्टौ स्थितः कोपि मदुक्तप्रकारसेवाकरणजनितप्रेमासक्ति-व्यसनादिभाववान् स तु विशेषतः क्षणमात्रमपि न विलम्बयेत्, मदुक्तकरणे विलम्बं न कुर्यात्। यदि विलम्बयेत् तदा पुष्टिभावान्तरत्यागाभावे विजातीयसङ्गेन भावशैथि-ल्यात् फलाभाव एव भवेदित्यर्थः। यतस्तादृशस्य स्वरूपव्यतिरिक्तवस्तुमात्रस्मरणस्यापि फलप्रतिबन्धकत्वम्। तदेवाहुः **गुणक्षोभेपीति**। अयं भावः। तादृशपुष्टिमार्गीयस्य व्यसनानन्तरं विरहानुभवार्थं त्यागे कृते स्वरूपसङ्गाभिलापायाः प्राचुर्यादुद्वेगादभावेन देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणानि स्वरूपात्मकान्येव भवन्ति, यतः विकलत्वास्वास्थ्यादिकं निरन्तरं भवति तदा तादृग्दशायां मध्ये कदाचित्तस्य भगवल्लीलागुणादिस्फूर्तिर्न भवेत्, तदा मनःस्वास्थ्येन भावशैथिल्यात् स्वरूपान्तरायो भवेदित्येव गुणक्षोभः गुणैः कृत्वा मनःस्वास्थ्यरूपोऽविकारस्तस्मिन्नपि एतदेव द्रष्टव्यम्, फले प्रतिबन्धकमेव, **द्रष्टव्यमिति**-पदं प्रत्यक्षप्रमाणत्वेनोक्तम्। एतेन लीलागुणस्मरणस्य बाधकत्वं कथं वक्तुमुचित-मित्याशङ्का निरस्ता। एतदेव सन्न्यासनिर्णये 'ज्ञानं गुणाश्च'ेति बाधकत्वमुक्तम्। एवं सति यत्र स्वरूपगुणस्मरणेपि फलाभावः, तत्र गृहादीनां प्रतिबन्धकत्वेन त्यागविलम्बे फलाभाव इति किं वाच्यमिति भावः। अत एव सर्वथा भोगाभावस्त्याग एवेत्याशयेन विवृतावुक्तं **भोगाभावस्तदैवेति**। अत्र प्रमाणं **मे मतिरिति**। स्वस्यैव तादृक्प्रकारकानुभवात् स्वमतिरेवोक्ता। यदि मन्मतिप्रमाणत्वेन य एव करिष्यति तर्हि तस्य सर्वं सुखेव भविष्य-तीति भावः। अकरणे बाधकमाहुः **कुसृष्टिरिति**। अत्र एतत्प्रकारकसेवाफलनिरूपण-रूपमदुक्तौ कथं किमित्यादिरूपा **कुसृष्टिश्चेदुत्पद्येत वै** निश्चयेन **स भ्रम** एवेति सा न कार्येत्यर्थः। करणे सर्वस्वहानिरेवेति निश्चयः ॥ ७॥ ॥

एतद्विवृतेरर्थो यद्यपि विवृतो मद्‌गुरुचरणैः।
तदपि तदेव हि गूढं दृष्ट्वा भावः स्फुटीकृतः कृपया ॥ १ ॥
सोपि तथेतरथा वा नो जाने सद्भिरीक्षणीयस्तत्।
कृपया च मार्जनीयस्तेन ततोहं विभूषणीयश्च ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यचरणे सरोजे मानसे मम। तिष्ठतां विकचे नित्यं तत्प्रभावोत्र भानुना ॥ ३ ॥

इतिश्रीमदाचार्यकृतसेवाफलनिरूपणविवृतौ टिप्पणी समाप्ता ॥

प्रथमं परिशिष्टम्

सेवाफलविवरणत्रयम्

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् विवृतिसमेतम् ।

नैसर्गिकी मधुभिदश्चरणस्य सेवा जीवस्य तत्र सुतरां हरिमार्गलिप्सोः ।
बुध्येत नो विघटनं च फलं यदासां नो सेवनाप्रथनमत्र तदर्थमिष्टम् ॥ १ ॥
वह्निर्बभूव जगतो हितकारणाय पारीक्षितस्य विवृतिं पदशश्चकार ।
यः सूत्रयोर्निगमसंशयबाधनाय संक्षिप्य च प्रकरणानि नुमस्तमीशम् ॥ २ ॥

सिद्धान्तमुक्तावल्यादिषु स्वस्तु निबन्धेषु सेवाया उक्तत्वेपि तत्फलानां प्रतिबन्धानां चेतस्ततो विप्रकीर्णत्वेन तत उद्धर्तुमशक्तान् स्वान् संक्षिप्य तदुपदेष्टुं सेवाफलनिरूपणं प्रतिजानते यादृशीत्यादि, नोच्यत इति । तत्फलं तु श्रोत्रभिमुखीकरणं निरूप्यार्थस्य यावतः प्रतिज्ञोचिता, नत्वेकदेशस्येति तु न शंक्यम् । यतः फलमेव प्रधानं प्रतिबन्धकं तु तद्विघटकतया त्याजनार्थं निरूपितमिति तल्लेपस्य न पृथक्प्रतिज्ञानम्, स्वप्र-

धानत्वेनानिरूपणात् । फलमिति जात्यैकवचनम् । यादृशी यत्प्रकारिका उक्ता सिद्धान्तमुक्तावल्यादौ, अकरणे प्रत्यवायः प्रार्थः । स च द्वतय इत्येतादि निन्द्या बोध्यः । तत्सिद्धौ तस्या यावज्जीवनिर्वाहे व्यसनरूपत्वसिद्धौ फलमुच्यते । फलं चात्र वक्ष्यमाणत्रयमेव बोद्धव्यम् । यत्तु सेवाया एव फलरूपत्वेन तत्फलकथनमनुपपन्नमित्याशंकनम्, तत्तु केवलपौष्टिकाभिप्रायेण, पुष्टिमर्यादास्थितस्य तु साधनरूपत्वमेव सेवायाः । न चैवं गौणत्वम् । पुरुषोत्तमस्यैव साध्यसाधनोभयरूपत्वात् । कर्तृतावच्छेदकमेव परं गौणम्, फलस्य मूले स्पष्टतयाऽकथनादुक्तं विवरणे सेवायां फलत्रयमिति । अलौकिकसामर्थ्यं तु अपारतेजसः फलदित्सायां सलीलस्य हृदि प्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यम् । अत्रानुभवश्च मनसा तदध्यक्षीकरणम् । न चैतदेतच्छरीरेण संभवति, अप्राप्य मनसा सहेति वचनात् । तदर्थं च तद्भोगयोग्यत्वमलौकिकत्वं मृग्यम् । तत्र संघाते अलौकिकसंघातस्य विज्ञाने चानन्दमयस्य प्रवेशात् स्पर्शसंबन्धेऽयसश्चामीकरत्वमिव सम्पद्यते । एतच्च प्रभ्वेकसंपाद्यमित्याहुः अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येद् मनोरथ इति । चस्त्वर्थे । हि युक्तश्चायमर्थः । 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतेः । 'तमेव विदित्वे'ति तु मार्यादिकस्य । तथा चोक्तम् 'गतेरर्थवत्त्वमुभयथा अन्यथा हि विरोध' इति । सायुज्यं त्वन्तर्हृद्गतानामिव मध्यमं फलम् । तच्च द्विविधम् । बाह्यमाभ्यन्तरं च । बाह्यमलौकिकशरीरप्राप्तिरूपम्, आन्तरं तु भ्युचरणसामयिकपरिच्छिन्नानन्दादिमत्त्वेन अणुत्वेन च विशिष्टस्य ब्रह्मणि लयः । अत एव च निरस्तधर्मस्य ब्रह्मणि लयरूपात् कैवल्याद्भेदः । न च भक्तस्य न लयः । ज्ञानिनोऽक्षरे भक्तस्य पुरुषोत्तमे लयादिति भाष्योक्तेः । एतच्च 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह' 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति वाक्याभ्यां गम्यते । परं ब्रह्मोपैति तदनन्तरं साम्यमुपैतीति वाक्ययोजनां कृत्वाशेषैर्माहैः कतिपयैर्वेति संदिह्य 'न तत्सम' इति निषेधादशेषैः साम्यासंभवात् कतिपयैरेव साम्यं निश्चित्य, न च कतिपयैरपि धर्मैर्जायमानं साम्यं तदभेदगमकमित्यर्थे 'कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवदि'ति सूत्रावयवयोजनायामान्तरसायुज्यस्य 'हानौ तूपायन'सूत्रभाष्य एव स्पष्टत्वात् । तृतीयं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु । सेवाया उप समीपे योगवत् शरीरप्राप्तिरूपम्, पक्ष्यादीनामिव । ननु प्रभ्वेकसम्पाद्यपूर्वफलस्यान्यानधीनत्वेपि सायुज्यसेवोपयोगिदेहयोः फलतदधिकाररूपमध्यमावान्तरफलयोस्तु ज्ञानादीनामिव कदाचित् कालकर्मसाध्यत्वं भवेदिति नेत्याहुर्मूले फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामक इति । फलं सायुज्यम् । अधिकारः सेवोपयोगिदेहः । अत्र एतदुभयोः कालो न नियामकः, फलदः प्रतिबन्धको वा नेत्यर्थः । अत्र वाद्वयं फलतदधिकारयोरुभयोरपि भगवत्समक्षत्वबोधनाय । यद्वा, वाद्वयं क्रियाक्षेपकम्, फलं वा स्यादधिकारो वा स्यात् । कालेनेति नेत्याहुः यतस्तयोरनियामक इति । अत्र एतयोः । उद्वेगः प्रतिबन्धो वेति वाक्यं विवृण्वन्ति सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमिति ।

उद्वेगः सेवायां क्रियमाणायां मनोवृत्तेरस्थिरता । प्रतिबन्धभोगयोः प्रकारभेदानां बहु वक्तव्यत्वेन प्रथमतः सिद्धानां दोषाणां दुर्विनाश्यत्वात् त्रयाणां साधनेत्यादिना तत्सामग्रीत्यागमेवोपदिश्य पाठक्रममनपेक्ष्य चरमोद्दिष्टमपि भोग सन्निहिततरत्वेन लौकिकालौकिकभेदेन विभज्य 'भोगो द्विविध' इत्यादिना लौकिकस्य त्याज्यत्वं 'तत्र लौकिके'त्यादिना निर्दिश्य प्रतिबन्धद्वैविध्यं वक्तुं 'प्रतिबन्धोपि द्विविध' इत्यादिना तत्स्वरूपं निर्दिश्य द्वयं विभजन्ते **साधारणो भगवत्कृतश्चेति** । तत्र साधारणो दुरदृष्टजन्यः, भगवत्कृतस्तु उत्तम मार्गं दृष्ट्वा सङ्गतः प्रवृत्तासुरमात्रविषयकः । न च तादृशस्य नात्र प्रवृत्तिरिति रागतः प्रवृत्तेरनिवार्यत्वात् भगवत्कृतस्याग्रे वक्तव्यत्वात् तत्स्वरूपमात्र निर्दिश्य साधारणमात्रपदेनोल्लिख्य बुद्ध्या त्याज्य इत्याहुः । आद्यत्वं तु प्रतिबन्धक्रमे, बुद्धिस्तु सेवायामायतनस्य लौकिकवैदिकादेरनावश्यकस्याकरणम्, आवश्यकस्य तु अनवसरे प्रागवा करणम् । **निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदे**त्यस्य व्याख्यानमलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे विशतीति । अस्य व्याख्यानस्य व्याख्येयानुसारित्वाभावात् तदर्थमात्रप्रकाशकत्वाचादोषः । अक्षरार्थस्तु भोगो महान् स्वरूपतः फलतः साधनतश्चेति । स्वरूपं स्वरूपानन्दानुभवः । साधन प्रभ्वनुग्रहः । विषयानन्दब्रह्मानन्दापेक्षया स्वरूपानन्दस्योत्कृष्टत्वात् । फलं तु 'सोऽश्नुते' इत्यादि प्रथमेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे फले विशते । निःप्रत्यूहं क्रियाविशेषणमेतत् । जायमान इति क्रियाध्याहर्तव्या । **विशतौ** विशेषणदानस्याप्रयोजकत्वात् तत्रापि विशेषणस्य संभवादर्थवत्ता, न च कश्चिद् व्यभिचारोस्ति । एतस्मिन् भोगे कालकर्मादीनामविघातकत्वात् । **अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्नहीत्यस्य** व्याख्यानं **भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यमिति** । अक्षरार्थस्तु भगवतश्चेत् फलदानमकर्तव्यं सर्वथा न तदा गतिः प्रभुप्राप्तिः । अकर्तव्यतानिर्धारस्तु निरन्तरं सेवां कुर्वाणस्याचिन्तितस्यापि लौकिकवैदिकादेर्मुहुरापतनात् । ननु भगवत्सेवासिद्धौ इतरसेवा भगवत्प्राप्त्यर्था कर्तव्येत्याशंक्याहुर्विवरणे तदान्येति । भगवल्लक्षणफलस्येतरसाधनासाध्यत्वेन अनुग्रहमात्रसाध्यत्वेन च सेवायां प्रतिबन्धकरणादनुग्रहाभावनिश्चयेन तत्साधनार्थं प्रयासस्य तदसाधकत्वात् व्यर्थेत्याशयः । अत एवोक्तमासुरोयं जीव इति निर्धार इति । **यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतमेतस्य विवरण तदा ज्ञानमार्गेण स्यातव्यं शोकाभावायेति** । विवेक इति । ज्ञानमार्गश्च जीवब्रह्मणोरभेदज्ञानं जगन्मिथ्यात्वज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेक इहामुत्रफलभोगविराग इत्यादिः । सांख्येन योगेन वा सिद्धिः, नौपनिषदः, तस्मिंस्तस्यानधिकारित्वात् । **मूले वा** शब्दोनादरे । इतोपि न ज्ञानमार्गीया मुक्तिरपि तु शोकाभाव एवेत्याहुः **शोकाभावायेति**पदेन । कथमेवमिति चेत्, निबन्धायासुरी मतेति वाक्यादिति गृहाण । भगवद्धर्मिणः फलस्यैव निरूपणमुचितम्, न प्रतिबन्ध-

निरूपणमित्याशंक्य त्यागार्थमेतन्निरूपितमित्याहुर्बाधकानां परित्याग इति । परित्यागस्तु साधनपरित्यागरूपः पूर्वमेवोक्तः । नन्वेवमलौकिकभोगस्यापि त्याज्यत्वमागतं, नेत्याहुर्भोगेष्वेकं परं विहाय । तथेति त्याग इत्यर्थः । बाधकानामिति वाक्यं सुगमत्वादव्याख्याय निष्प्रत्यूहमिति वाक्यस्य च अलौकिकभोगस्त्वित्यादिना पूर्वमेतद्व्याख्यातत्वात् तत्प्रतीकमपि अगृह्य सविघ्नोऽल्प इति वाक्यं व्याख्यातुमाभासयन्ति साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाहुरिति सविघ्नोल्पो घातकः स्यादितीति प्रतीकग्रहणम् । तदर्थस्तु सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्य इति । बलादेतौ सदा मताविति वाक्यव्याख्यानं एतौ सदा प्रतिबन्धकाविति । एतौ लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ सविघ्नत्वाल्पत्वघातकत्वादिभिर्हेयतावच्छेदकरूपयुक्तौ । द्वितीये सर्वं इति वाक्यं विवृण्वन्ति । द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्ध इति । द्वितीयत्वं चात्र प्रतिबन्धक्रमेण बोद्धव्यम् । एवं द्वितीयपदमात्रं व्याख्याय कृत्स्नं वाक्यं व्याख्यातुमवतारयन्ति ज्ञानस्थिरभावे चिन्ताभावार्थमाहुरिति । द्वितीय इतीति स्पष्टत्वात् न व्याख्यातम् । भगवत्कृतप्रतिबन्धे जायमाने संसृतेरवश्यभावित्वेन फलान्तरस्यासंभवात् तद्विषयिणी चिन्ता नैव कर्तव्या, व्यर्थत्वादित्यर्थः । नन्वाद्ये दातृता नास्तीति वाक्यव्याख्यानमाद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्तीति । मूले आद्यपदं प्रतिबन्धकत्रये आद्यपरम् । तथा चाद्ये उद्वेगे जायमाने सतीत्यर्थो बोध्यः । विवृतौ तु आद्यफलाभाव इत्यत्र फलाभावपदयोः षष्ठीतत्पुरुषं विधाय समस्तस्य आद्यपदेन तृतीयातत्पुरुषो बोध्यः । आद्यफलस्य अभाव इति तु न भ्रमितव्यम् । फलाभावस्याप्रत्यक्षत्वेन दातृत्वाभावे लिंगत्वासंभवात् । तथा च सेवायां क्रियमाणायाम् मनस उद्वेगे जायमाने अमानसीत्यादनाधिदैविकीत्वसंपत्तौ गीतिस्थाश्च फलाजनकत्वेन भगवतो दातृत्वाभावः स्पष्ट एव । प्रभोः का वा शक्तिर्मानसोद्वेगनिवारणे यतः । तदेवोक्तं विवरणे तदा सेवाऽनाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति । तृतीये बाधकं गृहमिति वाक्यस्य आशयं विवेचयन्ति । भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग इति । तथा च मूले प्रतिबन्धकतृतीयापेक्षं तृतीयपदं बोध्यम् । यदर्थमेतावन्निरूपितं तत्प्रयोजनमाहुरवश्येति । इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी चावश्या, न स्ववशा, भक्तिमार्गीयफलप्रतिबन्धनिवृत्त्योर्भगवदधीनत्वात्, तथापि निरन्तरं भाव्या फलप्रतिबन्धयोः सश्लेषासंश्लेषार्थम् । नन्वितोपि किञ्चित्फलान्तरं प्रतिबन्धान्तरं वा भक्तिमार्गे स्यादिति नेत्याहुः सर्वमन्यन्मनोभ्रम इति । मोक्षपापादेः फलत्वप्रतिबन्धकत्वयोरसंभवादिति भावः। तथा च 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपी'ति 'निकर्मं यच्चोत्पतित'मिति च भक्तिमार्गीयस्यैतदेव फलम्, उत्तममध्यमसाधारणादिभेदेन । न च निरस्तसमस्तविशेषे कथं तारतम्यमिति वाच्यम् । एतद्विना लीलानुपपत्तेः । तथा चोक्तम्,- 'अहो मायागुणा विष्णोराकारश्चिच्छरीरता । निर्दोषत्वं तारतम्यं मुक्तानामपि चोच्यते' । 'मुक्ता अपि लीलाविग्रहं

कृत्वा भजन्त' इति च । स्पष्टं चैतदाकरे । प्रभुसमर्पितदेहादेः फलनैयत्यात् न तेनैतद्भाव्यमिति नेत्याहुः **तदीयैरपीति** । तत्प्रतिबन्धकत्रयस्य फलत्रयस्य च भावनं कार्यम्, पुष्टिमर्यादास्थस्य साधनद्वारैव फलनैयत्यात् । तथा चोक्तमाकरे 'स चिरकालोक्तेत्यारभ्य सुधां ववर्ष तथैव सर्वत्र वर्षिष्यतीति न ज्ञातुं शक्यम्, अतो मर्यादया तद्भजनमेव सर्वेषां कर्तव्यत्वेन ज्ञेयमिति दिगित्यन्तेन । न चायं पुष्टिस्थ एवेति वाच्यम् । तस्य फलविलंबासंभवादिति आहुः **पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति** । फलं प्रभुरिति शेषः । एवं सत्त्वरजस्तमसां परस्पराभिभवनोद्रेकनिमित्तमनःखेदेपि एतद्भावनमेव कर्तव्यम्, तत एव भगवत्परे चित्ते जायमाने मनःक्षोभनिवृत्तेः । क्षोभश्चायं फलविलंबादेव, नान्यस्मात् । अतस्तत्रापि नान्यत्साधनं, किन्त्वेतदेव कर्तव्यमित्याहुः **गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिरिति** । ननु भगवदीयत्वस्य फलावश्यंभावनियमात् फलविलम्बे च भगवदीयत्ववैयर्थ्यात् प्रतिबन्धानामसंभव एव, ततश्चैतन्निरूपणं व्यर्थमेवेति चेत्, इयं नाशंका, अपि तु सिद्धान्ताबोधजभ्रमजन्या **कुसृष्टिरेवेत्याहुः कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्यते स वै भ्रम इति** । भ्रमत्वं तु स्वतन्त्रेच्छस्य प्रभोर्भक्तवैचित्र्यं विना लीलानुपपत्तेर्वैचित्र्यस्यावश्यवाच्यतया मर्यादापुष्टेरनवोधत्वात् तादृशभक्तस्य च प्रतिबन्धफलविलम्बानामपरिहार्यत्वात् तस्य तथा निरूपणमनुचितमिति कथनस्य सिद्धान्तानवबोधविजृंभितत्वात् पुष्टौ नैव विलम्बयेदित्यादिनोक्तोप्यर्थोवसरे स्मारितः ।

> तृष्यन्नवाप्यजलधिप्रविभूतचन्द्रश्चन्द्रावलीरमणकौशलमादधानः ।
> राधाननेन्दुसुपमामृतपानमत्तो नन्दात्मजो हृदि तमोहृतये स मेऽस्तु ॥ १ ॥

इति श्रीसेवाफलटीका ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् टिप्पणसमेतम् ।

वल्लभाचार्यचरणाः प्रसीदन्तु सदा मयि । यदाश्रयकथामात्रेऽप्यखिलाः पुष्टिसिद्धयः ॥१॥
यद्यपीश्वरवाक्यार्थाः स्वतोऽज्ञेयास्तथाप्यहम् । सेवाफले टिप्पणं तत्कृपया वक्तुमुत्सहे ॥२॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यनिरूपितं सेवाफलाख्यं प्रकरणं तन्निरूपितयैव टीकया सहितं सुगमत्वाय विव्रियते । यादृशीति । यादृशी सेवा मया मुख्यसेवासाधनीभूता तनुवित्तजा सिद्धान्तमुक्तावल्यादिषु प्रकर्षेणोक्ता तस्याः सिद्धौ परिणामदशायां इहामुत्र च यत्फलं भवति तदुच्यते । अत्र फलमिति जात्यभिप्रायेणैकवचनम्, तेन फलत्रयमुक्तं भवति । तदेवोक्तं टीकायां सेवायां फलत्रयमित्यनेन । नन्वेकस्या एव सेवाया विसदृशं फलत्रयं कथं भवितुमर्हतीति चेत्, इत्थम्, भगवानस्मिन् भक्तिमार्गे शुद्धपुष्टिमर्यादा-

पुष्टिप्रवाहपुष्टिभेदेन भक्तानंगीकरोति । तत्र शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यप्रकटितत्वात् साक्षात्परम्पराभेदेन सद्यो विलम्बेन वा पुरुषोत्तमसम्बन्धावश्यंभावरूपः पुष्ट्यंशस्त्रिष्वप्यनुस्यूत एव । इतरावग्रे वक्ष्यमाणबाधकसम्भवान्यथापत्त्यवधेयौ फलत्रयकथनेन च । साधनफलयोस्त्रित्वे वस्तुतो नियमिका विचित्रा तदिच्छैव । तथा च यं भक्तं यस्मिन्मार्गे भगवानंगीकरोति तस्मै तदनुसारेण फलं प्रयच्छतीति न काप्यत्रानुपपत्तिः । अथ तत्रयं किंरूपमित्याकांक्षायामुच्यते । **अलौकिकस्येत्यारभ्याधिकारो चेत्यन्तेन** । तद्विवरणमलौकिकसामर्थ्यमित्यादि वैकुण्ठादिष्वित्यन्तम् । अर्थस्तु भगवानलौकिकं लोकवेदातीतं पूर्णं सर्वोत्तमावैकल्यं फलं साधनरहितं यदा परवत् दातुमिच्छति तदैव आद्यः फलाव्यभिचरितपूर्वजन्मसंबंधी सकलफलाग्रगण्यो व्रजभक्तसदृशो यो मनोरथः स सिध्येत् । तदवान्तरफलं अलौकिकसामर्थ्यं भजनानन्दानुभवयोग्यतारूपं सिध्यतीत्यर्थः । अत्र दित्सायां वक्तव्यायां दान इति सिद्धवन्निर्देशस्तु भगवतः स्वतन्त्रत्वात् तद्दानस्य नित्यत्वात् निरपेक्षत्वादनंतत्वाच्च । तथा चास्मिन्नेव जन्मनि भगवान् साक्षात् स्पर्शादिसुखं कदाचित् तमनुभावयतीति इह लोक एव तेषां सकलपुरुषार्थाधिकफलसिद्धिर्भवति, किमु वाच्यमग्र इति कैमुतिकन्यायेन आमुष्मिकफलस्यानिर्वचनीयत्वं सूचितम् । अत एव पुष्टिमार्गीयामुत्रिकफलस्यात्र न स्फुटोक्तिः अनुक्तसिद्धत्वादवचनीयत्वाच्च । हि युक्तश्चायमर्थः । यत् परमोत्कृष्टं फलं भगवद्दत्तमेव प्राप्यते, नान्यथापीति । चकारस्त्वप्यर्थे । तथा चायोपि श्रेष्ठोपि जीवस्वरूपविचारे भवितुमयोग्योपि श्रीमदाचार्यपक्षपाताद्भगवता दीयते चेत्, सिध्यत्येव, केन वा रोद्धव्यः, नान्यथापीति भावः । अल्प इति पाठे पुष्टिमार्गीयसाक्षाद्भगवत्संबन्धिफलमगम्यत्वात् जीवैर्मनोरथीकर्तुमपि न शक्यते । अतः फलापेक्षया स्वल्पोपि मनोरथः भगवान् स्वानुरूपमेव फलं ददातीति पूर्ण एव सिध्यति, न तु जीवविचारितरूपमात्र इत्यर्थः । इत्येकमविहितभक्तसदृशं फलमुक्तम् । विहितभक्तविहितं द्वितीयमाहुः **फलं वेति** । तद्विवृतिः सायुज्यमिति । सायुज्ये फलोक्तिस्तु लोकवेदयोस्तस्यैव फलत्वेन प्रसिद्धेः । तेन यं मर्यादापुष्टावंगीकरोति तस्मै 'मामेवैष्यसी'त्यादिवाक्योपदिष्टं पुरुषोत्तमसायुज्यं प्रयच्छतीत्यर्थः । तृतीयं फलमाहुः **अधिकारो चेति** । तट्टीका सेवौपयिकदेहो **वैकुण्ठादिष्विति** । वैकुण्ठादिषु किञ्चित् परिचरणं कुर्वन् तिष्ठतीत्यर्थः । आदिपदाद्भूमावपि जन्मान्तरान् चेदवशिष्टान् प्राप्नोति तदापि सेवापर एव भवतीति ज्ञापितम् । अथवा देहाध्यासस्योक्तत्वात् जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः । पुष्टांशस्य सत्त्वादग्रे यथाधिकारं पुरुषोत्तमसंबन्धो भावीति ज्ञेयम् । तदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती'ति । यद्वा, **यादृशीति** पूर्ववत् । फले त्रित्वोक्तिरैहिकामुष्मिकाभिप्रायावान्तरपरमफलाभिप्राया वा । वस्तुतः परमफले विहिताविहितभक्त्यधिकारके सायुज्यभजनानन्दरूपद्विविधे एव । तथा चैकमैहिकमवान्तरफलं

वा । अग्रे आमुष्मिकमधिकारिभेदेन द्विविधं परमफलमिति त्रैविध्यं फले । अत एव निबन्धे विहितभक्तानां सायुज्यमुक्तं, परमफलत्वेन, अविहितभक्तानां गोपिकादितुल्यानां भजनानन्दरूपमेव । फलद्वैविध्ये कारणं, सर्वात्मभावतदितरभावसाध्यपदार्थतारतम्यज्ञापनमेव । अथ कश्चिद्वहिलस्तत्फलस्य द्विविधत्वे तत्प्राप्तौ चान्यत्सेवैव वा भिन्नप्रकारा कारणमस्त्विति वदति चेत्, तत्राहुः अलौकिकस्येति । इदं फलत्रयमप्यलौकिकं भवति, अतस्तद्भगवतैव दीयते चेत् प्राप्यते, नान्यथा । तत्रैकं प्रथमं फलमिह लोके एव भवति, इतरे त्वमुत्र । तत्राग्रिमफलद्वयस्य प्रत्येकं सूचकम् । ऐहिकफलेपि द्वैविध्यमाहुः आद्य इति । आद्यः सिध्येत्, मनोरथश्च सिध्येत् । अयमर्थः । यस्य सायुज्यं भावि स आद्यो मुख्यः भक्तिमार्गीयसकलसाधनसंपन्नो भवति । यस्य पुनः साक्षाच्छ्रीपुरुषोत्तमसंबन्धिमुख्यरसानुभवो भावी तस्य संन्यासनिर्णयोक्तप्रकारकातिविरहजवैकल्यादिसंहिता परमार्तिरूपाधिकारसंपत्तिर्भवति । अल्प इति पाठे अल्पस्तुच्छो दास इति यावत् । तथाच माहात्म्यपूर्वककेवलदासभावयुक्तो भवतीत्यर्थः । अग्रे पूर्ववत् । एवमवान्तरफलद्वयं निरूप्य अग्रिमपरमफलद्वयमाहुः फलं सायुज्यं वा पुरुषोत्तमस्य । अधिकारः सेवोपयिकदेहो वैकुण्ठादिषु वा । अत्र वैकुण्ठपदं लोकवेदप्रसिद्धमभिप्रायेण । वस्तुतस्तु महालक्ष्मे स्वधामनि । तथाच 'यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः' इति श्रुतिनिरूपिते परमपदे मुख्याधिकाररूपसाक्षाद्भजनानन्दानुभवयोग्यस्वरूपावाप्तिरूपः । सिध्येदिति सर्वत्रानुषङ्गः । आदिपदात् यत्रैव साक्षात् पुष्टिपुरुषोत्तमसांनिध्यं तत्रैव सेवां कुर्वन् तिष्ठतीति ज्ञापितं भवति । यद्वा । आद्य इति । आदिपदेन अग्रिमफलाधिकरणकस्थित्यपेक्षया प्राथमिकं सयोनुभूयमानं जन्मोच्यते । तत्सम्बन्धी यो मनोरथः यथाधिकारमग्रिमफलविषयकाभिलापरूपः स सिध्यतीत्यर्थः । पाठान्तरे तु पूर्वार्थवत् । इममेव सर्वमर्थमनुसन्धाय टीकायामुक्तमलौकिकसामर्थ्यमिति । सायुज्यप्रापकं भक्तिमार्गीयसाधनसम्पत्तिरूपं स्वरूपप्रापकं तद्रससहिष्णुतारूपं चेति । अत्र साधनफलयोः सम्पत्तौ कालकर्मादयो नियामका भविष्यन्तीत्याशङ्कायामाहुः न कालोऽत्रेति । सर्वोपजीव्यत्वात् काल एवोक्तः । तेन भगवदिच्छाव्यतिरिक्तः कोऽपि न नियामक इत्युक्तं भवति । तदत्र स्वच्छंदचारित्वं भविष्यतीत्याशङ्क्य तन्निरासपूर्वकं सावधानतया स्थितिज्ञापनाय मध्ये अन्तरायोत्पत्तिमाहुः उद्वेग इति । तस्य विवरणं सेवायामित्यारभ्य भोगो वेत्यन्तम् । एतत्त्रितयमपि बाधकमस्ति । यथा तदनुत्पत्तिर्भवति तथा यतनीयमित्याशयः । ननु उद्वेगप्रतिबन्धभोगाः क्रमेण मनोजन्यत्वात् दैवागतत्वात् क्षुदादिनिवर्तकत्वाचाशक्यपरिहारास्ते कथं त्यक्तव्या इत्याशङ्कायां त्यागप्रकारमाहुरग्रे बाधकानां परित्याग इति । तट्टीका त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति । सिद्धाश्चेत् त्यक्तुमशक्या एव । अतस्तत्साधकवस्तूनां त्यागे तदनुत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः । अथ तेषु प्रत्येकं त्या-

ज्यात्याज्यभेदेन द्वैविध्यमस्तीति सामान्यतो वदन्तः प्रथमं त्याज्यवस्तुस्वरूपमाहुः अकर्तव्यमिति । व्याकृतिः भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इत्यारभ्य विवेक इत्यन्ता । अर्थस्तु यत्कार्यं सर्वथा भगवान् कर्तुं नेच्छति तत्र यावद्बुद्धिबलोदयं जीवैः दृष्टादृष्टोपायैः प्रयत्ने कृतेपि प्रतिबन्धराहित्यपूर्वकं तत्कार्यं न सिध्यति, तदा भगवत्कृतोऽयं प्रतिबन्धोऽयमित्यवधेयः । तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदा अन्या तदनन्तरं कृता या सेवा सा व्यर्था । यतः फलशून्या । तदा किं कर्तव्यं तेनेति प्रश्ने उच्यते । तदायं परिदृश्यमानो मल्लक्षणो वा जीव आसुर इति मनसि निर्धार्य ज्ञानमार्गेण वेदोक्तेन ज्ञेयम्, तत्र मयेयान् प्रयासः कृतस्तथापि किमिति न स सिद्धिं प्राप्त इतिरूपखेदाभावाय हरिः सर्वं निजेच्छयैव करोति करिष्यति अकार्षीदित्येवं विवेकः कर्तव्य इत्यर्थः । अत्रासुरत्वमावेशजन्यं ज्ञेयम् । अन्यथा सहजासुरस्य ज्ञानाद्यनधिकारित्वेन श्रीमदाचार्यास्तस्य कर्तव्यत्वं नोपदिशेयुः । तेनासुरत्वं आवेशिसहजभेदेन द्विविधं ज्ञेयम् । द्वितीयमग्रे वक्ष्यंति द्वितीयेत्यनेन । अन्यथा पूर्वं विवेकः साधनं मतं इत्युक्तम्, अग्रे सर्वथा चिन्ता त्याज्येति वक्ष्यते तेनान्योन्य विरुद्धवाक्यकथनेन वदद्व्याघातः प्रसज्येत । तथा च सर्वथा भगवान् यत्कर्तुं नेच्छति तस्याचार्योक्तसंकेतैर्भगवदीयद्वारा वा यया तत्त्वनिर्धारो भवति तया कृत्वा सर्वथा असाध्यत्वे ज्ञाते तदुपक्रम एव न कार्यः, किन्तु विवेकपूर्वकं स्थेयमित्यर्थः । अथ त्याज्यात्याज्यभेदान् तत्स्वरूपाणि च विविच्य प्रकटमाहुः भोगेप्येकमित्यादि तृतीये बाधकं गृहमित्यन्तेन । तत्रादावानं भोगो द्विविध इत्यारभ्य आग्रन्थपरिसमाप्ति । अर्थस्तु योगप्रतिबन्धो लौकिकालौकिकभेदेन साधारणभगवत्कृतभेदेन च प्रत्येकं द्विविधौ । तत्र लौकिको भोगः स्वच्छन्दतया यथेष्टं सर्वेन्द्रियसंतर्पणादिरूपः । स सर्वथा त्याज्यः । तदुक्तं श्रीमदाचार्यैः 'स्वयमिन्द्रियकार्याणि', 'विषयाक्रान्तदेहाना'मित्यादिवाक्यैः । साधारणप्रतिबन्धस्तु त्रैवर्गिकायासासक्त्यादिरूपः, सोपि तथा । एतस्य भगवद्धर्मापेक्षयातिनिर्बलत्वेन सेवायासकश्च वृथा कालक्षेपजनकत्वमस्ति । तदुक्तं 'तावत्कर्माणि कुर्वीत' 'मत्कर्म कुर्वतां पुंसा'मित्यादिवाक्यैः । ननु तर्हि धर्मादिशास्त्रभयवैयर्थ्यं स्यादिति चेत् । न । यतो युक्तंवैरुक्त टीकायाम् । लोकसंग्रहार्थकरणाभिप्रायेण । तदेव गीतायामुक्तं 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांस' इति । अन्यथा तत्तन्नियतकारणकमेव फलं स्यात्, नैतन्मार्गीयम् । अथालौकिकभोगस्तु वस्तुमानस्य भगवदुपयोगे तदयोग्यत्वे च जाते तदत्तप्रसादत्वेन स्वोपयोगादिरूपः, स न त्याज्यः । यतः स भोगः फलानां मध्ये प्रथमफलेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रविशति, तदन्तःपातं प्राप्नोति । कायवाङ्मनःशोषकत्वात्, स्वधर्मत्वाच्च । तदुक्तं 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धे'त्यादिवाक्यैः । 'यत्करोषि यदश्नासि' 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा' इत्यादिभिर्भोगस्य यथाकथंचित् कर्तव्यताप्युक्ता । द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः, स स्वरूपतः फलतश्च पूर्वमुपपादितः । नन्व-

सामर्थ्यरूपं फलमुच्यते । यतो हि निश्चितम् । अलौकिकसामर्थ्यस्य दाने सति तनुवित्तजा-सेवाप्रारम्भे जातो यो मनोरथः ममानया सेवया मानसीसेवा सिध्यत्वेवंरूपः स सिध्येत्, अत इदं फलमङ्गभूतमुच्यते । अथवा सायुज्यं फलमङ्गभूतमुच्यते । अथवा साक्षात्सेवोपयोग्यधिकाररूपदेहोऽङ्गभूतं फलमुच्यते । यत एतयोरपि दाने प्रथमं जातो मनोरथः सिध्येत्, नान्यथा । तस्मादेतयोरपि मानसीसेवायामङ्गभूतत्वम् । अस्मिन् फलत्रये कालो न नियामकः संपादको न भवति । यतः पुष्टिमार्गीयदैवजीवे मानसीसेवार्थं भगवदुत्पादितमेवैतत्फलत्रयम् ।

एवं मानसीसेवायामङ्गभूतं फलत्रयमुपपाद्य मानसीसेवायां प्रतिबन्धकत्रयमुपपादयन्ति **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्** । तदेव विशदयन्ति उद्वेग इति । मानसीसेवायां तु उद्वेगः बाधकं भवेत् । अथवा प्रतिबन्धः बाधकं भवेत् । भोगो वा बाधकं भवेत् । एवं बाधकत्रयं सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् । तुशब्दोन्यव्यावृत्त्यर्थम् । **बाधकानां परित्याग इति** । बाधकत्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भोगो द्विविधः । लौकिकोऽलौकिकश्च । द्विविधेपि भोगे एकं लौकिकभोगरूपं बाधकं तथा त्याज्यम् । अपरं द्वितीयमलौकिकभोगस्वरूपं निष्प्रत्यूहं निर्विघ्नं भगवतैव निर्वाह्यम् । स अलौकिकभोगस्तु महान् भोगः सदा निरन्तरं सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परतारूपः । फलत्रयाणां मध्ये प्रथमे फलेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रविशति । अतो न त्यक्तुं योग्यः । प्रतिबन्धोपि द्विविधः । साधारणो भगवत्कृतश्च । तत्र प्रतिबन्धद्वये आद्यः साधारणः बुद्ध्या उपायेन त्याज्यः । भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदेवाहुः अकर्तव्यमिति । भगवतो जीवकर्तृकं भजनं कर्तुमयोग्यं चेत्तदा सर्वप्रकारेण गतिर्नहि । फलं नेति निश्चयः । यदा भगवत्कृतप्रतिबन्धः सर्वथा निवारयितुमयोग्यस्तदा तत्प्रतिबन्धनिवारणार्थं कृता या अन्यदेवतासेवा सापि व्यर्था । अन्यफलदातॄणामपि देवानां भगवदधीनानां भगवत्कृतप्रतिबन्धानिवारकत्वात् । किञ्च, यदा भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा आसुरोयं जीव इति निर्धारः । अयं जीवो दैवः पुष्टिमार्गीयजीववत् सेवादिना प्रतीयमानोप्यासुर इति निर्धारः । दैवजीवे भगवत्कृतप्रतिबन्धासंभवात् । ननु यदा भक्तिमार्गीयभजने भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा शोकाभावाय तेन किं कार्यमित्याकांक्षायामाहुः **यथा वेति** । वेत्सनादरे । यथा येन प्रकारेण वेदान्तश्रवणादिना अन्येनापि येन केनचित्प्रकारेण तत्त्वनिर्धारः स्वरूपनिर्धारो भवति तेन प्रकारेण तस्य विवेकः साधनं संमतम् । विवेकस्वरूपं तदेव विवृतं तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यम्, शोकाभावायेति विवेकः । यदा भक्तिमार्गीयभजने भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा शोकाभावाय ज्ञानमार्गेण मया स्थातव्यमिति विवेकरूपं साधनम् । साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाहुः सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति । सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भावविघातकत्वात् साधारणो भोगस्त्याज्यः । यतोवैतौ सदा मतौ । एतौ साधारणप्रतिबन्धसाधारणभोगरूपौ-ऽसदाप्रतिबन्धकौ संमतावत-

स्त्याज्यौ । द्वितीय इति । द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तस्मिन् सति ज्ञानमार्गेणापि स्थित्य-
संभवे चिन्ता भवति । तदभावार्थमाहुः **द्वितीय इति** । ज्ञानमार्गेणापि स्थितौ भगवत्कृ-
तप्रतिबन्धे सर्वथा चिन्ता त्याज्या । संसारनिश्चयात् । सर्वत्र भगवत्कृतप्रतिबन्धादयं जीव
आसुर इत्यस्य संसार एव भवति, नतूद्धार इति निर्धारात् सर्वथा चिन्ता त्याज्या । भगव-
त्कृतप्रतिबन्धस्य ज्ञापकमाहुः **नन्वाद्य इति** । नन्विति विरोधोक्तौ । दैवजीवे सर्वेन्द्रियाणां
भगवत्परत्वं, तेन तत्कृता सेवा आधिदैविकी, आधिदैविको भगवान् तत्संबन्धिनी भवति ।
आसुरजीवे भगवत्कृतप्रतिबन्धादाद्यफलाभावे सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परत्वाभावे सति तत्र
भगवतः फलदातृत्वं नास्ति । तदा तत्कृता सेवा नाधिदैविकी भगवत्संबन्धिनी न भवती-
त्युक्तं भवति । तस्य प्रपञ्चासक्तत्वात् । तृतीय इति । ननु तृतीये–भोगाभावे बाधकं
गृहम् । भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः । **अवश्येयमिति** । इयं फलत्रयी
प्रतिबन्धकाभावत्रयी अवश्या, न स्ववश्या । तथापि भाव्या विचारणीया । मम फलत्रयं
भवतु, प्रतिबन्धकाभावत्रयं भवतु, एवं विचारणीया । फलत्रयप्रतिबन्धकाभावत्रयाभ्याम-
न्यत् सर्वं फलभावनं प्रतिबन्धकभावनं स्वान्तभ्रान्तिरित्यर्थः । ननु पुष्टिमार्गीयाणां किमर्थं
भावनं, तं विनैव फलसिद्धेरित्याशंकायामाहुः **तदीयैरिति** । पुष्टिमार्गीयैरप्येतद्भावनं का-
र्यम् । एतद्भावने भगवान् पुष्टिमार्गे फलदाने विलम्बं न करोत्येव । अतः पुष्टिमार्गीया-
णामेतद्भावने शीघ्रं फलं भवत्यतस्तैरपि भावनं कार्यम् । ननु सत्वादिप्राकृतगुणकृतचित्त-
क्षोभे सति कथं भावनं कार्यं तत्राहुः **गुणक्षोभेपीति** । चित्तस्य गुणत्रयकृतक्षो-
भेप्येतदेव फलप्रतिबन्धकत्रयप्राप्तिनिवृत्तिभावनं तन्निवारणे साधनरूपं द्रष्टव्यम् । एत-
द्भावनयैव गुणत्रयक्षोभोपि नश्यतीति मे मतिः । एवंप्रकारिका मम बुद्धिः । **कुसृष्टिरिति** ।
अनेतद्भावनकृतगुणत्रयक्षोभनिवारणे काचित् कुसृष्टिरेतद्भावनयैव गुणत्रयकृतक्षोभो नश्य-
तीति कथं, गुणत्रयकृतक्षोभनिवारणे साधनान्तराण्यपि भविष्यन्तीत्येवंरूपानुपपत्तिरुत्पद्यते
चेत्, निश्चयेन स वै भ्रमः । स्वान्तभ्रान्तिः । अत्र न काप्यनुपपत्तिरिति दिक् ।

इति श्रीसेवाफलविवृतिप्रकाशः ।

निषिद्धसुखत्यागी पशुरेवेति न्यायेन साधारणो भोगः किमर्थं त्यक्तव्यः, तत्राहुः **सविघ्नेति** । अस्य टीका सविघ्नत्वादादिप्रतिबन्धेत्यन्ता । अर्थः सविघ्नत्वात् बह्वन्तरायवत्त्वात् तत्रापि स्वरूपतः कालतश्च स्वल्पत्वात् घातकोयं त्याज्य एवेत्यर्थः । तयाच साधारणभोगभगवत्कृतप्रतिबन्धौ प्रसह्य फलाभावजनकौ । यतस्तौ मतौ संमतौ न, प्रतिबन्धकत्वात् । अथवा मतौ प्रतिबन्धकत्वेन संमतावित्यर्थः । तत्र तयोराद्यः स्वसाध्यत्वात् त्याज्य एव । इतरोऽसाध्यत्वात् मर्यादामार्गेण स्थित्वा सोढव्य इति । पूर्वं यदुक्तं तत् 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'त्यादिभगवद्वाक्यैः सहजासुरेषु मर्यादामार्गोऽपि याथातथ्येन न सिध्यतीति ज्ञानस्थित्यभावेत्याभासेनानूद्य तेषां कर्तव्यमाहुः **द्वितीयेति** । द्वितीये बाधके भगवत्कृतप्रतिबन्धे, अथवा द्वितीये आसुरत्वे साहजिके जाते फलविषयिणी चिन्ता साधनान्वेषणं न कर्तव्यम् । यतः फलं तस्यैतन्मार्गीयं न भवत्येव । तर्हि तस्य किं भवतीति प्रश्ने आहुः **संसारेति** । तस्माधिकोऽहंममात्मकः संसार एव भवति, अग्रेऽपि तदनुसारेणैव फलम्, नान्यदपीत्यर्थः । नन्वन्त्यबाधकद्वये द्विरूपत्वं विविच्योक्तं नत्वादिमेतत्कुतः इत्यत्राहुः **नत्वाद्य इति** । तट्टीका आद्य इति । आद्यो यः फलस्याभावो यस्मादिति फलाभावः प्रतिबन्ध उद्वेग इति यावत् । स यद्यपि साहजिकदुःसङ्गकृतभेदेन द्विविधोऽस्ति तद्द्वयात्तत्र चित्तशुद्ध्यभावेन कदाचित् स्वधर्मत्यागनिन्दादिकमपि भवति, तथापि द्वैविध्येऽपि भगवान् सर्वात्मना फलं नैव संपादयतीति न, किन्तु किञ्चिन्न्यूनाधिकं भवत्येव । अतस्तत्र भगवतोऽदातृत्वं फलविषयकं नास्ति, किन्त्वग्रिमजन्मान्तरेषु फलमुत्तमं मध्यमं वा भवत्येवेत्यर्थः । तदेवोक्तं निबन्धे 'अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथा । नरके न भवेत्पातः किन्तु हीनेषु जायते । पूर्वसंस्कारतस्तत्र भजन्मुच्येत जन्मभि'रिति । तर्हि सद्यस्तस्य किं भवतीत्याकांक्षायामाहुस्तदेति । तदा तनुवित्तजा सेवा आधिदैविकी न भवति । यस्यां कदा कदाचित् साक्षात्स्वरूपानुभवः सर्वदा तत्सङ्गभावे परमार्तिश्च नियता तादृशी साम्प्रतं न भवतीत्यर्थः । अथ लौकिकभोगत्यागप्रकारमाहुः **तृतीय इति** । तद्व्याकृतिर्भोगाभाव इति । गृहे त्यक्ते तदधीनत्वात् सोऽपि त्यक्तो भवतीत्यर्थः । अथ अवश्येत्याद्यवशिष्टमूलव्याख्या श्रीमदाचार्यकृता न लभ्यत इति तद्व्याख्यायते । इयं सेवा सदा अवश्या जीवकृत्यसाध्येति भावनीया । अयमाशयोऽत्र । तस्याः कृतौ स्वस्य कर्तृत्वाभिमाने जाते कृताप्यकृतप्राया भवतीति भगवत्येव सर्वं भारं निक्षिप्य तदिच्छयैव सर्वं सम्पद्यत इति निश्चित्य तत्परतया सेव्यमिति । तदुक्तं 'अशक्ये वा सुशक्ये चे'त्यादिवाक्यैः । एतदन्यप्रकारा भावना मनोभ्रमरूपा । यद्वा । इयं सेवा सदा अवश्या, जीवकृत्यसाध्या भाव्या च, भावसम्बन्धिनी तत्प्रधाना च ज्ञेयेति शेषः । एतस्मादन्यजीवसाध्यत्वविध्यधीनत्वज्ञानं मनसो भ्रमः । इति संक्षिप्य सेवास्वरूपमाचार्यैरुक्तम् । एवं स्वरूपमुक्त्वा तस्या एतत्प्रकारेणैव ज्ञानं कर्तव्यतां चाज्ञापयन्ति **तदीयैरिति** । अत्राप्रस्तुतत्वेन प्रतीय-

मानोप्यपिशब्द एतत्प्रकारकज्ञानविशिष्टत्वमाक्षिपति । तथाचैवं ज्ञानपूर्णैरपि तन्मदुक्तमेव कार्यम्, नान्यदित्यर्थः । नन्वन्यमार्गद्वये यथोक्तकरणं युक्तं, लोकवेदानुसारित्वात्, न तु शुद्धपुष्टौ, लोकवेदातीतत्वात् । अतस्तत्र यथोक्तकरणं नोपदिश्यत इति चेत्, तत्राहुः पुष्टाविति । एवकारेण विचारान्तराभावपूर्वकमवश्यकर्तव्यत्वं सूच्यते । तथा च पुष्टिमार्गे एतदुक्ताचरणे विलम्बो न कार्यः । यतस्तत्र मार्गाचार्यप्राधान्यमेवोत्कर्षः, तदेव च निर्वहति । तथाकरणेनैव भगवान् प्रसीदति, नान्यथा । अतस्ताद्दशैस्तदुक्तकरणे सर्वथा विलम्बो न कार्यः । ननु पूर्वं यदुक्तं भगवत्कृतप्रतिबन्धसंभवे तत् सोढ्वा स्थेयमिति, तत्र युक्तम्, यतस्तपोऽनशनदेहाभिघातादिभिराग्रहे क्रियमाणे देववतादेरिवास्यापि प्रतिज्ञापालनं भगवान् करोत्येवेति चेत्, तत्राहुः गुणेति । गुणानां सत्त्वादीनां क्षोभेऽतिक्रान्तमर्यादत्वे जाते अर्थात् गुणाधिक्येन क्रोधमदमात्सर्यादिविकारसंभवेपि स्वाभाविकं त्यक्त्वा मदुक्तमेव कार्यमित्यर्थः । दर्शनमालोचनज्ञानं दृष्ट्वा कर्तव्यमित्यर्थः । तत्र प्रमाणं मे मतिरिति । पूर्वं यदाक्षिप्तं तत्सर्वं सगुणभाववद्भक्तकृत्यम्, मदीयास्तु निर्गुणभावा इति तैर्मदुक्तमेव विधेयम् । तत्राज्ञानमन्यथाज्ञानं च वारयन्ति कुसृष्टिरिति । अत्र मदुक्तौ या कुसृष्टिर्हेतुवादादिरुत्पद्येत स वै निश्चयेन भ्रम एव । श्रीमदाचार्योपदिष्टप्रकारेषु यत्प्रमाणान्तरान्वेषणं तद्भ्रमरूपमेवेति दिक् ।

इति सेवाफले मूले टीकायां च कृतं मया । टिप्पणं श्रीमदाचार्यपदपद्मानुसारिणा ॥ १ ॥

इति श्रीसेवाफलटिप्पणम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् विवृतिप्रकाशसहितम् ।

प्रणम्य पुष्टिमार्गीयं सद्गुरुं वल्लभं प्रभुम् । सेवाफलस्य विवृतिप्रकाशः क्रियते मया ॥ १ ॥

श्रीमदाचार्याः पुष्टिमार्गीयदैवजीवानां मानसीसेवासिद्धावङ्गभूतं फलत्रयं प्रतिबन्धकत्रयं तदभावं च प्रतिपादयन्ति **सेवायां फलत्रयमिति** । मानसीसेवायामङ्गभूतं तनुवित्तजासेवासाध्यं फलत्रयम् । **अलौकिकसामर्थ्यं** सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परतारूपमेकं फलम् । **सायुज्यं** सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यम्, व्यसनभावानन्तरं देहनाशकेन विगाढभावेनान्यस्फूर्तिराहित्यपूर्वकं भगवता सह योगः द्वितीयं फलम् । **सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु** । यथा वैकुण्ठव्रजादिषु साक्षात् सेवोपयोगिदेहस्तथा देहो मानसीसेवायामधिकाररूपस्तृतीयं फलम् । एतत्फलत्रयमेव सार्धश्लोकेन प्रतिपादयन्ति **यादृशीति** । यादृक्प्रकारिका मानसी सेवा 'ता नाविद'न्नित्यादिवाक्यैर्भगवता प्रोक्ता तत्सिद्धावङ्गभूतं येन विना यन्न संभवति तत्तदङ्गमेतादृशमलौकिक-

परिशिष्टम् ।

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	पाठः	पाठान्तरम् ।
५	३९	सद्विपयकः	सिद्धिविषयकः
६	८	दर्शनसेवायाम्	दर्शने सेवायाम्
६	२२	अलौकिकसाधन	अलौकिकभोगसाधन
७	५	द्विविध इत्यनन्तरम्, लौकिकोऽलौकिकश्च । तत्र लौकिकस्त्याज्य एव । प्रतिबन्धो द्विविधो ।	
८	२५	द्रवादस्य	द्रवश्च
१९	३	प्रयत्नसम्भवेन ।	प्रयत्नासम्भवेन ।
२२	१९	तद्वैयर्थ्य-	तद्वैयर्थ्य-

श्रीवल्लभगोस्वामिनां टीकाया मुद्रणानन्तरं प्रभुकृपयास्माभिस्तेषां टीकायाः द्वितीया प्रतिः प्राप्ता । सा टीका श्रीवल्लभगोस्वामिभिः पुनर्लिखिता, इति प्रतिभाति । तन्मध्ये तैः प्रथमटीकापेक्षया केषु केषु स्थलेषु किञ्चिदधिकं लिखितम्, तदत्र वाचकानां जिज्ञासातृप्त्यर्थं ग्रन्थरक्षणार्थं चावतार्यते ।

पृष्ठ २३, पङ्क्ति १२, सर्वाभोग्यसुधानन्तरमिदमधिकं वाचनीयम्—'फलरूपापीयं भगवता साधनतामापादितेति वेणुगीते निरूपितमतोऽलौकिकत्वम् ।'

पृष्ठ २३, पङ्क्ति २४, **सेवोपयोगिदेहो**—इत्यस्यानन्तरं 'इति यस्य देहस्य सेवायामेवोपयोगः, अन्यदावयवा अप्रकटा एव स इत्यर्थः । यत्र स्वरूपानन्ददानम्, तत्र फलत्रयमपि, यत्र धर्मभूतानन्ददानम्, स्वयमप्रधानीभूय, तत्र फलद्वयम्, यत्र स्वप्राधान्येन धर्मभूतानन्ददानम्, तत्र सेवोपयोगिदेहमात्रदानमिति ज्ञेयम्' इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २३, पङ्क्ति २७, लभन्ते—इत्यस्यानन्तरं 'इमान्येव फलरूपात्मनिवेदनसख्यदास्यानि ज्ञेयानि' इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति ३, भोगः—इत्यस्यानन्तरं 'भगवदुपयोगिवस्तुपरतायाः प्रतिबन्धकत्वाभावादत्र यर्ह्यम्बुजाक्षेतिश्लोकव्याख्यातः सर्वथा भगवन्तमप्रपन्नः अन्यपदार्थो ज्ञेयः । अप्रपन्नोननुगतो भगवदनुपयोगीति यावत् । नवरत्ने चित्तोद्वेगमित्यस्याभासे चित्तस्य पुत्रादिपरता उद्वेगपदार्थो निरूपितः । अन्यपरतेतियावत् । तन्न्यायेन त्रयमपीदं ज्ञेयम् ।' इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति ५, मूलार्थः—इत्यस्यानन्तरं 'तत्र द्वयं साक्षात्तद्बाधकं प्रतिबन्धरूपम्, एकं च तदाधारस्य साधनस्य बाधेन बाधकमिति भेदो ज्ञेयः । सामर्थ्यस्य बाधकथनेन सामर्थ्योत्पत्तेः पूर्वमेतत्सम्भवे सामर्थ्यं नोत्पद्येतेति सिद्धमेवेति भावः । नवरत्ने

तथानिरूपणान्निवेदनपदार्थनाशामावेपि तद्बाधस्तु स्यादिति तुशब्दः । तेन जन्मान्तरव्यवधानं भवतीति निबन्धे निरूपितमिति भावः । सामर्थ्यबाधश्च तद्धेतुभूताभ्यासबाधेन सेवानभ्यस्ता भवतीत्यर्थः ।' इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति ७, लौकिकभोगानाम्—इत्यस्यानन्तरं 'बाधकत्वात्तत्साधनपरित्यागः कर्तव्यः । मनोदेहेन्द्रियाणि च भगवदसम्बन्धिषु न प्रवर्तनीयानि । तथा सति तेषां तत्परता भवति 'विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जत' इति वाक्यादिति भावः । साधनपरित्यागं विवृण्वतो' इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति १२, भोगः—इत्यस्यानन्तरं 'लौकिकस्त्याज्य इति । सिद्धान्तरहस्योक्तप्रकारेण यथासम्भवं भगवदुपयोगं सम्पाद्य भोगः कर्तव्य इत्यर्थः । प्रतिबन्ध इति । श्रवणकीर्तनादिना हरिश्चेद्धृदयं निविशते तदा पूजा सर्वदा निर्वहति । एवं जाते ततः कार्यान्तरवशाज्जाता तनोरन्यपरता साधारणः प्रतिबन्धः । क्रियमाणेपि श्रवणकीर्तनादौ हरिश्चेन्न निविशेत्तदाभ्यासो न भवति । तेन जाता तनोरन्यपरता या स भगवत्कृतप्रतिबन्धः ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति १३, विभावनीयेत्यर्थः—इत्यस्यानन्तरं 'बुद्धिर्वा तत्र न स्थापनीया । यत्नकरणेपि तदनुचिन्तनं न कर्तव्यमित्यर्थः । अलौकिकभोगो न त्याज्य इत्याशयेनाहुः अलौकिकेति ।' इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति २०, प्रतिबन्धः—इत्यस्यानन्तरं 'ध्रुवस्य गता भक्तिः कुबेरेण सिद्धेति चतुर्थस्कन्धे निरूपितं तथाप्याग्रहस्य नेत्याहुः तदेति' इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति २२, बोध्यम्—इत्यस्यानन्तरं 'ननु दुरदृष्टनाशनार्थं कात्यायनीपूजेति कात्यायनीपदनिरुक्तौ सुबोधिन्यां निरूपितम्, दुरदृष्टश्च भगवत्कृतप्रतिबन्धस्त्वं च तत्रैव निरूपितम् । यदि भगवदिच्छैवेति । स्वेच्छामप्येतदनुगुणां करिष्यतीति च । तथा च कथमन्यसेवावैयर्थ्यमित्यत आहुरयमिति । लीलास्थेषु रसविशेषानुभवार्थं भगवता प्रतिबन्धः सम्पाद्यते न त्वासुरत्वं तेषु । आधुनिकोयं त्वासुर एव भगवता प्रतिबन्धयुक्तः क्रियते, तदा तु फलाभावनिश्चयात् साधनवैयर्थ्यमिति भावः ।' इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २५, पङ्क्ति १७, बाधकत्वाभावात्—इत्यस्यानन्तरं 'विद्यमानमप्यदृष्टं तस्य दुर्बलम् । अत एव प्रारब्धभोजनार्थं प्रभुर्वैदिलम्बत इत्युक्तम् । लोकवेदस्वास्थ्यं हरिर्न करिष्यतीति चोक्तम् ।' इत्यधिकम् ।

पृष्ठ	३२	पङ्क्ति	११	हठाद्	हठात्
,,	३२	,,	२८	सा	स
,,	९५	,,	२१	विवरणे	वरणे